अक्टूबर १९५४ भाग ८०

तुला २०११ अंक १

वार्षिक मूल्य चार रुपए

प्रति अंक छः आने

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

१—विज्ञान प्रवेशिका, भाग १—श्रीरामदास गौड़ और प्रो० सालिगराम भार्गव ।=)

२—चुम्बक—प्रो० सालिगराम भार्गव ।।।=)

३—मनोरञ्जन रसायन—प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव २)

४—सूर्य सिद्धान्त—श्री महावीरप्रसाद श्रीवास्तव छः भाग मूल्य ८) । इस लेखक को १२००) का मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला है ।

५—वैज्ञानिक परिमाण—डा० निहालकरण सेठी १)

६—समीकरण मीमांसा—पं० सुधाकर द्विवेदी; प्रथम भाग १।।) द्वितीय भाग ।।=)

७—निर्णायक (डिटर्मिनैंट्स) प्रो० गोपाल कृष्ण गर्दे और गोमती प्रसाद अग्निहोत्री ।।।)

८—बीज ज्योमिति या भुजयुग्म रेखागणित—डाक्टर सत्यप्रकाश डी० एस-सी०, १।)

९—वर्षा और वनस्पति—श्री शंकरराव जोशी ; ।=)

१०—सुवर्णकारी—ले० श्री० गङ्गाशंकर पचौली; ।=)

११—व्यङ्ग-चित्रण—ले० एल० ए० डाउस्ट; अनुवादिका श्री रत्नकुमारी एम० ए०; २)

१२—मिट्टी के बरतन—प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा ; (अप्राप्य)

१३—वायुमंडल—डाक्टर के० बी० माथुर, २)

१४—लकड़ी पर पालिश—डा० गोरखप्रसाद और श्री रामरतन भटनागर, एम० ए०, ५) (अप्राप्य)

१५—कलम पेवंद—ले० श्री शंकरराव जोशी; २)

१६—जिल्दसाजी—श्री सत्यजीवन वर्मा, एम० ए० २)

१७—तैरना—डा० गोरखप्रसाद १)

१८—सरल विज्ञान-सागर प्रथम भाग—सम्पादक डाक्टर गोरखप्रसाद मूल्य ६) (अप्राप्य)

१९—वायुमण्डल की सूक्ष्म हवाएं—डा० सन्तप्रसाद टंडन, डी० फिल० ।।)

२०—खाद्य और स्वास्थ्य—डा० ओंकारनाथ परती, मूल्य ।।।)

२१—फोटोग्राफी—लेखक श्री डा० गोरख प्रसाद डी० एस-सी० (एडिन) ४),

२२—फल संरक्षण—डा० गोरखप्रसाद डी० एस-सी० और श्री वीरेन्द्रनारायण सिंह २।।)

२३—शिशु पालन—लेखक श्री मुरलीधर बौड़ाई । मूल्य ४)

२४—मधुमक्खी पालन—दयाराम जुगड़ान; ३)

२५—घरेलू डाक्टर—डाक्टर जी० घोष, डा० उमाशङ्कर प्रसाद, डा० गोरखप्रसाद, ४)

२६—उपयोगी नुसखे, तरकीबें और हुनर—डा० गोरखप्रसाद और डा० सत्यप्रकाश, ३।।)

२७—फसल के शत्रु—श्री शङ्कर राव जोशी ३।।)

२८—साँपों की दुनिया—श्री रमेश वेदी ४)

२९—पोर्सलीन उद्योग—प्रो० हीरेन्द्र नाथ बोस ।।।)

३०—राष्ट्रीय अनुसंधानशालाएँ—२)

३१—गर्भस्थ शिशु की कहानी—प्रो० नरेन्द्र २।।)

अन्य पुस्तकें

१—साबुन-विज्ञान	६)
२—भारतीय वैज्ञानिक	३)
३—वैक्युमब्रेक	२)
४—यांत्रिक चित्रकारी	२।।)
५—विज्ञान के महारथी (जगपति चतुर्वेदी)	२)
६—पृथ्वी के अन्वेषण की कथाएँ (,,)	१।।)
७—विज्ञान जगत की झाँकी (प्रो० नारायण सिंह परिहार)	२)
८—खोज के पथपर (शुकदेव दुबे)	।।)

पता—विज्ञान परिषद् (म्योर सेन्ट्रल कालेज भवन) प्रयाग

विज्ञान

विज्ञान परिषद, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्तिविज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ० ।३।५।

भाग ८० | तुला २०११; अक्टूबर १९५४ | संख्या १

सूर्य्य का जीवन

[डा० सत्यप्रकाश]

[ऑल इण्डिया रेडियो से २९ अप्रैल १९५३ को प्रसारित]

प्रतिदिन प्रातःकाल पूर्व दिशा में उदय होने वाला ज्योतिष पिंड सूर्य्य हमारे लिए बचपन से ही कौतूहल का विषय है। बाल सूर्य्य के उदय होने से पूर्व ही ऊषा के दृश्य एवं सायंकाल को पश्चिम दिशा में अस्त होने के कुछ क्षण बाद ही गोधूली की बेला आकाश में रंग-बिरंगी चित्रकारी प्रस्तुत करती है। सूर्य्य की किरणों के स्पर्श से मेघों के दृश्य और वर्षा के अनन्तर इन्द्र धनुष—ये सब ऐसी घटनाएँ हैं जिनका गान अतीत काल से आज तक कवियों ने किया और जिनका चित्रण प्रत्येक युग के कुशल चित्रकार ने किया। यह सूर्य्य हमारे जीवन का जीवन है, कहा जाता है कि रूस के एक दार्शनिक कुजमा प्रुटकॉफ ने एक प्रश्न पूछा—"कौन अधिक उपयोगी है—सूर्य्य या चाँद?" कुछ क्षण सोचकर उसने स्वयं उत्तर दिया—"चाँद, क्योंकि यह तब प्रकाश देता है जब इस धरातल पर रात होती है; सूर्य्य तो दिन में चमकता है जब यों ही उजियारा रहता है।" पर हमारा यह चाँद भी तो सूर्य्य से ही प्रकाश उधार लेकर रात में हमें देता है। रेल के इंजिन में जो कोयला हम जलाते हैं या मोटर में जो पेट्रोल हम जलाते हैं या अन्य किसी भी प्रकार से जो शक्ति हम प्राप्त करते हैं, वह सब सूर्य्य से ही उधार ली हुई शक्ति है, यदि सूर्य्य न होता, तो हम न होते, न हमारा जीवन होता, न यह भूमि होती, और न भूमि पर जो कुछ भी हो रहा है उसमें से कोई भी घटना होती। सूर्य्य के होने से ही सब कुछ है। वनस्पति और प्राणियों के जीवन का यह आधार है।

सूर्य्य प्रचंड ताप का एक गोला है। यह कितना गरम है, इसका अनुमान लगाना हमारे लिए कठिन है। लाल दहकते हुये अंगारे या भट्ठी में तपाया लाल

लोह ५००° तापक्रम के निकट का होता है। प्रयोगशालाओं में बिजली की भट्टियों में हम १५००°-२५००° तापक्रम के निकट जा सकते हैं, पर सूर्य्य के पृष्ठतल का तापक्रम ६०००° से भी अधिक है। इतना अधिक तापक्रम तैयार करने वाली भट्टी हम तैयार ही नहीं कर सकते, क्योंकि इस ऊँचे तापक्रम पर वे सब चीजें जिनसे हम भट्टी बनाने की कल्पना करेंगे, उड़कर भाप बन जावेंगी। कार्बन या प्लैटिनम ऐसी धातुएँ न केवल इस तापक्रम पर पिघलेंगी ही, बल्कि गैस हो जायँगी। यह तो हमने सूर्य्य के ऊपरी पृष्ठ की बात कही, सूर्य्य के भीतर तो तापक्रम और भी अधिक है। इसके केन्द्र या गर्भ में तापक्रम तो २ करोड़ डिगरी के निकट का माना जाता है।

हमारा यह सूर्य्य गैसों का बना हुआ एक भीमकाय पिंड है। सूर्य्य के बाहरी वातावरण में इन गैसों का दाब हमारी हवा के दाब का हजारवाँ भाग ही है, पर यह दाब सूर्य्य के भीतर इतना बढ़ता जाता है कि केन्द्र पर जो गैसें हैं, उनका घनत्व पारे के घनत्व से भी ६ गुना अधिक है। गैस के इतने घने पिंड से बना यह सूर्य्य हमसे भी ६ गुना अधिक है। गैस के इतने घने पिंड से बना यह सूर्य्य हम से ६ करोड़ ३० लाख मील की दूरी पर है। सूर्य्य से चली हुई प्रकाश-किरण को धरती तक पहुंचते-पहुँचते ८ मिनट लगते हैं। यह किरण प्रति सैकड़ा १ लाख ८६ हजार मील की गति से चलती है। हमारे सूर्य्य का व्यास ८ लाख ६४ हजार मील है, अर्थात् पृथ्वी के व्यास से यह १०६ गुना अधिक है।

सूर्य्य के धरातल को काजल लगे काँच से हम देख सकते हैं। आँख से देखने पर इसके पृष्ठ पर कुछ कलंक या धब्बे दिखायी देंगे। चन्द्रमा के कलंक से तो हम परिचित ही हैं। इनमें से कुछ कलंक तो ५०,००० मील व्यास के हैं और भूमि के व्यास से भी ६ गुने अधिक बड़े। सूर्य्य की अन्य चमकती हुई वाष्पों की अपेक्षा से ही यह काले कहे जा सकते हैं, अन्यथा इस पृथ्वी पर जितनी सफेद चीजें हैं उनसे भी अधिक ये सफेद हैं। इन कलंकों की सहायता से हम सूर्य्य की गति का अनुमान कर सकते हैं। सूर्य्य भी अपनी कीली पर घूमता है। इसका मध्य भाग २६ दिन में एक चक्कर पूरा करता है। पर ध्रुव भाग ३४ दिन में एक चक्कर पूरा करता है। (हमारी ठोस पृथ्वी का प्रत्येक भाग एक ही समय में एक चक्कर पूरा करता है, पर सूर्य्य तो गैस का बना पिंड है इसलिए इसके ध्रुव और मध्य भाग के एक चक्कर करने के समय में अन्तर है।) सूर्य्य के इन कलंकों के प्रभाव से पृथ्वी पर चुम्बकीय तूफान उठते हैं, और मेरु-ज्योतियों की सृष्टि होती है, एवं पृथ्वी पर की वर्षा पर भी इन कलंकों का प्रभाव पड़ता है। सूर्य्य में न केवल कलंक ही हैं, बल्कि इसके किनारों के पास सफेद धब्बे भी हैं जैसे कोढ़ के से दाग। सूर्य्य की गैसों का तापक्रम यहाँ अन्य समीपवर्त्ती स्थलों की अपेक्षा कुछ अधिक है। और इसीलिए ये अधिक सफेद दिखायी पड़ते हैं।

आप यह जानना चाहेंगे कि हमारा यह सूर्य्य कितनी आयु का है। कहा जाता है कि हमारी यह पृथ्वी २ अरब वर्ष पुरानी है;—आजकल की गणना के हिसाब से पृथ्वी के पृष्ठ पर जो पपड़ी बनी है, वह १ अरब ६० करोड़ वर्ष की है। हमारा सूर्य्य २ अरब वर्ष पहले भी लगभग उतनी ही गरमी रखता था, जितना कि आज। सूर्य्य से जितना ताप हमें आज मिल रहा है, उसका यदि आधा ही मिले तो संसार के सभी समुद्रों, नदियों और नालों का पानी बर्फ बन जायगा। यदि यह ताप चौगुना हो जाय, तो समुद्रों का पानी उबलने लगेगा और जीवन असंभव हो जायगा। यदि सूर्य्य के ताप में थोड़ा सा भी अन्तर आ जावे तो पृथ्वी के पृष्ठ से वनस्पतियाँ नष्ट हो जायँगी और प्राणियों की भी प्रलय हो जायगी। तो जब से वनस्पति और प्राणी हैं तब से आज तक सूर्य्य की गरमी में कोई विशेष अन्तर नहीं हुआ है। हमारे सौर मंडल में ग्रहों और तारों का निर्माण लगभग २ अरब वर्ष पूर्व हुआ; और कम से कम हमारा सूर्य्य उतना तो पुराना होगा ही।

सूर्य्य से छिटक कर जब पृथ्वी अलग हुई, उस समय सूर्य्य का नव-यौवन काल रहा होगा।

सूर्य्य से प्रतिवर्ष १.२×१०^{४१} अर्ग गरमी निकल रही है और मान लीजिए कि इतनी गरमी प्रति वर्ष दो अरब वर्षों से निकलती आ रही है, तो इतने दीर्घ समय में सूर्य्य से २.४×१०^{५०} अर्ग गरमी अब तक निकली होगा। प्रश्न यह है कि आखिर सूर्य्य में ऐसी कौन सी चीज जल रही है जिससे अरबों वर्षों से सूर्य्य से इतनी गरमी निकलती आ रही है। मामूली कोयले के जलने से तो इतनी गरमी नहीं मिल सकती। यदि सूर्य्य कोयले का दहकता पिंड होता तो अब तक कब का जल कर राख हो गया होता। अगर यह गन्धक का होता तब भी यही बात होती। वस्तुतः सूर्य्य का तापक्रम इतना अधिक है कि उस तापक्रम पर कोयला जल कर और ऑक्सिजन से संयुक्त होकर कार्बन-डाई-ऑक्साइड बन ही नहीं सकता। इतने ऊँचे तापक्रम पर पानी या कार्बन-डाईऑक्साइड के अणु विभक्त होकर फिर तत्त्व बन जाते। अतः जिस अर्थ में हम भट्टी या इंजिन में कोयले का जलना समझते हैं, उस अर्थ का जलना तो सूर्य्य में संभव ही नहीं है। सूर्य्य के पृष्ठ के $६०००°$ के तापक्रम पर तो कोई भी रासायनिक यौगिक स्थिर रह ही नहीं सकता, अतः सूर्य्य में केवल तत्त्वों के मिश्रण के और कुछ है ही नहीं।

हेल्महोल्ट्ज़ नामक विचारवेत्ता ने एक बार कल्पना की थी कि सूर्य्य अपनी नव शिशु अवस्था में किसी ठंढी गैस का भीमकाय गोला था, उस समय का यह गोला आजकल के सूर्य्य से कहीं अधिक बड़ा था। बाद को यह गोला धीरे-धीरे सिकुड़ने लगा। इस संकोच के कारण ही इसमें गरमी पैदा हुई, जैसे मोटर या सायकिल में हवा घनी करने पर गरमी पैदा होती है। हेल्महोल्ट्ज़ का यह सिद्धान्त बड़ा मान्य है और हो सकता है कि सूर्य्य ने अपने प्रारम्भिक जीवन में इसी प्रकार ताप का अगाध भंडार प्राप्त किया हो। पर आज के दो अरब वर्ष से अधिक आयु के सूर्य्य में गरमी अन्य प्रकारों से भी उत्पन्न हो रही है, ऐसा मानना पड़ेगा।

सूर्य्य का जो रहस्य हम उन्नीसवीं शताब्दी में समझने में असमर्थ थे, वह हम आज आसानी से समझ सकते हैं। आज हम एटमबम के आविष्कार से परिचित हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में बमों में रासायनिक प्रतिक्रियाओं के आधार पर उद्भूत शक्ति के कारण विस्फोट होता था पर आज के परमाणु बम में परमाणुओं के प्रभंजन के कारण विस्फोट होता है। जब परमाणुओं का प्रभंजन यथोचित विधि से होता है, तो इन परमाणुओं के द्रव्य का कुछ अंश विलुप्त हो जाता है। यह विलुप्त द्रव्य ही शक्ति में परिणत हो जाता है। आज से ४८ वर्ष पूर्व आइन्स्टाइन ने यह संभावना सिद्धान्त रूप से हमारे सामने रक्खी थी कि द्रव्य भी शक्ति में रूपान्तरित हो सकता है और इस प्रकार के रूपान्तर में एक निश्चित गणित का सम्बन्ध है। परमाणु-प्रभंजन के आधार पर वैज्ञानिकों ने शक्ति के एक अगाध नए स्रोत का पता लगा लिया है। जब परमाणु बम का विस्फोट होता है, तो ऐसा आभास होता है कि मानों कोई एक शिशु सूर्य्य विस्फुटित हो रहा है।

हम कह चुके हैं कि सूर्य्य के पृष्ठतल पर $६०००°$ के लगभग का तापक्रम है और इसके गर्भ में २ करोड़ डिगरी से भी ऊपर का तापक्रम है। इस तापक्रम पर तत्त्वों के परमाणु स्वतः टूटने लगते हैं, और इनके टूटने से ताप उत्पन्न होता है। हम आज जानते हैं कि जब प्रोटोन के प्रहार से लीथियम तत्व का केन्द्र टूटता है तो बहुत सी शक्ति मिलती है—एक ग्राम लीथियम के टुकड़े होने पर २.५×१०^{८} अर्ग गरमी मिलेगी जो लगभग २५००० (पच्चीस हजार) रुपये के मूल्य की होगी। क्या सूर्य्य के पृष्ठ पर इस प्रकार के अन्य धातुओं के परमाणुओं का टूटना संभव नहीं है? वस्तुतः सूर्य्य के पास

आज जो इतनी गरमी है वह परमाणुओं के टुकड़े-टुकड़े टूटने के कारण ही है।

सूर्य्य में हलकी और भारी अनेक धातुयें हैं। हजार और लाख डिगरी के तापक्रम पर इन धातुओं के परमाणु उस रूप के नहीं होंगे जैसे हमारी धरती पर। परमाणुओं के धन केन्द्र के चारों ओर जो इलेक्ट्रोन चक्कर लगाते हैं, वे ऊँचे तापक्रम पर परमाणु से टूटकर अलग छिटक गए होंगे। बहुधा धातुओं के नग्न केन्द्र ही परमाणुओं में रह गए होंगे। धातुओं के ये केन्द्र गैस रूप में सारे पिंड में चक्कर लगा रहे हैं। ऊँचे तापक्रम के कारण और बीच-बीच में अनेक परमाणु केन्द्रों में संघर्ष हो जाने के कारण ये केन्द्र पुनः टूटने लगते हैं। इस प्रभंजन में अत्यन्त तापक्रम विसर्जन होता है। यह ताप सूर्य्य के उस ताप की कमी की पूर्ति करता रहता है, जो सूर्य्य से चलकर दूसरे ग्रहों में पहुँच रहा है। यदि परमाणुओं के केन्द्रों के इस संघर्ष में कुछ द्रव्य विलुप्त हो जाय, तब तो परमाणु बम के समान भीषण उत्ताप सूर्य्य के भीतर उत्पन्न हो जायगा। इस प्रकार की परमाणु बम वाली क्रियायें सूर्य्य की गरमी को अरबों वर्षों तक स्थायी रख सकेंगी ऐसी आशा है।

सूर्य्य के जीवन का रहस्य समझने का प्रयत्न सन् १९२९ में एटकिन्सन और हाउटरमेन्स ने किया। सूर्य्य के तापक्रम पर परमाणुओं के बाहरी परिधि वाले इलेक्ट्रोन छिटककर अलग हो जाते हैं, और परमाणुओं के नग्न केन्द्र बच रहते हैं। फिर ये नग्न केन्द्र एक दूसरे से टकराकर चूर-चूर होते रहते हैं, और नये परमाणु केन्द्र बनते हैं। इस प्रकार की प्रतिक्रियाओं की एक शृंखला बन जाती है, और इन शृंखलाओं का एक चक्र बनता है। इस प्रकार के चक्रों द्वारा सूर्य्य की गरमी स्थिर बनी रहती है। सूर्य्य के भीतर कार्बन, हाइड्रोजन, ऑक्सिजन, नाइट्रोजन और हीलियम के परमाणु केन्द्र परस्पर प्रतिक्रियाओं द्वारा सूर्य्य की दीप्ति को कम करने के स्थान में बढ़ाते ही रहते हैं। अनुमान है कि सूर्य्य ने अपने जीवन भर में एक प्रतिशत अपना हाइड्रोजन ही अब तक खर्च कर पाया है, अतः स्पष्ट है कि सृष्टि के प्रलय का अभी कोई डर नहीं है।

सूर्य्य के बाहरी पृष्ठ की गैसों में लीथियम, बेरीलियम के समान कुछ हलकी धातुयें भी हैं, पर इसकी शैशव अवस्था में ये धातुयें अधिक रही होंगी। इन हलकी धातुओं की मात्रा धीरे-धीरे कम पड़ती जा रही है। शैशव से लेकर यौवन तक का सूर्य्य भीमकाय आकार वाला रहा है, पर यही सूर्य्य ज्यों-ज्यों वृद्ध होता जायगा, इसका आकार वामन रूप धारण करता जायगा। युवा सूर्य्य को "लाल दैत्य" यदि कहें तो वृद्ध सूर्य्य को हमें "श्वेत बौना" कहना होगा। आज हमारे ब्रह्मान्ड में कई लाल दैत्य और कुछ श्वेत बौने भी हैं, जिन्हें देखकर हमें अपने सूर्य्य के शैशव और वृद्धावस्था का आभास मिल सकता है। अपने जीवन के अन्तिम दिवसों में सूर्य्य की गैसें सिकुड़ती जायँगी, और सूर्य्य की दीप्ति और ताप बहुत बढ़ जायगा। ऐसा होने पर सूर्य्य में से बहुत से पिंड टूटकर अलग होने लगेंगे, ये पिंड अलग होने पर ठन्डे पड़ जायँगे। सूर्य्य भी फिर धीरे-धीरे ठंढा होने लगेगा।

सूर्य्य का जीवन सदा एक-सा ही नहीं रहा होगा। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि अकस्मात् इसमें विस्फोट हो जाय। आज भी हमारे ब्रह्मांड में बहुत से ऐसे पिंड हैं जिनकी चमक एक दम बढ़ जाती है मानो उनके भीतर कोई विस्फोट हो गया हो। सूर्य्य के जीवन में भी अनेक बार ऐसे विस्फोट हुए होंगे। आजकल आकाश में नोवा और सुपरनोवा पिंडों को देखकर हमें मानना पड़ता है कि सूर्य्य ने भी अपने जीवन के इतिहास में कई बार भीमकाय विस्फोट देखे होंगे। आजकल तो हमारे सूर्य्य में कोई इस प्रकार का विस्फोट नहीं हो रहा है। कदाचित् कोई विस्फोट हो जाय तो उसका परिणाम इस मर्त्यलोक के प्राणियों के लिए बड़ा भयंकर होगा। मान लीजिए कि प्रलय के दिन हमारा सूर्य्य एक नोवा बन गया, उसके नोवा बनते ही पृथ्वी और उसके साथ के सौरमंडल के अन्य ग्रह पतली गैस बन जायँगे और यह परिवर्तन इतना शीघ्र होगा कि हमें उसकी अनुभूति का समय भी न मिलेगा।

उड़न तश्तरियां और उनका रहस्य—२

[श्री कृष्णचन्द्र दुबे, भौमिक विज्ञान विभाग, सागर विश्वविद्यालय]

'विज्ञान' के जुलाई के अंक में मैंने 'उड़न-तश्तरियों' का संक्षिप्त विवरण पाठकों के सम्मुख रखा था। यह सत्य है कि इस प्रकार की वस्तुएँ निरी कपोल-कल्पित प्रतीत होती हैं। हमारे ज्ञान और विज्ञान की प्रगति के साथ ही साथ प्रकृति भी नये-नये प्रश्न उपस्थित करती जा रही है। भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में और प्रायः मूल-विज्ञान में ही, हम भौतिकवाद और पदार्थवाद के शिखर पर पहुँचकर फिर से आदर्शवाद की ओर लौट रहे हैं और पदार्थ के ऊपर मस्तिष्क की प्रधानता स्वीकार कर रहे हैं। युग का सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक आइन्सटीन अपने सापेक्षवाद के सिद्धान्त में और अपने पूर्ण दर्शन में आदर्शवादी है। एडिंगटन और जीन्स, नीन्डहम और प्लैंक और स्रोडिंगर—सभी आज आदर्शवादी हो चुके हैं। ऐसी परिस्थिति में—यह स्वाभाविक है कि जन-साधारण को कुछ चीजों में सरलता से विश्वास नहीं हो सकता। उड़न-तश्तरियाँ आकाश में उपस्थित हैं—इस सत्य के पक्ष में पिछले लेख में कुछ लिखा गया था। पिछले दो-तीन वर्षों में जो पुस्तकें इन तश्तरियों पर प्रकाशित हुई हैं और विश्व ने उनका जो स्वागत किया है, उसे देखते हुए इन पंक्तियों का लेखक फिर से अपनी स्थिति दृढ़ करने का प्रयास करता है कि उड़न-तश्तरियाँ जो भी हों—कपोल-कल्पित नहीं हैं।

२६ जून सन् १६४७ में केनेथ आरनोल्ड नाम के व्यक्ति ने आकाश में तश्तरियों के आकार की १० वस्तुएँ देखीं जो लगभग १,००० मील प्रति घन्टे की चाल से उड़ी जा रही थीं। वाशिंगटन स्टेट के रेनियर माउंट की चोटी के ऊपर ये चीजें देखी गयीं। जैसा मैंनें पिछले लेख में बताया था—पहिले इस प्रकार की खबरों पर वैज्ञानिक जगत में स्थान नहीं मिला और न सरकारी क्षेत्रों में ही उसे कोई महत्व दिया गया। परन्तु शनैः-शनैः इस प्रकार के और भी समाचार आने लगे और इनके कारण सत्ताधारी सूत्रों को अपना विचार बदलना पड़ा। अमेरिकन सरकार ने कहा है कि १८०० से अधिक समाचार उनके पास हैं जिन्हें सरलता से टाला नहीं जा सकता। ब्रिटिश सरकार ने भी स्वीकार किया है कि उड़न-तश्तरियों की जाँच के लिए एक गुप्त विभाग स्थापित किया गया है। पिछले लेख में इस पर अधिक प्रकाश डाला गया था। प्रस्तुत लेख में हम केवल उड़न-तश्तरियों पर विश्वस्त सूचनायें ही देखेंगे।

२५ सितम्बर १६५२ को अमेरिकन सरकार ने कहा कि उड़न-तश्तरियों की उपस्थिति स्वीकार की जाती है परन्तु उनके बारे में कुछ भी प्रकाशित नहीं किया जा सकता। केनेथ आर्नोल्ड के पूर्व सूचना देने वाले थे श्री डॉल (Dahl) २१ जून १६४७ को। ३१ मार्च १६५० को दो अनुभवी वायुयान-चालक आडम्स और एंडरसन ने इन वस्तुओं को देखा। आडम्स का कहना है "सारे जीवन भर मैं अविश्वासी सा रहा हूँ परन्तु जब इस तरह की कोई घटना घटती है तो उसे विश्वास करना ही पड़ता है। दोनों चालक उसके तीव्र प्रकाश से चकाचौंध हो गये थे। आडम्स ने बाद में कहा कि—"मैंने अपने जीवन में इतना तेज नीला प्रकाश कभी नहीं देखा।" चाइल्स और ह्वाइटेड, ईस्टर्न एयर-लाइन्स के वायुयान-चालकों ने इसी प्रकार की रहस्यमय वस्तु १६४८ के जून माह में मान्टगोमरी अलाबामा के निकट देखी। कैप्टेन ई० स्मिथ जो यूनाइटेड एयर लाइन्स के

चालक हैं, ४ जुलाई १६४७ में इस प्रकार की चीज आकाश में देखकर स्तंभित रह गये। २७ अप्रैल १६५० की रात को शिकागो जाने वाले एक एयर-लाइन के चालक कैप्टेन अडाइक्स ने एक 'तश्तरी' देखी। यह बहुत चिकनी, सपाट और 'स्ट्रीमलाइन्ड' थी और इसमें से चमकीला लाल प्रकाश आ रहा था जैसे गरम स्टेनलेस लोहे से निकलता है। यह तश्तरी अपनी धार पर उड़ रही थी। अडाइकस ने इसका और सूक्ष्म निरीक्षण करना चाहा पर तश्तरी २०० मील प्रति घंटे की चाल से विलुप्त हो गई। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका वायु सेना के कैप्टेन मैन्टेल की मृत्यु एक 'तश्तरी' का पीछा करने में हुई। उनका जहाज बाद में टुकड़े-टुकड़े में पाया गया। रॉयल एयर फोर्स, इङ्गलैंड, के एक चालक ने इस तरह की एक वस्तु आकाश में देखी जो २½ मिनट में करीब २०० मील चली गई। एक अँग्रेज वैज्ञानिक पूर्वी समुद्री किनारे पर रडर (Radar) पर अध्ययन कर रहा था। उसने 'रडर-स्क्रीन' पर दस वायुयान या कोई चीज जो इङ्गलैंड से हालैंड को उड़ रहे थे, देखा। इनकी गति २१,००० मील प्रति घंटे की रही होगी। हालैंड के किनारे जाने पर वे लुप्त हो गये। जांच करने पर यह मालूम हुआ कि इस प्रकार के कोई हवाई जहाज हालैंड नहीं गये। तो फिर यह क्या थे? टेक्सास टेकनालॉजिकल कॉलेज के भौमिक विज्ञान के प्रोफेसर डब्ल्यू० आई० रोबिन्सन ने भी इस प्रकार की रहस्यमय वस्तु की सूचना दी है। यही नहीं, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के एक उच्च खगोल-शास्त्री; एक हवाई इंजीनियर गारडनवेथ; उत्तरी अमेरिकन हवाई अड्डे के एयरोफिजिकस डिपार्टमेन्टके सदस्य; मिड-कांटीनेंट एयर लाइन्स के कैप्टेन विन्थर तथा इस प्रकार के अन्य अनुभवी लोगों की सूचनाओं को कल्पना और गप्प कहकर नहीं उड़ाया जा सकता। न इसे मरुस्थल की मृग-तृष्णा सी ही कोई चीज कहा जा सकता है—क्योंकि इन उपर्युक्त लोगों ने देखा है, निरीक्षण किया और फिर विश्वास किया।

फिर भी 'उड़न-तश्तरियों' के बारे में जो विचार हैं उन्हें इस प्रकार वर्णित किया जा सकता है।

आकाशीय तत्व या पदार्थ..........५५%
बैलून..........१३%
निहारिका अथवा नेबुला..........१०%
हवाई जहाज..........२०%
कल्पना और गप्प..........२०%
जो वर्णित नहीं की जा सकती..........१५%

इनमें से कुछ मजेदार विचार ये हैं—

"आँख के सामने धूलि के कण जो दूर बड़े आकार में दिखते हैं—" एक ग्रूप कैप्टेन का कहना है।

एक अमेरिकन मनोविश्लेषणशास्त्री के अनुसार यह सब "सामूहिक पागलपन है।"

आस्ट्रेलिया के मनोवैज्ञानिक इंस्टीट्यूट के अनुसार "यह पागलपन उतना नहीं है जितना भ्रम है—सामूहिक भ्रम।"

"आँख के सामने केवल धब्बे—"

"आँख के भीतर खून के लाल कारप्यूसिल"

"उल्का", "बैलून", "अयनीकरण वायु"

"दूर की रोशनियां" "ठंडी और गर्म वायु का मिश्रण जो एक ऊँचाई पर "रिफ्रैक्शन" उत्पन्न करता है।"

"केवल गर्म वायु।"

कुछ प्रयोगवादी मनःविश्लेषणशास्त्री भी कहते हैं—"यौन गड़बड़ी—"

इन सब अनुमानों को इनके कहने वालों को छोड़कर सरलता से कोई स्वीकार नहीं कर सकता। अपनी पुस्तक "उड़न-तश्तरियाँ उतरी हैं।" में जार्ज अडमस्की और डेसमंड लेसाली ने उड़न-तश्तरियों पर एक खोज की है और उनके अनुसार उड़न-तश्तरियाँ सन् १२६० के लगभग भी सूचित हैं। १६१६ के बाद तो बहुत समाचार मिलते हैं। इस आधार पर यह कहना कि तश्तरियाँ हमारे ही जगत की खोज है असंगत प्रतीत होता है—क्योंकि १२६० और १६१६ में हमारा विज्ञान उन्नत नहीं

था। इस पुस्तक में जार्ज अडमस्की ने, जो कई वर्षों से तश्तरियों पर अन्वेषण कर रहे हैं, तश्तरियों के चित्र दिये हैं जो उन्होंने समय-समय पर लिये हैं। उन्होंने ही तश्तरियों पर समय-समय जो सूचनाएँ विश्वस्त सूत्रों से आई हैं—उन्हें संग्रहीत किया है। इस पुस्तक के बारे में एक विद्वान सज्जन से हाल में मुझे बात करने का सौभाग्य मिला। उनके अनुसार "यह उपन्यास लिखने का नया तरीका है।" जब हम उस पुस्तक के अधिकांश को सत्य मानने के लिये तैयार हैं तो केवल एक छोटे से भाग को लेखक निरी कपोल-कल्पित और मनगढ़न्त बनायेंगे यह कुछ युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। कुछ दूसरी पुस्तकें जो प्रकाशित हो चुकी हैं—"चंद्रमा पर उड़न-तश्तरी" और "उड़न-तश्तरियाँ।"

संयुक्त राज्य अमेरिका में 'उड़न-तश्तरियाँ' बनाने का गंभीर प्रयास चल रहा है। इसके डिजाइनर का कहना है कि यदि यह सफल हुआ तो यह १८०० मील से उड़ सकेगी। यह ऊपर नीचे तथा अगल-बगल जैसा चाहे जा सकेगी। इसका निर्माण स्टेनलेस स्टील से होगा और इसका स्वरूप चित्र १ के समान
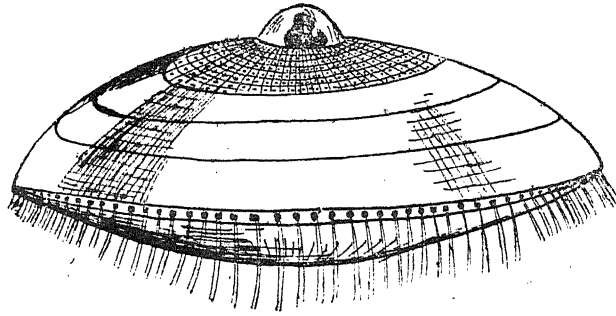
चित्र नं० १ फ्रास्ट के द्वारा निर्मित उड़न-तश्तरी ऐसी होगी
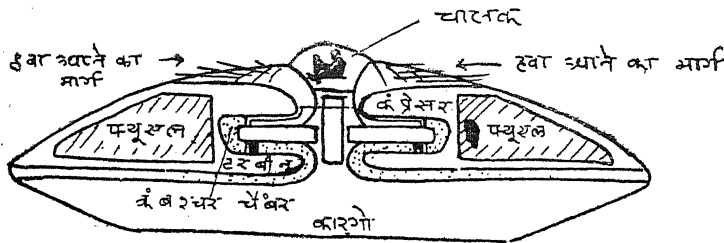
चित्र नं० २ उपर्युक्त उड़न-तश्तरी का मशीन-रचना

होगा। इस 'उड़न-तश्तरी' की डिजाइन ३५ वर्षीय अंग्रेज इंजीनियर जॉन सी० एम० फ्रास्ट हेनरी कोएन्डा नामक फ्रांसीसी वैज्ञानिक द्वारा निर्मित जेट-प्रयोग है। इस 'तश्तरी' की प्रणाली ऐसी होगी—वायु की फुहारें (jets) बाहर और नीचे की ओर तश्तरी के नीचे के छेदों से निकलेंगी। इसके कारण हवा तश्तरी के ऊपरी भाग से नीचे की ओर खींचेगी और परिणाम स्वरूप तश्तरी के ऊपरी भाग पर हवा का दबाव कम हो जावेगा। जब यह दबाव काफी कम हो जावेगा अथवा यह दबाव तश्तरी के निचले भाग की अपेक्षा कम हो जावेगा, तब तश्तरी ऊपर की ओर उड़ेगी। उत्कल्पना के अनुसार चालक जो

[शेष पृष्ठ २० पर]

मिस्र का शल्य विज्ञान

[जगपति चतुर्वेदी]

प्राचीन मिस्रवासियों ने आज से पाँच सहस्रों वर्ष जितना अभ्युदय कर दिखाया था उसके कुछ प्रमाण हमें आज भी सुलभ हैं। अपने पूज्य पुरुषों के मृत होने पर उनके शव की बड़े कौशल से रक्षा करने की विधि उन्होंने ज्ञात की थी जो बड़े स्तूप बनाकर उसमें समाधिस्थ कर दी जाती थी। समाधि के अंदर उस समय के विश्वासों के अनुसार मृत आत्मा की सान्त्वना तथा शुभकामना के लिए कुछ अन्य वस्तुएँ भी रख दी जाती थीं। इन रक्षित शवों को आज के शोधकर्त्ताओं ने ममी नाम से ज्ञात कर उनका आकार इतने दीर्घ काल से रक्षित देखकर बड़ा ही आश्चर्य प्रकट किया है। परन्तु शव के सहस्रों वर्ष रक्षित रहने से मृत पुरुषों के वंशानुगामियों को कुछ सान्त्वना भले ही मिला करती रही हो, हमें उनके द्वारा जो प्रत्यक्ष लाभ प्राप्त होता है वह उनके सम्पर्क में छोड़ रक्खी हुई वस्तुओं, आभूषणों, उपकरणों तथा आलेखों आदि के दर्शन से तत्कालीन जगत के एक खंड की सभ्यता का कुछ रूप का निदर्शन है। प्राचीन मिस्रवासी एक वनस्पति से एक सुदृढ़ आलेख पत्र सुरक्षित रूप में रख सकने के लिए निर्माण करने के लिए प्रसिद्ध हैं। उसे पेपिरस नाम दिया जाता है। उन पर लिखे हुए आलेख आधुनिक काल से अन्वेषकों के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं जिन्होंने प्राचीन समाधियों की खुदाई कर उन पेपिरस या आलेख पत्रों को कहीं रक्षित शव के साथ ही पड़ा पाया। इन आलेख-पत्रों में हमें चिकित्सा विज्ञान की झाँकी भी मिलती हैं। आज से पाँच हजार वर्षों एक पुरानी समाधि से एक आलेख-पत्र या पेपिरस एक एडविन स्मिथ नाम के शोधक ने प्राप्त किया था जिसे संसार का सर्वप्रथम शल्य विज्ञान-संबंधी लिखित ग्रंथ कहा जा सकता है। इस शल्य विज्ञान-संबंधी ग्रंथ को एडविन स्मिथ ने संसार के सम्मुख उपस्थित किया। इस पुस्तक को पूरी पुस्तक का प्रथम भाग ही कहा जा सकता है जो सुलभ हो सका है। इसमें सिर तथा रीढ़ (पृष्ठ वंश) के आघातों का वर्णन दिया है। लगभग पचास उदाहरण इन चोटों के निदान के सम्बन्ध में विशद विवरण युक्त दिए हैं।

एडविन स्मिथ द्वारा उद्धार की हुई इस पाण्डु लिपि में वर्णन किया है कि सिर और रीढ़ की इन चोटों का निर्णय कैसे किया जाय। सिर टूटने से यदि हड्डी में झुकाव हो गया हो तो उसे अंगुलियों द्वारा किस प्रकार निरीक्षण किया जाय। यदि मस्तिष्क पर टूटी हड्डी का दबाव पड़ रहा हो तो उस हड्डी को उठाने तथा शल्य क्रिया करने की विधि भी स्पष्ट बताई गई है। आजकल स्कंधास्थि टूटने पर उसकी चिकित्सा के लिए कभी-कभी रोगी की पीठ के नीचे बालू की बोरी रखकर अधिक समय तक शयन कराया जाता है। ऐसी ही विधि एडविन स्मिथ द्वारा अन्वेषित प्राचीन पाण्डु लिपि में लिखित मिलती है जिसे किसी कुशल मिस्रवासी शल्यकर्मी ने पाँच सहस्रों वर्ष पूर्व लिखा था।

भारतीय शल्य-विज्ञान की खोज में हमें सर्वप्रथम शल्य चिकित्सक रूप में काशी के राजा दिवोदास का नाम मिलता है जो धन्वंतरि नाम से ख्यात है। राजा को ऐसे कल्याण कर्म या विज्ञान साधना का किन स्थितियों में अवसर मिलता होगा इसे बता सकना आज कठिन ही है। परन्तु हमें मिस्र देश के प्राचीन शल्य-विज्ञान के सम्बन्ध में भी कुछ ऐसा संकेत

मिलता है कि आज से पाँच सहस्रों वर्ष पूर्व (ईसापूर्व तीन हजार वर्ष) मिस्र में इम्होटेप नाम का कोई राजा हुआ था जिसने अपने राजकीय ऐश्वर्य के वातावरण में रहकर ही शल्य-विज्ञान का ग्रंथ प्रणयन किया था। हमें एडविन स्मिथ द्वारा अन्वेषित शल्य-विज्ञान की पाण्डुलिपि के रचयिता के सम्बन्ध में मिस्र-राज का नाम लिए जाने की बात सुनने पर काशिराज दिवोदास की भी ऐसी की कीर्ति स्वतः स्मरण हो आती है। क्या यह संभव है कि भारत तथा मिस्र दोनों ही देशों में सभ्यता की उषा प्रस्फुटित हो रही हो और उनमें परस्पर आवागमन हो सकने का भी अवसर प्राप्त हुआ। अतएव किसी एक जाति में कोई राजा या समाज का अग्रणी व्यक्ति ही प्रधान शल्य चिकित्सक बना हो। उसी का संचित ज्ञान दूसरे देश में भी पहुँचकर राजा की कृति रूप में प्रसिद्ध हुआ हो। परन्तु खेद है कि हमें मूल भारतीय ग्रंथ आज तुलनात्मक अध्ययन के लिए सुलभ नहीं है।

विज्ञान की प्रगति का अन्वेषक ऐसी परिस्थितियों में किसी एक पक्ष या राष्ट्र को ही अपने तर्कों, धारणाओं को व्यक्त कर गौरव प्रदान करने का प्रयत्न नहीं कर सकता परन्तु यह बात स्वभावतया मन में उठती है कि कुछ ज्ञान की अधिक साधना ही होने से मिस्र देश को शल्य विज्ञान का प्रथम ग्रंथ आज संसार के सम्मुख प्रस्तुत करने का अवसर प्राप्त होता है अथवा उस यशप्राप्ति में उसके प्राचीन शवरक्षण धर्म का विशेष भाग है। भारत में शव को दग्ध करने या जल में प्रवाहित करने की प्रथा है। प्राचीन समय में भी यही प्रथा होने पर शव-रक्षा का प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु अपने धार्मिक विश्वासों से शव को समाधिस्थ करने के अतिरिक्त उसे अपने वैज्ञानिक कौशल से प्राचीन मिस्रवासियों ने सुरक्षित रखने की भी विधि ज्ञात कर ली जो संसार के अन्य सभी देशों से एक अनोखी विधि तथा कुशलता थी। हो सकता है कि इस चतुराई में उनके देश का शुष्क वातावरण भी अधिक सहायता पहुँचाता हो। परन्तु स्थितियाँ कुछ भी हों, आज सत्य रूप में शल्य विज्ञान का सर्वप्रथम लिखित ग्रन्थ सुरक्षित रख कर संसार को प्रस्तुत करने में समर्थ हो सका है। इस ग्रन्थ में हमें अनेक बातें पढ़ने को मिलती हैं।

मिश्र देशीय प्रथम शल्य चिकित्सक को मस्तिष्क का विशेष ज्ञान प्रतीत होता है। वह इसे क्रियाशीलता का केन्द्र समझता है। यह भी ज्ञान व्यक्त होता है कि मस्तिष्क का प्रभाव अंगों पर पड़ता था। पृष्ठवंश की क्रिया भी ज्ञात जान पड़ती है। पृष्ठ वंश को आघात पहुँचने पर अंगों में पक्षाघात होने का भी वर्णन प्राप्त होता है।

शल्य विज्ञान के ग्रन्थ के साथ ही हमें शल्य कर्म के प्रत्यक्ष प्रमाणों का अभाव नहीं मिलता। शव के साथ ही जम्बूरे (संदेश यंत्र), सुइयाँ (सूत्री) तथा अंकुशनुमा (वडिश) यंत्र तथा नश्तर (वृद्धि पत्र) प्राप्त हो सके हैं जो काँसा निर्मित है। अतएव यह सिद्ध होता है कि मिस्र में उस काल में शल्य कर्म के लिए काँसे के दृढ़ यन्त्र तथा शस्त्र निर्मित हुआ करते थे।

मिस्री समाधियों में रक्षित शवों को देखकर ज्ञात होता है कि शव को रक्षित रूप देने वाले कुशल कर्मकार आंतरिक अंगों को पृथक कर देते थे और वाह्य आकृति ही रक्षित करने का प्रयत्न करते थे। यह किसी विश्वास या सुविधा के कारण कदाचित होता हो। परन्तु वे पृथक निकाले अंग भी पृथक रूप में समाधि में ही रक्षित रखे जाते थे। अंगों को निकालने के लिए अनेक प्रकार के अंकुशनुमा (वडिश) शस्त्रों का उपयोग होता था। मस्तिष्क को कपाल से पूर्णतया पृथक कर लिया जाता तथापि शव के मुख को तनिक भी क्षति नहीं पहुँचती। इन कुशल कर्मकारों को शरीर विज्ञान का भी अच्छा ज्ञान रहा होगा। शव के आंतरिक अंगों को बड़े-बड़े घटों में सुरक्षित रखने के अतिरिक्त ये रुग्ण अंगों का प्रतिरूप भी काँसे तथ मृत्तिका से निर्मित कर रखते। स्वर्ण तथा रजत निर्मित अंग भी इन समाधियों में शुभकारी वस्तु रूप में रक्षित मिलते हैं।

रक्षित शवों को पवित्र मानने के कारण उनको चीर-फाड़ कर ज्ञान प्राप्त करने का अवसर शल्य-कर्मी को नहीं मिल सकता था, परन्तु वे शव को रक्षित रूप देने वाले कर्मकारों के कृत्य का दर्शन करने का अवसर पाते थे। शल्यकर्मी ही पुरोहित भी हो सकता था अतएव उसे ऐसे दृश्यों से ज्ञान प्राप्त करने का अवसर हो सकता था।

मिस्र की समाधियों में अन्य पाण्डुलिपियाँ और शिला लेख भी शल्य कर्म अथवा चिकित्सा विज्ञान के संबन्ध में प्राप्त होते हैं। उनमें कुछ को प्राचीन ग्रंथों से संगृहीत उल्लिखित किया गया है। उनमें औषधियों की विविध बातें हैं। स्त्रियों के रोग, सौन्दर्यवर्धन आदि विषयों का भी वर्णन तथा अनेक प्रकार के नुस्खों का उल्लेख पाया जाता है। व्रण की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं तथा उनके उपचार तथा शल्य कम के समय और प्रकार का भी उल्लेख मिलता है। इन सब विद्याओं को एक नियमबद्ध रूप में कर नई पीढ़ी के चिकित्सकों या शल्यकर्मियों या उनका अनुगमन करने का आदेश दिया जाता। नवीन चिकित्सकों को अपना पृथक मार्ग न बनाकर उन परम्पराओं तथा आदेशों का ही पालन करना पड़ता।

नवयुवक या नवीन चिकित्सकों को प्राचीन आचार्यों के आदेशों का अनुगमन करने पर रोगी के ऊपर कोई दुष्परिणाम होने पर भी कोई दोषा-रोपण का भय नहीं रहता परन्तु धीरे-धीरे विज्ञान का उत्कर्ष होने के स्थान पर अपकर्ष ही होता गया। कालान्तर में तो इतना ज्ञान ह्रास हुआ कि यथाथ विज्ञान का स्थान पहले अंधविश्वासों तथा विज्ञान के संयुक्त रूप ने लिया, परन्तु अधिक समय बीतने पर केवल अंध विश्वास का ही बोलबाला हो गया। फलतः यथार्थ ज्ञान साधकों अथवा चिकित्सकों को प्रकृति के मार्ग में बाधा डालने पर एक अपराधी बनने का ही अवसर पाने का युग हम कालान्तर में उपस्थित होना पाते हैं। ऐसी स्थिति में शल्य कर्म अथवा शोध कार्य कैसे हो सकता। यदि हम पहले के मिस्री ग्रंथों की तुलना बाद में लिखे गए उन ग्रंथों से करें जो समाधियों में प्राप्त हो सके हैं तो हमें ज्ञान के ह्रासोन्मुख होने का स्पष्ट ज्ञान होता है। कहीं-कहीं कुछ उन्नति होने के एकाकी अवसर भी अपवाद रूप में मिलते हैं। उदाहरणार्थ निषेधाज्ञा होने पर भी दाँत तथा आँख के शल्यकर्म का प्रचार हो सका। मूत्राशय से पथरी निकालने के लिए शल्यकर्म भी प्रचारित होने की बात पाई जाती है परन्तु यह ज्ञान एक वंश परम्परा रूप में उन लोगों में ही प्रचारित रह सका जो शल्य चिकित्सक नहीं होते थे। परन्तु पथरी निकालने की कुशलता एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी के अपने परिवार के सदस्यों को ही सिखाते रहते।

शल्य कर्म में सहायता के लिए लेपों, घोलों आदि की भी व्यवस्था हो सकी थी, परन्तु ज्ञान का पतन होने पर जो अवस्था आ पहुँची उसमें हम एक लेप का नुस्खा निम्न प्रकार पढ़ कर स्थिति में परिवर्तन का अनुमान भली भांति कर सकते हैं। नुस्खे में बताया गया था—

केंचुए का रक्त पका कर उसमें तेल मिला दें। फिर एक छछूँदर मार कर पकावें तथा तेल में डुबो दें। फिर गधे की लेड़ी दूध में घोल लें। इन सब के मिश्रित लेप को मंत्र पढ़ कर प्रयुक्त करें।"

एक बार उन्नति का गौरव प्राप्त कर पुनः कालान्तर में ह्रासोन्मुख होने की कथा मिस्र देश में ही सीमित नहीं है। अन्यान्य देशों और कालों में हम इसी प्रकार का चक्र चलता देख सकते हैं। मालूम नहीं वे क्या कारण तथा विशेष अवसर हैं, जब एक समय में एक भूखंड का मानव समुदाय विशेष उत्कर्ष का यश प्राप्त कर लेता है परन्तु कुछ समयों के पश्चात् उसी उन्नति प्रवाह को अग्रसर करते रहने को कौन कहे, स्थिर रखने में भी उस जाति के वंशज या पश्चात्गामी जन सफल नहीं हो पाते। फलतः अन्धविश्वासों का विकट राज्य तथा ज्ञान विज्ञान का अवसान काल स्थापित दिखाई पड़ता है। हमारे देश में भी ऐसे ही चक्र का निर्देशन किया जा सकता है, जहाँ चिकित्सा विज्ञान क्षेत्र में

हम अपने प्राच्य ग्रन्थों में अन्यान्य विभागों के स्थान चक्र मन्त्र का प्रवेश भी पाते हैं। यंत्र का अर्थ यहाँ कल या कोई उपकरण न होकर कुछ रेखांकित संख्या चक्र मंत्र लेखन या तावीज ही है। ऐसी ही दशा अन्य देशों में भी कभी बड़े तीव्र वेग से अधिक दिनों तक प्रसारित रही। औषधियों में भी चिकित्सा के स्थान पर हम विलासिता की वृद्धि करने में सहायक बाजीकरण औषधियों की विशेष चर्चा पाते हैं। ज्ञान का लोप होने और शोध धारा का वेग अवरुद्ध होने पर ऐसे प्रश्रयदाता ही पाए जाते होंगे जो लोक कल्याण की जगह अपनी इन्द्रिय लिप्सा के लिए चिकित्सा विज्ञान के बचे-खुचे आराधकों से औषधियों की माँग करते होंगे। फलतः मिस्र में भी ज्ञान के पतनकाल में हम यथार्थ चिकित्सा विज्ञान साधकों के स्थान पर विलासप्रिय रमणियों के उपभोग तथा आमोद के लिए विविध श्रृङ्गार-द्रव्यों, सुगन्धियों आदि का ही निर्माण करने वाले व्यक्तियों को ही ऐसे कार्यों में संलग्न पाते हैं। इन्हीं द्वारा वाजीकरण औषधियाँ भी पुरुष वर्ग के लिए निर्मित होती थीं। मनुष्य को पशु वर्ग तक पहुँचाने के लिए घोड़े (वाजि) के सदृश भोग लिप्सा उत्पन्न करनेवाली औषधियाँ प्रचारित करनेवाले कुछ विशेष व्यक्तियों को ही दोष देने के स्थान पर तो हम उस काल के समाज की हीन स्थिति होने को ही ऐसे ज्ञानापकर्ष का कारण मानना अधिक उचित समझेंगे। इस प्रकार जिन विज्ञान शोधकों ने कभी लोककल्याण, की भावना से अपने बुद्धिकाल से जो चिकित्सा पद्धति प्रचारित की उसी काल का समय ने इतने नीचे स्तर पर पहुँचा कर मान की ओछी वृत्ति का परिचय दिया।

संसार में अनेक भूखंडों के मानव समुदाय में हम आज खतना या जननेन्द्रिय के अग्रभाग का शिथिल चर्म कटवा देने की परम्परा प्रचलित पाते हैं। यह पद्धति कदाचित पहले-पहले मिस्र देश में ही प्रचलित हुई जिसका प्रारंभ मुसलमानी धर्म के उदय के कई सहस्रों वर्ष पूर्व आज से छः सहस्रों वर्ष पहले ही (४००० ईसा पूर्व) हो चुका होगा। नील नदी की घाटी में यह परिपाटी विशेष जातीय चिन्ह या स्वच्छता के कारण ही प्रचलित हुई होगी। परन्तु उसने अब धार्मिक कृत्य का रूप ही धारण कर लिया है, जिसे मुसलमानी कराना कहते हैं। कहा जाता है कि सबसे पहले किसी मिस्री राजा या सरदार ने अपने पुत्र का खतना इस दृष्टि से कराया कि उसका पुत्र अन्य पुरुषों के बच्चों से विभिन्न ज्ञात हो। किसी अन्य मिस्री राजा ने इस पद्धति को एक जातीय पद्धति ही बना दिया। इसे शल्य कर्म करनेवाला पुरोहित ही सम्पादित करता था। इस संस्कार या कृत्य का चित्र आज भी सुरक्षित है। एक सुप्रसिद्ध प्राचीन मंदिर में पत्थर पर अंकित एक चित्र शल्य-कर्मी पुरोहित को राजकीय शिशु के सम्मुख झुककर खतना करने का दृश्य उपस्थित करता है। उस शिला चित्र में राजकीय शिशु सीधे खड़ा है और उसे पीछे से कोई धाय पकड़े घुटने के बल बैठी है। शल्य कर्मी के बाएँ हाथ में काटे जानेवाले चर्म का भाग है और दाहिने हाथ में चकमक का एक नोकीला शस्त्र लेकर वह चमड़ा काटने का उपक्रम कर रहा है। चारों ओर दर्शक घेरे पड़े हैं, परन्तु सभी की मुख मुद्रा एक आदर की भावना प्रदर्शित करती है। जिससे हमें यह ज्ञात होता है कि यह शिशु अवश्य ही राजकीय होगा। इस तरह खतना की पद्धति पहले राजवंश में प्रारम्भ हुई और कालान्तर में राजवंश संभ्रान्त पुरुषों तथा योद्धाओं के पुत्रों को एक विशिष्ट वर्ग का व्यक्त करने वाली विधि प्रचारित हुई किन्तु ज्ञात होता है कि बाद में यह पद्धति मिस्र देश के सम्पूर्ण पुरुष निवासियों के लिए अनिवार्य कर दी गई। यही नहीं, विदेश से आगंतुक प्रमुख पुरुषों को भी राजा के सम्मुख जा सकने के पूर्व अपना खतना करा लेना पड़ता था।

आज यह कह सकना तो बड़ा ही कठिन ही है कि मिस्र की सभ्यता के भी पूर्व नव प्रस्तर युग या प्रागैतिहासिक काल के व्यक्तियों में भी खतने का प्रचार प्रारम्भ हुआ था या नहीं। मांस खंड का

रक्षित रूप या मनुष्य का कोई प्रस्तरावशेष यह पद्धति प्रकट कर सकने वाला सुलभ नहीं हो सका है अतएव प्राचीनतम उदाहरण प्रस्तर चित्र रूप में ही प्राप्त होने से मिश्र को खतना पद्धति का सर्व प्रथम प्रचारक या उद्घाटक कह सकते हैं। जिन अन्य जातियों ने कालान्तर में मिस्र की सभ्यता का अनुगमन किया उनमें भी हम इस खतना पद्धति के प्रचार का प्रमाण पाते हैं। भूमध्य सागर तथा एशिया के मिस्र-अनुगामी देशों में हम फिलस्तीन के यहूदियों, प्राचीन असीरिया वासियों तथा चीन वासियों का नाम ले सकते हैं जहाँ खतना तो कराने का प्रचार हुआ परन्तु उसका कारण स्वच्छता बताया गया परन्तु मुहम्मद साहब ने पुरुषों के लिए खतना कराना अनिवार्य तथा स्त्रियों के लिए ऐच्छिक घोषित किया अतएव मुसलमान देशों में खतने के प्रचार का कारण धार्मिक परम्परा ही है। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि मुहम्मद साहब ने इस पूर्व प्रचलित पद्धति को केवल स्वीकार किया। वे इसके प्रथम उद्घाटक नहीं थे। खतने रूप में जननेन्द्रिय के अग्र-भाग के शिथिल चर्म का शल्य कर्म बहुत पहले से ही प्रचारित था। खतना से हमें पुरुष-जननेन्द्रिय के शल्य कर्म का ही अनुमान होता है। परन्तु हम अफ्रिका में आज भी स्त्रियों की जननेन्द्रिय के वाह्य अंग का खतना होते पा सकते हैं।

स्त्रियों के जननेंद्रिय का खतना कराने की पद्धति अन्यत्र भी प्रचारित थी। मुहम्मद साहब ने इसकी अनुमति देकर मुसलमान स्त्रियों के लिए खतना का विधान प्रचारित किया किन्तु स्त्रियों का खतना स्त्री शल्य कर्मी ही कर सकते थे। इसके विपरीत अन्य देशों में ऐसा कुछ प्रतिबन्ध नहीं रक्खा गया। इसलाम धर्म के अनुयायियों को छोड़ कर भी हम स्त्रियों के जननेंद्रिय के खतना का प्रचार मिस्र प्राचीन एशिया तथा रेडइंडियन में प्राचीन-काल में पाते हैं।

स्त्रियों में खतना परिपाटी का कारण कह सकना कठिन ज्ञात होता है। कदाचित इसका उद्देश्य कौमार्य (कुआरापन) या अविवाहित बालिका की सतीत्व रक्षा रही हो। अविवाहित कुमारियों के जननेन्द्रिय का खतना कर ऊपर एक धातु की अँगूठी या ताला पहना दिया जाता। पालीनीशिया की मूल जातियों में अब भी कुमारी बालिकाओं के खतना कृत्यों को दो संस्कारों में विभक्त देखा जा सकता। पहले संस्कार में जब बालिका के १० या १२ वर्ष की आयु होने पर आती है तो बड़ी धूम-धाम से एक आयु की बालिकाएँ एकत्र की जाती हैं और खतना संस्कार सामूहिक रूप में संपादित होता है। इसके बाद बालिका विवाह योग्य आयु की मानी जाने लगती है। जब वह भावी पति के हाथों सौंप दी जाती है तो दूसरा संस्कार संपादित होता है। कोहबर की रात्रि वर उस अँगूठी या ताला को पृथक करता है। इसी प्रकार की कुछ प्राचीन विधि का विकार मध्य युग में सतीत्व-रक्षक पेटी के रूप में हो सका होगा।

एक दूसरी विचित्र प्रथा पुरुष को बधिया करने या नपुंसक बनाने की है। शिखंडी का नाम तो हमें भारतीय साहित्य में भी मिलता है, परन्तु शल्य कर्म द्वारा नपुंसक बनाने का यह उदाहरण था या केवल नाम का ही भ्रम था, इसे हम नहीं कह सकते। परन्तु विदेशों में तो पुरुष को शल्य कर्म से हिजड़ा बनाने की एक परम्परा ही बन गई थी। मिस्र में हम ऐसी पद्धति उस पुरुष को दंड देने के रूप में पाते हैं जो किसी स्वतन्त्र नागरिक रमणी का सतीत्व भंग करने का अपराधी होता। अन्य देशों में भी हम ऐसे विधान पाते हैं, जिसमें किसी सम्भ्रान्त महिला के दोषारोपण मात्र कर देने पर पुरुष की जननेन्द्रिय काट कर उसे नपुंसक बना दिया जाता। किन्तु पश्चिमी एशिया के देशों में तो ऐसे नपुंसकों का व्यवसाय-सा फैल गया जो राजा या सरदारों के महल में बहुसंख्यक पत्नियों को निरापद रूप से सेवा तथा रक्षण कर सकें। चीन में भी हम युद्ध में बन्दी हुए व्यक्तियों को नपुंसक बना कर रानियों के लिए सेवक नियुक्त किए जाने की प्रथा प्राचीनकाल में पाते हैं। रोम में भी ऐसे नपुंसकों की प्रथा थी जो दूर देशों में रणभूमि में ही प्रायः रहनेवाले योद्धाओं की पत्नियों के सेवक बन कर रहते।

रसायन-शास्त्र व चिकित्सा

[श्री धरनीधर, एम० एस-सी० फाइनल, प्रयाग विश्वविद्यालय]

मानव-जीवन को क्षत-विक्षत करने वाली अनेक व्याधियों से कौन अपरिचित है ? कितने व्यक्ति इन रोगों की बाधा पार कर वृद्धत्व-लाभ करते हैं। निम्नलिखित अंकों से स्पष्ट हो जावेगा कि संसार के विभिन्न देशों की अपेक्षा भारत में कितने अधिक शिशु मरते हैं।

मृत्यु प्रति सहस्र शिशुओं में

भारतवर्ष	(१६३८)	१६७
अमेरिका	(१६४०)	४६
स्विट्जरलैंड	(१६४०)	३८
इङ्गलैंड व वेल्स	(१६४०)	५५

एक समय था जबकि मानव-जाति में विज्ञान की सर्वतोमुखी उन्नति नहीं हुई थी; लोग जानते ही नहीं थे कि बीमारियाँ क्यों होती हैं। उस समय यह विश्वास था एक समय आयगा जबकि ऐसी दवा बनाई जायगी जो सब बीमारियों को अच्छा कर सके। संसार उस अमृत-बाण की खोज में आदि काल से व्यस्त रहा। पर वह न मिला।

मनुष्य के उस दुर्भाग्य-अंधकार में रसायन-शास्त्र प्रकाश पुँज लेकर आया। उसके द्वारा लोगों ने सहस्रों की संख्या में शुद्ध औषधियाँ बनाना सीखा। और आज वह समय आ गया है जबकि लगभग समस्त औषधियाँ रसायनाचार्यों द्वारा ही बनाई जाती हैं।

उदाहरणतया हल्के दस्तों की दवा जिसे हिन्दी में घूटी (Laxatiue) कहते हैं लीजिये। वह या तो किसी पौधे से निकाली जाती है या कोई निर्जीव (Inorganic) पदार्थ जैसे एॅप्सम साल्ट (Epsom-Salt) ग्लौबरस-साल्ट (Glauber's Salt), मिल्क ऑफ मेगनेशिया (Milk of Magnesia) होती है। कुछ जुलाब जैसे कैलोमल (Calomel) तथा मैगनेशियम साइट्रेट (magnesium citrate) भी रसायन-शास्त्र द्वारा बनाये जाते हैं।

आज हम कल्पना भी नहीं कर सकते कि १८३२ में शल्य-चिकित्सा बिना बेहोश किये हो सकती थी। कितने खेद की बात है कि यद्यपि आज से पाँच सौ वर्ष पहिले लोग ईथर (ether) को तो जानते थे किन्तु यह नहीं जानते थे कि वह बेहोश करने के लिए भी प्रयोग किया जा सकता है। वह इस कार्य के लिए सर्वप्रथम १८४६ में प्रयुक्त किया गया। लगभग १८३४ में क्लोरोफार्म (chloroform) का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। आजकल साइक्लोप्रोपेन (cyclopropone) भी बेहोश करने के लिए प्रयुक्त की जा रही है। किन्तु इन सबमें इथाईलीन (ethylene) श्रेष्ठ है।

इसके अतिरिक्त दर्द को कम करने के लिये रसायनिकों ने ऐसे द्रव्य निकाले हैं जो व्याधि-ग्रस्त स्थान-विशेष को सुन्न कर देते हैं। इनको अंग्रेजी में Local anaesthetics कहते हैं। कोका की पत्तियों से रसायन-क्रियाओं द्वारा प्राप्त कोकेन (cocaine) इस प्रकार की औषधि है। यह दाँत निकालने तथा अन्य छोटे-मोटे चीर-फाड़ के कामों में प्रयुक्त की जाती है।

किन्तु कोकेन (cocoaine) एक विषयुक्त पदार्थ है। अतः रसायनिकों ने संश्लेषण-क्रिया द्वारा एक नया किन्तु नितान्त अघातक तथा पूर्ण रूप से प्रभावशाली पदार्थ तैयार किया जिसे प्रोकेन (procaine) कहते हैं।

नेत्र-चिकित्सक एट्रोपीन (atropine) नामक औषधि का बहुधा प्रयोग करते हैं। यह पौधों से

रसायनिक क्रियाओं द्वारा निकाली जाती है। यह एक द्रव्य-विशेष है जो आँखों में डाल दिया जाता है, जहाँ पर यह पुतली को कतिपय परीक्षाओं के लिये विस्तृत कर देता है।

रासायनिकों ने कीटाणु-विनाशक पदार्थ (antiseptics) तैयार कर, चिकित्सकों को बहुत सहायता पहुँचाई है। यह आन्तरिक तथा बाह्य-दोनों ही प्रकारों से प्रयुक्त किये जाते हैं। पास्टुर तथा लिस्टर के काल से, जिन्होंने कि अनेक विषैले कीटाणुओं तथा तज्जनित रोगों पर बहुत खोजें की हैं, अनेक कीटाणु-विनाशक पदार्थ तैयार हो चुके हैं। कॉरोसिव-सब्लिमेट (corrosive sublimate) फिनौल (phenol जिसको कि बहुधा कॉरबौलिक ऐडिस कहते हैं), हाइड्रोजन पैरॉक्साइड (hydrogen peroxide) तथा एल्कोहोल (alcohol) या मद्यसार इनमें मुख्य हैं। कॉरोसिव सब्लिमेट तथा फिनौल इतने अधिक विषैले हैं कि वे खाये नहीं जा सकते। यद्यपि मद्यसार का प्रयोग विस्की तथा जिन (gin) के रूप में होता है तथापि वह विषैला है। इन द्रव्यों में मद्यसार निविष्ट दशा (concentrated state) में उपस्थित है। आॅयोडीन (iodine) का प्रयोग मद्यसारिक घोल (alcoholic solution) में जिसे टिन्कचर ऑफ ऑयोडीन (tincture of iodine) कहते हैं होता है। आयडोफार्म (iodoform) बहिर्गत-कीटाणु-विनाशक (external antiseptic) के रूप में प्रयुक्त होता है। कुछ वर्षों से मरक्यूरोक्रोम (mercurochrome) तथा बैन्जाइल रिसौरसिनौल (benzylresorcinol) भी इसी कार्य के लिए प्रयोग किये जाने लगे हैं।

किन्तु चिकित्सकों को आवश्यकता थी एक ऐसे कीटाणु-विनाशक की जो कि खाया जा सके तथा जो शरीर में प्रवेश कर गुर्दे, मूत्राशय तथा रक्त के कीटाणुओं को मार सके। यह एक कठिन समस्या थी क्योंकि इसके लिये अपेक्षा थी एक ऐसी वस्तु के आविष्कार की जो हलकी दशा (diluted state) में इतनी विषैली तो हो कि कीटाणुओं का विनाश कर सके किन्तु इतनी अधिक भी न हो कि जीवन ही समाप्त कर दे। जहाँ तक मूत्राशय का सम्बन्ध है हैक्साइल रिसौरसिनौल (hexylresorcinol) काफी उपयोगी सिद्ध हुआ है। यह पदार्थ रसायनिकों के अथक धैर्य का उज्ज्वल उदाहरण है। इन्होंने अपनी अविश्रांत खोजों के उपरांत यह जान लिया है किसी मूल तत्वों के समुदाय-विशेष (group) के क्या क्या गुण हैं। इन्होंने पाया कि रिसौर्सिनौल में समस्त आवश्यक गुणों का अभाव है और सोचा कि यह अभाव छः कार्बन के हैक्साइल-समुदाय (hexyl group of six carbon atoms) को रिसौरसिनौल में मिला देने से दूर हो जावेगा। ऐसा ही किया गया और जो सम्मिश्रित पदार्थ बना उसमें पिये जाने वाले कीटाणु-विनाशक (internal antiseptic) के समस्त उपयोगी तथा आवश्यक गुण थे। अन्तर्गत छूत की बीमारियों के लिए कुछ सजीव रंग (organic dyes) जैसे एक्रीफ्लेविन (acriflvin) तथा जैनीशियन-वायलेट (gentian violet) प्रयोग किये जा रहे हैं।

मनुष्य को कष्ट देने वाले रोगों में उपदंश का भी प्रमुख स्थान है। गणना के उपरांत पता चला है कि संसार के पागलों का चतुर्थांश उपदंश के ही कारण विकृत-मस्तिष्क होता है। बहुत से बच्चे या तो मरे ही हुये पैदा होते हैं या विकलाँग होते हैं क्योंकि उनके माता अथवा पिता में से किसी को उपदंश होता है। इस रोग की उत्पत्ति का कारण एक जन्तु-जगत का सर्पिल (spiral like) कीटाणु होता है। ऐलिरिख तथा उसके सहकारियों ने आर्सेनिक (arsenic) का एक सम्मिश्रित पदार्थ बनाया जिसको आर्सेनोफैमीन (arsenophemine) कहते हैं। यह आर्सेनिक (arsenic) का ६०६ वां पदार्थ होने के कारण "६०६" के नाम से पुकारा जाने लगा। इस औषधि का अविष्कार अपने लोक-कल्याणकारी परिमाणों के कारण संश्लिष्ट रसायन-शास्त्र के क्षेत्र में एक उज्ज्वल तथा उच्च स्थान का अधिकारी है।

रसायनौषधि विज्ञान (chemotherapy) में जर्मन रसायनिक जरहार्ड डोमेख (Gerhard Domagk) द्वारा आविष्कृत पैरा-ऐमीनो बैन्जीन सल्फोनेमाइड (para-amino-benjene sulphonamide) का भी विशेष स्थान है। यह कोकाई (cocci) नाम कीटाणुओं को मारने के लिये रामबाण औषधि है। इस वंश का स्ट्रैप्टोकस (streptococcus) नामक कीटाणु बहुत घातक होता है। इससे गर्दन तोड़ बुखार हो जाता है, जिसके रोगी शत प्रतिशत मर जाते थे। लेकिन अब इससे कोई भी नहीं डरता। सूजाक तथा अन्य मूत्रनली सम्बन्धी रोग भी इसके द्वारा अच्छे हो जाते हैं।

बहुधा रोगी को नींद नहीं आती तथा डाक्टर उसको नींद लाने की दवा देते हैं। अंग्रेजी में जो स्नायुओं को आराम पहुँचाती हैं वे सीडेटिव (sedative) कहलाती हैं तथा जो नींद लाती हैं वे हिपनोटिक (hypnotic) कहलाती हैं। ये दोनों आपस में किसी हद तक सम्बन्धित हैं। पोटैशियम ब्रोमइड (potassium bromide) तथा इसी भाँति के अन्य ब्रोमाइड (bromide) स्नायुओं को आराम पहुँचाने के लिये सर्वप्रथम प्रयुक्त किये गये। मरफिया (morphine) भी अत्यन्त शक्तिशाली सिडेटिव (Sedative) है किन्तु यह दवा लत डालने वाली औषधियों में सबसे तेज है इसलिये इसका प्रयोग हानिकारक भी है। नैम्बूटल (nambutal) तथा पेन्टाबार्बीटोल ऐसे हिपनोटिक (hypnotic) हैं जिनकी लत नहीं पड़ती है।

मानव-शरीर में बहुत सी ऐसी गांठें (glands) होती हैं जिनसे ऐसे द्रव्य रसते हैं जो रक्त में मिलकर शरीर की कार्य-प्रणाली को ठीक रखते हैं। ये मिश्रित पदार्थ हार्मोन (hormone) कहलाते हैं। नामक गांठ से ऐसा द्रव्य रसता है जो कि रक्त में चीनी के जलने (Oxidation of sugar) को नियंत्रित करता है। यदि यह होर्मोन न हो तो सारे शरीर को चीनी (glucose sugar) विषाक्त बना देती है। व्याधि की इस दशा को बहुमूत्र रोग (diabetes) कहते हैं। डा० बैन्टिग तथा उनके सहकारियों ने जानवरों की गांठ से इस होर्मोन, इनसुलीन (incsulin) को एक विशेष रसायनिक प्रक्रिया द्वारा अलग कर बहुमूत्र रोग के अनेक पीड़ितों का सफल उपचार किया है। सहस्रों मनुष्यों के नष्टप्राय जीवन को इनसुलीन ने बचाया है।

गर्दन के गांठ (thyroid gland) से एक और रस रसता है जिसे थायरौक्सीन (tyroxine) कहते हैं। यदि इस गांठ में से पर्याप्त मात्रा में थायरौक्सीन (thyroxine) नहीं निकलता तो गला फूल जाता है। गांठ की इस व्याधिग्रस्त दशा को घेघा कहते हैं। रसायनिकों ने थायरोक्सीन का शुद्ध रूप में केवल पृथकीकरण ही नहीं किया है परन्तु उसका संश्लेषण भी किया है।

गुर्दे की ऊपर की गांठ से एक और होर्मोन रसता है जिसे ऐड्रेनिलीन (adreniline) कहते हैं। यह हॉर्मोन हृदय को शक्ति प्रदान करता है। यह स्नायु-तन्तुओं का संकुचन करता है तथा स्वास रोग (asthema) को रोकता। ऐड्रेनिलीन (adrenaline) का शुद्ध रूप से पृथक्करण तथा संश्लेषण रसायन शास्त्र की एक बड़ी सफलता है।

स्थान की कमी के कारण उन असंख्य सम्मिश्रित पदार्थों का जो रसायन शास्त्रज्ञों द्वारा निर्मित किये गये हैं, वर्णन नहीं किया जा सकता किन्तु ऊपर दिये गये कतिपय उदाहरणों से पाठक गण यह ठीक ठीक समझ जायेंगे कि मनुष्य के कष्टों तथा व्याधियों का अपहरण करने के लिये रसायनिकों ने कितने सफल प्रयत्न किये हैं तथा कितने और किये जा सकते हैं। जिस असंख्य धनराशि को संसार के विभिन्न राष्ट्र बड़ी-बड़ी सेनायें सुसज्जित करने में प्रति वर्ष व्यय करते हैं यदि उसका आधा भाग भी औषधि सम्बन्धी खोजों में व्यय किया जाय, तब मानव चिकित्सा पद्धति में आश्चर्यजनक उन्नति हो सकती है।

ब्रह्मांड और डा० आइन्सटीन[*]

डा० आइन्सटीन आधुनिक युग के श्रेष्ठतम वैज्ञानिक हैं। उनके नाम से प्रायः सभी परिचित हैं किन्तु उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के सम्बन्ध में भारी भ्रम है। कोई उन्हें परमाणु बम का आविष्कर्त्ता समझता है और कोई ज्योतिषाचार्य। यद्यपि उनके सिद्धांत आधुनिक विज्ञान की आधार-शिलाएँ हैं तथापि वे साधारणतया ज्ञात नहीं हैं। विज्ञान के विद्यार्थी भी डा० आइन्सटीन के नाम से भयभीत होते हैं क्योंकि वे उनके सिद्धांतों को अपनी समझ के परे समझते हैं। वास्तव में डा० आइन्सटीन ने भी अन्य वैज्ञानिकों की भाँति इस प्रवृति, (Nature) संसार (World) और ब्रह्मांड (Universe) को समझने की चेष्टा की है; तारों की गति, गुरुत्वाकर्षण शक्ति, प्रकाश, देश (Sapace), काल आदि को मूल रूप से समझने का उन्होंने भी प्रयत्न किया है। उनकी भी विधि वैज्ञानिक रही है। उनके निष्कर्ष सुगम हैं और आधुनिक विज्ञान को मान्य हैं। यद्यपि निष्कर्ष-प्राप्ति की विधि कठिन और गणित रूपी जटिल भाषा से युक्त है तथापि निष्कर्ष सरल हैं। उनसे हमारे मूल विचारों और सिद्धान्तों को आघात पहुँचता है और इसीलिये हम उन्हें मानना नहीं चाहते। किन्तु यदि हम उनकी विधि को बाह्य एवं निष्पक्ष रूप से देखें तो हमें उनके निष्कर्षों को स्वीकार करने के लिये बाध्य होना पड़ेगा। यह तो कहा नहीं जा सकता कि वास्तविकता यही है क्योंकि वास्तविकता भाषा द्वारा व्यक्त नहीं की जा सकती। तथापि ये निष्कर्ष युक्ति-युक्त हैं और वैज्ञानिक विधि की कसौटी पर खरे उतरते हैं अतः इनका निष्पक्ष भाव से अध्ययन करना चाहिये।

डा० आइन्सटीन ने १६०५ में सापेक्षवाद के मूल सिद्धांतों का निरूपण किया था। उस समय वह केवल २६ वर्ष के थे और भौतिक-विज्ञान के बड़े अच्छे विद्यार्थी एवं अन्वेषक थे। ११ वर्षों बाद १६१६ में उन्होंने अपने सापेक्षवाद के सिद्धांतों को विस्तृत किया। १६१६ के पूर्ण सूर्य-ग्रहण के अवसर पर उनके सिद्धांतों की पुष्टि हुई। १६२१ में आपको भौतिक-विज्ञान के उस वर्ष के महानतम कार्य पर नोबेल पुरस्कार मिला।

डा० आइन्सटीन के विचारों में एक विशेषता है और वह यह कि वह किसी भी बात को स्वयंसिद्ध नहीं मानते, प्रत्येक सिद्धांत को मूल रूप से परीक्षा करना—यही उनका गुण है। बाल्य काल से ही कुछ विचार हममें दृढ़ीभूत हो जाते हैं। वे विचार कैसे उत्पन्न हुए और क्यों इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता। किन्तु हम उनके विरुद्ध सोचने का भी साहस नहीं करते उनके छोड़ने की बात तो रही दूर। ये ही दृढ़ीभूत एवं मस्तिष्क में चिपके निराधार विचार भ्रान्ति-उत्पादक होते हैं। डा० आइन्सटीन ने इन्हीं विचारों से अलग हटकर वैज्ञानिक कार्य किया है। और उनके निष्कर्ष भयावह। किन्तु बात ऐसी नहीं है। उनके निष्कर्षों को समझने के लिये हमें आरंभ से अपने प्रत्येक विचार की परीक्षा करनी चाहिये और कदाचित् तब उनके निष्कर्ष सरल जान पड़ेंगे।

१. यूक्लिड ज्यामिति—

एक सीधा सा प्रश्न है कि जिस यूक्लिड ज्यामिति का अध्ययन किया जाता है वह क्या ठीक है। आखिर, यूक्लिड ज्यामिति है क्या? इसमें कुछ चीजें स्वयंसिद्ध मान ली जाती हैं और तब इन स्वयं-सिद्ध विचारों से तार्किक एवं युक्ति-युक्त रीति से

[*] इस लेख की सामग्री मुख्यतया The Universe and Dr. Einstein नामक पुस्तक से ली गई है।

आगे बढ़ा जाता है। फलतः ज्यामिति के सिद्धांत ठीक लगते हैं। किन्तु क्या कभी इस पर भी विचार किया गया कि वे स्वयंसिद्ध विचार ठीक हैं या नहीं ? उदाहरणतया सीधी रेखा की परिभाषा में यह कहा जाता है कि यह दो विन्दुओं में सबसे कम दूरी वाली रेखा है। कागज पर तो यह बात ठीक लगती है किन्तु यदि किसी गोले की सतह पर इस बात को देखा जाये तो ज्ञात होगा कि इस सतह पर दो विन्दुओं की सबसे कम दूरी वाली रेखा सीधी रेखा न होकर एक वक्र रेखा होगी। इसी प्रकार ज्यामिति में यह सिद्ध किया जाता है कि एक त्रिकोण के कुल कोणों का जोड़ १८०° के बराबर होता है। यह बात कागज पर खींचे त्रिकोणों के लिये तो सही है किन्तु उस गोलीय सतह के लिये ठीक नहीं है। उस पर ऐसे त्रिकोण भी बनाये जा सकते हैं जिनके कुल कोणों का जोड़ १८०° से अधिक हो अथवा कम। अतः सम्पूर्ण यूक्लिड ज्यामिति निराधार है। मेरा विश्वास है कि इस प्रकार मूलरूप से सोचने की कला से बहुमत अनभिज्ञ है; अतः यह निष्कर्ष बहुमत को खटकता है; किन्तु इसमें कुछ तथ्य तो है ही।

२. देश और काल (Space and time)—

आगे बढ़ने पर और भी अनेक नवीन विचारों से परिचय प्राप्त होता है। दूसरा दिलचस्प सवाल है कि काल क्या है और देश अथवा आकाश क्या है ? ये दोनों प्रश्न एक साथ इसलिये किये गए हैं कि इनका उत्तर एक साथ देने में सुविधा होगी। काल को देश से भिन्न माना जाता है, साधारणतया ऐसा समझा जाता है कि ये दोनों अलग-अलग चीजें हैं। किन्तु यदि सूक्ष्म रीति से इस पर विचार किया जाये तो ज्ञात होगा कि वास्तव में ये दोनों एक दूसरे पर आधारित हैं और एक का दूसरे के बिना कोई अस्तित्व ही नहीं। अर्थात् यदि देश न हो तो काल का कोई अस्तित्व नहीं रहेगा। इसी भाँति यदि काल न हो तो देश का अस्तित्व नहीं रहेगा। पृथ्वी के सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाने में जितना समय लगता है उसको हम एक वर्ष कहते हैं। अन्य ग्रह सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाने में या तो कम समय लेंगे या अधिक। अतः अन्य ग्रहों के वर्ष का परिणाम हमारे वर्ष के परिणाम से पूर्णतया भिन्न होगा। यदि ग्रहों के स्थान इस प्रकार परिवर्तित हों कि उनकी वर्तमान दूरी सूर्य से घट जाये या बढ़ जाये तो उनके सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाने का काल, अर्थात् वर्ष का परिमाण भी घट बढ़ जायेगा। इससे यह निष्कर्ष निकला कि देश के परिवर्तन से काल में भी परिवर्तन होता है। और यदि यह कल्पना की जाये कि न तो कोई सूर्य है और न ग्रह तो न चक्कर लगाने वाला रहेगा और न वह जिसके चारों ओर चक्कर लगाया जाये। अतः वर्ष का विचार ही लुप्त हो जायेगा। जिस प्रकार सूर्य और ग्रहों के लुप्त होते ही वर्ष के विचार का अस्तित्व जाता रहता है, उसी प्रकार देश के न होने से काल का विचार लुप्त हो जाता है। अतः दोनों का एक दूसरे से सम्बन्ध है और इन दोनों को पृथक् नहीं नहीं किया जा सकता।

३. चार विस्तार (Four Dimensions):—

साधारणतया चार विस्तारों वाला विचार कठिनतम समझा जाता है किन्तु डा० आइन्सटीन का कहना है कि इस विचार से सरल और कोई विचार हो ही नहीं सकता। आपने निम्नलिखित उदाहरण से इसको स्पष्ट किया है।

दिल्ली से कलकत्ता जाने वाली रेल से आरंभ कीजिये। इसमें एक ही विचार का प्रयोग होता है—मान लीजिये लंबाई। किन्तु लंबाई से ही आप दिल्ली और कलकत्ते के बीच में रेल की स्थिति को नहीं समझा सकते। आपको उसमें समय भी बताना होगा मान लीजिये कि दिल्ली और कलकत्ते ११०० मील दूर हैं और रेलगाड़ी की चाल १० मील प्रति घंटा है। दिल्ली से प्रातः ६ बजे गाड़ी चलती है। इसकी स्थिति को बताने के लिये आपको केवल लंबाई के विस्तार अर्थात् दिल्ली और कलकत्ते के रास्ते को ही नहीं बताना पड़ेगा अपितु समय भी बताना पड़ेगा। यदि आप बतादें कि दिल्ली और

कलकत्ते का रास्ता यह है तो रेलगाड़ी की स्थिति का कोई भान न होगा। यदि आप कहें कि प्रातः १२ बजे का समय है और यह रास्ता है तो यह समझते देर न लगेगी कि अमुक रास्ते पर रेलगाड़ी है जो दिल्ली से ६०० मील दूर है और कलकत्ते से ५०० मील। अतः लंबाई के एक विस्तार का ठीक पता देने के लिये दो विस्तारों अर्थात् लंबाई और समय का वर्णन करना पड़ता है। इसी प्रकार यदि एक समुद्री यान की स्थिति का ठीक वर्णन करना हो तो 'लंबाई', 'चौड़ाई' और 'समय' अर्थात् तीन विस्तारों का वर्णन करना पड़ेगा। इसी प्रकार यदि वायुयान की स्थिति का ठीक वर्णन करने के लिये चार विस्तारों का वर्णन करना पड़ेगा—लंबाई, चौड़ाई, ऊँचाई और समय। अर्थात् समय भी लंबाई, चौड़ाई और ऊँचाई के विस्तारों के साथ ही साथ चौथा विस्तार है जिसको अलग नहीं रखा जा सकता।

इसको दूसरी विधि से भी सरलता से समझा जा सकता है। हम देख चुके हैं कि देश और काल का एक दूसरे से पृथक कोई अस्तित्व नहीं है। काल को निर्देशित करने के लिये एक विस्तार की आवश्यकता पड़ती है किन्तु देश को निर्देशित करने के लिये तीन विस्तारों अर्थात् लंबाई, चौड़ाई और ऊँचाई का वर्णन करना पड़ता है। फलतः स्थिति (Position) का वर्णन करने के लिये जिसमें देश और काल दोनों आ जाते हैं कुल चार विस्तारों का एक साथ प्रयोग करना पड़ेगा। ब्रह्मांड वास्तव में देश-काल का एक परस्परावलंबी प्रसार (Space time Continuum) है। अतः देश-काल के प्रसार रूप ब्रह्मांड में चारों विस्तार अर्थात् लंबाई, चौड़ाई, ऊँचाई और काल का एक साथ प्रयोग करना पड़ेगा। इसके बिना ब्रह्मांड की किसी स्थिति का ठीक वर्णन नहीं हो सकता।

४. गतिसंबंधी नियम (Laws fo Motion)—

इस प्रकार हम देख रहे हैं कि डा॰ आइन्सटीन धीरे-धीरे छोटी-छोटी बातों से चल कर महत्त्वपूर्ण निष्कर्षों पर पहुँचते जा रहे हैं। अब गति संबंधी नियम की ओर दृष्टिपात किया जाये।

गति संबंधी संपूर्ण नियम जो अब तक खोजे गये हैं इस बात पर आधारित होते हैं कि "काल के परिवर्तन से स्थिति (Position) में क्या परिवर्तन होते हैं।" इसमें न तो स्थिति संबंधी विचार स्पष्ट है और न काल संबंधी। एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायेगा। कल्पना कीजिये कि एक रेलगाड़ी चली जा रही है। उसमें के एक यात्री ने एक पत्थर जमीन पर फेंका। अब उस पत्थर की क्या गति हुई? यात्री को ऐसा जान पड़ता है कि वह पत्थर सीधी रेखा में नीचे गिर रहा है। किन्तु यदि रेल के बाहर कोई व्यक्ति खड़ा हो तो उसे स्पष्ट दिखाई पड़ेगा कि पत्थर सीधी रेखा में न गिर कर एक वक्र रेखा में गिर रहा है। अतः दो स्थानों के व्यक्तियों के एक ही वस्तु के निरीक्षण ठीक होते हुए भी पूर्णतया भिन्न हैं। दोनों में कौन ठीक है यह कहा नहीं जा सकता। वास्तविकता यह है कि दोनों गलत हैं और ठीक गति को जाना जा सकता ही नहीं।

यह सीधी सी बात जो रेल से फेंके हुए पत्थर के लिये लागू होती है वह संसार के संपूर्ण मनुष्यों पर लागू होती है, क्योंकि हम सब भी तो एक बहुत तेज रेलगाड़ी अर्थात् पृथ्वी पर सवार १८ मील प्रति सेकंड की अपूर्व गति से बेतहाशा भागे चले जा रहे हैं। फलतः हमारे गति संबंधी नियम भी भ्रमपूर्ण हैं।

५. समकालिकत्व (Simultaneity):—

बहुधा सुना जाता है कि अभी-अभी यह बात हुई। यह अभी-अभी का विचार कितना भ्रमपूर्ण है? हम कहते हैं कि अभी हवाई जहाज के उड़ने की ध्वनि हमने सुनी। ध्वनि एक निश्चित वेग से चलती है। हवाई जहाज से हम तक पहुँचने में ध्वनि को कुछ न कुछ समय तो लगता ही है चाहे वह एक सेकंड का कुछ अंश ही क्यों न हो? अतः जिसे हम अभी-अभी कहते हैं वास्तव में वह कुछ थोड़ी देर पहले हुआ है। यही बात तारों के संबंध

में बड़ी भ्रममूलक हो जाती है। हम दूरदर्शक यंत्र से देखते हैं कि अमुक तारे में अभी-अभी यह हो रहा है। प्रकाश भी ध्वनि की भाँति एक निश्चित वेग से चलता है। उसे उस तारे से पृथ्वी तक आने में समय लगता है। ब्रह्मांड विस्तृत है और तारे बहुत दूर-दूर स्थानों पर हैं। अतः इसमें सेकंडों का अंतर नहीं पड़ता, वर्षों और सहस्रों वर्षों का अंतर पड़ता है। मान लीजिये कि एक ऐसा तारा है जो पृथ्वी से ३० सहस्र प्रकाश—वर्ष दूर है अर्थात् उसके प्रकाश को यहाँ तक आने में ३० सहस्र वर्ष लगते हैं। हमने जिस बात को इस तारे पर अभी-अभी देखा है वह वास्तव में ३० सहस्र वर्ष पहले हो चुकी है अतः 'अभी-अभी' का कोई मूल्य नहीं रह जाता।

एक और उदाहरण मनोरंजक सिद्ध होगा। मान लीजिये कि दो विंदु 'अ' 'ब' एक दूसरे से ३० मील दूर हैं। ठीक बीच में अर्थात् १५ मील पर एक व्यक्ति बैठा हुआ है और उसके पास शीशों की ऐसी व्यवस्था है जिससे वह बिना गर्दन घुमाए ही 'अ' और 'ब' दोनों विन्दुओं को एक साथ देख सकता है। अब यदि एक ही समय पर दोनों विन्दुओं पर मोमबत्ती जलाई जाती है तो यह व्यक्ति कह सकेगा कि दोनों स्थानों पर मोमबत्तियों का जलाना समकालिक था। यदि रेलगाड़ी पर चलता हुआ यात्री उन्हीं शीशों की व्यवस्था के साथ ठीक उसी स्थान पर और उसी समय में हो तो वह कहेगा कि दोनों स्थानों पर मोमबत्तियों का जलाना समकालिक नहीं था। इसका कारण यह है कि एक ओर से रेल दूसरी ओर जा रही है। यदि यह मान लिया जाये कि वह 'अ' से 'ब' की ओर जा रही है तो 'अ' से मोमबत्ती का प्रकाश 'ब' की अपेक्षा देर में पहुँचेगा क्योंकि रेलगाड़ी 'अ' से 'ब' की ओर चल रही है। अतः जो घटनाएँ एक व्यक्ति के लिये समकालिक हैं वह दूसरे व्यक्ति के लिये समकालिक नहीं हैं।

उपर्युक्त उदाहरण को यदि और विस्तृत किया जाये तो हमें एक और मनोरंजक बात दिखाई देती है। यदि यह मान लिया जाये कि 'अ' और 'ब' एक दूसरे से बहुत अधिक दूर हैं और उनके बीच में चलने वाली गाड़ी की चाल (Speed), यद्यपि असंभव है तो भी, १,८६,००० मील प्रति सेकन्ड की है। इस दशा में एक ही मोमबत्ती का जलाना जाना जा सकेगा। इसका कारण यह है कि एक ओर से प्रकाश भी १,८६,००० मील प्रति घंटे के हिसाब से दौड़ेगा और क्योंकि रेलगाड़ी भी उसी चाल से दौड़ रही है अतः यात्री के पास प्रकाश की किरणें पहुँच ही नहीं सकेंगी। फलतः इस विचित्र दशा में यात्री केवल एक स्थान पर ही मोमबत्तियों का जलाना देख सकेगा। उदाहरणों से कम से कम इतना तो स्पष्ट है ही कि भिन्न-भिन्न दशाओं में एक ही बात के भिन्न-भिन्न अर्थ पड़ेंगे। अर्थात् दशाओं का ध्यान रखते हुए घटनाओं का सापेक्ष अध्ययन करना चाहिये।

यही विचार डा० आइन्सटीन के सुप्रसिद्ध सिद्धांत सापेक्षवाद का मूल आधार है।

६ गुरुत्वाकर्षण शक्तिः—

यूक्लिड ज्यामिति, देश, काल, चार विस्तार, गति संबंधी नियम और समकालिकत्व पर डा० आइन्सटीन के इन मनोरंजक विचारों से आप परिचित हो चुके हैं। आइये, अब 'गुरुत्वाकर्षण शक्ति' पर भी उनके विचारों को देखा जाये। अभी तक विश्वविख्यात भौतिक-विज्ञानाचार्य श्री न्यूटन साहब का 'गुरुत्वाकर्षण का सिद्धांत' सर्वमान्य माना जाता था। कदाचित् यही नियम सब नियमों में अधिक ठीक माना जाता था क्योंकि गणित की दृष्टि से यह ठीक था। इस नियम के अनुसार ब्रह्मांड में सब वस्तुएँ परस्पर एक दूसरे को आकर्षित करती थीं। डा० आइन्सटीन ने इसको भी भ्रमोत्पादक सिद्ध किया है।

इस बार रेलगाड़ी के उदाहरण को छोड़कर वायुयान का उदाहरण लिया जायेगा। मान लीजिये कि बहुत ऊँचे से एक वायुयान पृथ्वी पर गिर रहा

है और उसमें कुछ अन्वेषक बैठे हुए हैं। इन अन्वेषकों को अपने गिरने का ज्ञान नहीं है। अब यदि कोई अन्वेषक एक पत्थर फेंके तो वह उनको गिरता हुआ न जान पड़ेगा क्योंकि पत्थर के साथ वे स्वयं भी गिर रहे हैं। अतः अन्वेषक यह सोचेंगे कि वे एक ऐसे क्षेत्र में पहुँच गये हैं जहाँ गुरुत्वाकर्षण शक्ति का प्रभाव है ही नहीं। दूसरी दशा में यह मान लीजिये कि वायुयान ऊपर चढ़ रहा है और अन्वेषकों को अपनी परिस्थिति का ज्ञान नहीं हैं। इस बार यदि वह किसी पत्थर को ऊपर उछालें तो वह उनके पास आ जायेगा क्योंकि पत्थर ऊपर की ओर उछाला गया है और वे स्वयं भी ऊपर की ओर चढ़ रहे हैं। क्योंकि अन्वेषकों को अपनी ठीक दशा का ज्ञान नहीं है अतः वे 'गुरुत्वाकर्षण शक्ति' की कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं सोच सकते। गुरुत्वाकर्षण के नियम की कल्पना करते समय हम यह भूल जाते हैं कि पृथ्वी भी गति शील है और हम सब अपनी गति का आभास नहीं पा सकते। अतः व्यर्थ ही गुरुत्वाकर्षण शक्ति की कल्पना करनी पड़ती है। वास्तव में देशकाल-प्रसार-युक्त-ब्रह्मांड में गुरुत्वाकर्षण शक्ति का कोई अस्तित्व नहीं है। परिस्थिति के अनुसार ही व्यर्थ में यह कल्पना करनी पड़ती है। कितना अजीब है यह विचार।

इसको एक दूसरे उदाहरण से मनोरंजक रूप में समझाया गया है। मान लीजिये आप गोली खेल रहे हैं और जिस धरातल पर गोली खेली जा रही हैं वह समतल नहीं है; कहीं वह ऊपर उठी हुई है और कहीं नीचे। आप गोली फेंकते हैं—वह सहसा किसी ऊँची चीज से टकरा कर लौट जाती है। आप उसके लौट जाने का कारण बताते हैं—धरातल का समतल न होना। किन्तु यदि इसी खेल को कोई वायुयान से देख रहा है जिसको गोली तो दिखाई देती है किन्तु असमतल भूमि नहीं दिखाई देती तो वह यह समझेगा कि गोली के लौटने का कारण कोई शक्ति का अस्तित्व है। क्योंकि और कोई कारण बताया ही नहीं जा सकता। अतः किसी विशेष दशा में रहकर घटना की व्याख्या बिल्कुल भिन्न रीति से हो सकती है और संभव है कि वह बिल्कुल गलत हो। डा० आइन्सटीन के अनुसार गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत का मानना इसी प्रकार का भ्रम है।

[शेष अगले अंक में]

—श्री हरि भगवान

उड़न तश्तरियाँ और उनका रहस्य-२—(पृष्ठ ७ का शेषांश)

तश्तरी के ऊपरी भाग में रहेगा १८० जेट को खोलकर ऊपर उड़ेगा। फिर जब वह एक ऊँचाई पर पहुँच जावेगा, तब सभी जेट के छेद बन्द करके और केवल पीछे के जेट खुले रखकर, वह तश्तरी को सामने ले जा सकता है। इस प्रकार वह किसी भी दिशा में जा सकता है। उसके बैठने का स्थान जिसे 'कोकपिट' कहते हैं—ऐसा निर्मित है कि वह किसी भी दिशा में घूम सकता है। कहने का मतलब यह कि उड़न-तश्तरी किसी भी दिशा में उड़े चालक उसी दिशा की ओर अपना सामना कर सकता है। यदि वह चाहे तो आकाश में तश्तरी को रोक भी सकता है।

तो यह उत्कल्पना बहुत ही मनोरंजक मालूम होती है और इसके सफलतापूर्वक निर्माण से हम एक नये युग में अवश्य पहुँचेंगे जो उड़न-तश्तरियों का युग होगा। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका-सा उन्नत देश अभी केवल उत्कल्पता की अवस्था में ही है। तो यह कहकर संतोष कर लेना कि जो भी चीजें हम आकाश में उड़न-तश्तरियों के रूप में देख रहे हैं—हमारी ही पृथ्वी के आविष्कार हैं, बहुत युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होगा। जहाँ तक और अन्य चीजें कहकर इन्हें समझाया जा सकता है उस पर अगले लेख में कहा ही जा चुका है। प्रस्तुत लेख का अन्त यही कहकर किया जा सकता है कि हमारे ग्रह को इन उड़न-तश्तरियों पर गंभीरता से विचार करना पड़ेगा।

———

रोगाणुनाशक औषधियाँ

यों तो बीसवीं शताब्दी में अनेक नई से नई दवाओं की खोज की गई है, पर रोगाणुनाशक दवाओं (एन्टिबायोटिक्स) का जितना क्रान्तिकारी और व्यापक प्रभाव देखने में आया है वह अनुपम और अभूतपूर्व है। वैज्ञानिकों ने एक के बाद एक रोगाणुनाशक दवा का आविष्कार किया और उनमें से अधिकांश इतनी गुणकारी सिद्ध हुई हैं कि उनके आविष्कर्ताओं ने भी ऐसी कल्पना न की थी।

स्ट्रैप्टोमाइसिन के आविष्कारक डा० सेलमैन ए० वाक्समैन ने—जिन्हें १६५२ में नोबेल पुरस्कार मिला था—रोगाणुनाशक दवा या एन्टिबायोटिक की परिभाषा और उसके कार्यों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है :—

"१६४२ में रोगाणुनाशक दवा की फिर से परिभाषा की गई ताकि उसमें उन सूक्ष्म अणुजीवों से बनी चीजें भी आ जायें जो अन्य अणुजीवों को नष्ट कर डालते हैं......

"रोगाणुनाशक दवाओं में कुछ ऐसी विशेषताएँ होती हैं जिनके कारण वे अन्य सामान्य कीटमार और दुर्गन्ध-निवारक दवाओं से भिन्न होती हैं...... उनकी एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इन औषधियों का असर अत्यन्त सूक्ष्म जीवों या बड़े जीवों के विशिष्ट कोषों पर ही होता है। उनके इस गुण के कारण इन रोगाणुनाशक दवाओं का उपयोग रोगाणुओं को नष्ट करने के लिए किया जा सकता है और उनसे शरीर के जीवाणुओं को कोई हानि नहीं होती। इसी कारण इनका औषधि के रूप में प्रयोग किया जा सका है।"

लम्बे समय तक अनुसन्धान

इन रोगाणुनाशक दवाओं की खोज बहुत समय तक अनुसन्धान-कार्य होने के बाद हुई। इस सिलसिले में पहले-पहल फ्रांसीसी वैज्ञानिक और शाकाणुशास्त्री लुई पास्तुर ने काम शुरू किया था और १८७७ में उन्होंने यह देखा कि वायुमंडल में कुछ ऐसे शाकाणु हैं, जिनसे अणुजीवों का संवर्द्धन रुक जाता है। उस समय वे उन अणुजीवों को लेकर परीक्षण कर रहे थे। तब उन्होंने अनुभव किया कि यह नई खोज औषधि-विज्ञान की दृष्टि से बड़ी उपयोगी है।

पर इन रोगाणुनाशक दवाओं की खोज हो जाने पर भी उनको प्रयोग में लाने में काफी समय लगा। पहली रोगाणुनाशक दवा के रूप में पेनिसिलिन का आविष्कार १६२६ में ब्रिटिश वैज्ञानिक सर अलेग्जेंडर फ्लेमिंग ने किया। फ्लेमिंग ने यह तो सिद्ध कर दिखाया कि पेनिसिलिन में रोगाणुनाशक गुण हैं, पर वे उसके सक्रिय तत्व को विशुद्ध रूप में अलग नहीं कर सके। इसी कारण पेनिसिलिन का लगभग १० वर्षों तक इस्तेमाल नहीं किया जा सका।

लेकिन ११४० में डा० हावर्ड फ्लोरी और जर्मन रसायनशास्त्री डा० अर्नेस्ट चेन ने ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में प्रयोग करते हुए अणुजीवों के संवर्धनांश से शुद्ध पेनिसिलिन प्राप्त कर ली। इस खोज के बाद भी कई वर्षों तक व्यापक रूप से यह अनुसन्धान करना पड़ा कि इसे इतनी अधिक मात्रा में किस तरह तैयार किया जाये जिससे विभिन्न संक्रामक रोगों के उपचार में इसे प्रयुक्त किया जा सके।

न्यूजर्सी राज्य की रटगर्ज यूनिवर्सिटी में काम करने वाले वैज्ञानिक डा० वाक्समैन ने १६४३ में स्ट्रैप्टोमाइसिन की खोज की। १६३६ से वे मानव शरीर में क्षय रोग पैदा करने वाले कीटाणुओं को नष्ट करने वाली रोगाणुनाशक दवा का पता लगाने

में संलग्न थे। साथ ही वे ऐसे अणु-जीवों का भी पता लगाना चाहते थे जो मनुष्य या पशु आदि के शरीर का हानि न पहुँचा कर भीतर रोगाणुओं को नष्ट कर दें।

१९५२ में डा० वाक्समैन ने एक ऐसी औषधि की खोज की जिसने बहुत से शाकाणुओं को नष्ट कर दिया और शेष के विकास और संख्या-वृद्धि को रोक दिया। इस औषधि को 'स्ट्रैप्टोथ्राइसिन' नाम दिया गया।

यद्यपि स्ट्रैप्टोथ्राइसिन बहुत से शाकाणुओं को नष्ट करने में सफल सिद्ध हुई, लेकिन बाद में इसका विषैला असर होता है। इस औषधि से रोग का संक्रामण तो रुक गया लेकिन जिस प्राणी पर इसका प्रयोग किया गया उसकी भी बाद में मृत्यु हो गई। एक वर्ष तक अनुसन्धान करने के बाद डा० वाक्समैन ने 'स्ट्रैप्टोमाइसिन' की खोज की, और इस प्रकार यह तपेदिक की रोकथाम करने वाली पहली दवा हुई।

जिस समय डा० वाक्समैन स्ट्रैप्टोमाइसिन की खोज कर रहे थे उस समय भारत के प्रसिद्ध वैज्ञानिक डा० चलिप्रकट सुब्बाराव और अमेरिका के एक वनस्पति-विज्ञानशास्त्री डा० बैंजामिन एम० डुग्गर 'लैडरली लैबोरेटरीज' में अन्य रोगाणुनाशक औषधियों की खोज करने के बारे में अनुसन्धान कर रहे थे। डा० सुब्बाराव की देख-रेख में होने वाले अनुसन्धान-कार्य के फलस्वरूप ओरियोमाइसिन के अमेरिकी बाजारों में बिकने से ६ महीने पहले ही डा० सुब्बाराव की अगस्त १९४८ में मृत्यु हो गई।

भारतीय वैज्ञानिक डा० सुब्बाराव और उनके साथियों ने अमेरिका भर से मिट्टी के ६०० नमूनों को इकट्ठा करके अनुसन्धान-कार्य शुरू किया था। उन्होंने इनकी छानबीन ऐसे अणुजीवों की खोज के लिए की जो उन कीटाणुओं पर भी असर दिखा सकें जहाँ पेनिसिलिन और स्ट्रैप्टोमाइसिन का असर नहीं होता। निरर्थक अणुजीवों को अलग करने का काम बहुत बड़ा था। लगभग ३४०० किस्म के अणुजीव उपयोगी नजर आये। इससे भी १० गुना अधिक अणुजीवों की परीक्षा की गई और उन्हें बेकार पाया गया।

जिन ३४०० किस्मों को आशाजनक समझा गया उनमें से एक नमूना नम्बर ३७७ का था। उसमें सुनहरे रंग का तत्व पैदा हुआ और वह निरापद तथा अधिक गुणकारी था। इसी को ओरियोमाइसिन कहा गया।

येल यूनिवर्सिटी (कनैटिकट राज्य) में काम करने वाले डा० पाल आर० बर्कहोल्डर ने क्लोरोमाइसिटिन औषधि की खोज करने से पहले संसार के सब भागों से लायी मिट्टी के ६०० नमूनों की परीक्षा की थी। अन्त में दक्षिण अमेरिका से लाये एक नमूने से एक फफूंदी मिली और उससे उन शाकाणुओं को नष्ट करने का तत्व हासिल हो गया जिन पर पेनिसिलिन का भी कुछ असर नहीं होता था।

बोलिविया-सरकार के अनुरोध पर एक अमेरिकी डाक्टर ने क्लोरोमासिटिन के कुल १ पाव स्टाक से प्वेर्टो एस्कोस्टो गांव में टाइफस की महामारी को रोकने का प्रयत्न किया। इससे केवल २२ व्यक्तियों का ही इलाज हुआ। वे सब के सब ठीक हो गये और जिन ५० रोगियों का इलाज नहीं हुआ था उनमें से १४ की मृत्यु हो गई।

अगले साल १९४९ में अमेरिकी सेवा के कुछ डाक्टरों को मलाया के क्वाला लम्पुर नगर में 'स्क्रब टाइफस' नामक महामारी को रोकने के लिए भेजा गया। वे डाक्टर अपने साथ उस समय १ पौण्ड क्लोरोमाइसिटिन औषधि ले गये थे और इससे उन्होंने २५ के २५ रोगियों को नीरोग कर दिया।

१९४९ में एक औषधि-निर्माता कम्पनी ने इतिहास में प्रथम बार किसी रोगाणुनाशक औषधि (क्लोरोमाइसिटिन) को कृत्रिम रूप से तैयार करने का दावा किया। इसका श्रेय डाक्टर मिल्ड्रेड सी० रैबस्टाक को था।

कृत्रिम उत्पादन

कृत्रिम विधि से तैयार की गई क्लोरोमाइसिटिन की जांच चूहों और बीमार व्यक्तियों पर की गई और यह पाया गया कि कृत्रिम रूप से तैयार की गई दवा अणुजीवों से तैयार होने वाली क्लोरोमाइसिटिन से कम गुणकारी नहीं है। पर यह बात जरूरी है कि इसका इस्तेमाल डाक्टरी देख-रेख में और बड़ी सावधानी से होना चाहिये।

रोगाणुनाशक औषधियों से जिन बीमारियों का सही इलाज किया जा सकता है, उनकी संख्या लगातार बढ़ती जा रही है। उदाहरणार्थ, पेनिसिलिन २५ प्रकार के संक्रामक रोगों के लिए, स्ट्रेप्टोमाइसिन १५, टैरामाइसिन प्रायः ८० और ओरियोमाइसिन को बहुत अधिक रोगों के लिए इस्तेमाल किया जा रहा है। इन औषधियों के प्रयोग से निमोनिया, टाइफाइड आदि विषम-ज्वरों तथा खून, खाल, आंख व मूत्र के रोगों तथा कई किस्म के क्षय रोगों पर काबू पा लिया गया है।

सहोत्पादित पदार्थों के उपयोग

जिन जान्विक अंशों से ओरियोमाइसिन तैयार की जाती है उनसे एक ऐसा पदार्थ भी उपलब्ध होता है जिससे सुअरों और मुर्गियों के कई रोग ठीक हो जाते हैं और उनका वजन भी बढ़ जाता है।

यदि किसी पशु को कोई बीमारी न हो तब भी उसे रोगाणुनाशक औषधि दी जा सकती है। इससे उसके स्वास्थ्य पर अच्छा असर पड़ता है। उदाहरणार्थ, आमतौर पर एक मुर्गी १२ से १४ सप्ताह में ३ पौंड की हो जाती है, पर उसके दाने में पेनिसिलिन या ओरियोमाइसिन मिलाने से ९ से ११ सप्ताह में ही उसका इतना वजन हो सकता है।

अमेरिका के औषधि-निर्माण उद्योग पर रोगाणुनाशक औषधियों की खोज का काफी असर पड़ा है। १९४२ तक पेनिसिलिन को तैयार करने में हर तरह की टैक्निकल जानकारी को इस्तेमाल किया गया था लेकिन उसका फल इतना भी नहीं हुआ था कि इससे एक व्यक्ति का भी उपचार किया जा सके। लेकिन द्वितीय विश्व-युद्ध के कारण अनुसंधानकर्त्ताओं तथा इंजीनियरों ने बड़े जोर-शोर से काम शुरू कर दिया।

मार्च १९४४ तक अमेरिका की 'नेलर्शल साल-वैंट्स कौर्पोरेशन' नामक फर्म ने हर महीने ४० अरब यूनिट दवा तैयार करनी शुरू कर दी। १९४३ में अमेरिका ने इससे आधी भी दवा तैयार नहीं की थी।

आज अमेरिकी दवाफरोशों द्वारा बची जाने वाली दवाओं में ५० प्रतिशत दवायें ऐसी हैं जिनमें रोगाणुनाशक औषधियां होती हैं या इनका कुछ भाग रहता है।

इस बात पर लोग सहमत हैं कि भविष्य में यदि रोगाणुनाशक औषधियों के बारे में कोई खोज की गई तो वह इतनी आश्चर्यजनक नहीं होगी जितनी कि अब तक हो चुकी है। डाक्टर इन औषधियों का ज्यादा इस्तेमाल करने के बारे में निम्न दो कारणों से चेतावनी दे रहे हैं। (१) इन दवाओं के देर में होने वाले असर का परखना अभी बाकी है, क्योंकि इनकी खोज को अभी बहुत समय नहीं हुआ है। (२) कुछ रोगाणु समय पाकर कुछ दवाओं के असर से लड़ने की ताकत पैदा कर लेते हैं और तब वे दवायें बेकार हो जाती हैं।

अनुसंधानकर्त्ता शिशुपक्षाघात या कैन्सर रोग से बचाने वाली रोगाणुनाशक दवा की खोज कर रहे हैं। डा० वाक्समैन को यह भरोसा है कि उन्होंने तथा उनके साथियों ने जिन १०५ औषधियों को तैयार किया है उन्हीं में कैन्सर रोग की दवा मिल सकेगी। ऐसी संभावना भी है कि 'एक्टिनोमाइसिन' नामक जिस औषधि को डा० वाक्समैन ने खोज की थी उसे कई किस्म के कैन्सर के उपचार में प्रयुक्त किया जा सकेगा।

विज्ञान समाचार

भाखड़ा-नंगल योजना

पूर्वी पंजाब, राजस्थान और पटियाला रियासती संघ (पेप्सू) में पानी का अभाव तो बहुत पहले से अनुभव किया जा रहा था, पर विभाजन के बाद इसने एक महत्वपूर्ण राष्ट्रीय समस्या का रूप धारण कर लिया। इसलिए इस समस्या का तुरंत हल ढूँढना जरूरी था और इसके लिए पश्चिमी सीमांत की पयस्विनी, सतलज का ही सहारा लिया गया।

योजना की मुख्य बातें

भाकड़ा बांध और बिजलीघर—काफी पानी एकत्र करने की आवश्यकता को ध्यान में रख कर भाकड़ा बांध असाधारण रूप से ऊँचा और कंकरीट का बनाया गया है। पहाड़ की संकरी सी घाटी में, नदी के पथरीलेतल से ६८० फुट ऊँचा यह बांध, ऊपर से १७०० फुट लम्बा है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि इसकी ऊँचाई ३ कुतुब मीनारों के बराबर है। नीचे इसकी चौड़ाई ६२५ फुट है। अनावश्यक पानी को बांध के ऊपर से बहाने के लिए २६० फुट लम्बा रास्ता रखा गया है जिसमें इस्पात के ४ फाटक लगाये जायेंगे। सिंचाई के लिए पानी निकलने के लिए नीचे ऊपर दो पंक्तियों में १०-१० द्वार होंगे। इनमें से १ लाख ६ हजार घन फुट पानी प्रति सेकंड निकल सकता है और इन द्वारों तथा ऊपर के बड़े रास्ते, दोनों से, कुल २ लाख ६० हजार घन फुट पानी प्रति सेकंड छोड़ा जा सकता है।

भाकड़ा जलाशय में ७४ लाख एकड़ फुट पानी जमा हो सकता है। इतना पानी पंजाब की खेती योग्य सारी भूमि को हर साल १ फुट ऊँचाई तक ढकने के लिए काफी है। पर इतना पानी जमा होना सम्भव नहीं, क्योंकि नीचे १७ लाख एकड़ फुट स्थान तो पानी के साथ धीरे-धीरे बहकर आने वाली मिट्टी से ही भर जायगा। इसलिए उपयोग के लिए ५७ लाख एकड़ फुट पानी का ही हिसाब लगाया गया है। भाकड़ा से सिंचाई के लिए जो पानी छोड़ा जायगा उसके कुछ भाग से बिजली बनाई जायगी।

नंगल बाँध

नंगल बाँध, भाकड़ा बाँध से आठ मील नीचे की ओर है। इसका निर्माण १९५१ में भाकड़ा बाँध से पहले शुरू किया गया था। इससे न केवल भाकड़ा के जलाशय का पानी नियंत्रित रूप से नंगल नहर में लाया जा सकेगा, बल्कि बिजलीघरों के जलाशयों में पानी घटाने बढ़ाने में भी मदद मिलेगी।

नंगल बाँध और बिजलीघर

नंगल नहर सिंचाई और बिजली बनाने के काम आने वाली पंजाब की सबसे बड़ी नहर है। शायद संसार में और कोई इतनी बड़ी नहर न हो। इससे पहले ९,५०० फुट की दूरी तक १४,५०० घनफुट और आगे १२,५०० घनफुट पानी बढ़ेगा। यह २०,६ फुट गहरी होगी और शुरू में एक बड़ी नदी की भाँति इसकी चौड़ाई १४० फुट होगी। नहर, नंगल बाँध से सतलज के बायें किनारे से निकाली गयी है और काफी दूर तक नदी के साथ-साथ शिवालिक पहाड़ियों की ऊबड़-खाबड़ जमीन में से होकर बहती है। ५८ ऐसे स्थान हैं जहाँ नहर पहाड़ी नालों के ऊपर या नीचे से गुजरती है। कई जगह जमीन से काफी ऊँचाई पर भी बहती है। भूमि के ढालका लाभ उठाकर नकली प्रपात बनाये गये हैं जिनसे बिजली बनायी जा सकती है। नहरपर ८ और १२ वे मील पर दो बिजलीघर बनाये जायँगे जिनमें ४८-४८

हजार किलोवाट बिजली पैदा होगी। इनमें २४-२४ हजार किलोवाट और बिजली पैदा करने की भी व्यवस्था रखी गयी है।

सिंचाई व्यवस्था

भाकड़ा नहर व्यवस्था के अंतर्गत छोटी बड़ी नहरों की कुल लम्बाई २८६ मील होगी। भाकड़ा की मुख्य नहर जो, नंगल जल विद्युत नहर से निकाली जायगी, १०८ मील लम्बी होगी। खपड़े लगाकर इसको पक्का बनाया जायगा। इसी में से छोटी बड़ी मुख्य नहरें निकाली जायेंगी जिनसे प्रति सेकन्ड १२,५०० घनफुट पानी बहेगा।

योजना से लाभ

इस योजना से हर साल ३० लाख एकड़ भूमि की सिंचाई हो सकेगी और १,८६,००० किलोवाट बिजली पैदा होगी। इस सारी भूमि में अनाज की ही खेती नहीं होगी, कुछ हिस्सों में रेशे की कपास भी बोयी जाया करेगी क्योंकि भारत की कपड़ा मिलों की इस तरह की कपास की बहुत आवश्यकता है।

संगठन

इस योजना को कार्यान्वित करने की जिम्मेदारी एक बोर्ड पर है जिसके अध्यक्ष पंजाब के राज्यपाल श्री सी० पी० एन० सिंह हैं। बोर्ड में केन्द्र, पेप्सू, राजस्थान, पंजाब, बिलासपुर और हिमाचल प्रदेश सरकार के प्रतिनिधि भी हैं।

आरम्भिक कारवाई

संचार व्यवस्था—भाकड़ा नंगल योजना की बराबरी की दूसरी योजना न केवल पंजाब बल्कि सारे देश भर में नहीं है। ऐसी योजना के निर्माण का काम भी एक टेढ़ी समस्या होना स्वाभाविक था। यहाँ निकटतम रेल स्टेशन, रोपड़ है जो यहाँ से ४० मील दूर था। इसलिए इंजीनियरों के सामने सबसे पहला काम रोपड़ तथा राज्य के और स्थानों तक रेल और सड़कें निकालने का था। १९४८ में नंगल बाँध से रोपड़ तक रेल चालू हो गयी, जो इस क्षेत्र के लोगों के लिए एक वरदान सिद्ध हुई है। इसी के साथ एक पक्की सड़क बनायी जा रही है जिससे भारी भरकम ट्रेक्टर और बड़ी-बड़ी मशीनें आसानी से लायी जा सकें। यह सड़क रोपड़ से नंगल तक रेलवे लाइन के साथ-साथ चलती है और आगे भाकड़ा बाँध तक जाती है।

नदी के मार्ग में परिवर्तन

बाँध एक संकरी घाटी में बनाया जा रहा है। निर्माण के दौरान में नदी का पानी दूसरी ओर से बहाने के लिए ५०-५० फुट व्यास की दो सुरंगें खोदी गयी हैं। इनसे पाँच सालों तक नदी की बाढ़ का भी सारा पानी बहाकर निकालने का प्रबन्ध किया गया है। इन सुरंगों के निर्माण पर लगभग २॥ करोड़ रु० खर्च हुआ है और इस कार्य में सुरंग खोदने और कंकरीट भरने की नवीनतम विधियों का उपयोग किया गया है।

निर्माणक्रम और प्रगति

बाँध के निर्माण का क्रम ऐसा रखा गया है कि जितना-जितना भाग पूरा होता जाय उससे लाभ भी होता रहे। आरम्भ में सिंचाई व्यवस्था १९५५ तक पूरी होने का अनुमान था पर यह समय से पहले पूरी होती जा रही है और इसी साल की गर्मियों की फसल के लिए पानी मिल सकेगा। यह वास्तव में आयोजन, संगठन और निर्माण कार्य की गति की दृष्टि से एक बड़ी सफलता है।

नंगल कोष का निर्माण १९०६ से ही, जब कि वहाँ तक रेल और सड़क भी नहीं निकली थी, शुरू हो गया था और १९५१ में पूरा हो गया। इसमें इस्पात के फाटक मार्च १९५४ में लगाये गये हैं। ये फाटक अमृतसर के सरकारी कारखाने में बनाये गये थे। नंगल जल विद्युत नहर के बनाने में कई बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा फिर भी काम पूरा हुआ और अब पानी छोड़-छोड़ कर परीक्षा की जा रही है।

नहर पर दो बिजलीघर भी बनाये जा रहे हैं। एक तो १२वें मील पर गंगूवाल गाँव के निकट है। यह नवम्बर १९५३ में बनना शुरू हुआ था और शीघ्र ही काम करने लगेगा। दूसरा भी नवम्बर १९५५ में चालू हो जायगा।

नंगल और मंडी के बिजली घरों को जोड़ने और पंजाब पेप्सू और दिल्ली क्षेत्रों में बिजली पहुँचाने के लिए करेंट ले जानेवाले तार लगाने की आवश्यकता पड़ी। यह भी बहुत बड़ा काम था, पर पंजाब की विद्युत शाखा इसे बड़ी मेहनत से पूरा कर रही है। आज नंगल से दिल्ली तक ग्रांडट्रंक सड़क के साथ-साथ बिजली के कितने ही स्तम्भ दिखाई पड़ते हैं।

भाकड़ा बाँध का सारा काम १९५९ तक पूरा हो जाना चाहिये पर पानी जमा करने की कुछ व्यवस्था पहले ही हो जायगी।

इस प्रकार भाकड़ा बाँध जितना महान प्रयत्न है, उतना ही महान लाभ भी इससे पहुँचेगा। यह विशाल निर्माण कार्य पर्वत राज के चरणों में मानव के बाहु और बुद्धि बल की एक तुच्छ भेंट समझी जायगी।

जहाँ दूध की नदियाँ बहती हैं

अमेरिका में १९५२-५३ के वर्ष में गायों ने लगभग १ खरब २३ अरब पौंड दूध दिया। इस प्रकार उससे पिछले वर्ष की अपेक्षा दूध के उत्पादन में लगभग १३ अरब पौंड की वृद्धि हुई। जून १९५३ में अमेरिका में २ करोड़ २० लाख गायें थीं १९५३ में एक अमेरिकी गाय का औसत वार्षिक उत्पादन ५३२३ पौंड रहा।

१९५३ में 'डेअरी हर्ड इम्प्रवमेंट एसोसियेशन' द्वारा १० लाख से अधिक गायों की जांच की गयी, जिन में से औसतन एक गाय ने वर्ष भर में ९,१७७२ पौंड दूध तथा ३७० पौंड मक्खन दिया। वैसे देश में अधिक दूध देने वाली ऐसी भी गायें हैं जो प्रति वर्ष २० हजार पौंड से ३५ हजार पौंड तक दूध और १ हजार पौंड से अधिक मक्खन देती हैं।

एक पौंड दूध तैयार होने के लिए गौ के बाक या थनों में से ४०० पौंड खून गुजरता है। एक दिन में ५० पौंड दूध का उत्पादन होने के लिए गौ के हृदय को केवल थनों में से २० हजार पौंड खून गुजारना पड़ता है।

पिछले वर्षों में दूध में मक्खन की मात्रा बढ़ाने पर अधिकाधिक बल दिया गया है। यह इस तथ्य से स्पष्ट है कि बहुत से राज्यों तथा नगर-पालिकाओं ने इस सम्बन्ध में कानून पास किये हैं कि बेचे जाने वाले दूध में मक्खन की कम से कम कितनी मात्रा अवश्य होनी चाहिये। उदाहरण के तौर पर, न्यूयार्क राज्य में जो दूध बेचा जाता है उसमें ३ प्रतिशत मक्खन अवश्य रहना चाहिये, किन्तु न्यूयार्क नगर में जितना भी दूध बेचा जाये उसमें कम से कम ३. ३ प्रतिशत मक्खन अवश्य निकलना चाहिए।

६ लाख से अधिक दुग्धशालाएं

१९५० में कृषि के सम्बन्ध में की गई गणना से पता चला था कि अमेरिका में ६,०२,०९३ व्यापारिक दुग्धघशालाएँ थीं। उनमें से ४,६१,२०९ देश के उस उत्तरी प्रदेश में थीं जहाँ चरागाह तथा घासफूस के लिए अनुकूल परिस्थितियां मिल सकती हैं।

अमेरिका में दूध निकालने की मशीनों तथा श्रम की बचत करने वाले अन्य यन्त्रों का अधिकाधिक प्रयोग करके प्रतिघंटा के हिसाब से दूध का उत्पादन बढ़ाया जा रहा है। १९५३ में, दुग्धशालाओं में दूध निकालने वाली ७ लाख से अधिक मशीनें थीं। चार राज्यों में किये गये पर्यवेक्षण से प्रकट होता है कि ४ से १४ तक गायों का दूध निकालने के लिए दूध निकालने की मशीनों का प्रयोग करके हर गौ के पीछे ३० से ५० घंटे तक की बचत हो जाती है।

दुध दोहने की प्रक्रिया

दुग्धशाला में हाथ से अथवा मशीन से गौ का

दूध निकलने की सामान्य प्रक्रियाएं बरती जाती हैं। सामान्य रूप से दिन में दो बार और यदि गायें बहुत अधिक दूध देने वाली हों और यदि दुग्धशाला का मालिक किसी विशेष गाय अथवा गायों की नस्ल के सम्बन्ध में ऊंचा रेकार्ड बनाने का प्रयत्न कर रहा हो तो उस दशा में तीन और चार बार तक दूध निकाला जाता है। प्रायः सभी दुग्धशालाओं में—उत्तरी क्षेत्रों में पशुशाला में और देश के गर्म क्षेत्रों में एक छापर के नीचे गायों का दूध निकाला जाता है। कुछ डेअरी फार्मों में उन का दूध एक विशेष कमरे में निकाला जाता है। उसमें उन्हें केवल दूध निकालने के समय ही ले जाया जाता है। हर हालत में सफाई का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता है, क्योंकि दूध में पाये जाने वाले कीटाणुओं का ब्योरा रखा जाता है। पहले यह प्रक्रिया प्रचलित थी कि बाल्टियों में दूध निकाल कर १०० पौंड के ढोलों में भर दिया जाता था और बाद में वह ग्राहकों को अथवा डेअरी फार्म को दे दिया जाता था। अमेरिका के अधिकांश किसान अपना दूध उन दुग्धशालाओं को बेच देते हैं जो दिन में एक या दो बार दूध इकट्ठा करती हैं। दूध में कीटाणुओं की वृद्धि को रोकने के निमित्त दूध के तापमान को ठीक रखने के लिए आवश्यक नियमों का पालन किया जाता है।

पिछले एक-दो वर्षों में अधिकाधिक डेअरी फार्मों ने जंग न लगने वाले इस्पात (स्टेनलैस स्टील) की ऐसी नालियाँ लगा ली हैं जो दूध निकालने वाली मशीन से सीधे दुग्ध भंडार तक जाती हैं। और १९५३ में यह भविष्यवाणी की गयी थी कि एक ऐसा समय आयेगा जब डेअरी-फार्मों में दूध दोहने के पात्रों का सर्वथा लोप हो जायेगा। गौ का दूध निकालने वाली मशीन से दूध सीधा दूध की विशाल टंकियों में पहुँच जाया करेगा। उस टंकी में शीतकारी यन्त्र लगे होते हैं और दूध निकलने के कुछ मिनटों बाद ही वह दूध ३८ या ४० डिग्री फार्नहाइट तक ठंडा हो जाता है। व्यापारिक दुग्धशालाओं के टंकी वाले ट्रक फार्म पर आते हैं। उनके पहुँचते ही इस बात का पता लगाया जाता है कि उस दूध में कितना मक्खन है, और उसका रेकार्ड करने के बाद वह दूध किसान की टंकी से पम्प द्वारा ट्रक में भर लिया जाता है। ११० गैलन दूध वाली टंकी को खाली करने में केवल १० मिनट के करीब लगते हैं। दूध को अधिक मात्रा में एकत्र करने के लिए नालियों के प्रयोग की प्रक्रिया सर्वप्रथम पश्चिमी तट के क्षेत्रों में प्रचलित हुई थी, और अब वह समूचे अमेरिका में लोकप्रिय होती जा रही है।

दूध का उपयोग

१९५२ में कृषि-क्षेत्रों में जितना दूध निकाला गया उसका लगभग १५ प्रतिशत उन्हीं क्षेत्रों में इस्तेमाल किया गया जहाँ वह निकाला गया था। लगभग ४५ प्रतिशत से दूध की वस्तुएँ तैयार की गईं और लगभग ४० प्रतिशत दूसरे व्यापारिक जरियों से दूध तथा क्रीम के रूप में उपभोक्ताओं तक पहुँचा।

कृषि-क्षेत्रों के परिवारों द्वारा इस्तेमाल किये गये दूध तथा क्रीम (१९५२ में यह मात्रा लगभग १७ अरब ४० करोड़ पौंड थी) में से कृषक-परिवारों ने ९ अरब ६० करोड़ पौंड प्रयोग में लिया; ४ अरब ५० करोड़ पौंड दूध को बिलो कर मक्खन बनाने के काम में लिया तथा ३ अरब ३० करोड़ पौंड दूध बछड़ों और बछियाओं को पिलाया।

१९५२ में किसानों ने ९७ अरब ७० करोड़ पौंड दूध को दूध एवं क्रीम के रूप में बेचा। इसमें से ३ अरब ६३ करोड़ ९० लाख पौंड दूध एवं क्रीम को किसानों ने गाँवों, कस्बों तथा छोटे शहरों में खुदरा भाव पर बेचा था; ७६ अरब ७७½ करोड़ पौंड दूध तथा १७ अरब २९ करोड़ ८० लाख पौंड क्रीम को दुग्धशालाओं अथवा दूकानदारों को थोक भाव से बेचा था।

१९५२ में अमेरिका में ४४ अरब ४२ करोड़ पौंड दूध अथवा क्रीम की खपत हुई थी। इसमें से अधिकांश दूध को रोगाणु रहित करके अथवा प्रमाणित करने के बाद डेअरी फार्मों द्वारा बेचा गया।

१९५२ में डेअरी फार्मों को बेचे गये शेष दूध तथा क्रीम से मक्खन, पनीर, डिब्बा बन्द दूध एवं दुग्ध-चूर्ण तथा दूध की अन्य वस्तुएँ तैयार की गईं।

मक्खन

१९५३ में लगभग ३१ अरब ६१ करोड़ १० लाख पौंड दूध से करीब १ अरब ५६ करोड़ पौंड मक्खन तैयार किया गया। डेअरी में क्रीम से मक्खन तैयार करने के लिए फार्म में यह आम रिवाज हो गया है कि मक्खनयुक्त दूध को ही डेअरी में भेज दिया जाता है और वहीं दूध और क्रीम को अलग-अलग किया जाता है।

क्रीम में आमतौर पर ३० और ३५ प्रतिशत चिकनाई होती है। क्रीम को रोगाणुमुक्त किया जाता है, ठंडा किया जाता है और फिर सावधानतापूर्वक नियन्त्रित तापमान में उसे बिलोया जाता है। जब मक्खन के दाने ठीक आकार के एकत्र हो जाते हैं उस समय मथनी से मक्खन निकाल लिया जाता है। मक्खन को पानी से धोया जाता है, नमक लगाया जाता है और बाद में उसकी अभीष्ट आकार की टिकियाँ बना कर उन पर कागज आदि चढ़ा दिया जता है। संघीय सरकार द्वारा निर्धारित मानदंड के अनुसार मक्खन में कम से कम ८० प्रतिशत चिकनाई होनी चाहिये। कुछ लोग मीठा मक्खन पसन्द करते हैं इसलिए थोड़ा सा मक्खन बिना नमक के तैयार किया जाता है। मक्खन बनाने के उपकरणों के नये-नये डिजायन निकलते जा रहे हैं।

मक्खन तैयार करते समय दो और वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। जब क्रीम अलग की जाती है तब सपरेटा (क्रीम निकला दूध) हासिल होता है; क्रीम को बिलोने से लस्सी प्राप्त होती है। सपरेटा को गाढ़ा करके प्रयुक्त किया जाता है। मीठी क्रीम को बिलोनेसे जो अच्छी किस्म की लस्सी बनती है उसे गाढ़ा करके या सुखाकर उससे खाने की वस्तुएँ बना ली जाती हैं।

मक्खन में विटामिन-ए

मक्खन विटामिन-ए की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण खाद्य-पदार्थ है। अमेरिका के ब्यूरो ऑव ह्यूमन न्युट्रीशन एन्ड होम इकोनौमिक्स के अनुसार एक पौंड मक्खन में निम्न पौष्टिक तत्व मौजूद होते हैं: ३,३२७ कैलोरी (ऊष्मांक), २.७ ग्राम प्रोटीन, ३६७.७ ग्राम चिकनाई, १.८ ग्राम कार्बोहाइड्रेट, ७३ मिलिग्राम चूना, ७३ मिलीग्राम फास्फोरस तथा ०.९ मिलिग्राम लोहा; विटामिन-ए की १५००० अन्तर्राष्ट्रीय यूनिट; ०.०१ मिलिग्राम थायामीन, ०.०५ मिलिग्राम राइबोफ्लेवीन तथा ०.५ मिलिग्राम नाएसिन।

एक प्रौढ़ व्यक्ति को प्रतिदिन विटामिन-ए की ५००० इन्टर नेशनल यूनिट लेनी चाहिए, फिर भी यह आवश्यक नहीं कि प्रतिदिन उसी मात्रा में विटामिन-ए ली जाये। जब विटामिन-ए दैनिक आवश्यकता से अधिक मात्रा में ले ली जाती है तो वह अतिरिक्त मात्रा शरीर में जमा हो जाती है और वह उस समय खर्च होती है जब वह पर्याप्त मात्रा में नहीं ली जाती।

पनीर का उत्पादन

१९५२ में अमेरिका में दूध से लगभग ८५ करोड़ पौंड पनीर तैयार किया गया। इसमें अनेक प्रकार के पनीर शामिल हैं।

इसके अलावा २ करोड़ ८४ लाख पौंड दुग्धचूर्ण, ५ करोड़ ४० लाख पौंड जमा हुआ दूध, ५९ करोड़ १६ लाख गैलन आइसक्रीम, २ करोड़ ५६ लाख गैलन दूध का शर्बत, ५ करोड़ ३० लाख गैलन आइसमिल्क तथा अन्य जमी हुई वस्तुएँ भी तैयार की गईं।

आम उद्योग

आम जितनी प्रकार की धरतियों में उगता है, कोई दूसरा फल उतनी प्रकार की धरतियों में नहीं उगता। धरती गहरी होनी चाहिये और उसमें पानी नहीं ठहरना चाहिये। कदाचित् देश में आम के लिए सबसे अधिक उपयुक्त धरती गंगा-सिंधु का मैदान है। यदि धरती सदा गीली रहती है, तो पेड़ों से

अधिक फलों की आशा नहीं की जानी चाहिये।

आम के पेड़ बीज की सहायता से और पौधाई से लगाये जाते हैं। आज बांधना, कलम लगाना, पेवन्द चढ़ाना, पौधाई तरीके कहलाते हैं। भारतवर्ष में लगभग ६० फीसदी से अधिक पेड़, बीज से उगाये जाते हैं। पौधाई तौर से पेड़ तैयार करने के लिए सबसे अधिक इस्तेमाल की जाने वाली विधि पेवन्द की विधि है। पेवन्द लगाकर जो आम के पेड़ तैयार किये जाते हैं उनको चार वर्ष तक सिंचाई की आवश्यकता होती है। ऐसा करने से उन्हें उस समय तक पानी नहीं देना चाहिये, जब तक उनमें सूखने के लक्षण न प्रकट होने लगे। जमे हुए बगीचों में फूल आने के दिनों में १५वें दिन पानी देना चाहिये। यह क्रम उस समय तक चालू रखना चाहिये, जब तक उसमें कि फल पूरे तौर से बढ़ न जायें। इसके बाद पानी देना बन्द कर देना चाहिये।

फूल आने का समय आम की प्रत्येक किस्म के लिए अलग होता है। जलवायु और धरती भी इस समय पर प्रभाव डालती हैं। दक्षिण मद्रास के आम नवम्बर से फूलना आरम्भ करते हैं। बिहार और उत्तर प्रदेश उगने वाले आम मार्च तक फूलते हैं। अधिकतर किस्में वर्ष में केवल एक बार फूलती हैं। नीलम, रुमानी, अली पसन्द, बंगलौरा और बारहमासी ऐसी किस्में हैं जो साल में दो या तीन बार फूलती हैं। इनका फूलना किसी मौसम विशेष में ही नहीं होता।

खाद

यह संभव है कि कुछ पेवन्दी पेड़ दूसरे वर्ष ही कुछ फूल पैदा करने लगें। पर अधिकतर पेड़ पाँचवें वर्ष ही फूल देते हैं। आम के पेड़ प्रतिवर्ष फसल नहीं देते। एक वर्ष आम लगते हैं तो दूसरा वर्ष खाली रहता है। व्यापारिक दृष्टि से यह बहुत हानिकारक है। इस सम्बन्ध में सबूर (बिहार) के उद्यान गवेषणा केंद्र में काफी खोज बीन की गई है।

देखा गया है कि यदि जून-जुलाई में प्रति पेड़ एक सेर अमोनियम सल्फेट और अक्टूबर में डेढ़ मन पशुशालाकी खाद दी जाती है, तो अच्छे फूल आते हैं। पशुशाला की खाद के साथ फाएफेट भी इस्तेमाल किये जाने चाहिये। अमोनियम सल्फेट फूलने में सब से अधिक सहायता देता है। पोटेशियमधारी खाद जून-जुलाई और अक्बर दोनों अवसरों पर इस्तेमाल की जानी चाहिये। जब पेड़ पर से अच्छी फसल उत्तरी हो, तो जून-जुलाई में अमोनियम सल्फेट की मात्रा दूनी कर देनी चाहिये। खाद देने के लिए पेड़ से १-२ फुट दूर जमीन खोद ली जाती है और खाद को इसमें फैला दिया जाता है। तने के एक दम निकट जो जड़े होती होती हैं, वे खाद नहीं चूसतीं।

आमों से हर साल अच्छी फसल लेने के लिए यह जरूरी है कि (१) कम से कम वर्ष में दो बार हल चला कर बगीचे को घासपात से साफ रखा जाये। पहला हल जून-जुलाई में चला कर उसमें मेथी, मटर या सन बोया जाना चाहिये। दूसरा हल बरसात के बाद अक्टूबर में चलाए जाना चाहिये। यदि जनवरी-फरवरी में भी एक बार हल चलाया जा सके तो अच्छा रहता है। (२) पेड़ों में से पुरानी, सूखी और बहुत घनी भीतरी शाखाओं को निकाल देना चाहिये। इससे हवा और प्रकाश शाखाओं को अच्छी तरह मिलती हैं। (३) उपरोक्त रीति से पेड़ों में खाद डालना चाहिये। (४) जो शाखायें नहीं फलतीं, उनके ऊपर की छाल को चारों ओर लगभग आध इंच गहरा काट देना चाहिये। ऐसा करने से शाखा की पत्तियों द्वारा तैयार किया भोजन पेड़ के दूसरे भागों में नहीं जा पाता। शाखा में ही रह कर फलों के बनने में सहायता देता है (५) पेड़ों को बीमारी से बचाना चाहिये। फूलों के मौसम में टिड्डों को दूर रखने के लिए उन पर डी० डी० टी० छिड़कना चाहिये।

१६५४ का कलिंग पुरस्कार

इस वर्ष संयुक्तराष्ट्रीय शिक्षा-विज्ञान-संस्कृति संघटन (यूनेस्को) का कलिंग-पुरस्कार 'न्यूयार्क टाइम्स' के वैज्ञानिक विषयों के सम्पादक वोल्डेमार कैम्फर्ट को उनके विज्ञान सम्बन्धी विशिष्ट लेखन-कार्य पर देने का निश्चय किया गया है। पुरस्कार अगले मास पेरिस में आयोजित किये जाने वाले एक समारोह में यूनेस्को के महानिर्देशक डा० लूथर इवान्स द्वारा प्रदान किया जायेगा।

इससे पहले पेरिस के प्रोफेसर लुई द ब्रोगली और लन्दन के डा० जूलियन हक्सली इस पुरस्कार को हासिल कर चुके हैं। डा० हक्सली यूनेस्को के सर्वप्रथम महानिर्देशक थे।

श्री कैम्फट

पुरस्कार १००० पौंड (१३,२८७ रुपये) का है और इसकी व्यवस्था कटक (उड़ीसा) के कलिंग फाउन्डेशन ट्रस्ट द्वारा दिये जाने वाले वार्षिक अनुदान से की गई है। भारत के प्रमुख उद्योगपति और उड़ीसा प्रदेश कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष श्री बी. पटनायक इस ट्रस्ट के संचालक हैं। श्री पटनायक ने इस पुरस्कार की स्थापना दो उद्देश्यों से की है। जनता को वैज्ञानिक विषयों को समझने के लिए जो योग्यतापूर्वक कार्य किया जा रहा है उसके महत्व को स्वीकार करना और भारत तथा अन्य राष्ट्रों के वैज्ञानिकों के मध्य सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित करना। पुरस्कार-विजेता को जनवरी में भारतीय विज्ञान-कांग्रेस के वार्षिक सम्मेलन में भाग लेने और भारत में एक मास या उससे अधिक समय तक रह कर वैज्ञानिकों तथा अन्य लोगों के समक्ष भाषण देने के लिए आमन्त्रित किया जाता है।

वोल्डेमार कैम्फर्ट १६२७ से 'न्यूयार्क टाइम्स' में वैज्ञानिक विषयों के सम्पादक हैं। ३० वर्षों से वह प्रति सप्ताह रविवार को प्रकाशित होने वाली 'विज्ञान समीक्षा' के लिए लेख लिखते रहे हैं। उन्होंने 'न्यूयार्क टाइम्स' में अनेक सम्पादकीय लेख तथा वैज्ञानिक पुस्तकों के बारे में अपनी सम्पतियाँ भी लिखी हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने अमेरिका की साप्ताहिक तथा मासिक पत्रिकाओं के लिए भी बहुत से लेख लिखे हैं।

श्री कैम्फर्ट का जन्म न्यूयार्क सिटी में हुआ था और उन्होंने न्यूयार्क सिटी कालेज से परीक्षा पास की थी। बाद में उन्होंने न्यूयार्क यूनिवर्सिटी से कानून में उपाधि और 'क्लाकैसन इन्स्टिट्यूट औव् टैक्नोलौजी' से 'डाक्टर औव् साइन्स की सम्मान-सूचक उपाधि प्राप्त की। उन्होंने अपना जीवन पेटेंट एटर्नी के रूप में आरम्भ किया था, किन्तु शीघ्र ही वह 'साइन्टिफिक अमेरिकन' के प्रबन्ध-सम्पादक और बाद में 'पौपुलर साइन्स मन्थली' के सम्पादक हो गये।

समालोचना

"वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा"

लेखक—डा० सत्यप्रकाश डी० एस-सी०, प्रयाग विश्वविद्यालय, भूतपूर्व सम्पादक 'विज्ञान'

प्रकाशक—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना

पृष्ठ संख्या, २६६ रायल अठपेजी, मूल्य ७) सजिल्द ८)

प्रस्तुत पुस्तक बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के संचालकों की दूरदर्शिता और देशोन्नति की भावना का एक सुन्दर प्रमाण है। राष्ट्रभाषा परिषद-मंत्री के शब्दों में "हिन्दी भाषा और साहित्य की प्रगति के क्रम में जिस अनुपात से आलोचना, उपन्यास, नाटक, कहानी, कविता आदि का निर्माण हो रहा है, उस अनुपात में वैज्ञानिक विषयों पर उच्चकोटि के ग्रंथों का नहीं।...इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालयों के उच्चवर्गीय अध्ययनाध्यापन के लिए उपयुक्त विज्ञान विषयक ग्रन्थों की दरिद्रता राष्ट्र-भाषा के विकास में बाधक सिद्ध हो रही है। प्रस्तुत रचना इस अभाव की भी पूर्ति करने में समर्थ होगी।' बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्-मंत्री श्री धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री के उपर्युक्त वाक्यों का कोई भी विवेकशील व्यक्ति समर्थन किए बिना नही रह सकता। विज्ञान प्रचार के प्रति यह सतर्कता, जागरूकता अभिनंदनीय है।

डा० सत्यप्रकाश जी हमारी विज्ञान परिषद के एक क्रियाशील, पुराने कर्मठ कार्यकर्त्ता हैं। यह संयोग की ही बात है कि उन्हें प्राचीन भारतीय धर्म ग्रन्थों की दार्शनिकता की ऊहापोह में पड़ने के साथ ही विज्ञान का भी अनन्य सेवक बनने का अवसर मिला है। आर्य समाज के पारिवारिक संस्कार के कारण वेदों, उपनिषदों आदि की गूढ़ विवेचना में पड़े रहने से आप को भारतीय साहित्य में छिपी वैज्ञानिकता की झाँकी लेने का जो अवसर प्राप्त होता है, उसके साथ ही विज्ञान के उच्च अध्यापक होने के नाते आज के विज्ञान स्तर से उसकी तुलना करने की क्षमता होने से ही इस प्रकार का ग्रन्थ प्रस्तुत करने में वे समर्थ हो सके हैं। यह उल्लेखनीय बात है विद्वान लेखक ने अपना साहित्यिक जीवन एक कल्पना-प्रवर कवि के रूप में ही प्रारंभ किया था। उनकी प्रथम मुद्रित पुस्तक 'प्रतिबिम्ब' उनकी कविताओं का संग्रह थी। किन्तु विज्ञान परिषद् के किन्हीं कर्णधारों की प्रेरणा या स्वतः अपनी अन्तर्वृत्ति से इन्होंने विज्ञान की सेवा अपना आजीवन व्रत ही नहीं बनाया, प्रत्युत अन्य साहित्यिकों को भी विज्ञान की ओर प्रवृत्त करने का सुन्दर उदाहरण रक्खा।

इस ग्रन्थ में वैदिक काल से आरंभ करके भारतीय साहित्यिक निधि का मंथन कर, उसमें से विज्ञान के भिन्न-भिन्न अंगों के संबंध में प्राप्य सामग्री का संचय बड़े विशद रूप में किया गया है। विज्ञान के विश्वविद्यालय स्तर पर अध्ययन-अध्यापन तथा मौलिक गवेषणा के लिए यह पुस्तक अवश्य ही अनिवार्य पठन सामग्री बनेगी तथा शोधकर्त्ताओं और विद्वानों को विज्ञान क्षेत्र में प्रेरणा का स्रोत बनेगी।

हमें यह व्यक्त करते अत्यंत प्रसन्नता होती है कि इस पुस्तक की रचना का सूत्रपात 'विज्ञान' में डा० सत्यप्रकाश जी के एक लेख द्वारा १९४९ में हुआ था। अक्टूबर नवम्बर के १९४९ (भाग ६९ सं० १,२) में आपका लेख "भारत में रसायन की परम्परा और औद्योगिक धंधे" शीर्षक निकला था। कदाचित वह प्रथम लेख ही था। प्रस्तुत पुस्तक में यह इस शीर्षक का प्रमुख स्थान है किन्तु सामग्री पूर्णतः परिवर्द्धित है। यदि बिहार राष्ट्र भाषा परिषद का आह्वान न प्राप्त होता तो कदाचित ऐसे विशद तथा विस्तृत रूप में पुस्तक लिखे जाने तथा छपने का अवसर ही नहीं आता। अतएव हम बिहार राष्ट्र भाषा परिषद का इस सुप्रयास के कारण अभिनन्दन करते हैं।

—सम्पादक 'विज्ञान'

विषय-सूची

(पृष्ठ ३० का शेषांश)

इस अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कार के लिए 'नेशनल एसोसियेशन फौर दि एडवान्समेंट औव् साइन्स' तथा नेशनल साइन्स राइटर्स एसोसियेशनों ने व्यक्तियों के नाम पेश किये थे। श्री कैम्फर्ट के नाम का सुझाव 'ब्रिटिश एसोसियेशन औव् साइन्स राइटर्स' की ओर से दिया गया था। आस्ट्रिया, ब्राजिल, फ्रांस, जर्मनी, भारत, पेरू, ब्रिटेन, अमेरिका और वेनेज्वेला की ओर से कुल १० नाम पेश किये गये थे।

इस पुरस्कार का नाम कलिंग साम्राज्य के नाम पर रखा गया है। यह साम्राज्य २००० वर्ष से भी पहले भारत के कुछ हिस्से में और इण्डोशिया में फैला हुआ था। कलिंग की लड़ाई के बाद ही सम्राट अशोक ने भविष्य में युद्ध न करने और अपना शेष जीवन शान्ति के कार्य में लगाने का निश्चय किया था। कलिंग फाउन्डेशन ट्रस्ट का नाम भी उसी साम्राज्य के नाम पर रखा गया है। यह ट्रस्ट उड़ीसा राज्य में सामाजिक और विकास-कार्यों के लिए अनुदान दिया करता है।

१६५२ में पुरस्कार की स्थापना करते हुए, श्री पटनायक ने कहा था कि कलिंग फाउन्डेशन ट्रस्ट इस बात को अच्छी तरह अनुभव करता है कि विज्ञान से प्राप्त होने वाले लाभों से अल्पविकसित प्रदेशों के विकास में बड़ी मदद मिल सकती है और वह संसार का ध्यान विज्ञान सम्बन्धी जानकारी और उसके व्यापक उद्योग की आवश्यकता की ओर खींचना चाहता है।

नागरी प्रेस, दारागंज, प्रयाग।

सरल विज्ञान ग्रंथावली

लेखक—जगपति चतुर्वेदी, सहा० सम्पा०, 'विज्ञान'

सरल विज्ञान ग्रन्थावली हिन्दी में लोकप्रिय वैज्ञानिक साहित्य सरल रूप में प्रस्तुत करने का एक नवीन तथा अभूतपूर्व प्रयास है। सभी पुस्तकें केवल एक लेखक द्वारा लिखी हुई हैं। लगभग १५० या २०० पृष्ठों तथा बहुसंख्यक चित्रों के साथ प्रत्येक का मूल्य २) है।

भौतिक विज्ञान

बिजली की लीला—बिजली के वैज्ञानिक मर्म, तार टेलीफोन, विद्युत्प्रकाश, एक्सरे रेडियो आदि की कहानी।

परमाणु के चमत्कार—परमाणु सम्बन्धी वैज्ञानिक खोजों तथा परमाणु बम, उदजन बम आदि के मर्म की कहानी।

भूगर्भ वि०, पुरा-जीवविज्ञान, पुरा-वस्पनति विज्ञान

विलुप्त जन्तु—प्रस्तरावशेषों के आधार पर पचास करोड़ वर्षों तक पुराने जन्तुओं के वंश लोप होने की कहानी।

भूगर्भ विज्ञान—धरती के निर्माण तथा अंतः और वाह्य अंगों के रूप परिवर्तन की विलक्षण कहानी।

विलुप्त वनस्पति—प्राचीन काल के प्रस्तरावशेषों के आधार पर पचास कोटि वर्षों तक पुराने वनस्पति वंशों की कहानी।

कोयले की कहानी—पत्थर कोयले की उत्पत्ति तथा वैज्ञानिक शोध और उपयोग की कहानी।

ज्वालामुखी—धरती के आंतरिक भाग में ज्वाला उत्पन्न होने के कारण तथा संसार के ज्वालामुखियों की कहानी।

रसायन

तत्वों की खोज में—रासायनिक तत्वों के अनुसंधान तथा उनके अन्वेषक वैज्ञानिकों की मनोरंजक कहानी।

साधारण

वैज्ञानिक आविष्कार—भाग १, २—पुरानी तथा नई वैज्ञानिक खोजों की विशद कहानियाँ।

आविष्कारकों की कहानी—युगान्तरकारी आविष्कारकों तथा वैज्ञानिकों की कथा।

वनस्पति विज्ञान

वनस्पति की कहानी—वनस्पति के जन्म, वृद्धि, क्रियाकलाप, तथा भेद प्रभेदों की कहानी।

चिकित्सा विज्ञान, कीटाणु विज्ञान

जीने के लिए—रोगों और कीटाणुओं का मर्म ज्ञात करने वाले वैज्ञानिकों की मार्मिक कहानी।

कीटाणुओं की कहानी—रोग उत्पन्न करने वाले तथा अन्य सूक्ष्मदर्शकीय कीटाणुओं और परम कीटाणुओं की कहानी।

पेनिसिलिन की कहानी—रसायन चिकित्सा तथा पेनिसिलिन के अविष्कार, की कहानी।

शल्य विज्ञान की कहानी—शरीर में चीरफाड़ करने के प्राचीन तथा नवीन ज्ञान की कहानी।

जीव-जन्तु विज्ञान

समुद्री जीव-जन्तु—समुद्र के अन्दर रहने वाले अद्भुत रंग-रूपों के जंतुओं का वर्णन।

अद्भुत जन्तु—अद्भुत रङ्ग रूप के जन्तुओं की कहानी।

विलक्षण जन्तु—विचित्र आकार प्रकार के जन्तुओं का वर्णन।

पक्षी ग्रन्थावली—पक्षियों के रङ्ग रूप, जीवन-क्रम, निवास सन्तानोत्पादन, स्वभाव भेद तथा पहचान का वर्णन।

१—शिकारी पक्षी	२)
२—जलचर पक्षी	२)
३—वन वाटिका के पक्षी	२)
४—वन उपवन के पक्षी	२)
५—उथले जल के पक्षी	२)

विज्ञान परिषद्, प्रयाग

Reg. NO 372

Approved by the Directors of Education, Uttar Pradesh
and Madhya Pradesh for use in Schools;
Colleges and Libraries

विज्ञान परिषद् के मुख्य नियम

परिषद् का उद्देश्य

१—१९७० वि० या १९१३ ई० में विज्ञान परिषद् की इस उद्देश्य से स्थापना हुई कि भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य का प्रचार हो तथा विज्ञान के अध्ययन को और साधारणतः वैज्ञानिक खोज के काम को प्रोत्साहन दिया जाय।

परिषद् का संगठन

२—परिषद् में सभ्य होंगे। निम्न निर्दिष्ट नियमों के अनुसार सभ्यगण सभ्यों में से ही एक सभापति, दो उप-सभापति, एक कोषाध्यक्ष, एक प्रधानमन्त्री, दो मन्त्री, एक सम्पादक और एक अंतरंग सभा निर्वाचित करेंगे जिनके द्वारा परिषद् की कार्यवाही होगी।

सभ्य

२२—प्रत्येक सभ्य को ६) वार्षिक चन्दा देना होगा। प्रवेश शुल्क ३) होगा जो सभ्य बनते समय केवल एक बार देना होगा।

२३—एक साथ १०० रु० की रकम दे देने से कोई भी सभ्य सदा के लिए वार्षिक चन्दे से मुक्त हो सकता है।

२६—सभ्यों को परिषद् के सब अधिवेशन में उपस्थित रहने का तथा अपना मत देने का, उनके चुनाव के पश्चात् प्रकाशित, परिषद् की सब पुस्तकों, पत्रों, तथा विवरणों इत्यादि को बिना मूल्य पाने का—यदि परिषद् के साधारण धन के अतिरिक्त किसी विशेष धन से उनका प्रकाशन न हुआ—अधिकार होगा। पूर्व प्रकाशित पुस्तकें उनको तीन चौथाई मूल्य में मिलेंगी।

२७—परिषद् के सम्पूर्ण स्वत्व के अधिकारी सभ्य वृन्द समझे जायेंगे।

प्रधान संपादक—डा० हीरालाल निगम
सहायक संपादक—श्री जगपति चतुर्वेदी

नागरी प्रेस दारागंज, प्रयाग

प्रकाशक—विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद

विज्ञान
विज्ञान
परिषद्
प्रयाग का
मुख-पत्र
नवम्बर १९५४
वृश्चिक २०११
भाग ८०
अंक २
वार्षिक मूल्य
चार रुपए
प्रति अंक
छः आने
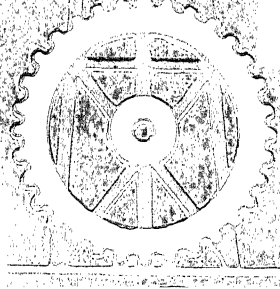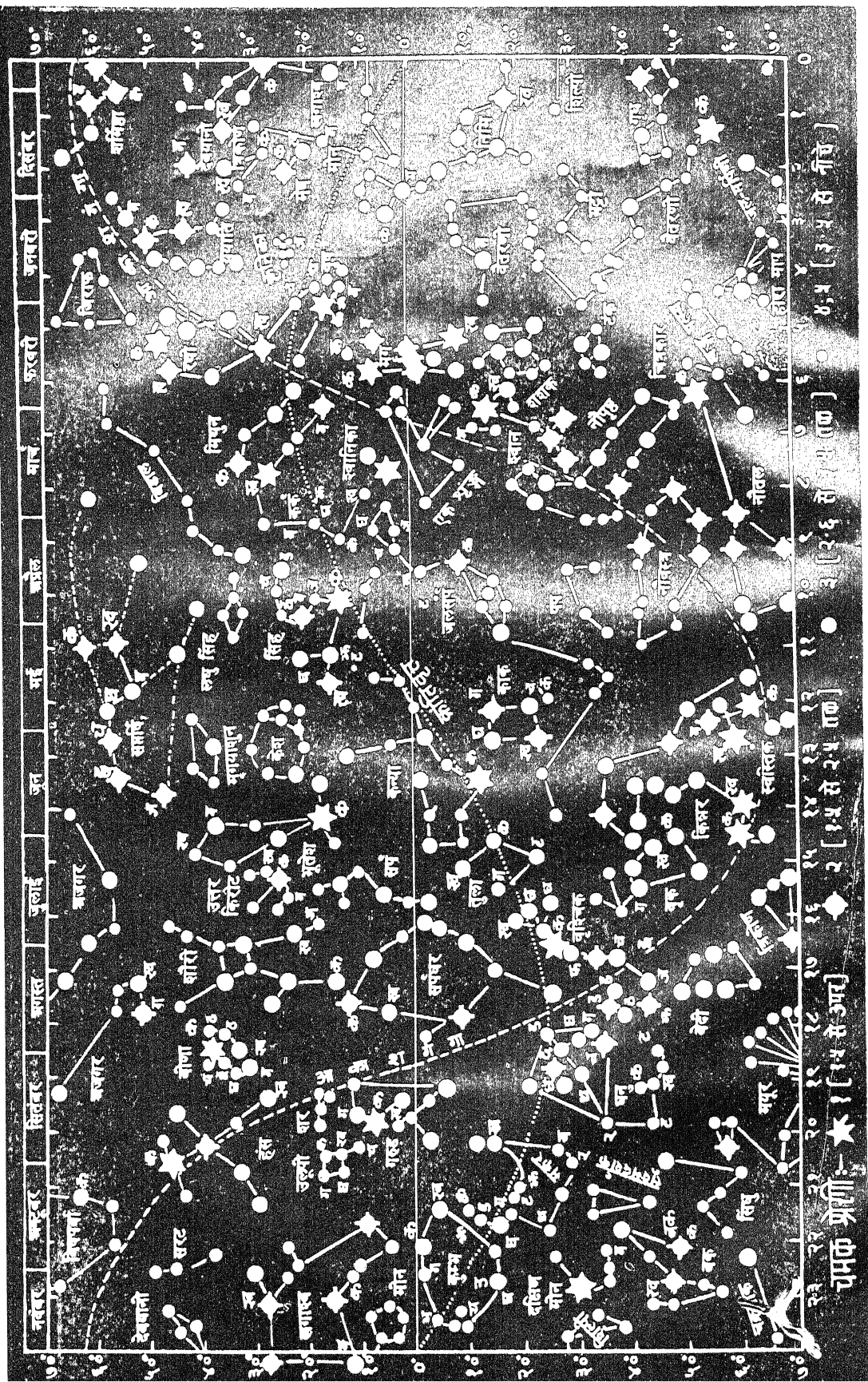
विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्तिविज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ० ।३।५।

भाग ८० | वृश्चिक २०११; नवम्बर १९५४ | संख्या २

तारा देखने की विधि

जगपति चतुर्वेदी

तारा मंडलों की पहचान करने के लिए आवरण पृष्ठ के दूसरे पृष्ठ पर तारा चित्रपत्र दिया गया है। इसे देखने की विधि निम्न है। तारा मंडलों की पहचान के लिए लेख अगले अंकों में दिए जाएंगे।

दक्षिण मुख कर तारा चित्रपत्र (स्टार चार्ट) सामने रख लें। इसे अपने सिर पर चँदोवे की भाँति रक्खा मान लें। इसका ऊपरी भाग उत्तर दिशा होगा। उत्तर से दक्षिण खींची रेखाएँ इस आयताकार चित्र की चौड़ाई में हैं। वे उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक खींची मानी गई हैं। ये रेखाएं घंटा-रेखा या यामोत्तर रेखा कही जाती हैं। जिस मास में तारामंडल देखना हो उसके खाने वाली घंटा रेखा या यामोत्तर रेखा पर के तारा मंडल आठ बजे रात को उत्तर-दक्षिण दिशा में सिर के ऊपर से उत्तर दक्षिण जाने वाली रेखा पर होंगे। यदि दस बजे रात को देखना हो एक मास आगे वाले खाने की रेखा सिर के ऊपर समझना चाहिए। बारह बजे रात को आगामी तीसरे मास की यामोत्तर रेखा पर के तारामंडल सिर के ऊपर उत्तर दक्षिण जाने वाली कल्पित रेखा पर होंगे। यदि छः सात बजे रात को तारा देखना हो तो एक मास पूर्व की यामोत्तर रेखाओं के तारामंडल सिर के ऊपर वाली रेखा पर होंगे। प्रत्येक मास के खाने में दो रेखाओं में से पहली रेखा पहले पखवाड़े की और दूसरी दूसरे पखवाड़े की मान लें। चित्र में रेखाओं के केवल संकेत ही दिए गए हैं। पूरी रेखाएँ नहीं बनी हैं।

इसी तारा चित्र-पत्र को उत्तर मुख कर देखने के लिए चित्र उलट कर सामने करें और चित्रपत्र को सिर के ऊपर उभाड़ा मानें। मासों के नाम लिखे खानों वाला भाग उत्तर माने और १ से ० या २४ तक अंकित घंटा रेखा या यामोत्तर रेखा के अंकों वाला भाग दक्षिण मान लें।
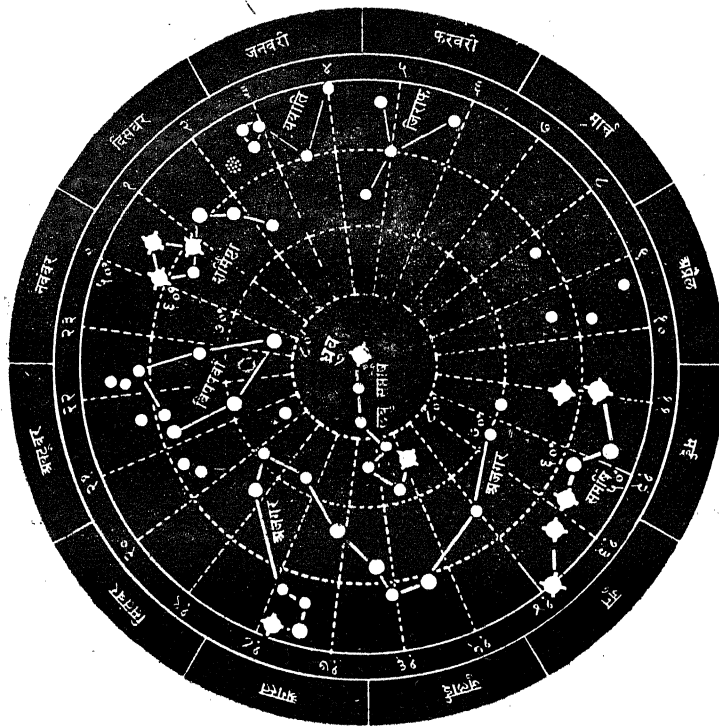
गोल तारा-चित्रपत्र

गोल आकार के तारा चित्रपत्र या ध्रुवीय क्षेत्रों में आकाशीय तारामंडलों के तारा चित्रपत्र को देखने के लिए उत्तर मुख कर लें। जिस मास में तारा देखना हो उसके खाने को ऊपर करें। प्रत्येक दशा में इस गोल चित्रपत्र का कुछ निचला भाग हमारी दृष्टि से ओझल रहेगा। शेष तारा मंडलों को देख कर ध्रुव की पहचान सरल है। ४० अक्षांश से उत्तर स्थित देशों में इस तारा चित्र के सभी तारा मंडल बारहों मास दिखाई पड़ेंगे। परन्तु भारत की स्थिति अपेक्षाकृत दक्षिण होने से इसके बहुत से तारा अवश्य रहेंगे। चौकोर तारा चित्रपत्र की यामोत्तर रेखाओं का मिलान कर ध्रुवतारा से अन्य तारा मंडलों की आपेक्षिक स्थिति ज्ञात हो सकती है।

नक्षत्रों के तारामंडलों में स्थान, ग्रहों के दर्शन करने के स्थान और समय तथा तारामंडलों की पहचान के सम्बन्ध में अगले लेखों में प्रकाश डाला जायगा। विशेष विवरण हमारी "तारामंडल की कहानी" शीघ्र ही प्रकाशित होने वाली पुस्तक में देखा जा सकता है।

विकृति विज्ञान

डाक्टर वनमाली मांगलिक, पैथोलौजी विभाग, मेडिकल कालिज, लखनऊ

जबसे मनुष्य इस पृथ्वी पर अवतरित हुआ है, तभी से उसे तरह-तरह के रोगों से लोहा लेना पड़ा है। प्रस्तर युग (Stone Age) से लेकर आज के एटमकालीन मानव ने संसार के भिन्न-भिन्न भागों में किस तरह विभिन्न प्रकार की बीमारियों से लड़ाइयां लड़ी हैं, यह एक रोचक इतिहास है।

आदिम काल का मानव, रोगों की उत्पति के सही प्राकृतिक कारणों से अपरिचित था। वह रोगों की उत्पत्ति को दैवी प्रकोप समझता था। देवी देवताओं और दूसरी अनेक काल्पनिक अलौकिक शक्तियों का कोप, भूत प्रेत का आवागमन, और इसी तरह की अनेक भ्रामक कल्पनायें रोगों की उत्पत्ति का मूल कारण मानी गई थीं। इससे अधिक वह कुछ नहीं समझ सकता था। और प्रागैतिहासिक काल का विकृति विज्ञान (Pathology) इसी भ्रमपूर्ण धारणा (Misconception) तक सीमित था।

फिर धीरे-धीरे मानव अपने आदिम रूप से सभ्य बनने की ओर कदम बढ़ाने लगा। उसके रहन-सहन, खान पान, आचार विचार के ढंग कुछ स्थिर और सुसंस्कृत रूप लेने लगे। तभी रोगों और उनकी उत्पति तथा चिकित्सा सम्बन्धी धारणायें भी बनने लगी। उस समय का कोई प्रामाणिक लिपिबद्ध इतिहास ता उपलब्ध नहीं है पर आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा, यत्र तत्र की गई तत्सम्बन्धी स्फुट खोजों के आधार पर हम तत्कालीन धारणाओं का बहुत कुछ सही अनुमान कर सकते हैं।

फिर मनुष्य और आगे बढ़ा, खेती करने लगा, समाज बनाकर रहने लगा, शासन व्यवस्था बनी और वह सचमुच सभ्यता के द्वार पर आ पहुँचा। सबसे पहले वह परिवर्तन बड़ी-बड़ी नदियों की सुरम्य और उर्वरा भूमि में हुआ। भारत, चीन और बैबिलोन मानव सभ्यता के अग्रदूत बने। हिमालय की उपत्यकाओं, सिन्धु की घाटियों और गंगा की शस्य श्यामला भूमि में वेदों की ऋचायें गूंजने लगीं। तभी उसी समय विभिन्न देशवासियों को रोगों के बारे में क्या, क्यों और कैसे की जिज्ञासा प्रारम्भ हुई। प्रस्तरयुगीन मानव की तत्सम्बन्धी धारणायें उसे भ्रामक प्रतीत हुई। और वस्तुतः तभी मानव मस्तिष्क में विकृति विज्ञान का पहला बीज अंकुरित हुआ।

आगे चलकर भारत में आयुर्वेद के विद्वानों ने रोगोत्पति के लिये "त्रिदोष सिद्धान्त" को जन्म दिया। बात, पित, और कफ तीन प्रधान धातुएं मानी गई। इनमें विकार या असन्तुलन होने पर विभिन्न रोगों की उत्पति बताई गई। इस सिद्धान्त की बहुत सूक्ष्म विवेचना की गई। वस्तुतः विकृति विज्ञान के इतिहास में पहला महत्वपूर्ण सिद्धान्त आयुर्वेद के "त्रिदोष सिद्धान्त" के रूप में ही अवतरित हुआ था। कुछ इससे मिलते जुलते सिद्धान्त चीन और यूनान में भी स्थिर किये गये। चीनियों ने तीन के स्थान पर दो धातुओं (यांग Yang) और (यिन Yin) की कल्पना की और यूनानियों ने चार की।

यद्यपि आगे चलकर रोगोत्पत्ति के ये सिद्धान्त तर्कहीन सिद्ध हुए परन्तु इनका ताना बाना इतनो सूक्ष्मता से बुना गया था और इतनी विस्तृत व्याख्या की गई थी कि तत्कालीन आयुर्वेद की सभी समस्याओं का समाधान इसी एक सिद्धान्त के आधार पर संभव हो सका था। क्योंकि चिकित्सा सम्बन्धी ज्ञान प्रायः

प्रत्यक्ष प्रमाणों पर ही आधारित था इसलिये रोगोत्पत्ति के भ्रमपूर्ण सिद्धान्त ने चिकित्सा के क्षेत्र में कोई विशेष अड़चन नहीं डाली। परन्तु चिकित्सा सम्बन्धी कोई संगठित और क्रमवद्ध विकास तथा उन्नति, रोगोत्पत्ति के सही ज्ञान के अभाव के कारण न हो सकी। अपने स्वाभाविक और स्थूल निरीक्षणों द्वारा जो कुछ जाना गया उसी से काम चलता रहा।

और इस तरह विकृति विज्ञान के इस रूप का, ३००० वर्ष पूर्व उत्पत्तिकाल से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक एक छत्र प्रभुत्व रहा। इस सिद्धान्त के आधार पर अनेक ग्रन्थों की रचना हुई और "माधव निदान" पैथोलौजी के आदि ग्रन्थों में से एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

सोलहवीं ई० शताब्दी के प्रारम्भिक काल में चिकित्सा विज्ञान में सदियों से आया हुआ गत्यावरोध (Deadlock) सहसा विलीन हो गया। १५१४ ई० ब्रुसेल्स में एन्ड्रीज विसेलियस का जन्म हुआ। १५३७ ई० में वह इटली के पादुआ विश्व विद्यालय में प्रोफेसर नियुक्त हुआ और उसने मनुष्य शरीर की रचना का सही और विस्तृत अध्ययन किया। साथ ही मानव शरीर की प्राक्रियाओं और कार्यकलापों का अध्ययन भी किया जाने लगा। इस सम्बन्ध में साईकेल सरवीटस तथा विलियम हार्वे के नाम उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार शरीर रचना और शरीर क्रिया विज्ञान के सही अध्ययन ने आधुनिक विकृत विज्ञान (Modern Pathology) के अनुसन्धान (Research Work) के लिये मार्ग प्रशस्त किया। तभी प्रकृति (Nature) भी कुछ विशेष रूप से उदार बनी और हालैंड देश के चश्मे के एक व्यापारी जेन्सन ने खेल ही खेल में अणुवीक्षण यंत्र (Microscope का आविष्कार कर डाला। इसे लीवन हॉक ने व्यावहारिक रूप दिया। और मार्सिली मालपिभाई नामक इटालियन वैज्ञानिक ने १६६० ई० में सर्वप्रथम चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में इस यंत्र का प्रयोग किया। और तब पहली बार स्वस्थ और विकृत शरीर के तन्तुओं (Tissues) की सूक्ष्म रचना (Internal structure) के अध्ययन की संभावना साकार सिद्ध हो गई। इसी यंत्र से लीवन हॉक ने सर्वप्रथम जीवाणुओं (Microorganisis) तथा शुक्राणुओं (स्पर्मस) के दर्शन किये। उस शुभ घड़ी में विकृति विज्ञान की तीन महत्वपूर्ण शाखाओं—जीवाणु विज्ञान (Bacteriology), रक्त विज्ञान (Haematology और तन्तु रचना विज्ञान (Histology) का श्रीगणेश हुआ।

फिर इसके बाद का इतिहास तो पैथोलौजी के विकास क्रम की ज्वलन्त सफलताओं की वह कहानी है जिस पर आधुनिक चिकित्सा विज्ञान गर्व करता है। अब जीवाणु विज्ञान का द्रुतगति से विकास होने लगा। अनेक गंभीर और संक्रमक रोगकारक विशेष कीटाणुओं की खोज हुई। कीटाणुओं के जीवन, स्वभाव तथा रोगोत्पादक क्षमताओं (Disease producing qualities–Pathologenicity) का अध्ययन किया जाने लगा। साथ ही इन कीटाणुओं के विरोध स्वरूप शरीर के प्राकृतिक रक्षात्मक साधनों (Natural defensive mechanisms) का भी अध्ययन किया गया और फिर प्रकृति के इन सिद्धान्तों के आधार पर वैक्सीन तथा सीरम चिकित्सा का आविर्भाव हुआ। जो काम प्रकृति अपने अनियंत्रित अनिश्चित और क्रूर तरीकों से करती है उसे पैथोलौजिस्ट नियंत्रित और सुनियोजित उपायों से करने लगा। विभिन्न रोगोत्पादक कीटाणु एक प्रकार से प्रयोगशालाओं में पालतू बना लिये गये। उनकी रोगोत्पादक क्षमता (Pathogenicity) का ह्रास (Attenuate) करके उनके रोगनिरोधक क्षमता (Antigenic Property) उत्पन्न करने के गुण-विशेष का नपी तुली मात्राओं में प्रयोग करके मनुष्य के शरीर को उनके संक्रमण (Infection) के प्रति सक्षम (Immune) बना कर उनके अनेक संघातिक रोगों से बचाने के सफल तरीके निकाले गये। टाफीइड, कालरा, प्लेग तथा रेबीज जैसे रोगों के प्रति सफलता के साथ व्यक्तियों को सक्षम बनाकर

(Immunise) उनका बचाव किया गया। विभिन्न कीटाणुओं के विषाक्त प्रदार्थों (Toxins) के प्रति प्रतिरोधक सीरम (Anti Serum) तैयार किये गये और डिफथीरिया तथा टेटैनस जैसे सांघातिक रोगों की सफल चिकित्सा आसान हो गई। बैक्टीरियोलौजी के आधुनिक ज्ञान के आधार पर की गई खोजों के परिणाम स्वरूप ही अनेक आधुनिक एन्टी बायोटिक औषधियों का आविष्कार सम्भव हो सका। और अब एलैकट्रान माईक्रोस्कोप के अविष्कार ने तो आज के पैथोलौजिस्ट के सामने एक नवीन संसार खोल दिया है, जो मानवता के हित में अनेक नई खोजों की संभावनाओं से परिपूर्ण है। और अब हमारा अगला मोर्चा जो वाइरस के प्रति संगठित किया जा रहा है अधिक द्रुतगति से सफलता की ओर बढ़ेगा।

रक्त और उसके गुणों का विशेष अध्ययन भी हुआ। रक्त में विभिन्न रोगावस्थाओं में होने वाले परिवर्तनों की जानकारी प्राप्त की गई। इस के फलस्वरूप रोगों के विभेदक निदान (Differential Diagnosis) में रक्त परीक्षाओं का महत्वपूर्ण स्थान बन गया है। समस्त मानव जाति का रक्त भेद (Blood Group) के आधार पर वर्गीकरण हुआ जिसके परिणाम स्वरूप आज रक्त संचारण की प्रक्रिया मानव जाति के लिये वरदान बनी हुई है। आज संसार के कोने-कोने में रक्त निधियां खुली हुई हैं जहाँ चांदी सोने के टुकड़ों का विनिमय नहीं होता अपितु मनुष्य के उष्ण रक्त का दान प्रतिदान त्रस्त मानवता के लिये हुआ करता है। इस पर कोइ व्याज बट्टा नहीं लगता और अब तो हमारे कदम और आगे बढ़ रहे हैं। नेत्र बैंक (Eye Bank) तथा दूसरे तन्तु बैंकों (Tissues Banks) की योजनायें भी साकार हो चुकी हैं। और आज का पैथालौजिस्ट संदिग्ध पैतृकता (Disputed Paternity) के निर्णय में न्याय का सहायक भी बन गया है।

शरीर के विभिन्न तन्तु कोषों का सूक्ष्म अध्ययन किया गया। सामान्य अवस्था तथा अनेक रोगी दशाओं में होने वाले परिवर्तनों की विस्तृत जानकारी प्राप्त की गई। और इस तरह हिस्टोलौजी का व्यापक क्षेत्र विकसित हुआ। और अब आजकल पैथोलौजिस्ट शारीरिक तन्तुओं के छोटे से टुकड़े में से कटी पतली चकत्तियों को माईक्रास्कोप में देख कर उस व्यक्ति के शरीर में व्याप्त रोग विशेष की सभी संभावनायें एक कुशल सिद्धहस्त भविष्यवक्ता की तरह बता देता है। अनेक गंभीर रोगों का यही निदान और उनकी समुचित चिकित्सा पैथोलौजिस्ट की इस महत्वपूर्ण परीक्षा के बिना एक पग आगे नहीं बढ़ सकती।

सर्जन शल्यकक्ष (Operation Room) में रोगी का पेट खोलता है रुग्ण तन्तु देख कर हतप्रभ सा हो किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। वह निर्णय नहीं कर पाता कि क्या कारण है। उसके हाथ रुक जाते हैं। तब ऐसे आड़े समय में पैथोलौजिस्ट ही मदद को आता है। उस रुग्ण तन्तु का एक छोटा सा टुकड़ा काट कर सर्जन पास के कमरे में उपस्थित पैथोलौजिस्ट को भेजता है। पैथोलौजिस्ट सात आठ मिनटों के भीतर ही अपना निर्णय देता है। सर्जन के हाथों को नया बल, उसके चाकू को विकार उन्मूलन का गुण, और रोगी को नवीन जीवन प्राप्त होता है।

इतना ही नहीं अब तो तन्तुकोषों सम्बन्धी जानकारी इतनी आगे बढ़ गई है कि शरीर के विभिन्न स्रावों के साथ निकले कोषों की आकृति तथा उनका आकार प्रकार देख कर ही पैथोलौजिस्ट वहाँ स्थित अनेक रोगी दशाओं के बारे में सही जानकारी दे सकता है। पैथोलौजी की इस नवीनतम शाखा को कोष शास्त्र कहते हैं।

शरीर के विभिन्न अंगों की साधारण कार्यक्षमता (Efficiency) तथा विभिन्न रोगों में उनकी परिवर्तित कार्यक्षमता की सही जानकारी तथा उनके मूल्यांकन (Quantitative Estimate) की सामान्य (Ordinary) परीक्षायें कर के ही बहुत सही यह बता सकता है कि अमुक व्यक्ति के यकृत या गुर्दे कितने विकृत (Diseased) हो गये हैं और उनमें अभी कितनी कार्यक्षमता शेष है।

(शेष पृष्ठ १० पर)

ब्रह्मांड और डा० आइन्सटीन

[पिछले अंक का शेषांश]

७. प्रकाश रेखाओं की निश्चित चाल
(Constaucy of velocity of light)

इन भ्रमों के दिग्दर्शन कराने के पश्चात् डा॰ आइन्सटीन एक और बात बताते हैं और इन सबकी सहायता से सापेक्षवाद का निर्माण करते हैं। इस बार रेलगाड़ी का उदाहरण फिर से काम में लाया जायेगा।

आपसे यदि कहा जाये कि अमुक रेलगाड़ी की चाल ४० मील प्रति घंटा है तो इसके अर्थ होते हैं कि स्थिर वस्तु के लिये गाड़ी की चाल ४० मील प्रति घंटा है। गतिशील वस्तु के लिये रेलगाड़ी की चाल भी भिन्न होगी। यदि कोई १० मील की चाल से गाड़ी की विपरीत दिशा में चले तो उसकी चाल ४०+१० अर्थात् ५० मील प्रति घंटे की हो जायेगी। किन्तु यदि वह उस गाड़ी की दिशा में १० मील प्रति घंटे के हिसाब से चले तो उसकी चाल ४०−१० अर्थात् ३० मील प्रति घंटे की हो जायेगी। साधारण रीति से यह आशा करनी चाहिये कि प्रकाश की चाल में भी ग्रहों अथवा तारों की चाल के साथ-साथ इसी प्रकार का घटाव-बढ़ाव होगा। श्री माइकेल्सन और मार्ले ने यह निःसंदेह सिद्ध कर दिया था कि प्रकाश की चाल में अंतर नहीं पड़ता, वह सदैव एक समान रहती है। सापेक्षवाद के पूर्व भौतिक-विज्ञान शास्त्री इसको किसी प्रकार से स्पष्ट नहीं कर पाते थे। डा० आइन्सटीन ने उपर्युक्त भ्रमों से दूर रहकर इसकी इस प्रकार व्याख्या की—

यूक्लिड ज्यामिति को ब्रह्मांड के चित्रित करने में प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। इस ब्रह्मांड में देश और काल का एक दूसरे से पृथक् कोई अस्तित्व नहीं है। अतः स्थिति-निर्देश के लिये चार विस्तारों अर्थात् लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई और समय का एक साथ प्रयोग करना पड़ेगा। इस ब्रह्मांड में किसी वस्तु की गति का ठीक आभास नहीं प्राप्त हो सकता। इस ब्रह्मांड में समकालिकत्व का कोई अर्थ नहीं है; गुरुत्वाकर्षण ऐसी शक्ति का कोई अस्तित्व नहीं है। चाल की वृद्धि के साथ-साथ देश और काल की नाप में भी अंतर पड़ जाता है। बहुत अधिक चालों पर वस्तु के भार में भी वृद्धि हो जाती है। उसको इस समीकरण द्वारा व्यक्त किया जा सकता है:—

$$म = \frac{म_1}{\sqrt{१ - \frac{व^२}{स^२}}}$$

इसमें म = 'व', वेग से चलते हुए पदार्थ का भार; $म_1$ = आरंभ में पदार्थ का भार और स = प्रकाश का वेग। इस समीकरण से स्पष्ट है कि जैसे-जैसे 'व' बढ़कर 'स' के समीप पहुँचता जाता है उसके भार में अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि होती जाती है और जब 'स' और 'व' एक हो जाते हैं तब भार अनंत हो जाता है। इस समीकरण से यह भी स्पष्ट है कि जिन साधारण चालों से हम परिचित हैं उन चालों पर भार की वृद्धि नगण्य होती है और इसलिये इस समीकरण की सत्यता पर हमें संदेह होता है।

साधारण चालों पर देश और काल की नाप का भी अंतर नहीं ज्ञात होता है किन्तु जब प्रकाश की चाल के समान तीव्रगामी वस्तुओं पर ध्यान केन्द्रित होता है तब देश और काल की नाप में काफी अंतर पड़ जाता है। यह अंतर उतना ही होता है जिससे प्रकाश की चाल एक समान रहे। किसी वस्तु की चाल उसके द्वारा चले हुए देश को काल

से भाग देकर निकाली जाती है। इसमें देश और काल का परिवर्त्तन इस प्रकार होता है जिससे चाल स्थायी रहे और क्योंकि ब्रह्मांड में बड़ी-बड़ी चालों पर देश और काल का परिवर्त्तन एक साथ हो रहा है अतः प्रकाश का वेग सदैव एक समान रहता है। इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिये यह आवश्यक है कि उपर्युक्त बातें जो तर्क और गणित से ठीक जान पड़ती हैं, मान ली जायें। अतः सापेक्षवाद को इस वाक्य से, जो ऊपरी तौर से बिल्कुल सीधा-सा जान पड़ता है, संक्षेप में व्यक्त किया जा सकता है—"ब्रह्मांड में प्रकाश की चाल एक समान रहती है।"

प्रकाश की चाल पर चलते समय प्रत्येक वस्तु का भार अनंत हो जाता है जैसा कि ऊपर के समीकरण से स्पष्ट है। अतः यह कहा जा सकता है कि "प्रकाश की चाल से बढ़कर ब्रह्मांड में दूसरी और कोई चाल नहीं है।" इन्हीं दो वाक्यों में सापेक्षवाद का सार निहित है।

८. सापेक्षवाद का वैज्ञानिक प्रमाण

सापेक्षवाद के सिद्धान्त को निकालते समय आइन्सटीन ने यह स्वयं सिद्ध मान लिया है कि ब्रह्मांड देश और काल का प्रसार है और इसमें गुरुत्वाकर्षण-शक्ति का होना स्वाभाविक है। इस स्वयं सिद्ध माने जाने वाले विचार को इस प्रकार समझना चाहिये।

कटोरे के बीच में एक पैसा रख दीजिये और एक गोली को उस पैसे के ऊपर से अंगुली से मारिये। सदैव वह पैसे के ऊपर आ जायेगी। न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण शक्ति के नियम के अनुसार गोली पैसे के ऊपर इसलिये आ जाती है क्योंकि उन दोनों में आकर्षण है किन्तु डा० आइन्सटीन के अनुसार इन दोनों में कोई आकर्षण शक्ति नहीं है। केवल उनकी व्यवस्था इस प्रकार की है जिससे गोली को सदैव पैसे के समीप आने के लिये बाध्य होना पड़ता है। इसी प्रकार ब्रह्मांड में सारा देश एक गोलीय सतह का वक्र है। अतः जितनी भी चीजें इस देश में चल रही हैं वे एक दूसरे को स्वाभाविक रूप से परस्पर आकर्षित करती हैं। इस माने हुए विचार के अनुसार गोलीय सतह पर प्रत्येक गतिशील वस्तु को वक्र रूप में चलना चाहिये। प्रकाश गतिशील है, अतः उसे भी वक्र रेखा में चलना चाहिये। यदि यह किसी प्रकार देखा जा सके कि प्रकाश वक्र रेखा में चलता है तो ब्रह्मांड गोलीय आकर और सापेक्षवाद की सत्यता स्पष्ट हो जायेगी।

डा० आइन्सटीन ने कहा कि पूर्ण सूर्य ग्रहण के अवसर पर सूर्य के ठीक पीछे वाले तारे द्वारा भेजा हुआ प्रकाश वक्र रेखा में आता हुआ दिखाई देगा। गणित के अनुसार इसका झुकाव १.७५ सेकंड होना चाहिये। चूँकि सम्पूर्ण सापेक्षवाद केवल इसी निरीक्षण पर आधारित था अतः २९ मई १९१९ को बड़े-बड़े भौतिक-विज्ञान शास्त्रियों ने पूर्ण सूर्य ग्रहण के अवसर पर एक निश्चित तारे से आती हुई प्रकाश की किरणों को देखा। वास्तव में वे झुकी हुई दिखाई पड़ीं। उनके झुकाव का कोण १.६४ सेकंड का था। हिसाब लगाई हुई संख्या में और परीक्षित संख्या में पर्याप्त साम्य है यदि इस बात को ध्यान में रखा जाये कि परीक्षण के लिये बिल्कुल ठीक यंत्र न थे।

अतः सापेक्षवाद वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सिद्ध हो गया। डा० आइन्सटीन एक महती कीर्त्ति के पात्र बने और १९२१ में इसीलिये आपको नोबेल पुरस्कार मिला। ब्रह्मांड को पूर्णरूपेण समझने के लिये डा० आइन्सटीन द्वारा यह पहला सफल प्रयत्न था।

९. शक्ति और पदार्थ

डा० आइन्सटीन के पहले तक शक्ति और पदार्थ दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ मानी जाती थीं। किन्तु डा० आइन्सटीन ने कहा कि शक्ति और पदार्थ मूलतः पृथक् न होकर एक ही हैं। आप इस अभूतपूर्व निष्कर्ष पर इस प्रकार पहुँचे—

ऊपर कहा जा चुका है कि जब कोई वस्तु बहुत अधिक चाल से चलती है तो उसके भार में वृद्धि

होती है। चाल में बढ़ती होने का कारण क्या है? अधिक गतिशील (Kinetic energy) की प्राप्ति। तो इस तथ्य को इस प्रकार भी व्यक्त किया जा सकता है—गतिशील शक्ति की प्राप्ति के साथ ही भार में भी वृद्धि हो जाती है। इसके अर्थ यह हुए कि शक्ति में भार है। 'भार' पदार्थ का स्वाभाविक गुण है, अतः शक्ति और पदार्थ में साम्य है और मूलतः दोनों एक ही हैं। थोड़ा-सा गणित और अपेक्षाकृत सरल विधि से डा० आइन्सटीन ने शक्ति और पदार्थ को समन्वित करने वाले इस सुप्रसिद्ध समीकरण को प्राप्त किया—

$$श = भा\ च^{2}$$

श = शक्ति; भा = भार में कमी या वृद्धि; च = प्रकाश रेखाओं की चाल।

इस समीकरण से स्पष्ट है कि थोड़े से भार के लिये बहुत अधिक शक्ति होनी चाहिये। अतः यह कहा जा सकता है कि पदार्थ वास्तव में शक्ति का गाढ़ा रूप है। ब्रह्मांड को ठीक रूप से समझने के लिये डा० आइन्सटीन का यह दूसरा सफल प्रयत्न था। ये दोनों सिद्धान्त 'सापेक्षवाद के विशेष सिद्धान्त' के अंतर्गत आते हैं।

१०. क्षेत्र एकीकरण सिद्धान्त (Unifieds Field Theory)

विभिन्नता में एकता का दर्शन विज्ञान का सतत प्रयत्न रहा है। हम चारों ओर संसार में विभिन्न वस्तुएँ देखते हैं जो एक दूसरे से पृथक् जान पड़ती हैं। वृक्ष, मकान, पशु आदि में साधारण जन को कोई सभ्य नहीं दिखाई पड़ता। किन्तु विज्ञान ने इन सब में मूल रूप से एक नियम देखने की चेष्टा की है; सम्पूर्ण विज्ञान का इतिहास इस बात का साक्षी है।

इस दिशा में सबसे पहला सफल प्रयत्न तब हुआ जब ९२ प्राकृतिक तत्वों का पता लगा। यह स्पष्ट है कि इन्हीं से मिल-जुल कर सम्पूर्ण पदार्थ-रचना हुई है। इसके पश्चात् जब इन तत्वों के परमाणुओं पर अन्वेषण हुआ तब कुछ विद्युत-कण ही सम्पूर्ण पदार्थों की आधार-शिला समझे गए। जिस प्रकार पदार्थ के मूल रूप को समझने के लिये विद्युत् कणों रूपी सूक्ष्म ईंटों का व्यवधान किया गया उसी प्रकार शक्ति के विभिन्न रूपों को मूलतः समझने के लिये विभिन्न प्रकार की शक्तियों का विधान किया गया। डा० आइन्स्टीन के पूर्व शक्तियों के दो प्रधान रूप समझे जाते थे—(१) गुरुत्वाकर्षण शक्ति और (२) विद्युत् चुम्बकीय लहरें (Electro magnetic waves। विद्युत चुम्बकीय लहरों के भिन्न-भिन्न रूपों से ही विभिन्न प्रकार की शक्तियों की किरणों की उत्पत्ति मानी जाती थी; प्रकाश, ताप एक्सकिरणें, गामा करणें, रेडियो सब विद्युत-चुम्बकीय लहरों के विभिन्न रूप माने गये। मूलतः ये सब किरणें विद्युत-चुम्बकीय लहरें हैं—उनकी आवृत्ति (frequency) में अंतर हो जाने के कारण ही उनके विभिन्न रूप हैं।

डा० आइन्सटीन ने इन मूल विचारों को समन्वित करने का सफल प्रयत्न किया है। जैसा कहा जा चुका है उन्होंने 'सापेक्षवाद के विशेष सिद्धान्त' से पदार्थ और शक्ति को मूल रूप से एक ही बताया और गुरुत्वाकर्षण शक्ति को देश-काल के प्रसार युक्त ब्रह्मांड का स्वभाव गुण क्षेत्र एकीकरण सिद्धान्त, जिस पर वह लगभग ३० वर्ष से कार्य कर रहे हैं, इस समन्वित करने की विधि का सबसे बड़ा प्रयत्न है। इसके अनुसार विद्युत चुम्बकीय लहरें और गुरुत्वाकर्षण शक्ति दोनों ही देश काल के प्रसार युक्त ब्रह्मांड के स्वाभाविक गुण हैं। वे कोई दो भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं किन्तु एक ही मूल चीज के दो स्वतः प्रकट पार्श्व हैं। इस प्रकार दोनों प्रधान शक्तियों का समन्वय हो जाता है। शक्ति और पदार्थ का तो समन्वय हो ही चुका है, अतः देश काल प्रसार युक्त ब्रह्मांड की कल्पना में ही सारा रहस्य निहित है।

११. सीमायुक्त ब्रह्मांड:

डा० आइन्सटीन के पूर्व ऐसा समझा जाता था कि यह अखिल ब्रह्मांड अनंत है। क्योंकि यदि इसकी कोई सीमा है तो स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि उस सीमा के परे क्या है; यदि देश का कोई अंत है तो उस स्थान अथवा देश से परे क्या है? इस प्रश्न के उत्तर से बचने के हेतु ही यह कल्पना कर ली जाती थी कि ब्रह्मांड अनंत है। सापेक्षवाद के वर्णन में यह देखा जा चुका है कि ब्रह्मांड में कोई गोलीय सतह है; अतः ब्रह्मांड को एक विस्तृत, सीमा-युक्त गोला समझना चाहिये जिसमें गोलीय सतह को ही देश कहा जाता है। सापेक्षवाद के अनुसार ऐसा मानना आवश्यक है। डा० आइन्सटीन ने केवल सीमायुक्त ब्रह्मांड की संभावना का ही निर्देश नहीं किया है किन्तु उसके आकार को गणित की सहायता से ज्ञात भी किया है। आपके अनुसार यह विशाल ब्रह्मांड ३५ अरब प्रकाश-वर्षों के क्षेत्र में विस्तृत है।

तब फिर उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में क्या कहा जाये? डा० आइन्सटीन का मत है कि यह प्रश्न अनुचित है क्योंकि इस प्रश्न में ऐसा मान लिया जाता है कि ब्रह्मांड का कोई चित्र हो सकता है। वास्तव में ब्रह्मांड का कोई चित्र हो ही नहीं सकता; वह चित्रीकरण की विधि से परे है। अतः प्रश्न भ्रमोत्पादक है; तब उत्तर का कोई सवाल उठता ही नहीं। आधुनिक विज्ञान के अनुसार इलेक्ट्रान भी एक ऐसा ही प्रकल्पनी कण है; वह लहरों का समूह भी है और कण भी। कल्पना दुर्गम है। इस प्रकार हम देखते हैं कि क्रमशः आधुनिक ज्ञान एक ऐसी अवस्था में पहुँचता जा रहा है जहाँ कल्पना का कोई अस्तित्व नहीं।

१२. फैलता हुआ ब्रह्मांड

कल्पना की दुर्गमता केवल यहीं तक सीमित नहीं है। डा० आइन्सटीन के अनुसार यह ब्रह्मांड फैल भी रहा है। दूरदर्शक यंत्र से जो तारों की गति दिखाई पड़ती है उसके सम्बन्ध में डा० आइन्सटीन का यह मत है कि वह एक विशेष नियम से हो रही है। वह कौन सा नियम है—इसके उत्तर देने की चेष्टा तो न की जायेगी किन्तु इतना निश्चित है कि तारों की गति एक विशेष नियम से आबद्ध है और वास्तव में उस नियम के अनुसार ही यह ब्रह्मांड फैल रहा है।

१३. आइन्सटीन और ईश्वर

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिन निष्कर्षों पर डा० आइन्सटीन पहुँचे हैं वे कल्पनातीत हैं। यदि परमाणु की ओर देखा जाये तो विद्युत-कण, केन्द्र आदि कल्पना से परे हैं। इसी प्रकार यदि ब्रह्मांड की ओर दृष्टिपात किया जाये तो ज्ञात होता है कि वह भी कल्पना से परे है। प्रकृति की विभिन्न विधियों और ब्रह्मांड के स्पष्ट मानसिक चित्रों की प्राप्ति विज्ञान का सतत प्रयत्न रहा है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, आधुनिक विज्ञान समन्वय करने की विधि में तो सफल हो रहा है किन्तु इस दूसरी विधि में असफलता ही दृष्टिगोचर हो रही है। डा० आइन्सटीन तो एक पग और आगे बढ़े हुए हैं। आप कहते हैं चित्रीकरण असफल ही नहीं अपितु असंभव है। तो क्या अब तक के विज्ञान के सम्पूर्ण प्रयत्न निरुपयोगी ही रहे? बात ऐसी नहीं है। वास्तव में कठिनाई यह है कि मनुष्य ज्ञाता तो है ही किन्तु साथ ही साथ ज्ञेय भी है। अभी तक हम अपने को भी नहीं समझ पाये हैं। इसी विचार को प्रकट करते हुए नील्स बोहर नामक प्रसिद्ध वैज्ञानिक ने कहा था—'सृष्टि के हम दर्शक भी हैं और पात्र भी।' यही हमारी सम्पूर्ण कठिनाइयों का मूल है।

जब मनुष्य स्वयं भी अज्ञात है, परमाणु और ब्रह्मांड दोनों ही कल्पनातीत हैं तब ज्ञान के अर्थ क्या हैं? हमारा क्या अब तक का सम्पूर्ण वैज्ञानिक ज्ञान व्यर्थ है? इसके उत्तर में डा० आइन्सटीन ने कहा है कि इन सब मूल स्थितियों पर ईश्वर का दर्शन ही वास्तविक ज्ञान का सार है। वस्तुत डा० आइन्सटीन ने ईश्वर के विचार पर अत्यधिक बल दिया है। आपके शब्दों में:—

"जिस सुन्दरतम और हृदयस्पर्शी भावना की अनुभूति हो सकती है वह है ईश्वर के अस्तित्व की भावना। यह भावना ही सम्पूर्ण विज्ञान की प्रणेता है। जिसने कभी इस भावना को अनुभूति नहीं की, जो आश्चर्यान्वित होकर ईश्वर की सृष्टि के सौंदर्य की झलक में भौंचक्का न खड़ा रहा, वह मृत मनुष्य के समान है। यह ज्ञान कि जिसको हम नहीं जान सकते उसका अस्तित्व है और वह अपूर्व विज्ञान प्रसारित करके अपने को और अद्भुत सौंदर्य को जिसकी हम केवल वाक्य रूप से ही प्रशंसा कर सकते हैं, स्पष्ट कर रहा है—वास्तव में यह ज्ञान, यह भावना सच्ची धार्मिकता का मूल है।"

दूसरे स्थल पर डा० आइन्सटीन ने कहा है—"सृष्टि की धार्मिक अनुभूति ही वास्तव में सम्पूर्ण वैज्ञानिक शोध का सर्वोत्तम तात्पर्य्य है।" प्रकृति का वर्णन करते समय अधिकतर वैज्ञानिक ईश्वर के बिना ही अपना काम चलाना चाहते हैं पर तो भी आज के सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक का कथन है—

"असीमित एवं सर्वश्रेष्ठ सत्ता, जिसकी झलक हम अपने छोटे से मस्तिष्क से ज्ञान के प्रत्येक कण में पाते हैं, की विनम्र प्रशंसा मेरा धर्म है। एक किसी सर्वश्रेष्ठ तार्किक शक्ति, जो निर्गम ब्रह्मांड में स्पष्ट देख पड़ती है, के अस्तित्व की दृढ़ीभूत हार्दिक भावना मेरी ईश्वर की भावना है।" तो विज्ञान ने ईश्वर को पदच्युत करने की नहीं अपितु उसको श्रेष्ठतर बनाने की चेष्टा की है। डा० आइन्सटीन के सापेक्षवाद एवं अन्य सिद्धान्तों का यही सार है।

—*हरि भगवान्*

विकृति विज्ञान—(पृष्ठ ३७ का शेषांश)

और जब इस सब से भी काम नहीं बनता। क्रूर नियति के विधान के आगे सर्जन और फिजशियन हार मान लेते हैं, रोगी को मृत्यु के पंजे से नहीं बचा पाते, पैथोलौजिस्ट तब भी हार नहीं मानता। इस हार में भी वह अगली बार के लिये विजय की योजनायें बनाता है। पोस्टमार्टम कक्ष में मृत रोगी का शवच्छेद करके प्रकृति के निम्न सत्य को सुलभ बनाता है जिससे फिर भविष्य में इस हार की पुनरावृति न हो।

इस प्रकार आज का पैथोलौजिस्ट अपनी प्रयोग-शाला में आचार्य माधव से लेकर एटम युग तक का इतिहास छिपाये और उक्त बलिदानों की वेदी पर अपने हृदय में मानवता की सेवा की चिर आकांक्षा सजाये आज भी अपने काम में उतने ही मनोयोग से व्यस्त हैं। इतने से ही उसे सन्तोष नहीं है। अभी भी अनेक समस्यायें मृग-मरीचिका की तरह उसे धोखा दे रही हैं। कैंसर की उत्पत्ति और विकास एक ऐसी ही समस्या है। अभी भी हम इसे ठीक से समझ नहीं पाये हैं। पर आज तमाम विश्व में एक शृंखलाबद्ध सहयोग के साथ काम हो रहा है। निकट भविष्य में किसी भी दिन वह शुभ वेला आ सकती है जब हम कैंसर पर भी विजय प्राप्त कर लेंगे।

सच पूछिये तो विकृति विज्ञान तमाम आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की रीढ़ है और पैथोलौजिस्ट आज के चिकित्सक का नेता सर्जन का कौशल और मानवता का त्राता है।

सूर्यातपन

प्रो० जनार्दन प्रसाद श्रीवास्तव एम० ए०, एम० एस-सी

१. परिभाषा

INSOLATION शब्द Incoming Solar Radiation (आगन्तुक सौर विकिरण) का संक्षिप्त रूप है [INSOLATION]

किसी निश्चित समय में पृथ्वी के किसी निश्चित क्षेत्र में सूर्य से जो ताप प्राप्त होता है, उसे हम सूर्यातपन (Insolation) कहते हैं।

गणित द्वारा यह ज्ञात हुआ है, कि पृथ्वी को सूर्य से प्रतिवर्ग सैन्टीमीटर प्रति मिनट १·९४ कैलॉरी ताप मिलता है। ताप की यह मात्रा प्रायः सर्वत्र स्थिर है, अतएव इसे 'सौय-स्थिरांक' (Solar Constant) कहते हैं।

२. ताप का उद्गम

ताप का मूल स्रोत अथवा उद्गम सूर्य है। सूय का व्यास पृथ्वी की तुलना में सौ गुना से भी अधिक है और सौर-पृष्ठ का तापक्रम १०,०००° फ. से भी अधिक है। इसीसे यह अनुमान लगाया जा सकता है, कि ताप की कितनी प्रचुर मात्रा सूर्य से विकीर्ण होती होगी। पृथ्वी सूर्य से लगभग ६ करोड़ ३० लाख मील दूर है, जिससे वह सौर-ताप का ½ अरब भाग ग्रहण कर पाती है। सौर-ताप के इस न्यून अंश पर ही पृथ्वी के अधिकांश प्राकृतिक और प्रायः समस्त जीव सम्बन्धी वृत्त (Phenomena) अवलम्बित हैं। इसके अतिरिक्त जलवायु को जितनी बातें प्रभावित करती हैं, उनमें यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

यह आगणन किया गया है, कि पृथ्वी को सूर्य से जो ताप मिलता है, उसका ३७ प्रतिशत भाग मेघों और वायुमण्डल के धूलि-कणों से परावर्त्तित (Reflect) हो जाता है, ६ प्रतिशत भाग वायु-मण्डल की गैसें सोख लेती हैं और केवल शेष ५७ प्रतिशत भाग भूपृष्ठ तक पहुँचता है।

३. सूर्यातपन को प्रभावित करने वाले प्रतिकारक

निम्नलिखित प्रतिकारक सूर्यातपन की मात्रा को प्रभावित करते हैं :—

(१) *सूर्य की किरणों द्वारा निर्मित कोण*—तिरछी किरणावली (Pencil of rays) लम्बवत् किरणों की अपेक्षा अधिक क्षेत्र को प्रभावित करती है। अतएव, कोई भी ऐसा स्थान जहाँ सूर्य ठीक सिर के ऊपर चमकता है, अपने उत्तर और दक्षिण के स्थानों की अपेक्षा अधिक तप्त होता है। निम्नांकित विवेचना से यह कथन स्पष्ट होगा—
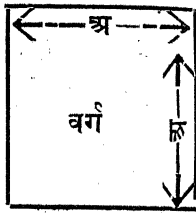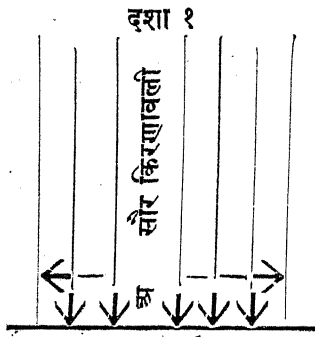
प्रभावित क्षेत्र = अ × अ
= अ^{२}
= अ^{२} × १
= अ^{२} = $\frac{१}{\text{ज्या } ९०^\circ}$
(क्योंकि ज्या ९०° = १)
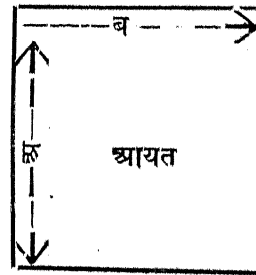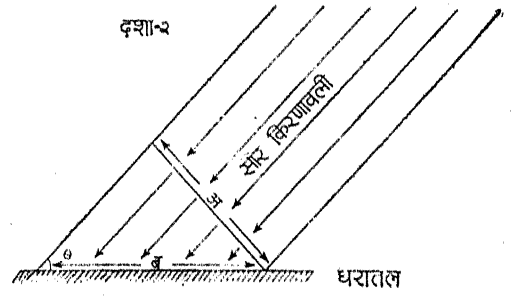
प्रभावित क्षेत्र = अ × ब
= अ ब

दशा २ में—

$\frac{\text{अ}}{\text{ब}}$ = ज्याθ (जहाँ θ = सूर्य की किरणों द्वारा निर्मित कोण)

अथवा अ = ब ज्या θ

अथवा ब = $\frac{\text{अ}}{\text{ज्या}\theta}$

∴ अ ब = अ. $\frac{\text{अ}}{\text{ज्या } \theta}$

= $\frac{\text{अ}^{२}}{\text{ज्या } \theta}$

= अ^{२}. $\frac{१}{\text{ज्या } \theta}$

उपर्युक्त दोनों दशाओं में सूर्यातपन द्वारा प्रभावित क्षेत्र $\frac{१}{\text{ज्या } \theta}$ का अनुक्रमानुपाती (Directly Proportional) है। यह तो स्पष्ट ही है कि यदि किरणावली का ताप अपेक्षाकृत कम क्षेत्रफल में

फैलता है, तो प्रत्येक इकाई क्षेत्रफल को अधिक ताप मिलता है अथवा सूर्यातपन अधिक होता है। दूसरी ओर, यदि क्षेत्रफल अधिक होता है, तो प्रति इकाई क्षेत्रफल को कम ताप मिलता है अथवा सूर्यातपन की मात्रा कम होती है, क्योंकि किरणावली के ताप की मात्रा तो उतनी ही रहती है। अन्य शब्दों में क्षेत्रफल और सूर्यातपन परस्पर उत्क्रमानुपाती (Inversely proportional) हैं। अतएव किसी स्थान पर प्राप्त होने वाला सूर्यातपन θ ज्या अथवा सूर्य की किरणों द्वारा निर्मित कोण के ज्या (Sine) के अनुरूप होता है।

(२) *वायुमण्डल की मोटाई*—लम्बवत किरणों की अपेक्षा तिरछी किरणों को वायुमण्डल में अधिक दूरी तय करना पड़ती है। वायुमण्डल के निम्नतम स्तर अर्थात् परिवर्तमण्डल (Troposphere) में बहुत सी ऐसी गैसें रहती हैं, जो ताप का शोषण कर लेती हैं। इस प्रकार की गैसों में जलवाष्प (Water vapour) तथा कार्बन डाइ ऑक्साइड विशेष उल्लेखनीय हैं। अतएव, जब सौर-किरणों को परिवर्तमण्डल में अधिक लम्बा मार्ग तय करना पड़ता है, तब उनके ताप का कुछ अंश उपर्युक्त गैसों के कारण लुप्त हो जाता है और धरातल को लम्बवत् क्षेत्र की अपेक्षा कम ताप मिलता है। अन्य शब्दों में, सूर्य की किरणें जितनी तिरछी होती जाँयगी, सूर्यातपन उतना ही कम होगा।

(३) *दिन और रात की अवधि*—दिन में पृथ्वी सौर-विकिरण को ग्रहण करती है और रात में जब वह ठण्डी होती है, तब उससे ताप विकीर्ण (Radiate) होता है। अतएव, उन स्थानों में जहाँ रात की अपेक्षा दिन बड़ा होता है सूर्यातपन उन स्थानों से अधिक होता है, जहाँ दिन की अपेक्षा रात बड़ी होती है।

(४) *जल और स्थल का वितरण*—जल और स्थल दोनों में ताप को ग्रहण करने की क्षमता समान नहीं है। यदि दोनों को समान ताप पहुँचाया जाता है, तो जल की अपेक्षा स्थल अधिक गरम हो जाता है। अतएव सूर्यातपन पर महाद्वीपों और महासागरों के वितरण का प्रभाव पड़ता है।

जल की अपेक्षा स्थल के अधिक गरम अथवा ठण्डे होने के निम्नलिखित कारण हैं :—

१—द्रव जल का आपेक्षिक ताप ठोस पृथ्वी से कहीं अधिक है। एक घन फुट रेत को १० फ. गरम करने के लिये जितना ताप लगता है, उससे दुगुना ताप इसी आयतन के पानी को इतना ही गरम करने के लिये आवश्यक है।

२—स्थल की अपेक्षा जल में सूर्य की किरणें अधिक गहराई तक प्रवेश कर जाती हैं। स्थल में तीन फुट के नीचे तापक्रम के दैनिक परिवर्तन का अनुभव नहीं होता, किन्तु जल में उसे ६० फुट की गहराई तक अनुभव किया जा सकता है।

३—जल अस्थिर है। जब उसका एक भाग गरम हो जाता है तब वह दूसरे स्थान को बह जाता है। इसके विपरीत स्थल स्थिर है, वह एक ही स्थान पर स्थित रहता है अतएव उसका सीमित क्षेत्र ही सौर-ताप को ग्रहण करता है।

४—सूर्य से जो ताप जल को मिलता है, उसका कुछ भाग भाप के बनने में नष्ट हो जाता है। स्थल में भाप नहीं बनती, अतएव स्थल को सूर्य से जितना भी ताप मिलता है, वह सब उसके तापक्रम के बढ़ाने के काम आता है।

५—जलपृष्ठ पर सौर-ताप का परावर्त्तन (Reflection) स्थल की अपेक्षा अधिक होता है। अन्य शब्दों में, स्थल की अपेक्षा जल कम ताप को ग्रहण करता है।

६—वाष्पीकरण की क्रिया के कारण महासागरों के ऊपर बदली छायी रहती है। जलवाष्प और मेघों का यह आवरण सूर्य और पृथ्वी दोनों के विकिरण में बाधक होता है। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है, कि पृथ्वी के विकिरण की तुलना में सौरविकिरण कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।

(५) *धरातल का वर्ण*—सूर्यातपन पर धरातल के रंग का भी प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के येलि

काले रंग की मिट्टी और चट्टानें हल्के रंग की भूमि की अपेक्षा अधिक ताप ग्रहण करती हैं।

(६) *सौर-कलंकों की संख्या*—किन्हीं अंशों में सौर-विकिरण सूर्य-कलंकों (Sun-Spots) की संख्या पर भी निर्भर है। जब इन धब्बों की संख्या अधिक होती है, तब सौर-विकिरण अधिक होता है। और जब इनकी संख्या कम होती है, तब सौर-विकिरण भी कम होता है।

(७) *पृथ्वी से सूर्य की दूरी*—सूर्यातपन की मात्रा सूर्य से पृथ्वी की दूरी पर भी अवलम्बित है। सूर्य से पृथ्वी की दूरी सदैव एक सी नहीं रहती। उसमें अन्तर होते रहते हैं। रवि-नीच (Peri-helion)[1] की अपेक्षा रवि-ऊँच (Aphelion)[2] की दशा में सूर्य से पृथ्वी की दूरी अधिक होती है। अतएव, दूसरी दशा में सूर्यातपन प्रथम दशा की अपेक्षा ६.६ प्रतिशत अधिक होता है।

४. सूर्यातपन का वितरण

(१) *वार्षिक वितरण*

इस दृष्टि से भूपृष्ठ को तीन भागों में बाँटा जा सकता है :—

१—*विषुवत रेखा का प्रदेश*—इसका विस्तार २०° उ से २०° द तक है। इसमें दो महत्तम विन्दु (Maxima) और दो लघुतम विन्दु (Minima) होते हैं अर्थात् इस क्षेत्र में सूर्यातपन वर्ष में दो बार उच्चतम हो जाता है और दो बार निम्नतम। इस प्रदेश में सूर्यातपन शून्य कभी नहीं होता।

२—*मध्य अक्षांश का प्रदेश*—इसका विस्तार २०° से ६६½° अक्षांश तक है। इसमें एक महत्तम विन्दु होता है और एक लघुतम विन्दु अर्थात् इस क्षेत्र में सूर्यातपन वर्ष में एक बार उच्चतम हो जाता है और एक बार निम्नतम। विषुवतीय प्रदेश की भाँति इसमें भी सूर्यातपन शून्य कभी नहीं होता।

३—*ध्रुवीय प्रदेश*—यह क्षेत्र आर्कटिक वृत्त के उत्तर में तथा अण्टार्कटिक वृत्त के दक्षिण में विद्यमान है। इसमें सूर्यातपन वर्ष में एक बार उच्चतम हो जाता है। वर्ष के कुछ भाग में सूर्य का प्रकाश यहाँ नहीं पहुँचता अतएव उस समय इस क्षेत्र को ताप बिल्कुल नहीं मिलता। अन्य शब्दों में, वर्ष के भाग-विशेष में इस क्षेत्र में सूर्यातपन शून्य पर पहुँच जाता है।

(२) *देशान्तर के अनुरूप वितरण*

वार्षिक औसत के विचार से तथा दो विशेष दिन—२१ मार्च और २३ सितम्बर को[2]—सूर्यातपन विषुवत रेखा पर सबसे अधिक होता है और ध्रुवों की ओर क्रमशः घटता जाता है। निम्नांकित दो प्रतिकारकों के अनु सार महत्तम सूर्यातपन की पेटी विषुवत रेखा के उत्तर और दक्षिण में खिसकती रहती है—

१—*सूर्य की किरणों द्वारा निर्मित कोण*—सूर्य की किरणें लम्बवत् दिशा के जितने निकट होंगी, सूर्यातपन उतना ही अधिक होगा।

२—*दिन की अवधि*—दिन जितना ही लम्बा होगा, सूर्यातपन भी उतना ही अधिक होगा।

५. वायुमण्डल का ताप-संतुलन (Heat Balance)

पृथ्वी का औसत तापक्रम सदैव एक सा रहता है; न वह बढ़ता है और न वह घटता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पृथ्वी सूर्य से जितना ताप ग्रहण करती है, उतना ही ताप वह विकिरण द्वारा खो देती है। यद्यपि यह सन्तुलन सम्पूर्ण पृथ्वी के लिये ठीक है, तथापि इसे किसी विशेष अक्षांश पर

---

१. Peri-helion (Peri = Near; helios = Sun) इसमें सूर्य से पृथ्वी की दूरी लगभग ६.४५ करोड़ मील होती है। २ Aphelion (Apo = away; helios Sun). इसमें सूर्य से पृथ्वी की दूरी लगभग ६.१५ करोड़ मील होती है।

२. इन दोनों दिन विषुवत रेखा पर मध्यान्ह में सूर्य की किरणें बिल्कुल लम्बवत् पड़ती हैं। २१ मार्च को बसन्त विषुव (Spring Equinox) कहते हैं और २३ सितम्बर को शरद विषुव (Autumn Equinox)।

शेष पृष्ठ ५६ पर

विज्ञान की सहायता से
मानव : कृत्रिमता की ओर

[नन्दलाल जैन]

[१] *प्रारंभिक*—उस दिन समाचार पत्रमें पढ़ा था कि बर्न नगर से एक बना-बनाया नगर, जिसमें लगभग दो सौ भवन हैं, नाव द्वारा समुद्री-मार्ग से स्थानांतरित किया जा रहा है। साधारण जन के लिये यह बात आश्चर्यजनक हो सकती है, कहीं यह संभव भी है कि भवनों को नावों द्वारा स्थानान्तरित करने योग्य बनाया जा सके? एक तो मकान की रचना ही ऊबड़-खाबड़ होती है और दूसरे उसके बनाने में काम आने वाले पदार्थों-ईंट और लोहा-सिमेंट आदि का वजन इतना होता है कि उसे नावों द्वारा स्थानांतरित किये जाने की कल्पना भी नहीं थी जा सकती है। परन्तु वैज्ञानिक के लिये इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। वह कहता है कि आज युग बदल रहा है, अभी तक भार और शक्ति का समानुपात माना जाता रहा है, पर अब यह बात प्रयोगों द्वारा अतथ्य साबित हो गई है। अब हलकेपन और शक्ति का समानुपात सामने दिखाता है यही कारण है कि लकड़ी और लोहे के बदले अब मकान बनाने के लिये अलमुनियम व उससे मिश्रित धातुओं व कृत्रिम रबड़ का उपयोग किया जाने लगा है। इन पदार्थों में भार के हलकेपन के साथ लचक, कठोरता, स्थायित्व और अन्य अनेक गुण हैं, जिनके कारण ये लोहे आदि से अधिक उपयोगी, सस्ते और अच्छे होते हैं। दूसरी बात यह भी है कि हमारे यंत्र भी अब हमारी आवश्यकतानुसार न तो लोहा ही उत्पन्न कर पाते हैं और न प्राकृतिक बन लकड़ी ही दे पाते हैं। फलतः हमें अपनी पूर्ति के लिये नये साधनों का खोजना बहुत आवश्यक हो गया है। रेल के डब्बे, हवाई जहाज, खाने-पकाने के बर्तन, विद्युत्प्रवाहक तार और अन्य उपकरण, मकानों के लिये गर्डर आदि सब हलकी धातुओं व उनकी मिश्रधातुओं से बनने लगे हैं, जिनमें अलमुनियम, बेरिलियम और मेंगनीशियम मुख्य हैं। अब तो समय आने वाला है कि लौह-युग मिश्रधातुओं के युग का रूप लेगा, जहाँ कांच भी मकान बनाने के काम आने लगेगा। अमेरिका और ब्रिटेन में गंधक के अम्ल आदि के उपकरण अब ग्रेफाइट, अलमुनियम व उसकी मिश्रधातुओं के बनने लगे हैं जो अब तक शीशे या लोहे के बनते थे। हलकी धातुओं के भवन-निर्माण में प्रयुक्त होने से एवं उनके स्थानान्तरण में भी सुविधा होने से भवन-निर्माण उद्योग का श्रीगणेश हो गया है और बहुत-सी कम्पनियाँ बने-बनाये भवन ग्राहकों को बेचतीं हैं, और जहाँ वे चाहें, वहाँ उन्हें अच्छी तरह नियोजित कर देती हैं। इस कारण भवन अब सस्ते बनने लगे है। कुछ ही वर्ष पूर्व भारत सरकार ने भी देहली में एक भवन-निर्माण का कारखाना स्थापित किया था, परन्तु कुछ अनियमितताओं के कारण उसे बन्दकर दिया गया है। फिर भी अभी कुछ अराजकीय उद्योग इसी दिशा में काम कर रहे हैं। यदि मिश्र धातुओं व हलकी धातुओं से इस प्रकार सभी प्रकार की उपयोगी वस्तुयें बनने लगें, जैसा कि वर्तमान प्रयोग क्रमशः सिद्ध करते जा रहे हैं, तो आने वाले समय में लोहा और लकड़ी, सिर्फ उन्हीं स्थानों पर प्रयोग की जाती हुई दिखेंगी, जहाँ वे बहुत

मात्रा में पाई जाती हैं अथवा जहाँ आधुनिक सभ्यता का बिलकुल भी प्रकाश नहीं पहुँचा है।

उपर्युक्त समाचार से यह विदित होता है कि भारी धातुओं के स्थान में हलकी धातुओं का प्रयोग होने लगा है। लकड़ी के फर्नीचर और अन्य समान के बदले रबड़—प्राकृतिक नहीं, कृत्रिम—से बने समान का उपयोग होता है। आप कहेंगे, रबर क्या कृत्रिम हो सकती है; वह तो प्राकृतिक ही है। परन्तु अब वैज्ञानिक की परीक्षण और संश्लेषणजन्य सूक्ष्म प्रकृति ने रबर के समान ही, पर मनोनीत गुण रखनेवाली, वायु, अम्ल, क्षार, अग्नि आदि विनाशक पदार्थों से प्रभावित न होनेवाली कृत्रिम रबर को भी प्रयोगशाला में बनाकर व तदुपरान्त उसे औद्योगिक परिमाण में उत्पन्न कर सवसाधारण की सेवा में प्रस्तुत किया है। यह कृत्रिम रबड़ विभिन्न प्रकार की होती है। और यह लगभग ३०,००० विभिन्न स्थलों में काम आती है। इस प्रक्रिया में जर्मनी, रूस और अमेरिका का विशिष्ट हाथ रहा है। जिन मूल पदार्थों से ये रबड़ बनती हैं, वे हैं—शर्कराएँ, कोयला नमक, चूना, पृथ्वी से निकलने वाला कच्चा पेट्रोल, हवा और पानी। ये पदार्थ प्राकृतिक रबड़ के पेड़ों की अपेक्षा अधिक मात्रा में उत्पन्न होते या पाये जाते हैं। युद्ध की आशंका और प्राकृतिक रबर के उच्चस्तरीय मूल्य ने जर्मनी को कृत्रिम रबर बनाने के लिये विवश किया था। रबर के समान ही बहुत सी अन्य वस्तुयें भी, जिनकी उपयोगिता बढ़ गई और जो प्रकृति आवश्यक परिमाण में उत्पन्न नहीं कर पाती है, रसायनशास्त्री अपनी सूझ-बूझ और प्रयोग-प्रक्रिया द्वारा परख-नलियों में उत्पन्न कर जनता की सेवा और आवश्यकता की पूर्ति करते हैं।

[२] *मानव की चाह*—आज मानव जीवन इतना व्यस्त और पेचीदा हो गया है कि मानव अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति तत्क्षण ही करना चाहता है। प्राकृतिक वस्तुओं की कमी और उपभोक्ताओं की वृद्धि के कारण स्वार्थ संरक्षणार्थ उसमें संग्रह वृत्ति भी आ ही गई है, इतना होता, तब भी कोई बात नहीं; लेकिन आवश्यकतायें इस परिमाण में बढ़ती जा रही हैं कि मानव को विवश हो वैज्ञानिक से उनकी पूर्ति के लिये आग्रह करना पड़ता है। आज मानव यह नहीं चाहता है कि वह अपनी प्रत्येक आवश्यक वस्तु के लिये प्रकृति पर निर्भर रहे; वैज्ञानिक कहता है, "यदि प्रकृति तुम्हारा साथ नहीं देती, तुम्हारी पूर्ण सेवा में वह तुम्हें असमर्थ-सी प्रतीत होती है, तो मैं तुम्हारी यथाशक्ति सहायता कर सकता हूँ। मैं प्रकृति का अनन्य पुजारी हूँ; प्रकृति ने अपने सारे दरवाजों में लगे तालों की कुंजियां धीरे-धीरे मुझे देने की ठान ली है; क्योंकि वह मेरे लगनशील और सतत प्रयत्न एवं क्रियाशील होने से बहुत प्रसन्न हो गई है।" साथ ही मानव-जीवन के वेगशील होने के कारण मानव प्रकृति की मन्द पर नियमित गति को पसंद नहीं करता है, क्योंकि अपनी मंद गतिकला के कारण ही वह आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन बहुत देर में कर पाती है; आज का मानव कल्पवृक्षों के युग को पुनरुज्जीवित करना चाहता है, पुराने कल्पवृक्ष प्राकृतिक थे; पर नये कल्पवृक्ष वैज्ञानिकों की ये परख नलियां होंगी, या फिर होंगे वे मानव-निर्मित यंत्र। किसी भी प्राकृतिक वस्तु को ले लीजिये—चीनी, रबड़, नील, पेट्रोल इत्यादि। यह सभी जानते हैं कि चीनी उत्पन्न करने के लिये गन्ने के फसल की आठ माह प्रतीक्षा करते हैं, तब कहीं यंत्रों द्वारा उनमें से रस निकाल कर रवे बनाने वाले यंत्रों में रवेदार चीनी बनाते हैं; इस प्रकार ८-६ माह में चीनी तयार होती है। इसी प्रकार रबड़ भी एक पेड़ के रस से बनाई जाती है। यह पेड़ ५ वर्ष में रस देने योग्य बन पाता है; रबड़ के ये पेड़ मलाया, सिंगापुर और लंका द्वीपों में पाये जाते हैं। इन पेड़ों से खजूर के समान रस निकाला जाता है। पर मानव कहाँ जो इतने समय तक प्रतीक्षा कर सके और इतनी आवश्यक वस्तु के लिये ? नील की भी यही कहानी है, नील-उत्पादकों के निमित्त ही तो गांधी जी अपने प्रथम सत्याग्रह—चंपारन-द्वारा

देश को मार्ग बताया था। वैज्ञानिक ने उपर्युक्त और अन्य सभी प्राकृतिक पदार्थों का सूक्ष्म विश्लेषण किया। उसने देखा—ये वृक्ष, मदमाते हुए सुगंधित पुष्प, कीटनाशक विष, विभिन्न अम्ल और क्षार आदि वस्तुयें प्रकृति साधारण तापक्रम पर ही उत्पन्न करती है। उसने यह भी देखा, कि खेत में लगे हुए अनाज के पौधे बिना किसी उष्णता के ही हवा में से नत्रजन सोख लेते हैं। साधारण तापक्रम पर होने के कारण ही ये सब कार्य विलंब से होते हैं। आज मानव के पास बड़ी शक्ति और सामर्थ्य है, जो स्वयं प्रकृतिप्रदत्त है। वैज्ञानिक चाहता है कि वह विद्यमान समस्त पदार्थों और शक्ति का पूर्णतः उपयोग करे। फलतः वह सभी संभव साधनों का उपयोग कर, एवं उच्च तापक्रम के प्रयोग से सभी वस्तुयें कृत्रिम रूप से बनाता जा रहा है। उसकी यह प्रक्रिया यहाँ तक बढ़ गई कि प्रायः उसने सभी प्राकृतिक वस्तुओं को भिन्न रूप से बना डाला है। और उनमें प्राकृतिक वस्तुओं की अपेक्षा अच्छे गुण आ गये हैं। यह वैज्ञानिक के विश्लेषण और निर्माण भरे मस्तिस्क की उपज है, जिसके विविध रूपों को देख कर भी मार्सेलिन वरथेलट ने एक बार कहा था—

"रासायनिक विश्लेषण द्वारा पदार्थों को नये रूप में निर्माण करने को जितनी सामर्थ्य रखता है वह प्रकृति की अपेक्षा बहुत ही विस्तृत, परिमार्जित और अपरिमित है।"

इसी मस्तिष्क ने परमाणु के पुख्ता एवं बन्द दरवाजों को जिन्हें प्रकृति स्वयं निर्मित ऐसी कुंजी से खोलनी है जिसका निर्माण मानवशक्ति से परे प्रतीत होता था, तोड़-फोड़ डाला है और उन पर उसने पूर्ण आधिपतय-सा जमा लिया है। वैज्ञानिक द्वारा कृत्रिम रूप से उत्पादित मिश्रधातुयें, सुगंधित द्रव्य, विभिन्न औषधियाँ और विसूचिकीय पदार्थ, परमाणुबम, आदि सभी पदार्थ इन्हीं परमाणुओं के विभिन्न प्रकार से संयुक्त समूह ही तो हैं उपर्युक्त विवरण से यह सहज अनुमान किया जा सकता है कि रासायनिक अपने परीक्षण अन्वीक्षण और संश्लेषणात्मक रूप द्वारा प्रकृति का अध्ययन कर प्रकृति के पूरक के रूप में ही, प्राकृतिक पदार्थों को बदले में ही तत्सम या उससे अच्छे पदार्थ उत्पन्न कर जनसेवा करता है। विज्ञान के इस कृत्रिम पदार्थ-संश्लेषण की प्रक्रिया से भयभीत होकर जो लोग विज्ञान को प्रकृति पर विजय पाने के प्रमाण में लाया हुआ मानते हैं, उन्हें भी यह विदित हो जायगा कि प्रकृति का पुजारी विज्ञान कैसे उस पर विजय पा सकता है ? अनंत प्रकृति से अनंत ज्ञान प्राप्त करने पर भी मानव को अध्ययन करने के लिये अनंत प्रकृति बची ही रहेगी ? फिर बिना उसके अध्ययन के मानव प्रकृति से लाभ ही कैसे उठा सकता है ? आइये अब हम रासायनिक द्वारा प्रस्तुत ऐसी ही कुछ वस्तुओं का ज्ञान करें।

[१] *मिश्र धातुयें*—इस विवरण के प्रारंभ में ही इनकी प्रगति पर दृष्टिपात किया है : यंत्र-निर्माण में प्रयुक्त होने के कारण वैज्ञानिक ने सबसे पहले इनका ही परीक्षण किया। उसने देखा, "ये भीमकाय और विभिन्न यंत्र प्रायः लोहे के बने हैं, जो बहुत भारी हैं और जिन पर जंग लग जाती है। उच्च तापक्रम पर इनमें स्थायित्व भी नहीं रहता है। फलतः इनकी उत्पादन-क्षमता का ह्रास होता है : उत्पादन-क्षमता की अपार वृद्धि वैज्ञानिक ने अपना उद्देश्य बनाया, जिससे उपभोग्य वस्तुओं की सुलभता से मानव अतुल आनंद अनुभव कर सकें : उसने कहा,' Maximum comfort from minimum labour."

इसलिये यंत्रों को बाह्य विकारों हवा, पानी, जंग आदि से सुरक्षित करने के विभिन्न रोगन और रंजक द्रव्यों का प्रयोग किया पर इससे यंत्रों की सिर्फ सुरक्षा ही हो सकी, उत्पादन-क्षमता न बढ़ सकी। वैज्ञानिक के मतिष्क में पुनः विलोड़न हुआ, और मिश्र धातुओं का आविष्कार हुआ जिनके गुणों की चर्चा की जा चुकी है। इनके हलकेपन, और ताप

आदि के प्रभाव से अप्रभावित होने और अन्य गुणों के कारण इनका उपयोग भी बहुत होने लगा है इनसे बने पदार्थों का भार भी घट गया है जिससे उनका यातायात व्यय बहुत ही निम्नतम हो गया हैं। मोटरों के वजन में २०००-४००० पौंड की कमी होने लगी है, भार ढोने वाले मोटर-ठेलों के वजन में भी लगभग २०-३०००० पौंड की कमी हो जायगी। इस कारण कम भार ढोने से पेट्रोल का व्यय भी बहुत कम होगा। एक गैलन में ३०-४० मील और मोटरों की संख्या भी बहुगुणित हो जावेगी। हवाई जहाजों के भी इन मिश्र धातुओं से बनने के कारण, उनकी भार-वहन क्षमता १० टन से ७७ और २७० टन तक हो जावेगी। इस प्रकार यंत्रोंयोग, भवन निर्माण के विकास के साथ उनके व्यय में भी काफी कमी हो जायगी, जिससे समृद्धि बढ़ेगी।

कृत्रिम रबर को भी हम उसी श्रेणी में गिनते हैं, जिसमें धातुयें आती हैं, क्योंकि यह भी यातायात के साधनों, वैज्ञानिक यंत्रों, औषधालयों के उपकरणों आदि तथा मकानों को सुसज्जित तथा अप्रभावित बनाने के काम आती है। आजकल रबर के उपयोग और भी बढ़ गये हैं बिना अन्तर-नलिकाओं के केवल टायरों की सहायता से ही अब गाड़ियां चलेंगी, ऐसा समाचार पत्रों में आ गया है। कृत्रिम रबर की कोटि में वे सभी पदार्थ आ जाते हैं, जिन्हें हम 'प्लास्टिक' कहते हैं। प्लास्टिक की बनी वस्तुओं से आज सारा बाजार भरा रहता है। दैनिक उपयोगों की वस्तुओं में अधिकतम प्लास्टिक की ही बनी होती हैं। वास्तव में आज प्लास्टिक-युग ही आया प्रतीत होता है। शृंगार-सामग्री, बच्चों के खिलौने, ब्रश, साबुन-डब्बा, कोट, कमीज आदि सभी चीजें तो बनने लगी हैं, प्लास्टिक से भविष्य में मनुष्य का सारा उपयोगी सामान प्लास्टिक का होगा और वह प्लास्टिक के ही कपड़े पहनेगा। आजकल बाजार में प्लास्टिक के बने बरसाती और अन्य कपड़े मिलने भी लगे हैं। अनेक संवाद पत्रों में एतत्सम्बन्धी विज्ञापन भी देखे जा सकते हैं।

[३. ब] *कृत्रिम वस्त्र*—हमें अर्थशास्त्र में बताया जाता है कि मनुष्य की अनिवार्य आवश्यकतायें तीन हैं भोजन, वस्त्र और निवास। हमने निवास के विकास पर चर्चा की है, अब वस्त्रों पर करें। आदिम काल में मानव अर्धसभ्य था और पेड़ों की छालें ही पहनता था। परन्तु कालक्रम में यह एक बड़ा भारी परिवर्तन हुआ कि मानव ने अपने शरीर की सुरक्षा-हेतु करघोंपर तन्तुओं को बुनकर नरम और नम्य वस्त्रों का आविष्कार किया। यह आविष्कार हमारी सामाजिक प्रगति और वैज्ञानिक बुद्धि का द्योतक है। धीरे-धीरे रूई, सिल्क और ऊन के प्राकृतिक तंतुओं से वस्त्र बनने लगे। पर गत शताब्दी से रेशेवाले वस्त्रों के अतिरिक्त भी बिना तंतुओं के वस्त्र बनने लगे हैं। प्लास्टिक वस्त्र इसी कोटि में आते हैं। वर्तमान में निलोन और विनिल-यौगिकों से, जो प्रकृति में नहीं पाये जाते, सचमुच ही कृत्रिम तंतु बनाये जाते हैं। वैज्ञानिकों के कथनानुसार कुछ समय बाद ही प्राकृतिक तंतुओं को कृत्रिम तंतुओं के साथ कड़ी प्रतियोगिता करनी होगी। प्राकृतिक रेशम के स्थान पर रूई को रेशम में परिणत किया जाने लगा है, जिसके लिये श्री मर्सर ने अपनी मर्सरीकरण की प्रक्रिया प्रारंभ की थीं, विभिन्न विधियों से रूई से बनाई गई, रंगविरंगी, चमक-दमकदार कृत्रिम सिल्क ने मनुष्यों को प्राकृतिक सिल्क के प्रति संदिग्ध बना दिया है। कृत्रिम वस्त्रों और रेशम का उपयोग दिनों दिन बढ़ता जा रहा है, और यदि यही प्रगति रही, तो प्राकृतिक रेशों से बने कपड़े फिर अजायबघर में ही उसी प्रकार दिखेंगे जैसे आजकल भूतपूर्व राजाओं की पोशाकें। प्लास्टिक से बने वस्त्र, कंबल, आदि आवरण जलाभेद्य व अग्न्यभेद्य तंतुओं से बनेंगे, जिनका आकार, प्रकार व प्रकृति वर्तमान में प्रयुक्त वस्तुओं से भिन्न होंगी। भविष्य में नये वस्त्रों को धोकर साफ करने की अपेक्षा नये "कृत्रिम वस्त्रों" का खरीदना अधिक लाभप्रद होगा, फलतः जहाँ अभी मनुष्य ४-६ प्रकार के वेश-वस्त्र रखता है, वहाँ तब ४०-६० प्रकार के वस्त्र-वेश रख सकेगा। आबादी की वृद्धि, एवं प्राकृतिक रेशों

की कमी ने वैज्ञानिक को यह सोचने तक की आज्ञा दे दी है कि यदि प्रकृति कभी इन रेशों को उत्पन्न भी न करे, तब भी वह मानव अपने को कृत्रिम तन्तुओं से निर्मित वस्त्रों द्वारा आशिरःपाद आच्छादित करेगा। यह कृत्रिम वेश रासायनिक की बुद्धिमत्ता का जीवित आदर्श होगा।

विभिन्न रासानिक पदार्थों से बने तंतुओं के अतिरिक्त काँच से भी ऐसे सूक्ष्म तंतु निकाले जा सकते हैं जिनसे पहनने योग्य रंगीले वस्त्र या ओढ़ने योग्य कंबल बन सकते हैं। ऐसे वस्त्रों को 'एरोजैल' कहते हैं। अमेरिका में तो इन वस्त्रों का बनना भी प्रारंभ हो गया है: बरसात व शिशिर ऋतुओं, और प्रयोग शालाओं में काम करने वालों के लिये 'एरोजैस' के वस्त्र बहुत ही उपयोगी होंगे। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार मानव के भवन-निर्माण में एक आधारभूत परिवर्तन हो चला है, उसी प्रकार उसके आवरण में भी पूर्णतः कृत्रिमता का प्रवेश हो चला है।

[३. स] *कृत्रिम खाद्य*—जब मानव का निवास और आवरण नूतन होगा, कृत्रिम होगा, तो वह अपना भोजन भी कृत्रिम-रूप में पाने को उत्सुक अवश्य होगा। यह भी संभव है कि वह केवल कृत्रिम भोजन पर ही निर्वाह करना चाहें। रासायनिक ने मानव की इस प्रसुप्त भावना का अनुमान कर कृत्रिम खाद्य बनाने की योजना भी अभी से प्रारंभ कर दी है। एक प्रसिद्ध फ्रांसीसी रासायनिक श्री वरथेलर ने तो यहाँ तक भविष्यवाणी की है कि निकट भविष्य में मानव सिर्फ तीन गोलियों के आहार पर ही जीवन-निर्वाह कर सकेगा। और गत वर्ष के समाचार पत्र में इस बात की पुष्टि भी की गई थी कि अमेरिका में ऐसी गोलियों का आविष्कार हो रहा है। अभी जो गोलियाँ निकल सकीं हैं, वे कुछ वर्षों तक मनुष्य की भोजन-क्रिया शान्त कर देती हैं, उनकी कीमत भी लगभग ६००) रु० बताया गया था। जब मैं अपने नेपाली गुरुजी से संस्कृत पढ़ता था, तो वे बताते थे कि वहाँ पैदल यात्रायें बहुत लंबी करनी होती हैं। परन्तु लोग जंगली जड़ी-बूटियों को खाकर ही महीनों की यात्रा में किसी प्रकार की भी थकान का या जीवनी-शक्ति के क्षय का अनुभव नहीं करते हैं। वर्तमान में यह सभी जानते हैं कि कृत्रिम भोजन वा सफेदी खाने के कारण ही बहुत सी आधि-व्याधि होती रहती हैं। और यह प्रत्यक्ष भी है कि जंगली जातियाँ अधिक स्वस्थ होती हैं, जिसका कारण मात्र प्राकृतिक आहार ही है। ऐस्किमों जाति के लोगों के लिये यह कहा जाता है कि जब तक उन्हें सफेदी भरा आहार नहीं मिला, तब तक उन्हें कभी दाँतों की पीड़ा नहीं हुई: अतएव यह सोचना स्वाभाविक है कि मानव सभी ओर से कृत्रिम बन जाये, पर भोजन उसका प्राकृनिक ही रहे एवं वह इन गोलियों से सदैव बचा रहे। और यह सत्य भी है कि उसका खाद्य ऐसा होना चाहिये, जिसका वह आदी हो गया हो। उपर्युक्त तथ्य की ओर से भी वैज्ञानिक अपनी आँख नहीं बन्द किये है। यदि उसकी परख-नली में से बने खाद्य मानव को व्याधि उत्पन्न करते हैं, तो उसमें इतनी भी सामर्थ्य है कि उसे जड़मूल से दूर कर सके। बाजार में बिकनेवाली आधुनिक दवाइयाँ इसी सामर्थ्य का परिणाम हैं। फलतः वैज्ञानिक के कार्य से आपतित दोषों को वह निर्दुष्ट भी कर सकता है। उसके संश्लेषण-कार्य में कोई बाधा नहीं आ पाती। कहने का तात्पर्य है कि वह कृत्रिम खाद्य भी बनाने जा रहा है। इस दिशा में उसका सबसे पहला प्रयोग कृत्रिम चीनी बनाने का है। लिवरपुल विश्वविद्यालय के प्राध्यापक श्री बेली के प्रयोगों से ज्ञात हुआ है कि चीनी में विद्यमान कोयले और पानी के विभिन्न अंशों को संयुक्त करने के लिये तीव्रतम प्रकाश की आवश्यकता होती है। यह भी देख लिया गया है कि गन्ने को यदि अंधेरे में उत्पन्न होने दिया जाय और उसे सूर्यकिरण बिलकुल भी न मिले, तो चीनी भरा रस नहीं बन पाता है। प्रकाश की इस अनिवार्यता ने कृत्रिम चीनी बनाने में प्रोत्साहन दिया। रेत के उपकरणों में, चूर्णीकृत लोहे, निकेल. और अलुमिनियम के प्रवर्धक गुण की सहायता

से कोयले और पानी के अनुपात को, तेज प्रकाश जिसे कृत्रिम सूर्य कहा जा सकता है—के प्रभाव से एक ऐसा पदार्थ प्राप्त किया जिसकी परीक्षा करने पर पता चला कि वह तो चीनी है। यदि इस कृत्रिम विधि से चीनी का औद्योगिक उत्पादन हो सका, तो यह बहुत ही सस्ती हो जावेगी, क्योंकि पानी और कोयला सभी देशों में प्रकृति प्रदत्त होते हैं। ऐसी स्थिति में किसानों को ऊख या चुकन्दर की फसलों के बदले कारखानों में नील-लोहितोत्तर प्रकाश का उत्पादन व नियंत्रण एवं दाबमापक यंत्रों का निरीक्षण करना पड़ेगा। अभी कुछ ही समय पूर्व अपनी आवश्यकता से विवश होकर जर्मनी ने लकड़ी से चीनी बनाने के प्रयत्न में सफलता प्राप्त की थी। श्री बरगिवस की विधि अब प्रयोगशालाओं में साधारण प्रयोगों के रूप में की जाने लगी है। अब उपर्युक्त विधि तो पूर्णतया कृत्रिम चीनी ही उत्पन्न करती है, जो प्राकृतिक चीनी से मीठी भी होती है।

यद्यपि प्राकृतिक शाक-तरकारियों और अन्य वस्तुओं का संश्लेषण अभी तक नहीं किया जा सका है, फिर भी ऐसी विधियाँ प्रस्तुत की जा चुकी हैं जिनसे ये बहुत समय तक बिना किसी खराबी पैदा हुए रखी जा सकें। प्रोटीन आदि के लिये भी नये साधन प्रस्तुत किये जा रहे हैं। शीतकारकों और निर्द्रवीकरण की विधियों ने लाभप्रद फल दिखाये हैं।

यद्यपि चीनी और प्रोटीनों का उत्पादन तो अभी भविष्य के गर्भ में है, पर मारगरीन [विभिन्न तैल, चर्बियों और अत्यल्प मक्खन से बनाया गया कृत्रिम घी, जो पहले अमेरिका में प्रचलित हुआ था और अब धीरे-धीरे सर्वत्र उसका प्रचार हो रहा है। प्राकृतिक घी की कमी दूर करने के लिये यह प्रयास स्तुत्य कहा जा सकता है] व वनस्पति घी, घनीभूत दुग्ध, शीघ्रपाकी चावल या जव के चूर्ण, ईस्ट (yeast) आदि बाजार में मिलने वाले खाद्य पदार्थ प्राकृतिक पदार्थों की कमी दूर करने और उनको सुरक्षित रखकर, बनाकर उपयोग करने की दिशा में बहुत वर्षों से काम आ रहे हैं। प्रायः सभी खाद्य पदार्थों की डब्बेबन्दी भी होने लगी है। कनाडा और अमेरिका में बना मक्खन और दूध भारतवर्ष में खरीद लीजिये। आचार, मुरब्बा आदि वस्तुयें तो बहुत समय से इसी रूप में मिलती रही हैं। यह डब्बेबन्दी की प्रथा वस्तुओं और खाद्य पदार्थों को हवाबन्द डब्बो में रखकर सुरक्षित रखने के लिये बहुत ही लाभकारी सिद्ध हुई हैं। वायु-निरोधक डिब्बेबन्दी की प्रथा की प्रगति के विस्तार की कल्पना यहाँ तक की जा सकती है कि निकट भविष्य में सभी खाद्य वस्तुयें—रोटी, दाल, चावल, शाक भी—कारखानों में बनकर सभी के पास मुहरबन्द वायुनिरोधक डब्बों में, जो इस प्रकार बने होंगे कि गरम पदार्थ रखने पर वह गरम ही बना रहे, और ठंडा पदार्थ ठंडा ही रहे; जैसा 'थर्मस बोतल' में होता है, पहुँचेंगी; और आपको अपने घर पर भोजन भी न बनाना पड़ेगा; और न तदर्थ साज-सामान जोड़ना पड़ेगा। विद्युत प्रसार के साथ तब यह भी संभव हो सकेगा कि टेलीफोन से कारखाने से शीतकारकों या थर्मस बोतलों में भरा हुआ भोजन आपकी सेवा में विद्युत-ट्रोली से पहुँच जावे, वर्तमान प्रगति की गति देखते हुए ऐसा सोचना अस्वाभाविक नहीं है। यदि यह संभव हो सका; तो पिछड़ी हुई भारतीय नारी जाति को चिरकालीन दासता से मुक्ति मिल सकेगी और वे आधुनिक प्रगति पथ पर चलकर अपनी उन्नति कर सकेंगी। जब उन्हें घर पर कोई काम न होगा, तो वे सामाजिक बनने को विवश हो जावेंगी। तात्पर्य यह है कि वैज्ञानिकों द्वारा प्रस्तुत कृत्रिम वस्त्रों के वेष की तरह हम उन्हीं के द्वारा प्रस्तुत खाद्य भी प्रयोग करने लगेंगे।

[३. द] *कृत्रिम औषधि*—यह तो प्रकट तथ्य है कि मनुष्य के इस कृत्रिम वातावरण ने उसके रोगों की संख्या बढ़ाई है। प्राकृतिक वस्त्र और भोजन मानव को स्वस्थ और सुन्दर बनाते हैं; फिर भी

मनुष्यों की असंयमितता से शारीरिक अव्यवस्थाएँ उत्पन्न हो ही जाती थीं; उन्हें मानव वनों में प्राप्य जड़ी-बूटियों से दूर कर लेता था। इन जड़ी-बूटियों की विशेषता यह है कि उनके उपयोग करते ही फल-प्राप्ति होती है। अपने देश में, आज भी शहरों में तो नहीं, पर गाँवों में आपको ऐसे बहुत से लोग मिलेंगे, जो अपने सारे दुख-दर्द जड़ी-बूटियों से ही दूर कर लेते हैं। लेखक ने तो यहाँ तक देखा है कि जड़ी-बूटी का ज्ञान वंश-परम्परा में ही चलता है, सार्वजनिक रूप से नहीं। तिजारी, आँख-नाक, सिर, पेट आदि की ऐसी पीड़ायें जिनका आधुनिक उपचार केवल शल्यक्रिया हो सकती है, इन साधारण जड़ी-बूटियों से ठीक हो जाती हैं। लेकिन इन प्राकृतिक जड़ी-बूटियों को प्राप्त करने में बड़ी कठिनाई होती है। वैज्ञानिक को जब इनकी सक्रियता का पता चला, उसने कहा, "मैं सब बूटियों को सबके लिये समान रूप से प्रस्तुत करूँगा।" और अपनी जिज्ञासा शान्त करने के लिये उसने, जो भी ऐसे पदार्थ उसे मिले उनका, परीक्षण और विश्लेषण किया, जिनके फलस्वरूप कुनैन का पता चला जो आज मलेरिया की रामबाण दवा है। बनीला वृक्ष से बेनिलीन भी इसी प्रकार प्राप्त किया गया और जब से चिकित्सा-शास्त्र में कीटाणुवाद के सिद्धान्त का प्रसार हुआ, तब से कीटाणुनाशक औषधियों का तो युग ही शुरू हो गया है इनमें अजोक्सिल, प्रोटोन्सिल, सल्फाडायजीन व अन्य सल्फा-औषधियाँ, पेनिसिलीन, आदि मुख्य हैं। बहुत से रोग जो शरीर में किन्हीं विशेष तत्वों [विटामिन, लोहा आदि] के अभाव में होते हैं, दूर करने का उपाय सत्तत्पदार्थों को शुद्ध रासायनिक रूप में, या उनके यौगिकों के रूप में, जो शरीर प्रक्रिया में सम्मिश्रित हो सकें, बनाकर और उन्हें प्रयोग कराकर किया गया है। इसी प्रकार गले की बीमारी के विषय में पता चला है कि वह विटामिन 'सी' की कमी से होती है। अतः 'सी' विटामिन वाले तत्वों या पदार्थों के भक्षण से इसे मिटाया जा सकता है। इन और अन्य विसूचिकीय औषधियों ने, जिनकी नित नयी सूचियाँ निकलती रहती है, मानव-समाज के बड़े से बड़े रोगों को दूर करने का उपक्रम कर लिया है। क्षय और कैंसर भी अब ठीक किये जाने लगे हैं। मानव के अब स्वस्थ समाज का निर्माण हो रहा है, पुष्ट समाज का निर्माण हो रहा है और विज्ञान अपने निरीक्षणों और नये अनुसंधानों द्वारा सभ्यता के विकास के बीज वपन कर उन्हें पुष्पित और प्रतिफलित कर रहा है। वर्तमान में तो वह आवश्यकता के अनुरूप प्राकृतिक पदार्थों के समकक्ष नूतन पदार्थों को बनाकर हमारी अस्तव्यस्त अवस्था को भी दूर करता जा रहा है।

[२ य] कृत्रिम शक्ति—जब मनुष्य ने अपने भोजन, वस्त्र और निवास एवं तथ्य की समस्या को यथोचित रूप में परिवर्धित करने में विज्ञान का सहारा पा लिया, तो अब उसे उन बातों का भी ध्यान हो आया, जिनकी सहायता बिना वह अपना काम नहीं चला पाता है। व्यापार, यातायात, शक्ति और ऋतु आदि ऐसी ही बातें हैं। मिश्रधातुओं, प्लास्टिक और वस्त्र तथा कृत्रिम खाद्यों के निर्माण से व्यापार के नये स्रोत और समृद्धि के नये रास्ते तो खुल ही गये हैं। फलतः जनसंख्या की वृद्धि के साथ नये उद्योग और उनके विस्तार के साथ बेकारी की समस्या भी जटिल नहीं हो पाती। व्यापार की नयी दिशाओं का उपयोग यातायात के साधनों के विकास पर निर्भर है। बैलगाड़ी और मोटरों का युग अब समाप्त होने वाला है। अब वायु मार्ग से यातायात में विकास किया जा रहा है। यातायात के विकास में ईंधन का बहुत महत्व है। वर्तमान में उद्योगों का विकास भी बिना शक्ति के स्रोत के नहीं हो सकता। वाष्प को सबसे पहले यंत्रों के चलाने के काम में लिया गया। कोयला और पेट्रोल अब काम में आते हैं। जल भी अब शक्ति का स्रोत बन गया है। विद्युत् शक्ति से भी बहुत से यंत्र चालित होने लगे हैं। अमेरिका और रूस में इस शक्ति से बहुत-सा यातायात और यंत्र संचालित होते हैं।

अपने देश में अभी विद्युत् शक्ति का बहुत कम उपयोग होता है जल के प्रवाह से भी विद्युत् उत्पन्न की जाने लगी है। इसके पहले कोयले से विद्युत् उत्पन्न की जाती रही है। पेट्रोल से भी विद्युत् उत्पन्न की जाती है। फलतः शक्ति के स्रोतों का क्रम वाष्प, कोयला, विद्युत् जल-विद्युत् के रूप में हुआ है। इन शक्तियों की अब इतनी मांग होने लगी है कि प्रकृति में विद्यमान ईंधन कम पड़ते दिखने लगे हैं। इसलिये ठोस ईंधनों से द्रव ईंधनों को बनाने की चेष्टा की जा रही है। कोयले से अब उदजनीकरण क्रिया द्वारा फिशर-ट्रोप या बर्गबिस विधि से द्रव ईंधन बनाने में सफलता मिल गई है। इसमें कोयले के कम खर्च के साथ-साथ अन्य अनेक पदार्थ भी प्राप्त होते हैं। भारत में भी द्रव इंधनों की कमी है इसलिये भारत सरकार ने ईंधन अनुसंस्थान संस्था स्थापित की है, जहाँ इन विधियों पर छानबीन की जा रही है। शक्ति के इन स्रोतों में किसी न किसी रूप में हमें प्रकृति का आश्रय, सूर्य की किरणों ताप से बने कोयले का आश्रय लेना पड़ता है। पर जब से परमाणु के पुरुत दरवाजों का अनावरण हुआ है, तब से शक्ति के अपार स्रोत के रूप में अणु-शक्ति का उदय हुआ है। जहाँ हजारों टन कोयला काम आता है, वहाँ १०-२५ ग्राम पदार्थ के अणु-विकिरण से काम चल सकता है। परमाणुबम ने इसी अणुशक्ति के युग का द्वार खोला है। एक किलोग्राम [लगभग १ सेर] यूरेनियम के विभंजन से २५०० टन कोयले के बराबर शक्ति उद्भूत होती है। इतनी अल्प मात्रा में अपरिमित शक्ति के होने का रहस्य भी मानव ने उद्घाटित कर लिया है। और रूस में अणुचालित विद्युत्-गृह काम भी करने लगा है। यही अणुशक्ति अब कोयला और पेट्रोल का स्थान लेने वाली है। इस प्रकार सामान्य शक्ति-स्रोतों को सूखने की दिशा में देखकर मानव ने अणुशक्ति रूप अपरिमित शक्ति का भण्डार भी अपने हाथ में कर लिया है और अपने को अब सबसे बल और बुद्धि में दक्ष सिद्ध कर दिया है।

जहाँ साधन नहीं हैं, वहाँ साधन प्रस्तुत कर शक्ति की सहायता से नये निर्माण की ओर वैज्ञानिक बढ़ रहा है। प्राकृतिक शक्तियों की अब वह उपेक्षा करने लगे और स्वयं उद्घाटित शक्ति का संबल लेकर आगे बढ़े, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? अब वह क्या नहीं कर सकता है? अणुशक्ति का संबल मानव को चारों ओर विकसित बना देगा।

इसी प्रकार ऋतुओं पर भी मनुष्य क्षुब्ध है। वे यथा समय उसकी ठीक-ठीक व्यवस्था नहीं कर पाती हैं। वर्षा ऋतु तो विशेष कर बहुत ही अव्यवस्था उत्पन्न करने लगी है। वर्षा से ही हमें अन्न, फल, फूल, अन्य उपज और अन्य भौगोलिक लाभ होते हैं, परन्तु विश्व में बहुत ऐसे स्थल भी हैं, जहाँ वर्षा ही नहीं होती है। वर्षा न होने का कारण पृथ्वी के तापक्रम की निरंतर वृद्धि है। इससे पानी भाप ही बना रहता है, ओस कणों या बूंदों का रूप धारण नहीं कर पाता है। अतएव वैज्ञानिकों ने क्षेत्र विशेष के वायु मंडल के तापक्रम को कम करने की विधियां सोच निकाली हैं, भारत में भी इस सम्बन्ध में प्रयोग हो रहे हैं। ठोस बर्फ या रजत आयोडाइड के रवों को वायु मंडल में प्रक्षेपण से और उन्हें प्रबल वेग से प्रवाहित करने की क्रिया से कृत्रिम बादलों और कृत्रिम वर्षा का आयोजन किया जाने लगा है। कहीं यह सफल हो रहा है, और कहीं नहीं। पर समय आने पर इसमें सफलता अवश्य मिलेगी! इस तरह ऋतुएँ भी हमारे अनुकूल होंगी यथा रुचि हम उन्हें अपनी सेवा के हेतु बुला सकेंगे। इससे कृषि, बन और रेगिस्तानी स्थलों को सघन बना आच्छादित देखने की ममता को अनुकूल बल मिलेगा और मानव समाज सुख व शान्ति का अनुभव करेगा।

[३.२] *कृत्रिम मानव*—अभी तक हमने देखा है कि मानव ने वैज्ञानिक की सहायता से प्रकृति के पूरक यंत्र, खाद्य, वस्त्र, औषधि आदि का निर्माण कर लिया है, जिसके कारण संसार अधिक सुखमय प्रतीत होने लगा है। ऐसे संसार में मृत्यु होना एक

आश्चर्य की बात है; स्वभावतः सब की इच्छा मृत्यु पर विजय पाने की होगी; जिसे धर्मशास्त्रों द्वारा अनिवार्य माना गया है। साथ ही वैज्ञानिक केवल अमरत्व ही नहीं चाहता है, वह तो सदा मदमस्त जीवन भी चाहता है। अतएव जीवन और उसकी अमरता के विषय में भी ज्ञान प्राप्त किया जा रहा है। यद्यपि यह ज्ञान अब तक कोई निश्चित रूप से नहीं हो सका है, फिर भी कुछ प्रगति की किरण अवश्य दिखाई दी है। अपनी चन्द्रमुखी प्रगति से वैज्ञानिक सोचने तो अब यह लगा है कि क्यों न कृत्रिम सामग्री के जगत का आनंद कृत्रिम मानव ही लूटे। और वह जीवन के अमरत्व के साथ कृत्रिम मानव के निर्माण में भी यत्नशील है जिसका प्रमाण यह है कि आये दिन समाचार पत्रों में 'वैद्युत मस्तिष्क' और उसकी तीव्र व शीघ्रगामी क्रियाओं के विवरण निकलते हैं। यह मस्तिष्क गणित और परिमाणों का कलन द्रुतगति से करता है। मनुष्य के शरीर का भौतिक परीक्षण और संश्लेषण तक किया जा चुका है, और कभी-कभी तो मृत पुरुषों में जीवन-दान के कितने ही प्रयत्न किये जाते हैं, पर अभी चैतन्य जीवन की कुंजी वैज्ञानिक के हाथ नहीं लगी है। जब प्राकृतिक मनुष्य में चैतन्य लाने में वह असफल रहा, तभी वह स्वयं निर्मित मानव के लिये प्रयत्निकर रहा है। यद्यपि इसके लिये अभी कितने वर्ष लगेंगे, कहा नहीं जा सकता—१०-२०-१००-१००० और न जाने कितने! फिर भी यदि इतने वर्षों बाद भी कृत्रिम मानव बन सका, तो ब्रह्मांड में, इस ईश्वरीय सृष्टि में तो उथल-पुथल मच जावेगी।

अस्तु, तो अभी वैज्ञानिक कृत्रिम मानव की समस्या में आशाप्रद हल पाने की तलाश में है, पर अमरता का मूलभूत सिद्धान्त उसने जान लिया है। मधुमक्खियों और अन्य छोटे-मोटे कीड़ों पर प्रयोग करने पर यह देखा है कि यदि इन्हें जन्म से मृत्यु तक निम्न-तापक्रम में रहने दिया जाय, तो उनकी आयु बहुत बढ़ जाती है। साथ ही तापक्रम की वृद्धि के साथ ही आयुष्य में न्यूनता आती जाती है। फलों पर बैठने वाली मक्खियों पर प्रयोग करने पर श्री जेक्स लोब ने देखा कि ये ५०°F पर १७७ दिन जीवित रह सकती है और ७०-७१°F पर सिर्फ ५४ दिन और ८९°F पर कुल २१ दिन ही जीवित रह सकती हैं। यहीं प्रयोग मनुष्यों पर भी किया गया, और श्री लोब का ही आश्चर्यकारी अनुमान है कि यदि मनुष्य को भी जन्म से मृत्यु तक हिमीकारकों में ४५.५°F पर रहने दिया जाय, तो वह १९०० वर्ष तक जीवित रह सकता है। मानव शरीर एक आबद्ध-प्रणाली है, जिसका अमर होना प्रकृति को स्वीकार नहीं है। पर मानव का एक ऐसा भाग अवश्य है, जो सदियों से एक-सा ही रहा है। उसमें न कोई परिवर्तन हुआ है, और न होने वाला ही प्रतीत होता है—वह है—मस्तिष्क। यद्यपि इसमें विकास अवश्य होता रहा है। और आज यह मस्तिष्क ही है जो स्वयं का संश्लेषण करना चाहता है। यही मस्तिष्क ही बुद्धि है। वैज्ञानिक का सर्वस्व है। तात्पर्य यह है कि जीवन और अमरत्व विषयक प्रयत्नों का क्रम अविच्छिन्न है। और बुद्धि उसका कभी न कभी निर्णय देगी ही। और तभी वैज्ञानिक 'जन्ममरण का नियंता' बन जायेगा। पर क्या यह संभव है?

[४] *उपसंहार*—उपर्युक्त विवरण में हमने एक प्रकाशित घटना के आधार पर, वैज्ञानिक-और विशेष कर रासायनिक-प्रगति का एक संक्षिप्त रेखा-चित्र सा प्रस्तुत किया है। जिससे यह सहज ही अनुमेय है कि मानव अपनी वृद्धिगत आबादी, और आवश्यकताओं का संतुलन प्रकृति के बल पर नहीं कर पा रहा है। अतएव वह विज्ञान की सहायता से प्रकृति के समकक्ष और कहीं-कहीं तो प्रकृति से बढ़कर वस्तुओं का निर्माण करने के अपने यत्न को प्रत्येक क्षेत्र में व्यापक बनाता जा रहा है। अपने उपयोग की सभी वस्तुयें वह स्वतन्त्रता पूर्वक बनाना चाहता है। अपरिमित बनाना चाहता है। यदि वह इसे अपने हाथ से नहीं कर सकता है, तो यंत्रों का

आविष्कार करता है, जो निर्माण की गति को बहुगुणित करते हैं। साधारणतः मानव की निर्माण-गति बहुत ही कम है, प्रकृति से भी न्यूनतम फलतः वह मस्तिष्क से और शक्ति के साधनों पर प्रभुत्व पाकर शक्ति चालित यंत्रों का निर्माण करता जा रहा है और आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन भी। वह प्रकृति का परीक्षण कर प्रकृति के सहारे ही प्रकृतिगत वस्तुओं से निरपेक्ष अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाना चाहता है। तभी तो कृत्रिम ऋतुयें व कृत्रिम मानव बनाने की ओर उसका प्रयत्न है। वर्तमान में वैज्ञानिक द्वारा किये गये अनेक प्रयत्न सफल भी होते जा रहे हैं। अतएव नयी दिशाओं की ओर प्रयत्न करने की उत्सुकता क्यों नहीं, फिर उसके पास शक्ति है, यंत्र है, साधन है। वह क्या नहीं कर सकता। किसी यूनानी दार्शनिक ने बिलकुल सत्य ही कहा था—

"Give me matter and Energy. I will construct all the Universe out of it."

वर्तमान में वैज्ञानिक मानव ने दोनों ही वस्तुओं पर नियंत्रण-सा कर लिया है। वह तो सचमुच ही चराचर विश्व स्वयं बनाने के प्रयत्न में लग गया है। यह तो अभी नहीं कहा जा सकता है कि उसका यह कदम उचित है या नहीं? अथवा वह इस ओर यदि सफलता प्राप्त करेगा, तो कब तक? पर यह निश्चित है कि लगन कभी निष्फल नहीं जाती। समय का व्यवधान चाहे कितना ही हो। साथ ही बुद्धि कहीं स्थिर बैठ सकती है? और यह बुद्धि अब प्रकृति की मन्द गति से ऊब गई है, और यंत्रों की तीव्रगति पर मुग्ध हो गई है। और उसका अनुचर मानव भी प्रकृति को उपेक्षित बना कृत्रिमता के लोक में प्रयाण कर रहा है?

तो इस प्रक्रिया को क्या हम प्रकृति के विरुद्ध वैज्ञानिक मानव का विद्रोह न कहें? क्या यही विद्रोह सभ्यता का चरमोत्कर्ष है? कहीं ऐसा भी तो नहीं है कि मानव यंत्रों की तीव्र गति से घबड़ा कर पुनः प्रकृतिमाता की शरण में आ जावेगा?

सूर्यातपन—[पृष्ठ ४६ का शेषांश]

लागू नहीं किया जा सकता। ३७° अक्षांश के नीचे आगन्तुक सौर विकिरण पृथ्वी से विकिरण द्वारा निकलनेवाले ताप की अपेक्षा अधिक होता है। दूसरी ओर ३७° अक्षांश के ऊपर सूर्यातपन पृथ्वी के विकिरण से कम होता है। इस कथन के अनुसार विषुवतीय प्रदेश का तापक्रम निरन्तर बढ़ना चाहिये और ध्रुवीय प्रदेशों का तापक्रम निरन्तर घटना चाहिये किन्तु यह वास्तविकता नहीं है। प्रकृति का यह सिद्धान्त है कि ताप अधिक तापक्रम से कम तापक्रम की ओर प्रवाहित होता है! यह सिद्धान्त यहाँ भी लगता है। हवाओं के चलने का कारण यही सिद्धान्त है। वास्तव में, विभिन्न अक्षांशों पर सूर्यातपन के असमान वितरण के कारण ही वायुमण्डल की अनेक प्रक्रियायें और ऋतुपरिवर्तन होते हैं।

औषध अनुसन्धान

[भारतभूषण रायजादा एम० एस-सी०]

भारतीय औषध अनुसंन्धान की कहानी उतनी ही पुरानी है जितनी कि हमारी सभ्यता। वैसे तो औषध अनुसंन्धान का प्रथम उल्लेख वैदिक काल भी मिलता है और इतिहास बताता है कि इसी काल में औषधशास्त्र में कुछ मौलिक अनुसंन्धान भी हुए। प्रगति के इस आधुनिक युग में भारतीय औषध अनुसन्धान में जो उन्नति हो चुकी है उसका अध्ययन करने से पूर्व यह उचित ही होगा कि हम इसके पूर्व इतिहास पर एक दृष्टि डाल लें।

औषधि का सर्वप्रथम उल्लेख ईसा से लगभग ४५०० वर्ष पूर्व लिखे गए ऋगवेद में मिलता है। इसमें 'सोम' नामक एक पौधे का उल्लेख है जिसका प्रयोग औषधि रूप में किया जाता था। 'अथर्व वेद' से पता चलता है कि उस समय भी औषध विज्ञान में काफी वृद्धि हो चुकी थी, किन्तु इसका वास्तविक रूप तो एक उपवेद-आयुर्वेद में मिलता है। इसमें विभिन्न भारतीय औषधियों के गुणों तथा प्रयोगों का सविस्तार वर्णन है। कुछ विदेशी विद्वानों के मतानुसार आयुर्वेद का लिपि काल ईसा से २५००-६०० वर्ष पूर्व है। सच तो यह कि आयुर्वेद ही भारतीय औषधशास्त्र की नींव है। इसके पश्चात् 'सुश्रुत' तथा 'चरक' लिखे गए जिनमें पूर्व कालीन चीर-फाड़ तथा औषधियों का विवरण मिलता है।

ईसा से ६८० वर्ष पूर्व लिखे गए 'भोज प्रबन्ध' में "सम्मोहिनी" नामक एक औषधि का उल्लेख है, जिसका प्रयोग "स्पर्श शून्यत्व" के रूप में बुद्ध काल में किया जाता था। किन्हीं कारणों से बुद्ध काल ही में आयुर्वेद औषध प्रणाली का पतन भी आरम्भ हुआ तथा मुस्लिम आक्रमणकारियों के आने के बाद इसका अन्त भी हो गया।

८ वीं तथा ९ वीं शताब्दी में तिब्बी औषध-प्रणाली का प्रचलन था किन्तु यह भी अधिक दिन न टिक सकी और मुगल तथा पठान काल के बाद तथा अंग्रेजों के आगमन के साथ ही इसका भी नाश हो गया। किन्तु अब तक अंग्रेजी औषध प्रणाली ने भारतीय जनता पर अपना प्रभाव जमा लिया था। चीर-फाड़ तथा औषधियों के नवीन प्रयोगों ने इसकी जड़ भारत में मजबूत कर ली।

वर्तमान औषधि अनुसन्धान का प्रारम्भ पिछली शताब्दी के आदि काल में हुआ था। कुछ विदेशी विद्वानों ने जिनमें सरविलियम जॉन्स, जॉन फ्लेमिंग, रॉक्स बरा आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन्होंने भारतीय औषध अनुसन्धान के क्षेत्र में बहुत कार्य किया था। सन् १८६८ वेरिंग के सम्पादन में भारतीय औषधविवरण की प्रथम पत्रिका प्रकाशित हुई, इसके पश्चात् यू० सी० दत्त द्वारा संस्कृत में लिखे हुए 'भारतीय औषध विवरण' का अनुवाद भी प्रकाशित हुआ। उपरोक्त सभी पुस्तकों में आयुर्वेद तथा अन्य भारतीय औषध प्रणालियों का पूर्ण विवरण मिल जाता है।

वास्तव में, यदि देखा जाय तो रसायन शास्त्र के बिना औषध अनुसन्धान अधूरा है, और स्पष्ट है देशवासियों पर उसी जलवायु में तथा उसी भूमि से उत्पन्न औषधियों का जितना प्रभाव पड़ता है उतना अन्य देशों से आई औषधियों का नहीं। यही देखते हुए १९३५ में कलकत्ता के पूर्व स्थापित 'भारतीय आयात वृत सम्बन्धी औषधि विद्यालय' को भारतीय

आकाशवाणी के इलाहाबाद केन्द्र से प्रसारित

कृषि अनुसन्धान आयोग ने सहायता दी तथा इसमें होने वाले औषधि अनुसंधान को बढ़ावा दिया। इस स्कूल के मुख्य ध्येय हैं जिससे कि भारतीय आयुर्वेद तथा तिब्बी औषध प्रणालियों को इस आधुनिक वैज्ञानिक युग में नया रूप दिया जा सके, तथा अपने देश में उत्पन्न होने वाली औषधि युक्त पेड़ों से ऐसी औषधियां तैयार की जाएं जो जन साधारण के लिए सुगम्य तथा हितकर हों।

प्रगति और निर्माण के इस युग में हमारे देश में होने वाले औषध अनुसंन्धान को और भी प्रेरणा मिली जब १७ फरवरी १९५१ को स्वयम् हमारे प्रधान मन्त्री श्री जवाहर लाल नेहरू ने लखनऊ में 'केन्द्रीय औषध अनुसन्धानशाला' की संस्थापना की इन तीन वर्षों के थोड़े ही से काल में जो उन्नति इस अनुसंन्धानशाला में हुई है वह वास्तव में सराहनीय है। इस प्रयोगशाला के विभिन्न विभागों में देश में पाए जाने वाले औषध सम्बन्धी पेड़ तथा जन्तुओं पर तथा उनके उपयोगी तत्वों का विशेष रूप में अध्ययन होता है। फिर जानवरों पर तथा मनुष्यों पर इन औषधियों का प्रभाव देखा जाता है।

इस अनुसंन्धानशाला में भारतीय विषैली चीजों की भी एक सूची तैयार की गई है, तथा 'भारतीय औषध विवरण' की एक पुस्तक भी तैयार हो चुकी है जिसका, वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसन्धान आयोग ने प्रकाशन किया है।

यहाँ पर अब तक २०० ऐसे पेड़ों की जड़ों तथा पत्तियों का पता लगाया जा चुका है जिनका प्रयोग भारत में औषधि निर्माण में किया जा सकेगा। इसके अतिरिक्त यहाँ पर वनस्पति से बनी कुछ ऐसी औषधियों पर प्रयोग हो रहे हैं जो क्षय रोग, कुष्टरोग, पेचिश आदि रोगों की चिकित्सा में काम में लाई जा सकेंगी। 'ब्रिटिश औषध विवरण पुस्तक' में अंकित ७५% पौधे हमारे देश में जंगली दशा में उगते हुए पाए जाते हैं। यहाँ पर, नीम के औषधि सम्बन्धी गुणों पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है।

इस अनुसन्धान शाला के 'औषधि प्रयोग विभाग' में लखनऊ औषधि शिक्षण महाविद्यालय के सहयोग से कुछ ऐसे "हारमोन्स" पर प्रयोग हो रहे हैं जिनसे श्वेत कुष्ट के दागों को पुनः त्वचा के रूप का बनाया जा सके।

अभी हाल ही में इस प्रयोगशाला में दो बड़ी ही महत्वपूर्ण औषधियों का आविष्कार हुआ है। एक औषधि तो हिमालय पर्वत की सिवालिक श्रेणियों तथा काश्मीर में पाये जाने वाले एक पौधे से तैयार की गई है जो फालिज में हितकर सिद्ध होगी। दूसरी औषधि देहरादून के निकट पाए जाने वाले एक पौधे से बनी है जो ब्लड प्रेशर में अन्य विदेशी दवाओं से कहीं अधिक लाभदायक सिद्ध होगी।

हर्ष का विषय है कि द्वितीय महायुद्ध के बाद हमारे देश में औषधि उत्पादन तथा निर्यात में कही वृद्धि दिखलाई है। चीर-फाड़ में काम आने वाली वस्तुएं, वैक्सीन, रबड़ के सामान तथा अन्य पदार्थों का हमारे देश में बड़ी मात्रा में उत्पादन हुआ है।

प्राकृति दशा में पाई जाने वाली औषधियाँ जैसे मोरफीन, केफोन, कोडोन, कुनैन आदि बड़ी मात्रा में हमारे देश ही में बनाई जाती है। चाय के बाद बचे हुए कुछ पदार्थों से केफीन तैयार की गई। कुनैन का उत्पादन पिछले ७०,००० पौंड से बढ़ कर १० लाख पौंड हो गया। अफीम से बनने वाली औषधियाँ अब ८००० पौंड तक हमारे देश में तैयार होने लगी। प्रतिवर्ष हमारे देश में अब १० करोड़ ५६ लाख पौंड गोलियाँ तैयार होती हैं।

ग्लोकोज, कुनैन, सैलाइन, लिवर एक्सेट्रक्ट आदि के इन्जेक्शन अब अपने देश ही में तैयार होने लगे हैं। कुछ औषधियों के उत्पादन में तो भारत अब स्वयम् सम्पन्न हो गया है।

बम्बई के पास अभी हाल ही में एक पेनिसिलीन बनाने की फैक्ट्री खोली गई है जिसमें अब दो वर्षों में १० करोड़ ५० लाख यूनिट पेनिसिलीन बन सकेगी और आगामी ५ वर्षों में इसका उत्पादन चार गुना बढ़ जायगा ऐसी आशा है।

(शेष पृष्ठ ६२ पर)

बाल विज्ञान

डा० सत्य प्रकाश

भाप से चलने वाले जहाज

हमारे देश में अति प्राचीन काल से नौकाओं और समुद्री जहाजों का उपयोग होता आया है, एक समय था जब हमारे देश के जहाज समुद्र के किनारे किनारे चलकर फारस, पूरब और मिश्र देश में ही नहीं, पूर्व की ओर लंका, मलाया, जावा, सुमात्रा, बाली आदि द्वीपों तक जाया करते थे। इन जहाजों द्वारा व्यापार भी होता था।

मिश्र देश में राजा साहुर का एक मन्दिर है जिसकी दीवार पर आज से ४८०० वर्ष पूर्व का एक चित्र खिंचा हुआ है। इसमें एक इतना बड़ा समुद्री जहाज चित्रित किया गया है जिसमें दो मस्तूल और बीस बल्लियाँ दिखायी गयी हैं। मिश्र देश में ये जहाज न केवल व्यापार के काम के थे, इनका उपयोग युद्ध में भी किया जाता था।

ये सब प्राचीन नौकायें और जहाज हवा के सहारे, पतवार और पालों की सहायता से चलते थे, और मनुष्य इन्हें अपने भुजबल से चलाते थे। यदि हवा विपरीत हुई, तो महीनों ये जहाज खड़े रहते थे। ये जहाज गहरे समुद्रों में भी नहीं जाते थे, और पृथ्वी के किनारे-किनारे ही बहुधा चलते थे।

फिच (Fitch) की वाष्प नौका—

रेलगाड़ी के इंजिनों का विवरण तुम जानते ही हो। स्टीवेन्सन और दूसरे लोगों के प्रयत्न से भाप से चलने वाले इंजिन बनने लगे। कहा जाता है कि ईसा से १३० वर्ष पूर्व हीरो (Hero) ने एक वाष्प संचालित यंत्र बनाया। सन् १६९८ में टौमस सैवेरी (Savery) ने एक मशीन बनायी जिससे पम्प करके वह नीचे का पानी ऊपर उठा सकता था। सैवेरी की यह मशीन भाप से चलती थी। सन् १७०५ में न्यूकौमेन (Newcomen) ने भाप की सहायता से पिस्टन चलने वाली एक मशीन बनायी। इंजिनों में ये पिस्टन तुमने देखे होंगे। न्यूकोमेन की मशीन में पिस्टन इस प्रकार लगा था कि जब इसका एक सिरा ऊपर उठता था, तो दूसरा सिरा नीचे आ जाता था।

इसी प्रकार की न्यूकौयेन-मशीन को सुधारने का काम जेम्सवाट (Watt) को दिया गया। वाट ने १७६९ में न्यूकौमेन की पद्धति पर ही एक पम्प-इंजिन तैयार किया। वाट का यह आविष्कार बड़े महत्व का था, और हम देखते हैं, कि वाट के इन यंत्रों ने रेलगाड़ियों

के इंजिनों के आविष्कार में कितनी सहायता दी।

भाप से चलने वाली नौकाओं के इतिहास में जॉनफिच (John Fitch) का नाम भी इसी प्रकार स्मरणीय है। यह सन् १७४३ में अमरीका में पैदा हुआ था। यह व्यापार करता था। एक बार की बात है कि अमरीका के "रेड-इण्डियनों" ने इसके दल को पकड़ लिया। और सब लोग तो मार डाले गये, पर फिच बच गया। यह भाग निकला। इसने अपना समय भाप से चलने वाली नौकाओं के बनाने में बिताया। फिच को आरंभ से ही घड़ियाँ बनाना आता था, और घड़ी बनाने की कला ने वाष्प-नौका बनाने में सहायता दी। सन् १७८५ के अप्रेल मास में फिच की वाष्प नौका तैयार हो गयी। इसने लगभग ५ वाष्प नौकायें बनायीं और १७९० में इसने भाप से चलने-वाली फेरी-बोट (Fetry Boat) तैयार कर ली जो फिलाडेलफिया और बर्लिंगटन के बीच में आती जाती थी। फिच को किसी सम्पत्ति-शाली धनिक ने प्रोत्साहन नहीं दिया। वह बड़ी आशा लगाये फ्रान्स भी गया, पर धन की उसे सहायता न मिली। सन् १७९८ में फिच की मृत्यु हो गयी।

फुल्टन और लिविंग्सटन के आविष्कार

फुल्टन और लिविंग्सटन के आविष्कार—कर्नलजॉन स्टीवेन्स (John Stevens) और उसका पुत्र रॉबर्ट लिविंग्सटन स्टीवेन्स (Robert Livingston Stevens) को फिच की बनायी वाष्प नौका का परिचय मिला। सन् १७९२ में कर्नलजॉन स्टीवेन्स ने भाप द्वारा चालित नौका का पहला पेटेण्ड लिया। सन् १७९८ के लगभग हडसन नदी में स्टीवेन्स की यह नौका बराबर चलती थी। १८०४ में स्टीवेन्स ने फोनिक्स (Phoenix) नौका बनायी। जॉन स्टीवेन्स को अपने काम में अपने पुत्र रॉबर्ट लिविंग्सटन स्टीवेन्स से बड़ी सहायता मिली। यह लिविंग्सटन अपने समय का अति प्रसिद्ध इंजिनियर था। इसने "न्यूफिलेडेलफिया" (NewPhiladelphia) नाम की प्रसिद्ध वाष्प नौका तैयार की।

दोनों स्टीवन्स जिस समय अपने ये आविष्कार कर रहे थे, लगभग उन्हीं दिनों फ्रान्स में रॉबर्ट फुल्टन (Robert Fulton) पनडुब्बियों और टोरपेडो बनाने में लगा हुआ था। इन्हीं दिनों लिविंग्सटन फ्रान्स आया, और इसकी फुल्टन से मित्रता हो गयी। दोनों के सहयोग से वाष्पपोत बनाने का काम प्रारम्भ हुआ। फुल्टन बड़ा चतुर इंजीनियर था, और इसने वाष्प नौकाओं को सफल बनाने के बहुत से सुधार किये।

लिग्विस्टन और फुल्टन दोनों ने मिलकर क्लेरमौण्ट (Clermont) नामक वाष्प नौका तैयार की। इस नौका ने सन् १८०७ में हडसन की खाड़ी में १५० मील की यात्रा ३२ घंटे में की। उन दिनों, यह गति बहुत ही सफल मानी जाती थी। इस यात्रा की सफलता पर फुल्टन को बहुत बधाइयाँ मिलीं।

इस सफलता से प्रोत्साहित होकर लिविंग्सटन और फुल्टन ने क्लेरमौण्ट नौका की लम्बाई और चौड़ाई दोनों बढ़ा दीं, और इंजिन में भी कई सुधार किए। यात्रियों को बैठने की भी बहुत सी सुविधायें दी गयीं। इसके बाद दूसरे कई वाष्प जहाज भी बने जैसे पैरागन (Peragon) और कार आव नेप्ट्यून (Car of Neptune)। सन् १८१९ में सवन्ना (Savannah) नाम का एक अमरीकन जहाज़ बना जिसने पहली बार अमरीका से इंगलैण्ड तक की यात्रा की। सवन्ना जहाज़ १०० फुट लम्बा था, और ३०० टन का बोझ संभाल सकता था। अमरीका में एक जगह का नाम सवन्ना है जिस नाम पर इस जहाज का नाम पड़ा। सवन्ना से लिवरपुल जाने में २५ दिन लगे थे।

सन् १८२४ में फाल्कन (Falcon) नाम की एक वाष्प नौका (१७५ टन की) इंग्लैंड से भारत के लिए चली। १८२५ में एक दूसरी नौका इंटरप्राइज़ (Enterprise) ने लंदन से कलकत्ता तक की यात्रा ११३ दिन में की। यह १२२ फुट लम्बी और ४७० टन की थी।

एटलांटिक के पार—एटलांटिक महासागर के आरपार यात्रा करने वाले जहाजों में ग्रेटवेस्टर्न (Great Western) का नाम बहुत प्रसिद्ध है। २१२ फुट का यह जहाज १३४० टन भार संभाल सकता था। इसमें ४४० अश्व बल का इंजिन था। रविवार ८ अप्रेल १८३८ को ब्रिस्टल से यह रवाना हुआ। ४ दिन पूर्व सिरियस (Sirius) नाम का जहाज भी एटलांटिक यात्रा के लिए चल पड़ा था। दोनों जहाज सोमवार २३ अप्रेल को एक ही दिन न्यूयार्क पहुँचे। १४ और १८ दिन में एटलांटिक महासागर जहाजी यात्रा द्वारा पार करना एक ऐतिहासिक महत्वपूर्ण घटना थी। अब तो और जहाज भी एटलांटिक महासागर पार करने का प्रयत्न करने लगे। इन जहाजों द्वारा डाक आने जाने लगी। ब्रिटेनिया (Britannia) नामक जहाज लिवरपुल से ४ जुलाई १८४० को चला और अमरीका में हेलिफेक्स में १२ दिन १० घंटे में ही पहुँच गया। लौटती बार तो उसे १० दिन ही लगे।

लोहे के जहाज—पुरानी नौकायें और जहाज अधिकांश लकड़ी के बनते थे। लंकाशायर के जॉन विल्किन्सन (Wilkinson) ने १७८७ में पहली बार लोहे की नौका बनायी। बाद को स्काटलैण्ड में थामस विल्सन (Wilson) ने १८१८ में लोहे की नौका बनायी। लोहे का बना हुआ सर्वप्रथम स्टीमर एरोन मैनबी (Aaron Manby) को मैनबी नामक यंत्रवेत्ता ने १८२० में तैयार किया। बाद को तो "एगलेआ" (Aglaia) और "प्रिन्सएलबर्ट" (Prince Albert) १८३२ में बने। १८३३-४४ तक "ग्रेट ब्रिटेन" (Great Britain) नामक स्टीमर की धूम रही।

समालोचना

भारतीय औषध-विज्ञान का इतिहास—(हिस्ट्री ऑव इंडियन फार्मेसी)—अंग्रेजी में—प्रथम खंड ले० प्रो० श्री जी० पी० श्रीवास्तव, प्रकाशक पिण्डर्स लिमिटेड, ७ लोअर रौडन स्ट्रीट, कलकत्ता २०, पृ० सं० २७६, मूल्य १२॥)

काशी विश्वविद्यालय के फार्मेस्यूटिक्स विभाग के ख्याति-लब्ध अध्यापक श्री जी० पी० श्रीवास्तव के परिश्रम के फलस्वरूप प्रस्तुतग्रन्थ हमारे समक्ष आ सका है। फार्मेसी इतिहास के मर्मज्ञ डा० जार्ज उरदङ्ग ने इसका प्राक्कथन लिखा है। औषध विज्ञान की परम्परा इस देश में बहुत पुरानी है, चरक और सुश्रुत से भी पूर्व की। यद्यपि नेशनल इन्स्टीट्यूट आव सायन्स, इंडिया ने चरक और सुश्रुत का काल क्रमशः १०० ई०, और २००-५०० ई० माना है, पर कई बातों से स्पष्ट है कि चरक का काल शतपथ ब्राह्मण के रचनाकाल के निकट का है, अर्थात् उस समय था, जब औषध शास्त्र में पारे और गन्धक का प्रचार न हो पाया था, ग्रीक, अरब और मिश्र देशों ने भारत की आयुर्वेद परम्परा में हाथ बटाया, आजकल के समान प्राचीन आयुर्वेद शास्त्र भी इस दृष्टि से अन्तर राष्ट्रीय था।

प्रो० श्रीवास्तव की इस पुस्तक में दस अध्याय हैं—१. प्रवेश, २. अनैतिहासिक काल, जिसमें ब्रह्मा, शिव, दक्ष, अश्विनी कुमार, इन्द्र, भास्कर आदि का उल्लेख है, ३. चरक से पूर्व का काल, जो चरक की भूमिका के आधार पर है और जिसमें वैदिक काल, प्रथम आयुर्वेद सम्मेलन, भरद्वाज, अत्रि, आत्रेय पुनर्वसु, अग्निवेश, भेल, जतूकर्ण, हारीट, क्षारपाणि, पराशर और धन्वतरि का उल्लेख है, ४. चरक काल जिसमें चरक, चरक-संहिता, दृढ़बल, सुश्रुत संहिता और वागभट का वर्णन है, चरक के कुछ बाद का काल, जिसमें बौद्ध कालीन आयुर्वेद का उल्लेख है,

---

औषध अनुसंधान—(पृष्ठ ५८ का शेषांश)

पिछले कुछ वर्षों में वैक्सीन तथा अन्य अषधियों का निर्यात भी हुआ। कुछ विदेशी कम्पनियों ने भारतीय औषध उद्योग को बढ़ाने में विशेष सहायता प्रदान की है तथा औषध सम्बन्धी निर्यात तथा निर्माण (उत्पादन) में भारत से समझौता कर लिया है।

औषध सम्बन्धी शिक्षा देने के लिए भारत में पूर्व स्थापित लखनऊ, पटना, बम्बई तथा आगरा के मेडिकल कॉलेजों के अतिरिक्त, सरकार ने ग्वालियर तथा वैलोर में और मेडिकल कॉलेज खोले हैं जहाँ विदेशी तथा देशी औषध प्रणालियों की शिक्षा दी जायगी। आयुर्वेद तथा तिब्बी प्रणालियों की शिक्षा के लिए हरिद्वार, पीलीभीत, देहली आदि नगरों में विद्यालय हैं। इनके अतिरिक्त मुक्तेशर (अलमोड़ा) में वैक्सीन बनाने तथा उससे सम्बन्धित प्रयोगों के लिए एक प्रयोगशाला खोली है।

भारतीय सरकार की, औषध अनुसन्धान की ओर रुचि देखकर यह भली भांति अनुमान किया जा सकता है कि इसी प्रेरणा और लगन से सच्चे वैज्ञानिक तरीकों से काम करके औषध अनुसन्धान में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जायगी और निश्चय ही एक दिन भारत भी अन्य उन्नतशील देशों में अपना ऊँचा स्थान पा लेने में सफल होगा।

और इस काल में भिक्षु आत्रेय, जीवक, काश्यप, महावग्ग, व्याडि, पातंजलि, नागार्जुन, अश्वघोष आदि को लेखक ने लिया है, ६. माध्यमिक काल--इस समय के आचार्य वाग्भट द्वितीय, माधवकर, वृन्द, चक्रपाणि दत्त, आदि हैं, और इस अध्याय में शैव तन्त्र, महायानतंत्र, और अन्य तंत्र ग्रन्थों का भी उल्लेख किया गया है। ७. औषध विज्ञान का आदि काल—इस अध्याय में चरक और सुश्रुत में दी गई औषधियों का उल्लेख है, और औषध-पान, और औषध-प्रयोग के विविध रूपों का वर्णन है। ८. यह अध्याय ७ वें अध्याय का उत्तरार्ध है, इसमें औषध बनाने का विधान, विष-विज्ञान, माप-तौल, शल्यकर्म औषधालय, सेवा सुश्रुषा, और औषध-संग्रह का उल्लेख है, ९. इसमें माध्यमिक युग की रसायन-शालाओं, तंत्र रसायन, रसायन-उपकरण आदि का विवरण है। १०. इस अध्याय में योग्य लेखक ने ग्रीक-औषध विज्ञान पर भारतीयों का प्रभाव और अरब और भारत के संबंध की विवेचना की है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के पहले ६ अध्याय (प्रथम १२४ पृष्ठ) औषध-साहित्य का परिचय देते हैं। आलोचक की दृष्टि से ७ वें, ८ वें और ९ वें अध्याय विशेष उल्लेखनीय हैं। लेखक ने विद्वत्तापूर्वक चरक और सुश्रुत की सामग्री का ही नहीं, अन्यत्र दी गयी सामग्री का भी यहाँ उपयोग किया है। मुखोपाध्याय की पुस्तक "सर्जिकल इन्स्ट्रूमेंट्स आव् दि हिन्दूज़ (भारतीयों के शल्यकर्म के उपकरण) से विशेष सहायता ली है। आचार्य डा० प्रफुल्लचन्द्र राय की "हिन्दू केमिस्ट्री" की समाग्री का भी इस पुस्तक में पर्याप्त उपयोग है। रसरत्न समुच्चय में जिन यंत्रों का उल्लेख है जैसे स्वदेनी यंत्री, दोलायंत्र, पातन यंत्र, अधस्पातन यंत्र बालुका यंत्र, तिर्यक् पातन यंत्र, और विद्याधर यंत्र, इनके चित्र भी दिए हैं। यह पूरा नवाँ अध्याय सर प्रफुल्ल चन्द्र राय के ग्रन्थ के आधार पर है।

दसवें अध्याय में त्रिदोष वाद के सम्बन्ध में फारस, अरब और यूनान की परम्पराओं का भी उल्लेख किया गया है। यह त्रिदोषवाद आयुर्वेद में कहाँ से आया ? समालोचक का विश्वास है कि रसायन के क्षेत्र में पंचतत्ववाद (पृथिवी, जल, अग्नि वायु और आकाश-पंच-तत्व), और आयुर्वेद के क्षेत्र में वात-कफ-पित्त सम्बन्धी त्रिदोष वाद-ये दोनों 'दार्शनिक युग की देन हैं, वैदिक युग की नहीं यद्यपि वातादि सम्बन्धी वैदिक सूक्त हैं। पंचतत्ववाद और त्रिदोषवाद दोनों ने भारतीय विज्ञान को ठीक मार्गों में प्रशस्त न होने दिया। यूरोप में भी जब तक लोगों की आस्था इन दोनों वादों के प्रति रही, वे देश भी अधिक उन्नति न कर सके। जब यूरोप ने इन बातों से मुक्ति पायी, उनकी खोजों का क्षेत्र अधिक विस्तृत्व हो सका। पंचतत्त्व और त्रिदोष तथ्य की वस्तु न रह कर अनावश्यक कल्पना की वस्तु बने रहे। सांख्य के सत्व, रजस और तमस् जिस प्रकार अनिर्वचनीय रहे, वैसे ही ये त्रिदोष भी। अस्तु, आश्चर्य की बात तो यह है, कि पंचतत्ववाद और त्रिदोषवाद सार्वभौम बन गया था, और आज तक इनकी रूढ़ियाँ हमारे विचारों को प्रभावित करती चली आ रही हैं।

हम प्रो० श्रीवास्तव को उनकी इस साधु रचना पर बधाई देते हैं। इनसे हमारा आग्रह है कि इस पुस्तक का परिवर्धित रूप हिन्दी में भी जनता को भेंट करें। प्रत्येक इतिहास प्रेमी को प्रो० श्रीवास्तव की यह पुस्तक पढ़नी चाहिए। भारतीय परम्पराओं से सम्बन्ध रखने वाले साहित्य में इस पुस्तक को अवश्य गौरवपूर्ण स्थान मिलेगा।

अन्त में हम प्रो० श्रीवास्तव जी से यह आग्रह करेंगे कि अगले संस्करण में पुस्तक में दिए गए संस्कृत उद्धरणों को मूल ग्रन्थों से मिला कर संशोधित करलें।

—सत्यप्रकाश

विज्ञान-प्रगति—प्रकाशक-कौंसिल आफ साइंटिफिक एण्ड इंडस्ट्रियल रिसर्च, नई दिल्ली, वार्षिक मूल्य ५), प्रति अंक ।।)

'विज्ञान प्रगति' का सितम्बर अंक हमारे सम्मुख है। पिछले अंकों को भी देखने का अवसर मिला है। वर्तमान अंक में मधुमक्खी पालन तथा केन्द्रीय तम्बाकू अनुसंधानशाला के लेख प्रमुख तथा विशेष उपयोगी हैं। सूचना समाचार में बाजारू हींग, बिजली के सूखे सेलों के लिए सेम और रई का पिसान (आटा) प्रयुक्त करने की विधि, तुलसी के बीज के तेल, विलायती बबूल आदि पर संक्षिप्त टिप्पणियां हैं। यथार्थ में यह पत्र उद्योग धन्धों में विज्ञान द्वारा प्राप्त हो सकने वाली सहायता की सूचना देने वाला मासिक है। केन्द्रीय सरकार द्वारा जो विभिन्न राष्ट्रीय अनुसंधानशालाएं खोली गई हैं, अथवा अन्य अनुसंधानशालाएं हैं, उनके द्वारा की जाने वाली सभी खोजें इस पत्र में प्रकाशित होती हैं जो उद्योगों में लगे हुए लोगों के बड़े काम की सिद्ध हो सकती है। यही नहीं, उद्योग धन्धों में लगे हुए लोगों की अड़चनों और कठिनाइयों को भी प्रश्न रूप में छापकर उनका यथोचित उत्तर दिया जाता है। इस प्रकार वैज्ञानिक साहित्य की चर्चा का यह अत्यन्त उपयोगी तथा सुलभ साधन है। केवल ५) वार्षिक में इतनी सुन्दर छपाई तथा सामग्री युक्त लोकोपयोगी वैज्ञानिक पत्र के प्रकाशन के लिए हम कौंसिल आफ साइंटिफिक एण्ड इंडस्ट्रियल रिसर्च को साधुवाद देते हैं।

भूगोल—सम्पादक—पं० राम नारायण मिश्र बी० ए०, प्रकाशक, भूगोल कार्यालय, इलाहाबाद।
वार्षिक मूल्य ५) एक प्रति ।।)

हमारे सामने 'भूगोल' के मई, जून जुलाई, अगस्त के अंक हैं। इनमें कृषि भूगोल क्रमशः छप रहा है। इनमें प्राचीन भारत में कृषि, आदिम कृषि प्रणाली, उष्ण कटिबंध में बागवानी वाली व्यापारिक खेती, चीनी का उत्पादन, कपास, रेशम, जूट आदि रेशेदार वस्तुओं तथा मानसूनी प्रदेशों की धान, ज्वार, बाजरा, गेहूँ, तम्बाकू आदि की खेती की चर्चा की गई है। इन अंकों के पूर्व ही 'भूगोल' द्वारा राजनैतिक भूगोल छापने का वृहद आयोजन समाप्त हुआ है।

भूगोल कार्यालय के अध्यक्ष, सम्पादक, व्यवस्थापक आदि सब कुछ पं० राम नारायण जी मिश्र बी० ए० हैं जिनका जीवन भूगोल की अनवरत साधना से बीस वर्षों से लगा हुआ है। मिश्र जी के एकमात्र उत्साह तथा अटूट लगन का ही यह फल है कि एक व्यक्ति के पीछे इतना बड़ा आयोजन संचालित रहता आया है जो संस्था रूप में अनेक कार्यकर्त्ताओं द्वारा भी सिद्ध नहीं हो सकता।

—*सम्पादक*

प्राप्ति स्वीकार

नया समाज—नया समाज कार्यालय, ३३, नेताजी सुभाष रोड, कलकत्ता, साहित्यांक (नवम्बर, १९५४)

—सम्पादक, श्री० मोहनसिंह सेंगर

पाटल—मोहन प्रेस, कदमकुआँ, पटना—३

सम्पादक—श्री० राम दयाल पाण्डेय, संचालक—श्री० मोहन लाल बिश्नोई

कृषि और पशु-पालन—कृषि सूचना ब्यूरो, उत्तर प्रदेश, (छोटा छत्तर मंजिल), लखनऊ गोसम्बर्द्धन अंक (अक्टूबर १९५४)

वार्षिक मूल्य ८) एक प्रति ।।=)

हिन्दी-प्रचारक—पो० नं० ७०, काशी।

नागरी प्रेस, दारागंज-प्रयाग

हमारा प्रकाशित पुस्तकें

१—विज्ञान प्रवेशिका, भाग १—श्रीरामदास गौड़ और प्रो० सालिगराम भार्गव ।=)
२—चुम्बक—प्रो० सालिगराम भार्गव ।।।=)
३—मनोरञ्जन रसायन—प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव २)
४—सूर्य सिद्धान्त—श्री महावीरप्रसाद श्रीवास्तव छः भाग मूल्य ८) । इस लेखक को १२००) का मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला है ।
५—वैज्ञानिक परिमाण—डा० निहालकरण सेठी १)
६—समीकरण मीमांसा—पं० सुधाकर द्विवेदी; प्रथम भाग १।) द्वितीय भाग ।।=)
७—निर्णायक (डिटर्मिनैंट्स) प्रो० गोपाल कृष्ण गर्दे और गोमती प्रसाद अग्निहोत्री ।।।)
८—बीज ज्योमिति या भुजयुग्म रेखागणित—डाक्टर सत्यप्रकाश डी० एस-सी०, १।)
९—वर्षा और वनस्पति—श्री शंकरराव जोशी ; ।=)
१०—सुवर्णकारी—ले० श्री० गङ्गाशंकर पचौली; ।=)
११—व्यङ्ग-चित्रण—ले० एल० ए० डाउस्ट; अनुवादिका श्री रत्नकुमारी एम० ए०; २)
१२—मिट्टी के बरतन—प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा; (अप्राप्य)
१३—वायुमंडल—डाक्टर के० बी० माथुर, २)
१४—लकड़ी पर पालिश—डा० गोरखप्रसाद और श्री रामरतन भटनागर, एम० ए०, ५) (अप्राप्य)
१५—कलम पेवंद—ले० श्री शंकरराव जोशी; २)
१६—जिल्दसाजी—श्री सत्यजीवन वर्मा, एम० ए० २)
१७—तैरना—डा० गोरखप्रसाद १)
१८—सरल विज्ञान-सागर प्रथम भाग—सम्पादक डाक्टर गोरखप्रसाद मूल्य ६) (अप्राप्य)
१९—वायुमण्डल की सूक्ष्म हवाएं—डा० सन्तप्रसाद टंडन, डी० फिल० ।।।)
२०—खाद्य और स्वास्थ्य—डा० ओंकारनाथ परती, मूल्य ।।।)
२१—फोटोग्राफी—लेखक श्री डा० गोरख प्रसाद डी० एस-सी० (एडिन) ४),
२२—फल संरक्षण—डा० गोरखप्रसाद डी० एस-सी० और श्री वीरेन्द्रनारायण सिंह २।।)
२३—शिशु पालन—लेखक श्री मुरलीधर बौड़ाई । मूल्य ४)
२४—मधुमक्खी पालन—दयाराम जुगड़ान; ३)
२५—घरेलू डाक्टर—डाक्टर जी० घोष, डा० उमाशङ्कर प्रसाद, डा० गोरखप्रसाद, ४)
२६—उपयोगी नुसखे, तरकीबें और हुनर—डा० गोरखप्रसाद और डा० सत्यप्रकाश, ३।।)
२७—फसल के शत्रु—श्री शङ्कर राव जोशी ३।।)
२८—साँपों की दुनिया—श्री रमेश वेदी ४)
२९—पोर्सलीन उद्योग—प्रो० हीरेन्द्र नाथ बोस ।।।)
३०—राष्ट्रीय अनुसंधानशालाएँ—२)
३१—गर्भस्थ शिशु की कहानी—प्रो० नरेन्द्र २।।)

अन्य पुस्तकें

१—साबुन-विज्ञान	६)
२—भारतीय वैज्ञानिक	३)
३—वैक्युमब्रेक	२)
४—यांत्रिक चित्रकारी	२।।)
५—विज्ञान के महारथी (जगपति चतुर्वेदी)	२)
६—पृथ्वी के अन्वेषण की कथाएँ (,,)	१।।)
७—विज्ञान जगत की झाँकी (प्रो० नारायण सिंह परिहार)	२)
८—खोज के पथपर (शुकदेव दुबे)	।।)

पता—विज्ञान परिषद् (म्योर सेन्ट्रल कालेज भवन) प्रयाग

Reg. NO 372

Approved by the Directors of Education, Uttar Pradesh
and Madhya Pradesh for use in Schools;
Colleges and Libraries

विज्ञान परिषद् के मुख्य नियम

परिषद् का उद्देश्य

१—१९७० वि० या १९१३ ई० में विज्ञान परिषद् की इस उद्देश्य से स्थापना हुई कि भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य का प्रचार हो तथा विज्ञान के अध्ययन को और साधारणतः वैज्ञानिक खोज के काम को प्रोत्साहन दिया जाय।

परिषद् का संगठन

२—परिषद् में सभ्य होंगे। निम्न निर्दिष्ट नियमों के अनुसार सभ्यगण सभ्यों में से ही एक सभापति, दो उप-सभापति, एक कोषाध्यक्ष, एक प्रधानमन्त्री, दो मन्त्री, एक सम्पादक और एक अंतरंग सभा निर्वाचित करेंगे जिनके द्वारा परिषद् की कार्यवाही होगी।

सभ्य

२२—प्रत्येक सभ्य को ६) वार्षिक चन्दा देना होगा। प्रवेश शुल्क ३) होगा जो सभ्य बनते समय केवल एक बार देना होगा।

२३—एक साथ १०० रु० की रकम दे देने से कोई भी सभ्य सदा के लिए वार्षिक चन्दे से मुक्त हो सकता है।

२६—सभ्यों को परिषद् के सब अधिवेशन में उपस्थित रहने का तथा अपना मत देने का, उनके चुनाव के पश्चात् प्रकाशित, परिषद् की सब पुस्तकों, पत्रों, तथा विवरणों इत्यादि को बिना मूल्य पाने का—यदि परिषद् के साधारण धन के अतिरिक्त किसी विशेष धन से उनका प्रकाशन न हुआ—अधिकार होगा। पूर्व प्रकाशित पुस्तकें उनको तीन चौथाई मूल्य में मिलेंगी।

२७—परिषद् के सम्पूर्ण स्वत्व के अधिकारी सभ्य वृन्द समझे जायेंगे।

प्रधान संपादक—डा० हीरालाल निगम
सहायक संपादक—श्री जगपति चतुर्वेदी

नागरी प्रेस, दारागंज, प्रयाग प्रकाशक—विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद

विज्ञान

विज्ञान परिषद् प्रयाग का मुख-पत्र

दिसम्बर १९५४ धनु २०११

भाग ८० अंक ३

वार्षिक मूल्य चार रुपए

प्रति अंक छः आने

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

१—विज्ञान प्रवेशिका, भाग १—श्रीरामदास गौड़ और प्रो० सालिगराम भार्गव ।=)

२—चुम्बक—प्रो० सालिगराम भार्गव ।।।=)

३—मनोरञ्जन रसायन—प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव २)

४—सूर्य सिद्धान्त—श्री महावीरप्रसाद श्रीवास्तव छः भाग मूल्य ८) । इस लेखक को १२००) का मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला है ।

५—वैज्ञानिक परिमाण—डा० निहालकरण सेठी १)

६—समीकरण मीमांसा—पं० सुधाकर द्विवेदी; प्रथम भाग १।।) द्वितीय भाग ।।=)

७—निर्णायक (डिटर्मिनैंट्स) प्रो० गोपाल कृष्ण गर्दे और गोमती प्रसाद अग्निहोत्री ।।)

८—बीज ज्योमिति या भुजयुग्म रेखागणित—डाक्टर सत्यप्रकाश डी० एस-सी०, १।)

९—वर्षा और वनस्पति—श्री शंकरराव जोशी ; ।=)

१०—सुवर्णकारी—ले० श्री० गङ्गाशंकर पचौली; ।=)

११—व्यङ्ग-चित्रण—ले० एल० ए० डाउस्ट; अनुवादिका श्री रत्नकुमारी एम० ए०; २)

१२—मिट्टी के बरतन—प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा ; (अप्राप्य)

१३—वायुमंडल डाक्टर के० बी० माथुर, २)

१४—लकड़ी पर पालिश—डा० गोरखप्रसाद और श्री रामरतन भटनागर, एम० ए०, २) (अप्राप्य)

१५—कलम पेवंद—ले० श्री शंकरराव जोशी; २)

१६—जिल्दसाजी—श्री सत्यजीवन वर्मा, एम० ए० २)

१७—तैरना—डा० गोरखप्रसाद १)

१८—सरल विज्ञान-सागर प्रथम भाग—सम्पादक डाक्टर गोरखप्रसाद मूल्य ६) (अप्राप्य)

१९—वायुमण्डल की सूक्ष्म हवाएं—डा० सन्तप्रसाद टंडन, डी० फिल० ।।)

२०—खाद्य और स्वास्थ्य—डा० ओंकारनाथ परती, मूल्य ।।।)

२१—फोटोग्राफी—लेखक श्री डा० गोरख प्रसाद डी० एस-सी० (एडिन) ४),

२२—फल संरक्षण—डा० गोरखप्रसाद डी० एस-सी० और श्री वीरेन्द्रनारायण सिंह २।।)

२३—शिशु पालन—लेखक श्री मुरलीधर बौड़ाई । मूल्य ४)

२४—मधुमक्खी पालन—दयाराम जुगड़ान; ३)

२५—घरेलू डाक्टर—डाक्टर जी० घोष, डा० उमाशङ्कर प्रसाद, डा० गोरखप्रसाद, ४)

२६—उपयोगी नुसखे, तरकीबें और हुनर - डा० गोरखप्रसाद और डा० सत्यप्रकाश, ३।।)

२७—फसल के शत्रु—श्री शङ्कर राव जोशी ३।।)

२८—साँपों की दुनिया—श्री रमेश वेदी ४)

२९—पोर्सलीन उद्योग—प्रो० हीरेन्द्र नाथ बोस ।।।)

३०—राष्ट्रीय अनुसंधानशालाएँ—२)

३१—गर्भस्थ शिशु की कहानी—प्रो० नरेन्द्र २।।)

अन्य पुस्तकें

१—साबुन-विज्ञान	६)
२—भारतीय वैज्ञानिक	३)
३—वैक्युमब्रेक	२)
४—यांत्रिक चित्रकारी	२।।)
५—विज्ञान के महारथी (जगपति चतुर्वेदी)	२)
६—पृथ्वी के अन्वेषण की कथाएँ (,,)	१।।)
७—विज्ञान जगत की झाँकी (प्रो० नारायण सिंह परिहार)	२)
८—खोज के पथपर (शुकदेव दुबे)	।।)

पता—विज्ञान परिषद् (म्योर सेन्ट्रल कालेज भवन) प्रयाग

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्तिविज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ० ।३।५।

भाग ८० | धनु २०११; दिसम्बर १९५४ | संख्या ३

विश्व का रहस्य

डा० रामधर मिश्र

१. पृथ्वी और समीपवर्ती शून्य

विश्व का स्वरूप क्या है इस प्रश्न का उत्तर कौन दे? सारे विश्व को देखा किसने है? देखना सम्भव भी नहीं। अरबों तारे और असंख्य मीलों दूर! अमरीका की बड़ी वेधशालायें जो करोड़ों रुपयों से बनी हैं जिनकी दूरबीनों में १०० और २०० इञ्च बड़े 'काच' अर्थात शीशे लगे हैं वे यदि किसी तारे पर पहुँचाई जा सकें और यदि वहाँ से पृथ्वी को खोजा जाय तो इसका निशान भी कहीं ढूँढ़े नहीं मिलेगा। कठिनाई केवल इतनी ही होती तो यह आशा बँध जाती कि असली समस्या बड़े टेलिस्कोप बनाने मात्र की है। किन्तु मुसीबत यह भी है कि सिर्फ दूर से ही देख लेने से यथार्थ स्वरूप ज्ञात नहीं हो जाता। चन्द्रमा को लीजिये, पृथ्वी के इतना निकट, इतना साफ; इसकी एक से एक बढ़कर अच्छी तस्वीरें खींच ली गई हैं लेकिन चन्द्रमा का वह अर्ध भाग, जो पृथ्वी की ओर कभी आता ही नहीं, कैसा है, हम लोग क्या जाने। शुक्र तारे को देखिये, कितना ज्वलन्त, कितना सुन्दर, किन्तु सच बात तो यह है कि उस पर बादलों का एक घना आवरण है जिसको भेदकर उसके स्वरूप को जानने का कोई उपाय नहीं—यही पता नहीं मिलता कि ये बादल कैसे हैं? इनमें है क्या और यह शुक्र तारे को क्यों घेरे रहते हैं? शनि को परिवेष्ठित करते हुए जो चक्र (rings) हैं वे हैं क्या, ठंढे हैं या गर्म, आज भी हम लोग नहीं जानते। इस विश्व मण्डल में घूमने वाले तारों में पृथ्वी इतनी छोटी, इतनी नगण्य; यहाँ तक कि इस सूर्य की भी कोई खास हैसियत नहीं, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि अन्य तारों अथवा ग्रहों पर मनुष्य या मनुष्य

सरीखा कोई प्राणी बसता है या नहीं। अनुमान से कहा जा सकता है कि अवश्य ही अन्य ग्रहों में से कुछ पर ऐसे ही जीव-जन्तु रहते होंगे जैसे पृथ्वी पर, लेकिन अनुमान तो अनुमान, इसमें मतभेद की गुंजायश है। बड़े-बड़े ज्योतिर्विद अपने-अपने अनुमानों की चर्चा करते रहे हैं, अनुमानों को पुष्टि देने के प्रयोजन से सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं। जब किसी सिद्धान्त का समर्थन अन्वेषणों से हो जाता है तब वह मत ग्राह्य हो जाता है अन्यथा कल्पना एवं तर्कमात्र रह जाता है।

क्या मैं लाल बुझक्कड़ की कहानियाँ लिखने बैठा हूँ? नहीं, परिस्थिति ऐसी बेकाबू नहीं है। वैज्ञानिक क्षेत्र में किसी नए मत का प्रतिपादन खेल नहीं, लाल बुझक्कड़ों को इसमें स्थान नहीं, अललटप्पू राय देने की इजाजत नहीं। मैं उन बातों की चर्चा करूँगा जो या तो वैज्ञानिकों को पूर्णतया मान्य हैं अथवा जिनको अभी अप्रमाणित नहीं किया जा सका है। जिन विषयों पर मतभेद है उनको बिल्कुल छोड़ देने से काम नहीं चलेगा। किन्तु उनका उल्लेख करते समय यह इशारा काफी होगा कि वे विवादग्रस्त विषय हैं।

आज से दो सौ वर्ष पहले विश्व के स्वरूप को भली प्रकार जान पाना असम्भव समझा जाता था। बात यह थी कि न तो पृथ्वी छोड़कर किसी दूसरे ग्रह अथवा तारे पर जाना सम्भव है, न यहीं कोई ऐसे प्रयोग हो सकते हैं जैसे विज्ञान के अन्य क्षेत्रों में। विश्व मण्डल में जो कुछ हो रहा है उसी को दूर से सफाई से जितना दिखाई दे सके उतना देखने का प्रयत्न किया जा सकता है। इससे अधिक कुछ नहीं। वैज्ञानिक की सुविधा पर तारों की गतिविधि में कोई परिवर्तन तो नहीं लाया जा सकता, किन्तु इतनी कठिनाइयों के होते हुए भी बड़ी-बड़ी दूरबीनों के बन जाने से परिस्थिति में बहुत सुधार हो गया है। विश्व के स्वरूप का कुछ-कुछ ज्ञान होने लगा है—उसका रहस्य भी कुछ यों हीं समझ में आ चला है।

इस विषय को पाँच खण्डों में विभाजित करके पहिले मैं 'पृथ्वी और समीपवर्ती शून्य' पर ही लिखूँगा।

पृथ्वी गोलाकार है किन्तु एकदम गोल नहीं, उत्तर दक्षिण के सिरों पर कुछ-कुछ चिपटी है इसका व्यास लगभग ८००० मील है। पृथ्वी के गर्भ में क्या है, इस पर मतभेद है। अभी तक यह माना जाता था कि पृथ्वी का बाहरी भाग बहुत कठोर शिलाखण्ड है किन्तु अन्दर लगभग ३००० मील के व्यास के गोले में बहुत गर्म, सम्भवतः ३०००° सेंटीग्रेड तापमान पर कई पिघली धातुओं का द्रव पदार्थ है, जिसमें लोहे का बाहुल्य है। किन्तु विगत चार पाँच वर्षों में एक नया मत सामने आ गया है। उसके हिसाब से बाहर के ठोस और अन्दर के द्रव पदार्थों में कोई विशेष अन्तर नहीं, एक ठोस दूसरा द्रव, बस। और इस द्रव पदार्थ के तापमान पर भी मतभेद आरम्भ हो गया है। यह अनुमान किया जाता है कि उसका तापमान दो चार सौ डिग्री से अधिक नहीं है। पृथ्वी की आज जो रूपरेखा है उस पर भी मतभेद है। कुछ का यह कहना है कि विगत एक अरब वर्षों में कोई विशेष अन्तर नहीं हुआ है, जो देश जहाँ थे, जैसे थे, वैसे ही अब भी हैं। किन्तु और लोगों का मत है कि विगत ५० करोड़ वर्षों में पृथ्वी सिकुड़ कर अपने व्यास में प्रायः ४०० मील छोटी हो गई है और इस सिकुड़न के कारण ही पर्वत-श्रेणियाँ ऊपर आ गई हैं।

पृथ्वी के समीपवर्ती शून्य में चन्द्रमा हमारे निकटतम है। गोलाकार, पृथ्वी से बहुत ही हल्का (लगभग अस्सीवाँ अंश), चन्द्रमा पृथ्वी के चारों ओर घूमा करता है। और प्रायः सत्ताइस दिन में पूरा चक्कर कर लेता है। एक मत के अनुसार चन्द्रमा पृथ्वी से दूर हटता जा रहा है, आज से दो अरब पचास करोड़ वर्ष पहिले वह पृथ्वी के एकदम समीप था। पहिले चन्द्रमा भी अपनी धुरी पर घूमता

था किन्तु उसकी यह गति कम होती गई और अब धुरी पर घूमना बन्द हो गया है। चन्द्रमा का वह भाग जो पृथ्वी की ओर है वही इस ओर रहता है। दूसरी ओर क्या है यह किसी ने नहीं देखा।

चन्द्रमा पर कोई वायुमण्डल नहीं जान पड़ता। फोटो से जो चित्र लिये गये हैं उनमें चन्द्रमा के तल पर *ज्वालामुखी* गिरि के समान छोटे-बड़े अनेकों छिद्र दिखाई पड़ते हैं। इन छिद्रों में कोई-कोई तो सौ मील से भी अधिक चौड़े हैं। ये छिद्र क्या हैं, कैसे हो गये इस पर बड़ा मतभेद है।

पृथ्वी से चन्द्रमा की अपेक्षा लगभग ३९० गुनी दूरी पर सूर्य्य है। सूर्य्य पृथ्वी से लगभग तीन लाख गुना बड़ा है उसके चारों ओर पृथ्वी एवं अन्य कई ग्रह घूमते रहते हैं। पहिले यह समझा जाता था कि पृथ्वी स्थिर है और सूर्य्य उसके ओर घूमता है, किन्तु वह कहानी पुरानी हो गई। कापरनिकस, गैलिलियो, केपलर और न्यूटन की गवेषणाओं ने ज्योतिर्विद्या का रूप एकदम बदल दिया। और तभी से विश्व का स्वरूप जानने की उत्सुकता एवं सम्भावना दोनों बढ़ गईं।

हाँ तो मैं सूर्य्य की बात यह कह रहा था। यदि सूर्य्य के नाम पर ६ इञ्च का एक गेंद रक्खें, तब बुध ७ गज दूर, शुक्र १३ गज, पृथ्वी १८ गज मंगल २७ गज, बृहस्पति ९० गज और शनि १७० गज दूरी पर *स्थित* होंगे। यदि इन सबको दस अरब गुना बढ़ावें तो खेचर जगत का वास्तविक चित्र बने। अपने इस छोटे पैमाने पर यूरेनस ३५० गज, नेप्यून (वरुण) ५४० गज, प्लूटो (यम) ७१० गज और निकटस्थ तारे २००० मील दूर होंगे। पृथ्वी धूल की कणमात्र जान पड़ेगी।

इन ग्रहों में दो तो पृथ्वी की कक्षा के अन्दर हैं, शेष बाहर। शुक्र पृथ्वी से थोड़ा छोटा है। बुध और मंगल बहुत छोटे हैं, किन्तु वृहस्पति लगभग ३०० गुना बड़ा है। बड़े आश्चर्य की बात यह है कि हमारे ऋषियों ने यह कैसे जान लिया कि वृहस्पति बड़ा है। शनि पृथ्वी की अपेक्षा लगभग ९५ गुना बड़ा है। प्लूटो का आकार परिमाण कितना है यह अभी नहीं ज्ञात हुआ है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि जब पृथ्वी के इधर-उधर इतने ग्रह हैं, इतना बड़ा सूर्य्य है तब 'पृथ्वी के समीपवर्ती शून्य' शीर्षक का क्या आशय है? जिस अन्तरिक्ष में ८००० मील बड़ा पृथ्वी का गोला हो, उससे ३०० गुना बड़ा वृहस्पति हो, तीन लाख गुना बड़ा सूर्य्य हो, उस अन्तरिक्ष में शून्य कैसा? किन्तु यदि इस अन्तरिक्ष की विशालता की ओर ध्यान दें अर्थात् उस चित्र पर गौर करें जो अभी खींचा गया था, जिसमें सूर्य्य ६ इञ्च का गोला हो और जिसके २००० मील के घेरे में केवल दो-चार दर्जन कण सरीखे बिन्दु मात्र हों, जिन बिन्दुओं में सबसे बड़ा वृहस्पति, उस ६ इंच के गोले का हजारवाँ अंश हो और पृथ्वी तीन लाखवाँ अंश हो तब उस विशाल अन्तरिक्ष को शून्य न कहें तो क्या कहें? मनुष्य की नाप में यह गोले बहुत बड़े हैं किन्तु सूर्य्य ऐसे बड़े गोले की नाप से भी विश्व अत्यन्त विशाल है। लाखों करोड़ों मील की भी कोई गिनती नहीं।

शुक्र की दो विशेषतायें उल्लेखनीय हैं, एक तो यह कि उसके ऊपर सफेद बादलों का घना आवरण है जिसके विषय में कुछ भी नहीं जान मिला है। इस आवरण के कारण शुक्र का वास्तविक स्वरूप नहीं दीख पड़ता। पहिले यह अनुमान किया गया कि ये बादल शायद पानी की भाप के हैं किन्तु वैज्ञानिक अन्वेषणों ने यह स्पष्ट कर दिया कि इन बादलों में पानी नहीं है। शुक्र पर कार्बनडाई आक्साइड अवश्य है किन्तु उसके ऐसे बादल नहीं बनते। कोई ऐसा तत्व समझ में नहीं आ रहा है जिससे ये बादल बने हों।

दूसरी बात यह है कि वह अपनी धुरी पर एक चक्कर घूमने में लगभग २० दिन लेता है। यह स्मरण रहे कि पृथ्वी को केवल एक दिन लगता है। यह अनुमान किया जाता है कि सभी ग्रह आरम्भ में

केवल १० घंटों में अपनी-अपनी धुरियों पर एक चक्कर लगा लेते थे।

शुक्र के सम्बन्ध में एक मत यह है कि पहले बुध शुक्र का उपग्रह था, उसके चारों ओर घूमता था और जब से वह अलग हुआ उसकी गति इतनी धीमी हो गई।

केपलर और न्यूटन आदि विद्वानों की खोजों से यह सिद्ध हो गया है कि बुध, शुक्र, पृथ्वी आदि सारे ग्रह सूर्य्य के चारों ओर अंडवृत्त (Ecliptic Path) में घूमते हैं, शुद्ध वृत्त (Circular Path) में नहीं। आपस की आकर्षण शक्ति का ऐसा ही प्रभाव है। इस नियम का आश्रय लेकर ज्योतिर्विदों ने पहले नेपचून को खोज निकाला। बुध जिस अंडवृत्त में सूर्य्य के चारों ओर घूमता है, वह अंडवृत्त स्वयं भी अपने स्थिर केन्द्र के चारों ओर घूमता रहता है। लोगों का यह अनुमान हुआ कि अवश्य ही बुध के के आस-पास कोई ग्रह है जिसके कारण बुध का मार्ग स्थिर नहीं रह पाता है। उस अज्ञात ग्रह के होने का लोगों को इतना दृढ़ विश्वास था कि पहिले से ही उसका नामकरण हो गया, मिल जाने पर उसे 'वल्कन' कहा जाता। लेकिन बहुत खोज करने पर भी कोई नया ग्रह वहाँ नहीं मिला। बड़ी निराशा हुई किन्तु उस असफलता से जन्म हुआ एक विशाल सिद्धान्त का। न्यूटन के आकर्षण सिद्धान्त में कहीं दोष है यह सन्देह उत्पन्न हो गया और ४० वर्ष उपरान्त सन् १९१५ में आइन्सटाइन ने अपने सापेक्षवाद को नया रूप दिया। इस प्रकार यद्यपि बुध शायद सबसे छोटा ग्रह है किन्तु है अनोखा और उसके अनोखेपन ने ही सापेक्षवाद को पुष्टि दी।

अब पृथ्वी की कक्षा के बाहर वाले ग्रहों की ओर चलें। सबसे पहले *मंगल* को लीजिये, उसके धरातल पर उसी प्रकार बर्फ जमा है जैसे पृथ्वी पर किन्तु वहाँ के वायुमण्ड में आक्सीजन नहीं है। कार्बन-डाई-आक्साइड अधिक मात्रा में है। यह जान पड़ता है कि मंगल पर कुछ हरियाली है। इससे अधिक निश्चय पूर्वक कुछ कहा नहीं जा सकता है।

मंगल के बाद जो ग्रह हैं वे काफी बड़े हैं। बृहस्पति पृथ्वी से ३०० गुना बड़ा है। हाँ प्लुटो का आकार परिमाण अभी अनिश्चित है। इन सब ग्रहों के साथ कई-कई उपग्रह है, बृहस्पति के साथ ११, शनि के साथ ९, यूरेनस के ५, और नेपचून के दो। उनके वायुमण्डल पृथ्वी के वायुमण्डल से नितांत भिन्न हैं। पहले यह मत था कि ये बड़े-बड़े ग्रह अत्यन्त उष्णावस्था में होंगे, किन्तु अब यह *मत* है कि बात इसके बिल्कुल विपरीत है। तापमान बहुत ठंढा है। 'जीरो' से भी १५०° सेन्टीग्रेड नीचे। कई प्रश्न हैं जिनका उत्तर खोजने में लोग लगे हुए हैं। बृहस्पति में परिवर्तनशील एक *लाल चिन्ह* है। वह क्या है? शनि के चारों ओर जो चक्र (Rings) हैं उनके कण क्या बर्फ के टुकड़े हैं जो सूर्य्य के प्रकाश में चमक उठते हैं। चन्द्रमा के ये छिद्र कहाँ से आये? किन्तु यह सब होते हुए भी एक तत्व निश्चित है कि आकाश गंगा में लाखों तारे हैं जिनके चारों ओर कई ग्रह घूमा करते हैं और जिनके मुकाबिले में हमारा सूर्य्य एक साधारण सा पिण्ड जान पड़ता है। उन ग्रहों पर भी जीवन शायद सम्भव होगा, न होने का कोई ऐसी असाधारण बात नहीं जान पड़ती जो विश्व मण्डल के अन्य ग्रहों में सम्भव न हो।

—क्रमशः

अंतरिक्ष किरणें

श्री० दुलह सिंह कोठारी, महाराणा भूपाल कालेज, उदयपुर

हमारे पृथ्वीतल पर चहुँ ओर से सम रूप अति सूक्ष्म परमाणु-कणों की बौछार अविरल गति से प्रतिक्षण होती रहती है। यह कितने आश्चर्य की बात है कि ये कण वृष्टि की बूंदों की भाँति हमारे शरीर पर उठते, बैठते, सोते, जागते, चलते, फिरते बराबर चोट करते रहते हैं, फिर भी हम इन परमाणु-कणों से कितने अनभिज्ञ हैं। वैज्ञानिक भाषा में इस बौछार को अंतरिक्ष-किरणें कहते हैं। अंतरिक्ष-कण, परमाणु-बम्ब के विस्फोट से विसर्जित कणों के समान होते हैं, परन्तु प्रसन्नता की बात है कि—जहाँ तक वैज्ञानिक अन्वेषण से ज्ञात हुआ है, ये कण हानिकारक नहीं होते हैं। चिकित्सा विज्ञान के आचार्यों की मान्यता है कि आदि काल से मानव ने, निरंतर होने वाली इस भयंकर बौछार का शिकार होते रहने के कारण, एक प्रकार की ऐसी सहन-शक्ति प्राप्त कर ली है, जिससे अब इन किरणों से कोई विशेष हानि होने की संभावना प्रतीत नहीं होती। इन किरणों का आविष्कार, समस्त वैज्ञानिक जगत में—विशेषकर भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में—महत्वपूर्ण ही नहीं, किन्तु महान क्रान्तिकारी सिद्ध हुआ है। अनुमानतः इन किरणों की खोज किये हुए ४० वर्ष होने आये हैं, किन्तु जो कुछ भी थोड़ा ज्ञान इस क्षेत्र में अब तक प्राप्त हुआ है, वह तो बहुत ही आधुनिक है।

भिन्न-भिन्न राष्ट्रों ने इन किरणों की उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए, ऊँचे-ऊँचे पर्वतों के शिखरों पर सुसज्जित प्रयोगशालाएँ स्थापित की हैं जहाँ पर वैज्ञानिक गण, अपने समस्त स्वार्थों का ज्ञान की वेदी पर बलिदान कर, एवं सत्य की आराधना में, अपने सम्पूर्ण जीवन को अर्पण कर निरंतर अन्वेषण में लगे हुए हैं। भारत में भी इस प्रकार की प्रयोगशालाओं का आयोजन किया जा रहा है जहाँ पर अंतरिक्ष किरणों के क्षेत्र में प्रयोग किये जा सकेंगे। पिछले कुछ वर्षों से हमारे देश के वैज्ञानिकों ने जो कुछ काम—बहुत ही सीमिति साधनों के होने के उपरान्त भी—किया है, यद्यपि वह संतोषजनक न भी हो, तो भी आशाजनक तो अवश्य है।

इन्हीं किरणों के विषय में जन साधारण की जानकारी के लिये संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है :—

अनंत विस्तृत ब्रह्मांड के सुदूरवर्ती परन्तु अज्ञात कोनों से आने वाली ये अंतरिक्ष-किरणें पृथ्वी के वायु-मंडल में ऊपर से प्रवेश करती हैं, और वायु के साथ संघर्ष करती हुई पृथ्वी तल पर पहुँचती हैं। वायु परमाणु के साथ संघर्ष के फलस्वरूप पृथ्वी तक आते-आते इनके स्वभाव में भी बहुत रूपान्तर हो जाता है। जब ये किरणें प्रथम बार हमारे ग्रह के वायुमंडल में कोई २०० मील की ऊँचाई पर प्रवेश करती हैं तो इनको वैज्ञानिक परिभाषा में प्रारंभिक किरणें कहते हैं। जब ये किरणें वायु में गमन करती हुई अवनि-तल पर पहुँचती हैं तो इनको गौण किरणें कहते हैं। प्रारंभिक एवं गौण अंतरिक्ष-किरणों के स्वभाव में, उनकी रचना में एवं उनके गुणों में बहुत भिन्नता होने के कारण यह उचित होगा कि क्रमशः इन दोनों प्रकार की रश्मियों का विवेचन किया जाय:—

प्राथमिक-किरणें :—इन किरणों का अध्ययन करने के हेतु हमको आकाश में कोई २५० मील उठना होगा। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है

कि जैसे ही ये किरणें इस ग्रह के वायु-मंडल में प्रवेश करती हैं उनकी प्राथमिक अवस्थाओं में रूपान्तर होने लगता है। परन्तु हमारी यह उड़ान काल्पनिक होगी। क्योंकि आज दिन तक इतनी ऊँचाई तक न तो कोई पहुँच ही पाया है और न इन रश्मियों के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने के लिये वैज्ञानिक-यंत्र ही वहाँ तक भेजे जा सकते हैं। परन्तु कल्पित साधनों द्वारा जब हम पृथ्वी के वायुमंडल के ऊपरी छोर तक पहुँचेंगे तो देखेंगे कि अविरल गति से एवं चहुँ ओर से समरूप, प्रोटान कण—जो कि उद्जन गैस के परमाणु के धनात्मक नाभिक हैं—वे पृथ्वी के वायु-मंडल में भयंकर तीव्रता से प्रवेश कर रहे हैं। पानी की बूंदों की बौछार की भाँति प्रोटान-कणों की इस पारमाणिक बौछार को प्राथमिक किरणें कहते हैं। केवल मात्र प्रोटान के कण ही इन किरणों में विद्यमान हैं, सो बात नहीं। विशेष विश्लेषण से पता चला है कि कुछ भारी परमाणु-जैसे-लोहे, ओषजन इत्यादि तत्वों के नाभिक भी, बहुत ही अल्प परिणाम में, इन किरणों में पाये जाते हैं। आज संसार की बड़ी-बड़ी, एवं परमाणु के रहस्य को समझने के लिये उपयुक्त साधनों से सुसज्जित, प्रयोगशालाओं में ऐसे विशालकाय यंत्र हैं, जिनके द्वारा परमाणु-कणों में शक्ति एवं गति प्रदान की जा सकती है। आश्चर्य की बात तो यह है कि सबसे भयंकर यंत्र से भी जो शक्ति प्रोटान कणों को दी जा सकती है, वह तो प्राथमिक किरणों के प्रोटान कणों की शक्ति की तुलना में बहुत ही तुच्छ है। यद्यपि विज्ञान के इस महान क्षेत्र में विषम गति से प्रगति हो रही है, फिर भी संदेह है कि मनुष्य कभी भी कृत्रिम विधियों से एवं अपने द्वारा निर्माण किये हुए यंत्रों से वेधी प्राथमिक किरणों को उत्पन्न कर सकेगा।

गौण अंतरीक्ष-किरणें—प्राथमिक किरणों एवं वायु के कणों के बीच संघर्षण से गौण-अंतरीक्ष-किरणें उत्पन्न होती हैं। कोई ३५ मील से अधिक ऊँचाई पर वायु इतनी हल्की होती है (अर्थात् प्रति सी० सी० वायु में परमाणुओं की संख्या इतनी कम रहती है) कि उपेक्षणीय परिमाण में प्राथमिक किरणों के एवं वायु के परमाणुओं के बीच संघात ही नहीं हो पाते। अतः अधिक ऊँचाई पर संघर्षण के कारण प्राथमिक किरणों में कोई मौलिक परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं होते। परन्तु ३५ मील की ऊँचाई पर वायु पर्याप्त मात्रा में घनी होती है। इसलिये प्राथमिक किरणों एवं वायु-कणों के बीच संघात के प्रभाव भी प्रत्यक्ष रूप में अनुभव किये जा सकते हैं। जैसे-जैसे हम पृथ्वी की ओर अग्रसर होते हैं वैसे-वैसे वायु का घनत्व बढ़ता जाता है, फलतः प्रतिक्षण वायु के कणों के एवं अंतरीक्ष किरणों के बीच टक्करों की संख्या भी बढ़ती जाती है। जब अंतरीक्ष किरणों के प्रोटान वायु-कण से संघात करते हैं तो वायु कणों में से इलेक्ट्रान (Electrons) मुक्त होते हैं। यदि संघात अधिक जोर की हुई तो न्यूट्रान (Neutrons) एवं प्रोटान (Protons) भी मुक्त होते हैं। यह सिद्ध किया जा चुका है कि प्रत्येक परमाणु, (चाहे वह किसी भी तत्व का परमाणु हो) इन्हीं तीन प्रकार के कणों के संयोग से बना होता है। यद्यपि परमाणु इतने सूक्ष्म होते हैं कि वह सर्वश्रेष्ठ सूक्ष्मदर्शक यंत्र से भी नहीं देखे जा सकते हैं, फिर भी प्रयोग द्वारा यह स्थापित किया जा चुका है कि प्रत्येक परमाणु में एक प्रकार से हमारे सौर-मंडल सदृश व्यवस्था है। जिस प्रकार ग्रह, केन्द्र पर स्थित सूर्य के चहुँ ओर परिक्रमा लगाते हैं, ठीक उसी प्रकार परमाणु-केन्द्र के चहुँ ओर (जो प्रोटान एवं न्यूट्रान कणों का बना होता है) इलेक्ट्रान परिक्रमा लगाते हैं। प्रत्येक तत्त्व के परमाणु समान होते हैं, परन्तु भिन्न तत्वों के परमाणु में केन्द्र पर स्थित प्रोटान एवं न्यूट्रान की संख्या भिन्न-भिन्न होती है। उदाहरणार्थ उद्जन गैस के परमाणु के केन्द्र पर एक प्रोटान स्थित है और उसके चहुँ ओर एक इलेक्ट्रान निरंतर चक्कर लगा रहा है। साधारण यूरेनियम तत्व—यह वही तत्व है जिसके परमाणु से अणु-शक्ति उत्पन्न की जाती है—के

नाभिक पर ९२ प्रोटान तथा १४६ न्यूट्रान केन्द्रित है, जिसके चहुँ ओर अविरल रूप से ९२ इलेक्ट्रान परिक्रमा लगाने में व्यस्त हैं। प्राथमिक किरणों एवं वायु के परमाणु के संघर्ष से इलेक्ट्रान, प्रोटान एवं न्यूट्रान मुक्त होकर चहुँ ओर तीव्र गति से प्रसारित होते हैं इन्हीं कणों को गौण अंतरिक्ष-किरणें कहते हैं।

गौण-अंतरिक्ष-किरणों के अध्ययन से एवं विशेष प्रायोगिक विश्लेषण द्वारा यह ज्ञात हुआ है कि इन रश्मियों में उपरोक्त तीन प्रकार के कणों के अतिरिक्त एक नवीन जाति के कण भी पाये जाते हैं। इन नवीन जाति के कणों को प्रायोगिक भाषा में मेसन्स अथवा "मेसोट्रान" कहते हैं। मेसन्स किसी परमाणु में पहले ही से इलेक्ट्रान, प्रोटान एवं न्यूट्रान की भाँति विद्यमान नहीं रहते, परन्तु आश्चर्यजनक बात तो यह है कि वे तो संघर्षण के समय तुरन्त ही उत्पन्न होते हैं और मुक्त होकर तीव्र वेग से इधर-उधर दौड़ पड़ते हैं। ये कण बड़े ही विचित्र हैं। जिनकी कहानी भी बड़ी रोमांचकारी है।

जापान के प्रसिद्ध भौतिक वैज्ञानिक एवं नोबल पुरस्कार विजेता "युकावा" ने परमाणु-केन्द्रीय बन्धन शक्ति की एवं विद्युत-चुम्बकीय विनिमय बल की जिनके कारण विविध नाभिकीयकण अर्थात् प्रोटान एवं न्यूट्रान परमाणु केन्द्र पर संगठित रहते हैं, व्याख्या करते हुए एक सिद्धान्त की स्थापना की तथा गणित के आधार पर वह सहसा ही इस निर्णय पर पहुँचे कि जिस प्रकार टेनिस के खिलाड़ी "टेनिस-बाल" के विनिमय के कारण एक दूसरे से संबंधित रहते हैं, ठीक उसी प्रकार परमाणु-केन्द्र के न्यूट्रान और प्रोटान के बीच भी एक जाति के कणों का निरंतर आदान-प्रदान होने के परिणाम स्वरूप वे परस्पर जुड़े रहते हैं। यह सिद्धान्त अपने ढंग का एक अनोखा सिद्धान्त था। क्योंकि वह एक नवीन प्रकार के कणों के अस्तित्व की संभावना पर अवलंबित था। इन कणों को "युकावा" ने मेसोट्रन का नाम दिया। 'युकावा' के इस सिद्धान्त से प्रेरित होकर वैज्ञानिक मेसोट्रान की खोज में लग गये। शीघ्र ही अंतरीक्ष-किरणों के क्षेत्र में काम करने वाले वैज्ञानिकों के आश्चर्य की सीमा नहीं रही, जब उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से मेसोट्रान का प्रथम बार अनुभव किया। मेसोट्रान अब काल्पनिकस्तर से वास्तविक स्तर तक उठ चुके हैं। आज तो संसार के विशालकाय यंत्रों द्वारा जिनमें परमाणु-केन्द्रों का खंडन किया जा सकता है, मेसाट्रान को प्रयोगशालाओं में नियंत्रित परिस्थितियों में उत्पन्न किया जा सकता है। आधुनिक अन्वेषण से ज्ञात हुआ है कि मैसन्स अर्थात् मेसोट्रान कई प्रकार के होते हैं। इनमें से कुछ, भारी कुछ हल्के, कुछ धनात्मक, तथा कुछ ऋणात्मक होते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ उदासीन भी होते हैं, जो न्यूट्रान की भाँति विद्युत् रहित होते हैं।

गौण अंतरीक्ष किरणों में मैसन्स बहुसंख्या में पाये जाते हैं। मैसन्स प्राथमिक किरणों द्वारा किस प्रकार उत्पन्न किये जाते हैं? जब एक तीव्रगति से पृथ्वी की ओर अग्रसर होता हुआ प्रोटान वायु के किसी कण के समीप पहुँचता है तो बहुधा उसकी शक्ति में भारी कमी हो जाती है, इस प्रकार से मुक्त शक्ति आधुनिक काल के सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक "आइन्सटाइन" द्वारा प्रतिपादित द्रव्य एवं उर्जा तुल्यांक नियम के अनुसार मैसोट्रान में अर्थात् द्रव्य में परिणत हो जाती है। मैसन्स, दो प्रोटान के बीच प्रतिक्रिया से भी उत्पन्न होते हैं। मैसन्स हमारे शरीर में से होकर उतनी ही सरलता से निकल सकते हैं जितनी सरलता से प्रकाश की किरणें खिड़की में से होकर बाहर से कमरे के भीतर प्रवेश करती हैं। अनुमान है कि खड़ी अवस्था में हमारे शरीर में कोई १५०० मैसन्स प्रति मिनट, एवं लेटी हुई अवस्था में लगभग ७५०० मैसन्स प्रति मिनट प्रवेश करते हैं। हम सदा ही मैसन्स की बौछार में रहते हैं फिर भी हम इस बौछार से कितने अनभिज्ञ हैं। कैसी विचित्र बात है।

मैसन्स कण स्थायी नहीं होते। रेडियम परमाणु की भाँति इनका भी विघटन तथा क्षय होता रहता है। परन्तु जहाँ रेडियम परमाणु की अवधि

१६०० वर्ष के लगभग है, वहाँ मैसंस कण की जीवन अवधि तो एक सेकिण्ड के २० लाखवें अंश से भी कम है। इतने अस्थायी होने के कारण मैसन्स कणों का अध्ययन अनेक समस्याओं से परिपूर्ण है। फिर भी धन्य है, उन महान वैज्ञानिकों को, जिनकी कठोर साधना के कारण, अत्यन्त अस्थिर, इन कणों के विषय में बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त किया जा चुका है।

मेसन के क्षय होने पर दो नवीन कण इलेक्ट्रान, तथा न्यूट्रीनो एवं पाजिट्रान (धनात्मक इलेक्ट्रान) तथा न्यूट्रीनों, जन्म लेते हैं। इस प्रकार से उत्पन्न हुए इलेक्ट्रान जब तीव्र गति से आकाश में गमन करते हैं तो कभी-कभी वायु कणों के संघर्षण से फोटान में, अर्थात् प्रकाश के कणों में, परिवर्तित हो जाते हैं। प्रकाश कण पुनः उसी प्रकार से इलेक्ट्रान एवं पोजीट्रान की उत्पत्ति का कारण बनते हैं। इस विधि से यह शृंखलात्मक क्रिया प्रगति करती हुई तुरन्त ही एक बहु संख्यक कणों की व्यवस्था का रूप धारण कर लेती है। इस व्यवस्था का नाम प्रपात या बौछार है। इन बौछारों का विस्तार १२ मील की ऊँचाई से भी अधिक होता है।

प्रपात बौछार एक बहुत ही महत्वपूर्ण प्रभाव है। संसार के बड़े-बड़े भौतिक विज्ञानवेत्ता इसके विश्लेषण में एक इस से सम्बन्धित अनेक समस्याओं के अध्ययन में व्यस्त हैं। भारत के वैज्ञानिकों ने जिनमें—श्री भाभा (जो टाटा की इस्टीट्यूट ऑफ फन्डामेंटल पार्टिकल्स बम्बई के डाईरेक्टर हैं) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उन्होंने इस क्षेत्र में बहुत ही श्रेष्ठ काम किया है।

अंतरीक्ष किरणों के अध्ययन हेतु संसार के विविध भागों में ऊँचे-ऊँचे पर्वतों के शिखरों पर अनेक प्रयोगशालाएं स्थापित की जा चुकी हैं। जहाँ पर अनुभवी वैज्ञानिक गणों ने उपयुक्त एवं आधुनिक साधनों द्वारा इस विस्तृत क्षेत्र में ज्ञान उपार्जन करने में अपने अमूल्य जीवन को समर्पित कर दिया है। फिर भी जो कुछ भी ज्ञान इन किरणों के विषय में प्राप्त हुआ है, वह अपूर्ण है। इस प्रकार, एक नहीं अनेक समस्याएँ हैं; जिनका अभी तक कोई निराकरण नहीं किया जा सका है।

जहाँ तक इन किरणों की उत्पत्ति का प्रश्न है अनेक वैज्ञानिकों ने अपने-अपने सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं। परन्तु इनमें से कोई एक भी सिद्धान्त संतोषजनक तथा आपत्तियों एवं शंकाओं से मुक्त नहीं माना जा सकता। इसमें तो तनिक भी संदेह नहीं कि ये किरणें हमारे इस ग्रह पर बाहर से आती हैं। यही कारण है कि जैसे-जैसे हम पृथ्वी तल से ऊपर की ओर जाते हैं, वैसे-वैसे प्राथमिक किरणों की तीव्रता बढ़ती जाती है। लेकिन यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता कि अनंत व्यापक ब्रह्माण्ड के किन सुदूरवर्ती स्थलों में प्राथमिक किरणें उत्पन्न होती हैं, तथा किस व्यवस्था द्वारा वे अपनी तीव्र बंधन शक्ति को प्राप्त करती हैं। कदाचित् यही समस्या, उन सर्व समस्याओं में सर्वोपरि है, जो आज के इस प्रगतिशील समस्त वैज्ञानिक युग को चुनौती दे रही हैं।

सहसा ही हमारे मस्तिष्क में एक प्रश्न उपस्थित होता है कि अन्त में इन अंतरीक्ष किरणों का उपयोग क्या है ? क्या अंतरीक्ष किरणों की शक्ति को, विद्युत-शक्ति या अन्य किसी प्रकार की शक्ति में परिवर्तन कर मानव-कल्याण के लिये काम में लाया जा सकता है ? इसमें कोई संदेह नहीं कि अंतरीक्ष-किरणों की शक्ति को साध कर किसी विधि से प्रयोग में लाना कठिन ही नहीं, असंभव सा प्रतीत होता है। फिर भी किरणें नाना प्रकार से उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं। उदाहरणार्थ अंतरीक्ष-किरणों की प्रतिक्रिया से विशेष प्रकार के कार्बन परमाणु, जो हवा में विद्यमान हैं, रेडियम परमाणु की भाँति विघटनशील बन जाते हैं। जब यह परमाणु हवा के साथ पृथ्वी पर पहुँचते हैं तब ये पेड़-पौधे एवं प्राणियों द्वारा ग्रहण कर लिये जाते हैं। किसी भी समय इन परमाणुओं के परिमाण का ज्ञान करने से उन पदार्थों की आयु का अनुमान लगाया जा सकता है। यद्यपि इस विधि से ऐसे उत्खातों, अश्मीभूत अवशेषों तथा प्रस्तर विकल्पों

[शेष पृष्ठ ८७ पर]

क्लीवाणु

(श्रीकृष्ण जोशी)

पदार्थ की रचना वैज्ञानिक के लिये सर्वदा कौतूहल और अन्वेषण का विषय रहा है। अपनी समस्त शक्ति—कल्पना और प्रयोग के रूप में—वह इस पर केन्द्रित करता रहा है। उसकी इसी तपस्या के परिणाम स्वरूप हमें कणाद मुनि का अणुवाद, डेमोक्रिटस तथा ल्यूसीपस का अणु सिद्धान्त और डाल्टन की 'एटमिक थियरी' प्राप्त हुये। परन्तु समस्या की वास्तविक जटिलता और उसके सुलझावों का आभास बीसवीं सदी के प्रथम चरण में हुआ। विज्ञान के सुप्रसिद्ध महारथी, जिनको आधुनिक विज्ञान का जन्मदाता कह कर पुकारना अनुचित न होगा, नेलसन के लार्ड रुदरफर्ड के प्रायोगिक तथ्यों तथा कणिका सिद्धान्तों के आधार पर डेनमार्क के, सर्वत्र चमकती हुई ख्याति वाले भौतिकीविद नील्स बोहर ने यह बताया कि पदार्थ के अणु में, केन्द्रस्थ धनावेश के चारों ओर ऋणाविष्ट विद्युदणु नियमबद्ध होकर एक सुन्दर व्यवस्था के साथ चक्कर लगाते हैं। उनकी इस व्यवस्था की कल्पना हमारे विज्ञान में, विशेषतया पदार्थ के वर्णपट के सैद्धान्तिक ज्ञान में, अनुपम उन्नति का प्रतीक सिद्ध हुई। पर शनैः शनैः वैज्ञानिकों को, जिनके अग्रणी पुनः स्वयं रुदरफर्ड ही थे, ज्ञात हुआ कि पदार्थ की रचना का वास्तविक रहस्य तो विद्युदणुओं के इस आवरण के अन्दर अणु के केन्द्रक (Nucleus) में छिपा है। अब वैज्ञानिक केन्द्रक के रहस्योद्घाटन में निरत हो गया और उसके प्रयत्नों के फलस्वरूप हमें आज के विज्ञान में सबसे महत्वपूर्ण स्थान रखनेवाला केन्द्रकशास्त्र (Nuclear Physics) मिला।

बीसवीं सदी के प्रथम दशकों में लोगों की यह धारणा थी कि संसार के सब पदार्थ दो प्रकार के लवों (Particles) प्राणुओं (Protons) और विद्युदणुओं (Electrons) के द्वारा ही बने हुये हैं। उनके लिये केवल ये दो प्रकार की ही ईंटें थीं जिनसे सारे पदार्थ जगत का निर्माण हुआ है। प्राणु-विद्युदणु वाला यह सिद्धान्त वैज्ञानिक प्रयोगों की दहकती आँच तथा कटु आलोचना के अंगारों में बिना परिवर्तित हुए न रह सका। इन सब में से महत्वपूर्ण परिवर्तन था क्लीवाणु (Neutron) नामक एक नये लव की कल्पना और उसकी खोज। यह नया लव वैज्ञानिकों को अपने सुपरिचित लव प्राणु और विद्युदणु से विचित्र ही मालूम हुआ। पहली विचित्रता थी इसका क्लीव (Neutral) होना, जैसा कि हम अभी बतलायेंगे। आज हम इसी विचित्र क्लीवाणु का विवेचन करेंगे।

क्लीवाणु की खोज:—इस विचित्र लव की खोज का इतिहास भी कम विचित्र नहीं है। हमारे लवों के निरीक्षण तथा परीक्षण के सब सुलभ साधन लव पर के विद्युत-आवेश पर आश्रित रहते हैं, यदि कोई क्लीव लव परीक्षण यन्त्रों में उपस्थित होगा तो वह यन्त्र पर कुछ भी प्रभाव न डाल सकने के कारण साफ साफ बच जायगा। यही हाल हमारे क्लीवाणु का हुआ। पर लगन में लीन वैज्ञानिक की पैनी नजरों से, उसकी तार्किक वृत्ति से कब तक छिपा रह सकता था। अपने प्रयोगों, उनसे प्राप्त तथ्यों के वर्गीकरण द्वारा वह अहर्निश प्रकृति के रहस्य-स्थलों पर अपना अधिकार करने की चेष्टा से अनुप्राणित रहता है और उसका यह प्रयत्न कभी भी बिलकुल व्यर्थ नहीं जाता।

१६३० ईसवी में जर्मनी के हीडलबर्ग की प्रसिद्ध अनुसन्धानशाला में दो ख्यातनामा जर्मन

वैज्ञानिक बोथे और बेकर ने पोलोनियम नामक रेडियमधर्मी तत्व से निःसृत एल्फा (Alpha) किरणों से कुछ हलके तत्व यथा बेरीलियम पर प्रहार किया तो उन्हें एक आश्चर्योत्पादक उत्सरण (Emission) प्राप्त हुआ। इस उत्सरण का परीक्षण करने पर उन्होंने इसे महती शक्ति की गामा (Gamma) किरण माना क्योंकि यह उत्सरण सुगमता पूर्वक शीशे की बड़ी-बड़ी पर्तों को पार कर जाता है और इसमें धनात्मक या ऋणात्मक कोई भी विद्युत आवेश नहीं प्राप्त हुआ।

वैज्ञानिक जगत ने जिज्ञासापूर्ण दृष्टि से इस उत्सरण की ओर देखा, फ्रांस के पेरिस स्थित जोलियो क्यूरी और उनकी स्त्री इरीन क्यूरी ने इन किरणों का विस्तृत अध्ययन किया। उनके प्रयोगों से प्रकट हुआ कि यह रहस्यमय किरणें विद्युत आवेश रहित होने के कारण माध्यम का अयनन (ionization) नहीं कर पातीं, पर सबसे अधिक महत्व की बात उन्होंने यह देखी कि जब हम इन किरणों के सामने हाइड्रोजन के किसी यौगिक यथा पैरेफिन को लाते हैं तो उद्जन पर इनकी क्रिया के फलस्वरूप हमें प्राणु प्राप्त होते हैं, जिनकी उपस्थिति को हम आसानी से विलसन के अभ्रवेश्म में, या और साधनों से जान सकते हैं। पर फिर भी वह वास्तविकता का निरूपण करने में सफल न हो सके और उनका निर्णय भी यह ही रहा कि यह शक्तिशाली गामा किरण ही हैं।

वैज्ञानिक शंकित जीव हैं। वह किसी भी बात का अन्धानुकरण कभी भी नहीं कर सकता। कोई कथन उसके प्रयोग और तर्क की कसौटी में खरा उतरने पर ही उसके यहाँ स्थान पा सकता है। यह गामा किरण वाला सिद्धान्त उसकी कसौटी में खरा नहीं उतरा, कारण यह है। अगर यह तथा कथित गामा-किरणें हाइड्रोजन-यौगिकों में से प्रयोगों द्वारा मालूम हुए वेग के साथ प्राणुओं को हटाने में सफल हो सकती हैं तो इनकी शक्ति उस शक्ति की लगभग दस गुनी होनी चाहिये जो बेरीलियम-अल्फा किरण की प्रक्रिया में प्राप्त हो सकती है। यह असंगत बात वैज्ञानिकों को बहुत खटकी।

इस समस्या का वास्तविक हल हमें सर जेम्स चैडविक से प्राप्त हुआ। इस ब्रिटिश वैज्ञानिक ने केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में उपर्युक्त प्रयोगों को दुहराया और जब उन्होंने इस किरण को नत्रजन से भरे हुए अभ्रवेश्म में प्रविष्ठ कराया, उन्होंने देखा कि कभी-कभी अणु ऐसे धक्कों का अनुभव करके गतिमान होता है मानो अभ्रवेश्म में दो लव एक दूसरे से टकरा कर एक-एक दूसरे को धकेल रहे हों और इनमें से केवल एक का मार्ग ही अभ्रवेश्म में प्रकट हो रहा हो। कुछ भी भार न रखने वाली गामा किरणों द्वारा ऐसों धक्कों का सम्पन्न होना ऐसा समझना—मूर्खतापूर्ण मालूम होता है। चैडविक को यह भास हुआ कि जिन नयी किरणों को हम गामा किरण (विद्युच्चुम्बिक विकिरण) समझे हुए हैं वह वास्तव में लव हैं, जिनकी टक्कर लगने से नाइट्रोजन तथा हाइड्रोजन के अणु जैसा हम आगे चल कर बतायेंगे अयन (Ion) बन कर गतिमान होते हैं और इन अयनों के मार्ग को हम अभ्रवेश्म में देख सकते हैं। चूंकि ये लव अपने आप अयनों को बनाने में असमर्थ हैं अतः इनका विद्युत आवेश रहित होना स्पष्ट है। इस भार वाले परन्तु अनाविष्ट (क्लीव) लव को चैडविक ने "न्यूट्रान" का नाम दिया। इसी कार्य के लिये सन् १९३५ में चैडविक को नोबेल पुरष्कार प्राप्त हुआ।

उनकी इस खोज ने केन्द्रक का रहस्योद्घाटन कर दिया, इसके पूर्व वैज्ञानिक, जैसा कि हम कह आये हैं, केन्द्रक को प्राणुओं और विद्युदणुओं से बना हुआ मानता था, ऊपरी तौर पर इस कल्पना के द्वारा केन्द्रक के भार और आवेश का ठीक-ठीक निरूपण तो हो जाता था परन्तु सिद्धान्त और कई प्रयोगों के परिणाम इसके बिलकुल विरोध में थे, क्लीवाणु की खोज से यह स्पष्ट हो गया कि केन्द्रक में प्राणु और क्लीवाणु ही समुपस्थित है न कि प्राणु और विद्युदणु।

इस प्रकार सन् १९३२ के बाद क्लीवाणु केन्द्रक में पाया जाने वाला अल्पघटक लव (Fundamental Particle) कहा जाने लगा और तब से अब तक इसके बारे में ज्ञान की वृद्धि होती गयी और होती जा रही है।

वास्तव में क्लीवाणु आवर्तसारिणी (Periodic table) में सबसे पहला स्थान रखने वाला तत्व है, परन्तु जैसा आगे चलकर ज्ञात होगा, अपने गुणों की बिलकुल विचित्रता के कारण, और तत्वों से कुछ भी समानता प्रदर्शित न करने के कारण साधारण रसायनिक इसे तत्व मान कर आवर्तसारिणी में स्थान देने में स्वाभाविक हिचकिचाहट का अनुभव करेगा। आवर्तसारिणी में तत्वों को उनके केन्द्रक स्थित विद्युत आवेशी की मात्रा के क्रम से स्थान दिया जाता है, रासायनिक के लिये सबसे कम आवेश के केन्द्रक वाला तत्व हाइड्रोजन है जिसके केन्द्रक (जो कि साधारण हाइड्रोजन में केवल एक प्राणु होता है) में इकाई धनावेश रहता है। पर उसका यह विचार गलत है कि इकाई आवेश से कम आवेश वाला कोई तत्व नहीं होगा। अतः सारिणी में इस तत्व का पहला स्थान सर्वथा न्यायसंगत है। अब हमारे नूट्रिनियम तत्व का सारिणी में पहला स्थान होना चाहिये क्योंकि इसका केन्द्रक (जो कि यह स्वयं है) अनाविष्ट होता है अर्थात उस पर शून्य आवेश होता है।

पर इस शून्य आवेश के कारण ही न्यूट्रान इतना विचित्र बन गया है। क्लीब होने के कारण कोई भी विद्युदणु इसके चारों ओर चक्कर नहीं लगायेगा, ठीक उसी प्रकार जैसे किसी निर्धन नंगे भिखारी के पाँवों तले कोई धनलोलुप आदमी सिर पटकते नहीं देखा जाता है, अब पदार्थ के सभी साधारण गुण उसके अणु के चारों ओर के इस विद्युदणुओं के आवरण पर ही निभर रहते हैं, यही विद्युदणु उस अणु अतः पदार्थ के रंग, स्वरूप, कठोरता शक्ति, घुलनशीलता क्रियाशीलता, चुम्बकत्व, परिचालकता आदि विभिन्न गुणों का निर्धारण करते हैं। विद्युदणुओं से विरहित क्लीवाणु में इन सभी गुणों का स्वभावतः ही अभाव होगा। क्लीवाणु के पास केवल हृदय ही हृदय है। विद्युदणुओं के वह हाथ पाँव उसके पास नहीं। उसका व्यवहार भी हार्दिक ही होता है, जब वह किसी तत्व से मिलता है तो उसके हृदय से ही जा मिलता है जबकि हमारे साधारण रासायनिक तत्वों का पारस्परिक संयोग हाथ मिलाने तक ही सीमित रहता है। इनका यह हाथ मिलावा सम्बन्ध परिस्थितियों की तनिक अननुकूलता से ही टूट जाता है। परन्तु हमारा क्लीवाणु तो हृदय परिवर्तन करके ही छोड़ता है, सच्चा हृदय परिवर्तन सदा स्थायी ही होता है जिस पर साधारण परिस्थितियाँ (दबाव व तापक्रम) कोई नियन्त्रण नहीं रखते।

प्राप्ति

उद्जन के साधारण अणु को छोड़कर प्रत्येक तत्व के अणु के केन्द्रक में क्लीवाणु विद्यमान हैं, हमारे पाँवों तलें की मिट्टी में शरीर के अंग-प्रत्यंग में भोजन में, वस्त्रों में, सर्वत्र और सर्वदा क्लीवाणु विद्यमान हैं, परन्तु कैदी के रूप में, केन्द्रक की कैद में पड़े हुए इस कैदी के भार के अतिरिक्त किसी भी गुण को हम नहीं जान पाते। कारागार की सुदृढ़ भित्तियों के अन्दर उसके कारनामों से अब तक हम पूर्ण परिचित नहीं हैं। इन क्लीवाणुओं को इस कारा से उन्मुक्त करने के लिये महान साधनों और शक्ति की आवश्यकता होती है, यही कारण है कि अमेरिका जैसे कुबेर-राष्ट्र ही बड़े पैमाने पर इस क्रिया को सम्पन्न करने में सफल हुए हैं। कारा मुक्त क्लीवाणु फिर तो अल्लादीन का चिराग है, और है अमूल्य पारस पत्थर, विनाशकारी एटम बम की जड़ में यही है, तत्वान्तरण का एक सुलभ साधन भी यही है।

वैसे तो प्रकृति की गोद में, भूमि की गहनतम गहराइयों में, आकाश की ऊँची उड़ान में, स्वयं हमारे शरीर में लगभग बोथे और बेकर के ढंग के प्रयोग घटित होते रहते हैं, रेडियमधर्मी तत्वों से निकली हुई अल्फाकिरणें निकटवर्ती प्रचुर मात्रा में

पाये जाने वाले तत्व सिलीकन और मैग्नीसियम से टकरा कर क्लीवाणुओं को उत्पन्न करती है। प्रकृति में क्लीवाणुओं का सबसे बड़ा उद्गम स्थान धरातल से छः मील ऊपर आकाश में वायुमण्डल के ऊपरी स्तर पर है। वहाँ पर ब्रह्मांड रश्मि की वेगवान वर्षा हर समय वायुमंडल के अणुओं को प्रकम्पित किये रहती है। ब्रह्मांड रश्मि के लवों की इस दहला देने वाली सशक्त मार से अणुओं के केन्द्रक विखंडित हो जाते हैं और इस क्रिया में अन्य लवों के साथ-साथ क्लीवाणु भी निःसृत होते हैं, यह क्लीवाणु इतने वेगवान होते हैं कि मनुष्य की प्रयोगशाला में बनाये जाने वाले वेगवान क्लीवाणुओं की अपेक्षा ये अधिक शक्ति धारण किये रहते हैं।

क्लीवाणुओं का उत्पादन

क्लीवाणुओं के उत्पादन के माने हैं अणु केन्द्रक की कैद से स्वतंत्र करना, जैसा कि हम लेख के अन्त में उल्लेख करेंगे, क्लीवाणु केन्द्रक के अन्य प्राणुओं और क्लीवाणुओं से शक्ति-शाली बंधनों से बंधा रहता है। इन बंधनों को तोड़कर क्लीवाणुओं को स्वतंत्र करने के लिये भी अपेक्षाकृत शक्तिशाली साधनो की आवश्यकता होगी। इनके उत्पादन की मुख्य विधियाँ यह हैं—

(१) बोथे और बेकर द्वारा प्रयुक्त विधि क्लीवाणुओं के उत्पादन की यह सब से पुरातन विधि हैं। इसके अनुसार रेडियमधर्मी तत्वों से निःसृत अल्फा किरणों की सहायता से हलके तत्व के केन्द्रक पर प्रहार किया जाता है। क्लीवाणु प्राप्त करने की यह क्रिया हल्के तत्वों के साथ ही सम्भव है।

(२) किसी केन्द्रक में स्थित क्लीवाणुओं को हम गामा किरणों की सहायता से भी स्वतंत्र कर सकते हैं, परन्तु यह आवश्यक है कि गामा किरण की शक्ति, क्लीवाणु को केन्द्रक में बांधने वाली शक्तियों से अधिक हो, आप दो रस्सी से बंधे हुए गोलों को तभी खींच कर अलग कर सकते हैं जब आप द्वारा लगाया हुआ बल रस्सी की बंधन शक्ति से अधिक हो जाय और रस्सी टूट जाय। अलग-अलग तत्वों के केन्द्रकों से क्लीवाणुओं को प्राप्त करने के लिये अलग-अलग शक्ति की गामा किरणों की आवश्यकता होती है, ड्यूटीरियम (द्वित्ताणु) और बेरीलियम के लिये यह आवश्यक बल अपेक्षाकृत कम होता है।

इस साधन के द्वारा, गामा किरणों की शक्ति को नियंत्रित करके हम किसी निश्चित शक्ति के क्लीवाणु-पुंज को प्राप्त कर सकते हैं, उसी प्रकार जैसे किसी खेल का खिलाड़ी अपनी 'किक' की शक्ति को घटा बढ़ा कर गेंद की चाल को नियंत्रित रखता है। इस प्रकार प्राप्त हुए एक सी शक्ति वाले इन लवों का समूह, क्लीवाणु के सम्बन्ध में कई प्रयोगों में प्रयुक्त होता है।

(३) हल्के और मध्यम भार वाले तत्वों पर प्राणुओं के गोलक्षेप (Bombardment) से भी क्लीवाणु प्राप्त होते है। लीथियम नामक पदार्थ के अणुओं पर प्राणुओं के गोलक्षेप से बेरीलियम का अणु और क्लीवाणु प्राप्त होता है। गोलक्षेपित प्राणु की शक्ति को घटा बढ़ा कर हम प्राप्त क्लीवाणु की शक्ति भी घटा बढ़ा सकते हैं।

(४) यह इन सब उपरोक्त साधनों की अपेक्षा अधिक प्रयुक्त होने वाला साधन है। साइक्लोट्रान (द्वित्ताणुत्वर) की सहायता से प्राप्त वेगवान ड्यूटिरियम के केन्द्रक (ड्यूटेरोनों) को वर्फ के रूप में परिवर्तित गुरु जल (Heavy water) पर गोल क्षेपित किया जाता है। इस क्रिया के फल स्वरूप एक सेकण्ड में लगभग १०⁹ क्लीवाणु प्राप्त होते हैं। साइक्लोट्रोन की सहायता से ड्यूटेरोनों में अपार गमता आ जाती है।

क्लीवाणु का भार तथा आवेश

उपरोक्त विवरण से पाठक के लिये यह स्पष्ट हो गया होगा कि क्लीवाणु में कुछ भी विद्युतावेश नहीं होता। इसके परिणाम-स्वरूप पदार्थ के विद्युदणुओं का कुछ भी प्रभाव इन पर नहीं पड़ता क्योंकि ये विद्युदणु आविष्ट लवों पर ही अपना प्रभाव दिखाते

हैं। क्लीवाणु केवल केन्द्रक से टक्कर खाकर ही मन्द हो सकते हैं। चूँकि पदार्थ में उसका केन्द्रक बहुत कम स्थान घेरे रहता है और अधिकतर स्थान में तो विद्युदणुओं का वातावरण ही वर्तमान रहता है। ३ × १०⁹ से० मी० प्रति सेकिण्ड की चाल से चलने वाला क्लीवाणु हवा में कहीं तीन चार सौ मीटर चलने के बाद एक केन्द्रक से टकरायेगा, इस प्रकार कई मील की यात्रा के बाद यह क्लीवाणु रुक पायेंगे। एक लव जो कि अति सूक्ष्म है द्वारा इतनी बड़ी दूरी का तय किया जाना बड़ा ही आश्चर्योत्पादक है। इस दूरी की महानता का अनुमान आप इससे कर सकते हैं कि इसी गति से बढ़ते हुए प्राणु हवा में कुछ फिट चलकर गतिहीन हो जाते हैं। इन प्राणुओं का धनावेश पदार्थ के ऋणाविष्ट विद्युदणुओं के जाल से होकर इनका निकलना बड़ा ही दूभर कर देता है।

क्लीवाणु का भार प्राणु के भार के लगभग बराबर ही है। इस तथ्य का पता सर्वप्रथम चैडविक ने ही लगाया। उन्होंने पता लगाया कि जब एक प्राणु (जो स्वयं डाइड्रोजन का केन्द्रक है) और क्लीवाणु टकराते हैं तो इस टक्कर के बाद उनकी गति की प्रबलता और दिशा को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि दो बराबर भार वाले लगभग एक से अणु टकरा रहे हैं, इन लवों की टकराने की यह क्रिया मोटे तौर पर दो एक सी ही बिलियर्ड के बौलों (गेंदों) के टकराने के समान होती है। इसके भी बाद कुछ अन्य प्रामाणिक और विश्वसनीय विधियों से किये गये प्रयोगों के आधार पर ज्ञात हुआ है कि क्लीवाणु, प्राणु की अपेक्षा कुछ भारी होता है। परन्तु भार का यह अन्तर हमारी मोटी दृष्टि में नगण्य है और साधारणतः हम यह कह सकते हैं कि क्लीवाणु, प्राणु के बराबर ही भारी होता है।

क्लीवाणु की रेडियम धर्मिता

क्लीवाणु के साथ केवल यही बात नहीं कि वह आवेश रहित है, इससे अधिक कौतूहल पैदा करने वाली बात यह है कि यह क्षण भंगुर भी है, अपनी रेडियमधर्मिता के कारण यह शीघ्र ही चोला बदल कर देता है। आप एक क्लीवाणु समूह की कल्पना कीजिये, यदि अन्य साधनों से इनकी संख्या में कोई अन्तर न आ रहा हो तो आप पायेंगे कि केवल इस रेडियमधर्मिता के कारण ही लगभग पन्द्रह मिनट में समूह के आधे क्लीवाणु अपना चोला बदल कर देते हैं। इसको हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि क्लीवाणु का अर्धायु काल पन्द्रह मिनट है। क्लीवाणु के इस स्वेच्छापूर्ण चोला बदलने की क्रिया में, जिसके सम्पन्न होने में मनुष्य अपना कोई भी नियंत्रण नहीं रख सकता, एक क्लीवाणु, एक प्राणु तथा एक विद्युदणु में बदल जाता है, इस प्रकार की रेडियम-धर्मी क्रियाओं को जिनमें विद्युदणु का सृजन होता है बीटा (Beta)—परिवर्तन भी कहते हैं।

इस क्रिया का अध्ययन करने पर एक प्राणु और एक विद्युदणु के अलग-अलग भार को जोड़ने पर योग क्लीवाणु के भार से कुछ कम निकलता है। प्रतीत होता है कुछ पदार्थ नष्ट हो गया है। पदार्थ के अविनाशी होने पर विश्वास करने वाले वैज्ञानिकों की इस समस्या का हल पहले से ही तैयार था और इस समाधान को प्रस्तुत करने वाले थे इस युग के अपरिमेय मेधावी जर्मन वैज्ञानिक अलबर्ट आइन्स्टाइन, हिटलर के अत्याचारों से त्रस्त नाजी जर्मनी को इस यहूदी को छोड़ना पड़ा था, आजकल यह अमेरीका में हैं। इन्होंने अपने सापेक्षता सिद्धान्त के बल पर यह दिखा दिया कि, पदार्थ और शक्ति एक दूसरे में परिवर्तनशील है। अतः हम यह सोच और मान सकते हैं कि क्लीवाणु के टूटने पर, प्राणु और विद्युदणु से अधिक बचा हुआ पदार्थ शक्ति के रूप में बदल जाता है, यह शक्ति प्राणु तथा विद्युदणु में बँट जाती है, विद्युदणु हल्का होने के कारण प्राणु की अपेक्षा बहुत बड़े वेग से अग्रसर होता है और यही वेगवान विद्युदणु बीटा-किरण कहलाता है।

इस परिवर्तन में प्राप्त शक्ति का ठीक-ठीक अंकन

करने पर वैज्ञानिकों को अनुभव हुआ कि अब भी आइन्स्टाइन के सिद्धान्त के अनुकूल शक्ति हमें प्राप्त नहीं होती, मालूम पड़ता है कुछ आवेग लुप्त हो गया हो, परन्तु यह कल्पना विज्ञान के प्रतिष्ठित नियमों के विरुद्ध है, यदि आपकी जेब में से सदा कुछ रुपया कम होता ही रहता है और आपकी कई सावधानियाँ और कठोर निगरानी भी व्यर्थ ही सिद्ध हो रही हों, तो आप यही अनुमान लगायेंगे कि कोई कुशल चोर आपके पीछे पड़ा हुआ है, इसी प्रकार की कुछ क्रिया इस उपरोक्त बीटा-परिवर्तन में हो रही थी, इस तथा-कथित विभेद ने वैज्ञानिकों की नींद हराम कर दी, इस विभेद के भेद को डाक्टर पौली ने समझा, पौली महोदय ने एक नये लव की कल्पना की पौली की यह वैज्ञानिक-कल्पना, कवि-कल्पना से भी अधिक रहस्यमय थी। उन्होंने कहा कि इस लव में न तो कोई आवेश होना चाहिये और न कोई भार, इस अनोखे लव का नामकरण उन्होंने किया "(Neutrino" (न्यूट्रिनो), यह ही वह चोर था जो बीटा परिवर्तन में बची खुची शक्ति (वास्तव में गमता) को अपने साथ ले जाता है, भार और आवेश दोनों से रहित होने के कारण करोड़ों मील विस्तार वाली लोहे की दीवालों को यह उसी आसानी से पार कर जायगा जैसे आप और हम हवा में से होकर, वास्तव में तो इससे भी अधिक सुगमता से। इस चोर के छोड़े हुए कुछ चिन्हों को देख और समझ कर वैज्ञानिक इसकी कल्पना मात्र कर सकते हैं, उसे पकड़ कर कैद करना नितान्त असम्भव है।

क्लीवाणु का पदार्थों पर भौतिक प्रभाव—पदार्थ से होकर जाता हुआ क्लीवाणु अन्य गम्भीर परिवर्तनों के अतिरिक्त साधारण भौतिक परिवर्तन भी करता है इनमें से कुछ का उल्लेख हम यहाँ पर करेंगे।

क्लीवाणु बहुत थोड़ी संख्या में पदार्थ के अणुओं को अयनित भी कर सकता है। यह क्रिया इस प्रकार होती है। पदार्थ के अणुओं के बीच से होकर जाता हुआ क्लीवाणु सम्भवतया किसी न किसी अणु के केन्द्रक से टकरायेगा, इस टक्कर से क्लीवाणु तो किसी और दिशा में मुड़ पड़ेगा और धक्के के कारण केन्द्रक की चाल अपनी साधारण चाल से बढ़ घट जायेगी। जब यह केन्द्रक तेजी के साथ भागता है तो अपने साथी विद्युदणुओं में से कई एक को तो पीछे ही छोड़ देता है। जैसे किसी मेले की धक्का-मुक्की में हम अपने साथी का हाथ पकड़े हुये होने पर भी कभी-कभी किसी जोर के धक्के के कारण हाथों के छूट जाने के कारण उससे बिछुड़ जाते हैं। कई जनों के गिरोह में तो बिछुड़ने की यह संभावना और भी अधिक रहती है। इन विद्युदणुओं के पीछे छूट जाने का फल यह होता है कि अणु धन-आविष्ठ हो जाता है जिसे हम अयनन भी कहते हैं। चूँकि क्लीवाणु और केन्द्रक की मुठभेड़, प्रथम तो वैसे ही कम होती है और जब होती भी है तो यह अयनन-क्रिया बहुत कम मुठभेड़ों में होती है क्योंकि क्लीवाणु पदार्थ में अयनन की अपेक्षा अति गम्भीर परिवर्तन लाने में सर्वदा सफल सिद्ध होता है।

इसी प्रकार क्लीवाणु पदार्थ के लवों में अणुओं को अपने निश्चित स्थानों पर से हटा देता है। बहुत देर तक पदार्थ पर क्लीवाणु वर्षाने के बाद पदार्थ की ताप और विद्युत परिचालन शक्ति में भी अन्तर आ जाता है। क्लीवाणु-वर्षा के कारण कार्बनिक पदार्थ विच्छेदित हो जाते हैं क्योंकि व्यूहाणु के अणुओं के बीच के बन्धन इस वर्षा के वेग में आसानी से टूट जाते हैं।

खनिज परीक्षण

श्रीशचंद्र पंत, एम० एस० सी० सोइल लेबोरेटरी, बहादराबाद, सहारनपुर

विज्ञान की ही शाखा में खनिज एक महत्वपूर्ण स्थान रहते हैं। यदि पृथ्वी के गर्भ में खनिज न मिलते तो सम्भवतः इस पर कोई जीव जन्तु या वनस्पति भी न होती। किसी देश की औद्योगिक उन्नति उस देश में उपलब्ध खनिजों पर ही निर्भर होती है। आज संसार भर के मुल्क इसी प्रयत्न में हैं कि इनके देश में खनिजों की अधिकतम मात्रा में खोज हो और वही मुल्क समृद्धिशाली भी माना जाता है जहाँ अधिक से अधिक खनिज मिलते हों। यूरेनियम नामक खनिज ने तो, जिसने एटम बम को जन्म दिया, एक क्रांति सी मचा दी है। और प्रत्येक मुल्क में बड़े जोरों से इसकी खोज की जा रही है।

खनिजों की इतनी उपयोगिता होने पर भी बहुत कम लोग उनकी तरफ ध्यान देते हैं और उनकी पहचान करने में सफल होते हैं। बहुधा एक अमूल्य खनिज मनुष्य की अज्ञानता के कारण अपना अस्तित्व ही खो बैठते हैं।

यहाँ पर यह बताना आवश्यक है कि खनिज और शिला (Rock) में क्या अंतर है क्योंकि अक्सर लोगों का यह विश्वास होता है कि भूमि में पड़ा हुआ कोई भी पाषाण खनिज ही है।

खनिज समंगीय (Homogenious) या एकरस तथा विशेष रसायनिक और परमाणु संगठन वाले होते हैं। और इसके विपरीत शिलाओं का कोई विशेष रसायनिक अथवा परमाणु संगठन नहीं होता है और न ये समंगीय ही होती हैं। क्योंकि शिला कई खनिजों के सम्मिश्रण से बनी होती हैं। जैसे-ग्रेनाइट (Granite) नामक शिला में, स्फटिक (Quartz), अभ्रक (Mica) और फेलसपार (Felspar) ये तीन खनिज पाये जाते हैं।

खनिजों की परीक्षा करने की निम्न तीन विधियाँ हैं (१) अणुवीक्षण यंत्र द्वारा (२) रासायनिक परीक्षण, तथा (३) वाह्येन्द्रियों द्वारा भौतिक परीक्षण। इस लेख में हम पहली दो विधियों का संक्षिप्त वर्णन कर तीसरी विधि का सविस्तार वर्णन करेंगे।

अणुवीक्षण यंत्र द्वारा परीक्षण अधिक विश्वसनीय होता है। खनिजों को पहचानने के हेतु यह विशेष प्रकार का यंत्र है जिसके द्वारा खनिज के अदृष्ट गुण भी स्पष्ट दृष्टिगोचर हो जाते हैं। सिद्धान्त के रूप में यहाँ पर इतना ही बतलाना पर्याप्त होगा कि विभिन्न खनिजों पर प्रकाश रश्मियों का विभिन्न रूप से प्रभाव पड़ता है और उन प्रभावों को खनिज की पतली पर्त बना कर इस यन्त्र द्वारा देख लिया जाता है।

रसायनिक परीक्षण में हम देखते हैं कि एक खनिज-विशेष में कितने तत्व अथवा यौगिक मिले हैं। विभिन्न अम्लों क्षारों की उस पर क्या रासायनिक क्रिया होती है। इस प्रकार उसके रासायनिक सूत्र का ज्ञान हो जाता है। धातु कर्म (Metallurgy) एक भिन्न शास्त्र है जिसमें खनिजों से धातुओं का पृथक्करण बतलाया जाता है।

उपर्युक्त दो विधियों के अतिरिक्त खनिजों की एक सरल, सुगम और ऊपरी पहचान भी की जा सकती है, जिसमें इतने उपकरणों की आवश्यकता नहीं पड़ती है। राह चलता हुआ मनुष्य भी इन रीतियों से खनिज की परीक्षा कर सकता है। खनिजों

की बाह्य पहचान के लिए हम नीचे उनके भौतिक गुणों वा निरीक्षण करना बतलाते हैं।

१—रंग, चमक
२—स्वाद, गंध, स्पर्श
३—रूप, काठिन्य
४—आपेक्षिक घनत्व
५—विद्युत और चुम्बक की खनिज पर प्रक्रिया।

रंग (Colour)—यद्यपि खनिजों के रंग परस्पर पर्याप्त विभिन्नता तो नहीं रखते हैं तथापि अन्य भौतिक गुणों का मिलान करते हुए खनिजों के रंग उनकी पहचान में पर्याप्त सहायक सिद्ध होते हैं। विशेषतया धातुओं को जन्म देने वाले खनिजों का रंग एक निश्चित प्रकार का होता है। (यहाँ पर रंग से मतलब काले और श्वेत से भी है)। कभी-कभी खनिज के रंग और उसके चूर्ण के रग में असमानता रहती है, अतः खनिज के चूर्ण का रंग भी उनकी पहचान का एक ढंग है। जैसे काले रंग के Haematite (हिमेटाइट) के चूर्ण का रंग लाल होता है। अतः खनिजों को किसी कड़ी सुफेद पटटी पर घिस कर उनके चूर्णों का रंग देख लेना चाहिए। कुछ खनिज विभिन्न दिशाओं में घुमाने पर कई प्रकार के रंग दिखलाते हैं, जैसे-हीरक।

खनिज की बाह्य सतह से प्रकाश की किरणों का परावर्तन होने के कारण उसमें एक विशेष चमक आ जाती है। धातुओं को जन्म देने वाले खनिजों में धातुओं की सी चमक होती है। और कई एक खनिज लीसे, मोती, काच या रेशम के समान चमक वाले होते हैं।

कुछ खनिज जैसे फ्लोराइट (Flourite), स्फटिक (Quartz) इत्यादि गरम करने पर; या एक दूसरे से रगड़ने पर; विद्युत प्रकाश में रखने पर; अथवा धूप में रखने के बाद स्वयं प्रकाशमान हो जाते हैं। इस क्रिया को (Flourescence) कहते हैं।

स्वाद, गंध स्पर्श—यद्यपि खनिजों को बिना जाने पहचाने कभी भी मुंह में नहीं रखना चाहिए तथापि उनके स्वाद का ज्ञान तो जिह्वा पर रख कर ही मालूम किया जा सका है। खनिज नमकीन, अम्लीय, तिक्त सभी प्रकार के होते हैं। गंधयुक्त थोड़े से ही खनिज हैं, जैसे गंधक, शंखिया आदि, स्पर्श करने पर खनिज मुलायम खुरदरे चिकने सभी प्रकार के होते हैं।

रूप या आकार—पारद और खनिज तेलों के अतिरिक्त प्रायः सभी खनिज ठोस अवस्था में पाये जाते हैं। ठोस अवस्था में भी कई प्रकार हैं।

मणिभीय—(Crystallized) यद्यपि प्रत्येक खनिज का अपना एक निश्चित रसायनिक संगठन होता है तथापि कभी-कभी दो या दो से अधिक खनिजों का समान रसायनिक संगठन होते हुए भी आकार प्रकार में असमानता रखते हैं उनके परमाणु-संगगठन में भेद होने के कारण उनका रूप भी भिन्न हो जाता है। वे मणिभीय, अमणिभीय अथवा अन्य किसी आकार के हो सकते हैं। बहुधा खनिज मणिभीय होते हैं। ये मणिभ (Crystal) छोटे या बड़े हो सकते है। सुगठित होने के कारण इनका मूल्य भी बढ़ जाता है। जिस क्रिया से खनिज मणिभमय होते हैं उसे मणिभीकरण (Crystallization) कहते हैं। मणिभ-ज्ञान (Crystaleograpy) का खनिजशास्त्र में बहुत महत्व है और मणिभवेत्ता (Crystallographer) केवल मणिभों का निरीक्षण कर खनिज को पहचानने में समर्थ हो जाते हैं। यह जाना गया है कि मणिभीकरण द्वारा कुछ निश्चित आकार के ही मणिभों की उत्पत्ति होती है। इन मणिभों के पार्श्वों (Faces) की संख्या, परस्पर संयोजन इत्यादि एक निश्चित रूप से हुआ रहता है। अतः किसी खनिज के मणिभ छोटे हों या बड़े उनके पार्श्व समान दशा में सम्बद्ध होंगे। मणिभ सवर्ण होने पर अधिक मूल्यवान माने जाते हैं। जो खनिज मणिभीय न हों उन्हें अमणिभीय (Amorphous) कहते हैं।

उपरोक्त आकारों के अतिरिक्त खनिजों के अन्य रूप भी हो सकते हैं जिनका मणिभ से कोई सम्बन्ध न हो, जैसे—सूच्याकार (नैट्रोलाइट Natrolite) रेशेदार (एसबेस्टस Asbestos) कणमय (कैलसाइट Calcite, क्रोमाइट Chromite), वृक्काकार (हिमेटाइट Hematite), ग्रंथियुक्त (फ्लिंट Flint) केशिकाकार (पाइराइटीज Pyrites) इत्यादि ।

काठिन्य—कोई खनिज कितना कड़ा या कठोर है उसे खनिज का काठिन्य (Hardness) कहते हैं। खनिजों के काठिन्य में परस्पर बहुत अंतर रहता है। अतः खजिन की काठिन्य परीक्षा उसकी पहचान में बड़ी सहायक होती है। काठिन्य माप करने के लिए मोहज (Mohs) महोदय ने एक युक्ति निकाली है इसे "मोहज का काठिन्य मापक" (Mohs'scale of Hardness) कहते हैं। उन्होंने १० खनिजों की कठोरता की परीक्षा कर अपने मापक के आधार मान लिया है। और क्रमशः वे एक इकाई भी प्रदर्शित करते हैं। प्रथम खनिज को, सब से अधिक कोमल या न्यूनतम मात्रा में कठोर होने के कारण, पहला स्थान दिया गया है। इस खनिज के तुल्य जिन खनिजों की कठोरता हो उनका काठिन्य १ माना जाता है। दूसरा खनिज, पहले से अधिक किन्तु तीसरे से कम कठोर है अतः इसका काठिन्य २; और तीसरे का ३; चौथे का ४, काठिन्य माना गया है। अंतिम खनिज अधिकतम कठोर होने के कारण १० वाँ स्थान रखता है। मोहज महोदय के काठिन्य मापक में निम्न खनिज क्रमशः १ से १० तक काठिन्य बतलाते हैं।

१. तालक (Talc)
२. जल चूर्णशुल्विज (Gypsum)
३. चूर्णिज (Calcite)
४. फ्लोरस्पार (Flourspar)
५. एपेटाइट (Apatite)
६. ऋजुदलिज (Orthoclase)
७. स्फटिक (Quartz)
८. मध्यरक्तातिपीत (Topaz)
९. कुरुविन्द (Corundum)
१०. हीरक (Diamond)

किसी खनिज की काठिन्य माप करने की विधि इस प्रकार है। उदाहरणार्थ हमें बैडूर्य (Beryl) का काठिन्य ज्ञात करना है। अब हम मोहज-मापक के प्रथम खनिज तालक से बैडूर्य को खुरचते हैं और देखते हैं कि बैडूर्य स्वयं न खुरचा जाकर तालक को स्वयं सुगमता से खुरच लेता है। अतः बैडूर्य का काठिन्य १ से अधिक समझना चाहिए। इसी प्रकार हम क्रमशः दूसरे, तीसरे से बैडूर्य को खुरचकर उसके तुलनात्मक काठिन्य का अनुमान लगा सकते हैं। सातवाँ खनिज स्फटिक बैडूर्य द्वारा कुछ कठिनाई द्वारा किन्तु निश्चय ही खुरच दिया जाता है किन्तु आठवें से बैडूर्य स्वयं खुरच जाता है। अतः बैडूर्य का काठिन्य ७ और ८ के बीच (७·५) माना जायगा। समान खनिजों का काठिन्य समान होता है। नीचे काठिन्य माप की सरलतर युक्तियाँ बतलाई गई हैं।

काठिन्य	*खुरचने के साधन*
१—२	खनिज नाखून से खुरचे जा सकते हैं।
२½—३	नाखून से नहीं पर ताँबे से खुरचे जा सकते हैं
३½—४½	ताँबे „ „ „ लोहे „ „ „ „ „
५—५½	काँच के टुकड़े से „ „ „ „ „
६—६½	रेती से खुरचना आसान है।
७—१०	काँच को खुरच देते हैं किन्तु रेती से नहीं खुरचे जा सकते हैं।

कुछ खनिजों के काठिन्य नीचे दिए जाते हैं।

काठिन्य	खनिज
१	तालक, ओकर (Ochre)
२	मस्कोवाइट (Muscovite), क्लोराइट (Chlorite)
३	कैलसाइट, बौक्साइट (Bauxite)
४	क्लोराइट, मैगनैसाइट (Magnesite)
५	काइनाट (Kynite), स्मिथसोनाइट (Smithsonite)
६	औलीवीन (Olivine) सिलिमेनाइट (Sillimanite)

७—>स्टौरोलाइट (Staurolite) टूर्मैलीन (Tourmaline)

८—>टोपाज (Topaz) स्पिन्यल (Spinel)

९—>(Corundum) कुरुविन्द, रूबी (Ruby) शनिप्रिय

१०—>हीरक (Diamond)

आपेक्षिक घनत्व—किसी खनिज का आपेक्षिक घनत्व वह अनुपात है जो उसके भार तथा उसके द्वारा हटाये गये पानी के भार में होता है। यदि किसी खनिज का हवा में भार 'अ' और जल में भार 'ब' हो तो उसका आपेक्षिक घनत्व $\frac{अ}{अ - ब}$ के बराबर होगा। हर खनिज का एक निश्चित आपेक्षिक घनत्व होता है। इसको मालूम करने के कई साधन हैं। किन्तु कुछ अनुभव तथा अभ्यास के बाद खनिज को हथेली में रखकर ही उसके आपेक्षिक घनत्व का मोटे तौर से अनुमान लगाया जा सकता है। नीचे कुछ खनिजों के आ० घ० दिए गये हैं, स्फटिक (२·६५), वैडूर्य (२·६९), गार्नेट (३·१५), टोपाज (३·५३), कुरुविन्द (४·०३), लौह (६·५५), ताम्र (८·८५), रजत (१०·६०), पारद (१३·६०)।

चुम्बकत्व—कई एक खनिज साधारण या विद्युत् चुम्बक की छड़ से न्यूनाधिक मात्रा में आकर्षित हो जाते हैं। यह क्रिया बहुधा खनिजों को उनके अयस्कों (Ores) से पृथक् करने में प्रयोग की जाती है। मैगनेटाइट (Magnetite) लोहे का अयस्क होने के कारण अधिक चुम्बकशील होता है। सीडराइट (Siderite), क्रोमाइट (Chromite) हिमेटाइट (Hematite) इत्यादि कम मात्रा में चुम्बकशील होते हैं।

रश्मिशाक्तिकता—(Radioactivity)—कतिपय खनिज ऐसे गुण रखते हैं कि उनसे सदैव अविरल गति से कुछ ऐसी रश्मियों का प्रादुर्भाव होता रहता है जो बहुत शक्तिशाली होती हैं। ऐसे खनिजों का परमाणु भार बहुत अधिक होता है। (Pitch-blende) पिचब्लैंड, (Monazite) मौनेजाइट, इत्यादि रश्मिशाक्तिक खनिज हैं। इनसे रेडियम, यूरेनियम जैसे तत्वों की उत्पत्ति हुई है। वर्तमान युग में इन रश्मिशाक्तिक तत्वों की महत्ता बहुत बढ़ गई है। देश की शक्ति इन्हीं खनिजों पर निर्भर रहती है। परमाणु बम इन्हीं खनिजों की दुखद देन है। पर शांतिप्रिय देश ऐसे खनिजों की अपार शक्ति को मानवता के हितार्थ प्रयोग करने पर लगे हुए हैं। भविष्य में बिजली का स्थान यही खनिज ले लेंगे, इन खनिजों की पहचान के लिए विशेष यंत्र बने हुए हैं।

उपरोक्त सभी भौतिक गुणों का परीक्षण कर किसी अज्ञात खनिज का ठीक पता लगाया जा सकता है आज तक प्राप्त सभी खनिजों के उपरोक्त गुण जैसे रंग, रूप, काठिन्य तथा आ० घ० का पता लगा लिया गया है। किसी खनिज के गुणों का मिलान, प्राप्त खनिजों के गुणों से करते हुए उसकी पहचान सरलता से हो सकती है। अतः किसी भी मनुष्य को खनिजों को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। खनिज परीक्षण पर खनिजवेत्ताओं का ही एकाधिकार न समझना चाहिए। इस असीम धरती पर हर जगह उनकी पहुँच नहीं हो सकती है। कौन जाने कहाँ पर किस खनिज का प्राचुर्य हो।

धरती के गर्भ में

प्राकृतिक सम्पदा का पता लगाने में भारत को नई विधियों से सहायता

भारत के भूगर्भ पर्यवेक्षण-विभाग (ज्यौलोजिकल सर्वे औव् इंडिया) का प्रधान कार्यालय कलकत्ता में है। इसके सदस्यों ने पता लगाया है कि राजस्थान के अलवर जिले में भूमि के नीचे गहराई में बढ़िया किस्म का तांबा विद्यमान है। हालांकि भूगर्भशास्त्रियों ने अपनी आंखों से कच्ची धातु नहीं देखी है, फिर भी इस सम्बन्ध में उनका निश्चय उतना ही पक्का है जितना खान में खुदाई करने के बाद किसी का हो सकता था।

भूमिगत खनिजों का पता लगाने के लिए किसी विस्तृत क्षेत्र में पायी जाने वाली चट्टानों, मिट्टी, तलछट, वनस्पतियों तथा जल के नमूनों को लेकर उनका रासायनिक विधियों से विश्लेषण किया जाता है। इन अनुसंधान के परिणामों से एक ऐसा वर्गीकरण किया जा सकता है जिसकी सहायता से धरातल से बहुत नीचे खनिजों के स्थान का पता लगाया जा सके। यह प्रक्रिया संभव है, क्योंकि भूमि के नीचे फैली हुई खान का कहीं एक जगह सुराग लगने पर समस्त क्षेत्रफल का पता चल सकता है और नये रासायनिक परीक्षणों द्वारा आसानी से इन सांकेतिक तत्वों का पता लगाकर विश्लेषण किया जा सकता है।

इस वर्ष के प्रारम्भ में भारतीय रसायनशास्त्रियों ने नयी प्रक्रिया के सम्बन्ध में प्रथम प्रशिक्षण प्राप्त किया था। अब भूगर्भ पर्यवेक्षण विभाग की प्रयोगशालाएं तांबा, सीसा, जस्ता, संखिया तथा कोबाल्ट का पता लगाने के लिए मिट्टी के बहुत से नमूनों के परीक्षण करने में लगी हुई हैं।

यह कार्यक्रम अमेरिका के भूगर्भ-पर्यवेक्षण विभाग के फ्रेडरिक एन० वार्ड द्वारा गत वसन्त ऋतु में आरम्भ किया गया था। आप भारत-अमेरिकी टैक्निकल कार्यक्रम के अन्तर्गत भारतीय भूगर्भ-पर्यवेक्षण-विभाग में कार्य कर रहे हैं।

श्री वार्ड ने भारत में भूमिगत खनिजों का पता लगाने वाली प्रयोगशाला की स्थापना में सहायता दी है। उन्होंने भारतीय भूगर्भ पर्यवेक्षण विभाग के तीन रसायनशास्त्रियों—प्रह्लाद डी० मलहोत्रा, अमल एन० चौधरी और सुरेश सी० चक्रवर्ती—को खनिजों का पता लगाने के नये तरीकों के सम्बन्ध में प्रशिक्षण भी दिया है। अब ये तीनों वैज्ञानिक इस नवीनतम ज्ञान की सहायता से देश में पाये जाने वाले खनिजों का पता लगाने के लिए दूसरे लोगों को भी तैयार कर रहे हैं।

तांबे सीसे, कोबाल्ट, संखिया, वेनेडियम, टंगस्टन तथा जस्ता का पता लगाने के लिए मिट्टी तथा चट्टानों का अति शीघ्र विश्लेषण करने की प्रक्रिया के सम्बन्ध में इन तीनों भारतीयों को इस नये प्रशिक्षण के अन्तर्गत विशेष रूप से प्रशिक्षण दिया गया है। यह नयी प्रक्रिया अमेरिकी भूगर्भ पर्यवेक्षण विभाग की अन्वेषण शाखा ने मालूम की थी। यह प्रक्रिया सामान्य प्रक्रियाओं से भिन्न है। इस प्रक्रिया में काम जल्दी व अच्छा होने के साथ काम के सस्ते और सरल ढंग से होने का ध्यान रखा गया है, क्योंकि प्रत्येक क्षेत्र में खनिजों का पता लगाने के लिए बहुत से नमूनों का परीक्षण करना आवश्यक होता है।

किसी स्थान में खनिजों का पता लगाने के लिए कम से कम ५०० नमूनों की जांच-पड़ताल करनी पड़ती है और किसी किसी क्षेत्र में तो १२ हजार नमूनों तक की जांच करनी पड़ जाती है।

कलकत्ता की प्रयोगशाला के लिए आवश्यक उपकरण और सामान अमेरिका से आया है।

श्री वार्ड को आशा है कि भारत में भूमिगत खनिजों का पता लगाने का कार्य बहुत उपयोगी सिद्ध होगा।

उन्होंने हाल में अमेरिका लौटने से पूर्व बताया था कि खनिजों का पता लगाने का नया तरीका हाल में मालूम किये गये उन आधुनिकतम साधनों में से एक है, जिनसे खनिजों की खोज करने और उनके निकालने के बीच की दिक्कतों को हल किया गया है। खोज एवं उत्पादन के बीच जितना कम अन्तर होगा उतनी ही तेजी से कोई राष्ट्र आर्थिक दृष्टि से सबल हो सकेगा। खनिजों का पता लगाने का यह नया तरीका भूतत्व सम्बन्धी खोज के समान ही ऐसा साधन है जो खनिज स्रोतों की नई खोजों के लिए उपयोगी है, ताकि खोज तथा उत्पादन के बीच की दिक्कतों को कम किया जा सके।

किसी ज्ञात खान के आसपास आर्थिक महत्व के क्षेत्र का विस्तार करने में भूरासायनिक परीक्षणों द्वारा खनिजों का पता लगाने का यह तरीका भारत के लिए लाभदायक हो सकता है। उदाहरण के तौर पर, किसी खान के छोटे होने पर उसमें अच्छी किस्म का तांबा मिल सकता है। इस प्रक्रिया द्वारा तत्काल, कम खर्च करके, यह मालूम किया जा सकता है कि अच्छी किस्म का तांबा भूमि के नीचे बड़े पैमाने पर मौजूद है या नहीं। इस प्रकार के रासायनिक परीक्षण आर्थिक महत्व के उन क्षेत्रों का पता लगाने के लिए उपयोगी हो सकते हैं जो छोटी-छोटी खानों के आस-पास मिल सकते हैं।

३८-वर्षीय श्री वार्ड का जन्म अलाबामा में हुआ था। वे वाशिंगटन के जौर्ज वाशिंगटन विश्वविद्यालय तथा मेरिलैण्ड के विश्वविद्यालय के स्नातक हैं। वे लगभग ८ वर्षों से रासायनिक परीक्षणों द्वारा खनिजों का पता लगाने के कार्य में जुटे हुए हैं।

इस नयी रासायनिक प्रक्रिया का विकास होने के बाद बहुत सी पुरानी खानों के नये महत्व का पता लगा है अर्थात् यह पता लग सका है कि वे पहले ज्ञात क्षेत्र से कहीं अधिक क्षेत्र में फैली हुई हैं। स्केण्डिनेविया तथा रूस में बहुत सी नई खानों का पता लगाए जाने के समाचार प्राप्त हुए हैं। अमेरिका में एक बहुत बड़ी खान का पता इससे लगा है।

ये तरीके बहुत ही उपयोगी हैं और इसी कारण इन तरीकों के सहारे अमेरिका तथा कनाडा में १० से अधिक खान-कम्पनियों को अपने इलाकों में परीक्षण करने की प्रेरणा हुई है।

अमेरिका के भूगर्भ-पर्यवेक्षण विभाग के स्टाफ में १५ व्यक्ति हैं जो अनुसन्धान द्वारा नई-नई भू-रासायनिक प्रक्रियाएं मालूम करते हैं। डेनवर (कोलोराडो राज्य) तथा बेल्ट्सविल (मेरिलैण्ड) की प्रयोगशालाओं के कर्मचारी लोगों के समक्ष उक्त प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में प्रदर्शन करते हैं। लोग उनसे जब चाहें, इस सम्बन्ध में परामर्श ले सकते हैं।

भूरासायनिक परीक्षणों द्वारा खनिजों का पता लगाने का कार्य अभी परीक्षणावस्था में ही है। ये विधियां उपयोगी मालूम होती हैं, किन्तु इनका अन्धा-धुन्ध प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए। अयोग्य एवं अनुभवहीन व्यक्ति यदि उनको काम में लेंगे तो सम्भव है कि इनका परिणाम कुछ भी न निकले और इससे राष्ट्र के हितों को काफी क्षति भी पहुँचे।

बाल विज्ञान

(गताङ्क से आगे)

—डा० सत्य प्रकाश

भारतीय जहाज—सन् १९२० तक इस देश में जहाजों पर अंग्रेजी कम्पनियों का पूर्ण आधिपत्य था। लार्ड इंचकेप (Inchcape) के तत्त्वावधान में बृटिश इंडिया स्टीम नेविगेशन कम्पनी खूब फली फूली। जे० एन० टाटा ने बहुत प्रयत्न किया कि जहाजों की कोई देशी कम्पनी भी बने पर उनका प्रयास असफल रहा।

सन् १९२० के बाद इस देश में सिंदिया स्टीम नेविगेशन कम्पनी बनी। इसका भी विरोध किया गया, पर इसे बाद में ७५००० टन कार्गो ले जाने का अधिकार मिला। कुछ छोटी छोटी और भारतीय कम्पनियां भी इस सिंदिया कम्पनी में मिल गयीं। जब दूसरा महायुद्ध प्रारम्भ हुआ, तो सरकार ने सभी भारतीय जहाज अपनी अधीनता में ले लिये। इनमें से कई तो शत्रुओं द्वारा युद्ध में नष्ट कर दिये गये, युद्ध की समाप्ति तक भारतीय कम्पनियों के लगभग ६३ स्टीमर थे, जिनका टन भार (tonnage) १३१७४८ था। इसके बाद कुछ और जहाज बने। ये जहाज़ लण्डन, न्यूयार्क और अन्य बन्दरगाहों तक जाते हैं।

सन् १९४९ में सिंदिया स्टीम नेविगेशन कम्पनी ने ४ जहाज और तैयार किये। इसके अतिरिक्त बाम्बे स्टीम नेविगेशन और इंडियन कोआपरेटिव ने चार जहाज और बनाये। इस समय भारतीय जहाजों की संख्या १०५ के लगभग है। भारतीय तट पर ७५ के लगभग बृटिश जहाज भी जाते हैं।

जहाजों की तौल—ज़हाजों की तौल और क्षमता "टनेज" (tonnage) टनेज कई प्रकार के होते हैं जैसा हम आगे बतायेंगे। जहाजों के सम्बन्ध में टन शब्द का भी कई अर्थों में प्रयोग होता है—

(क) १०० घन फुट स्थान को "रजिस्टर टन" (Register ton) कहते हैं।

(ख) जहाज द्वारा समुद्र का १ दीर्घटन पानी विस्थापित (displace) हो (१ दीर्घटन समुद्री पानी ३५ घन फुट हुआ) तो इस इकाई को "डिस्प्लेसमेंट-टन (Displacement ton) कहते हैं।

(ग) ४० घन फुट स्थान को जिसमें कार्गो या माल लादा जा सके। १ फ्रेटटन (freight ton) कहते हैं। जहाजों की माल लादने की क्षमता इस फ्रेटटन में ही व्यक्त की जाती है।

अब कई तरह के टनेज जानना चाहिये—

१. ग्रॉस टनेज (Gross tonnage)—जहाज के भीतर का यह पूर्ण आयतन है (बिना कुछ घटाये हुए)।

२. अंडरडेक टनेज (underdeck tonnage—दूसरे डेक के ऊपर जितना आयतन होना है, उसे ग्रॉसटनेज में से घटा दें, और तब जो आयतन बचे उसे अंडरडेक टनेज कहते हैं।

३. रजिस्टर टनेज या नेट टनेज—(net tonnage) ग्रॉसटनेज में से इंजिन का आयतन, नाविकों के रहने के स्थान का आयतन और इसी प्रकार कुछ और आयतन घटाने के बाद जो आयतन मनुष्यों के रहने या माल लादने के लिये बचता है उसे रजिस्टर टनेज या नेट टनेज कहते हैं।

४. डिसप्लेसमेंट टनेज—जहाज समद्र का कितना पानी विस्थापित करता (displace)—है, उसकी तौल डिसप्लेसमेंट टनेज कहलाती है। युद्ध के जहाजों में इस शब्द का प्रयोग होता है।

जहाज की गति—जहाज की गति "नौट" (knot) के पैमाने से नापी जाती है। जिस यंत्र से जहाज की गति नापी जाती है, उसे लौग (log) कहते हैं। पुराने ढंग के लौग में एक लम्बी डोरी होती थी, जिस पर ४७·३३ फुट के अन्तर पर रंगीन कपड़े की गाँठें बनी होती थीं। जहाज जितनी तेज गति से चलता था, उतनी ही अधिक गांठें (Knot) खुल ही जाती थीं। इन गांठों की गिनती करके जहाज की गति नाप ली जाती थी। २८ सेकंड में जितनी गाठें खुल जायँ, उतने ही मील एक घंटे में जहाज जा रहा है, यह जानना चाहिये।

यह याद रखना चाहिये कि एक समुद्री मील २०२७·३ गज का होता है। इसे नौटिकल मील (Nautical mile) कहते हैं।

आज कल जहाज का वेग नापने के लिये टैफरेल लौग (Taffrail log) नाम का एक यंत्र काम में लाया जाता है। यह देखने में घड़ी के समान होता है, जिसकी सुई यह बता देगी कि जहाज किस गति से चल रहा है। मोटरकार में लगी, घड़ी तुमने देखी होगी, जिसकी सुई से मोटर की स्पीड पता चलती है।

जहाज की रूपरेखा—आजकल अनेक वजनों के लिए जहाज तैयार किये जाते हैं—(१) माल लादने के कार्गोशिप या व्यापारी जहाज, (२) यात्रियों की सुविधा के जहाज (३) सेना या युद्ध के काम के जहाज। कुछ जहाज माल भी लादते हैं, और यात्रियों को भी ले जाते हैं।

ये जहाज बड़े लम्बे चौड़े होते हैं। जहाज के सबसे नीचे वाले नौका की तरह के भाग को "कील" (Keel) कहते हैं। जहाज का यह भाग लोहे की चद्दरों की सहायता से बनाया

जाता है कील पर ही सारे जहाज का बोझ निर्भर है।

आजकल बड़े जहाजों में दोहरी तलहटियों का पेंदा तैयार करते हैं। यह समझिये कि एक नाव के भीतर एक और है। दोनों तलहटियों के बीच का स्थान सामान भरने के काम आता है। जहाज के धड़ को "हल" (Hull) कहते हैं। इसमें कोठरियाँ बनो होती हैं। यह हल अधिकतर पानी के भीतर रहता है, पर कोठरियों में ऐसे दर्वाजे होते हैं, कि इनके भीतर पानी नहीं घुसता।

जहाज के सबसे ऊपर छत पर यात्रियों की सुविधा के लिये "डेक" (Deck) होते हैं। यह लकड़ियों की बनी छत सा होता है। जहाज में यात्रियों के रहने की कोठरियाँ बनी होती हैं, जिन्हें केबिन (Cabin) कहते हैं।

बड़े-बड़े जहाजों पर टेनिस खेलने, नाचने, घूमने-फिरने और भोजनालयों का सुन्दर प्रबन्ध होता है। ये सभी प्रकार के फर्निचर से सुसज्जित रहते हैं।

जहाजों के डेकों के चारों ओर जीवन-नौकायें (Life boats) बंधी होती हैं, जिनका उपयोग खतरे के समय किया जा सकता है। आजकल के जहाजों में बेतार के तार या रेडियो द्वारा सन्देश भेजे जाने का प्रबन्ध भी होता है।

अंतरिक्ष किरणें—(पृष्ठ ७२ का शेषांश)

की आयु का अनुमान भी लगाया जा सकता है, जो कुछ हजार वर्ष की ही प्राचीन है फिर भी आधुनिक काल में यह विधि बहुत ही उपयोगी सिद्ध हो रही है।

रेडियम-धर्मी-परमाणुओं के विघटन से प्राप्त हीलियम गैस की मात्रा के अन्दाज से किसी भी प्राचीन खनिज एवं पृथ्वी की आयु का अनुमान वैज्ञानिक लोग वर्षों से लगाते आये हैं। परन्तु कुछ ही समय हुआ, तब यह ज्ञात हुआ है कि अंतरिक्ष-किरणों के प्रभाव से भी वायु के परमाणु, हीलियम गैस के परमाणुओं में परिवर्तित होते रहते हैं और विविध खनिज पदार्थों द्वारा इन परमाणुओं का शोषण होता रहता है। इसलिये किसी भी खनिज में हीलियम गैस की प्राप्ति दो भिन्न-भिन्न साधनों से—एक तो रेडियम-धर्मी परमाणुओं से, दूसरे अंतरिक्ष किरणों से होती है। अतः किसी भी खनिज की आयु का शुद्ध अनुमान लगाने के लिये यह आवश्यक है कि कुछ हीलियम-परमाणुओं की मात्रा में से अंतरिक्ष किरणों से प्राप्त हीलियम की मात्रा को घटा देना चाहिये। अभी-अभी उपरोक्त संशोधन की दृष्टि में बहुत से खनिजों की आयु का पुनः गणित किया गया है।

वैज्ञानिक क्षेत्र में तो अंतरिक्ष-किरणों का महत्व असीम है। इसलिये हमारा पूर्ण विश्वास है कि जैसे-जैसे हमारा ज्ञान इस विषय में बढ़ता जायगा, वैसे ही ये किरणें अवश्य ही हमारे जीवन सम्बन्धी अनेक समस्याओं को समझने में परम उपकारी सिद्ध होंगी। परन्तु इस प्रकार की समस्त आशाएँ केवल मात्र साधना, संयम एवं कठोर परिश्रम पर ही अवलम्बित हो सकती हैं।

विज्ञान-समाचार

कृत्रिम गर्भाधान द्वारा पशुओं का प्रजनन

भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद ने बंगलोर में एक (केंद्रीय) कृत्रिम गर्भाधान केंद्र स्थापित करने की मंजूरी दी थी। यह केंद्र निकट भविष्य में ही अपना काम शुरू कर देगा।

यह केंद्र मुख्यतः 'जरसी' सांडों का वीर्य प्राप्त करेगा और चुने हुए पहाड़ी क्षेत्रों तथा भारी वर्षा वाले मैदानी इलाकों में, उच्च कोटि के पशु पैदा करने के लिए उस वीर्य का वितरण करेगा। केंद्र में साहीवाल, लाल सिंधी और थारपारकर नस्लों के सांड भी रखे जायंगे और इनके वीर्य का भी वितरण होगा। ये नस्लें पाकिस्तान की हैं, और देश में इन नस्लों के पशुओं की कमी दूर करने के लिए ही, उक्त केंद्र में इन्हें भी रखने की व्यवस्था की गयी है। केंद्र में मुर्रा भैंसे सांड भी रहेंगे।

इस केन्द्र से विभिन्न राज्यों को ऊँची नस्ल के सांडों का वीर्य मुफ्त बांटा जायगा, राज्यों को केवल विमान या रेल द्वारा पहुँचाने का भाड़ा ही देना होगा। राज्यों को किसी भी मात्रा में यह वीर्य प्राप्त हो सकेगा; शर्त यह है कि वे उसका समुचित उपयोग करें। प्रति दिन उन्हें एक दर्जन गायें या भैंसें, गाभिन करने के लिए उपलब्ध होनी चाहियें। जिस क्षेत्र के लिए वीर्य भेजा जायगा, उसमें तीन साल से ऊपर की उम्र के कम से कम ६,००० पशु होने चाहिये और क्षेत्र भी ऐसा होना चाहिये जहां यह वीर्य शीघ्रता के साथ, विमान या रेल से भेजा जा सके।

विदेशी सांड बड़े कीमती होते हैं और उनके पालन-पोषण पर खर्च भी बहुत करना होता है। इसीलिए इस केन्द्र की व्यवस्था की गयी है, ताकि विदेशी सांडों का वीर्य एकत्र करके उसका अधिक से अधिक उपयोग निकटवर्ती क्षेत्रों में, जहाँ २४ घंटे के भीतर यह वीर्य ले जाया जा सकता हो, किया जा सके।

प्रायोगिक कार्य

यह केन्द्र प्रयोग रूप में तीन साल के लिए खोला जा रहा है। इसका सारा खर्च भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद उठायेगी। इसमें चार सांड 'जरसी नस्ल' के रहेंगे और दो-दो सांड उपर्युक्त चारों भारतीय नस्लों के। बंगलोर का जलवायु विदेशी सांडों के बहुत अनुकूल है और देशी सांडों के लिए भी अच्छा है। इसके अलावा, हवाई मार्ग से बंगलोर देश के बहुत से केन्द्रों से सम्बन्धित है। इन्हीं कारणों से यह केन्द्र बंगलोर में खोला गया है।

'परिषद' ने आंध्र, आसाम, बिहार, हिमालय प्रदेश, जम्मू व काश्मीर, मद्रास, मणिपुर, पंजाब और तिरुवांकुर-कोचीन राज्यों में भी उच्च कोटि के दुनस्ले पशु पैदा करने के लिए प्रायोगिक योजनाओं की मंजूरी दी है।

पक्षाघात की रोकथाम के लिए राष्ट्रव्यापी आन्दोलन

यह देखने के लिए कि नयी साल्क वैक्सीन से बच्चे शिशु-पक्षाघात नामक रोग से मुक्त हो सकते हैं या नहीं, अमेरिका में एक राष्ट्रव्यापी आन्दोलन शुरू किया गया है।

यह आन्दोलन २६ अप्रैल से शुरू किया गया है और कई महीनों तक जारी रहेगा। इस दौरान में अमेरिका के सभी भागों में ५ लाख से अधिक बच्चों को टीके लगाये जायेंगे। वर्ष समाप्त होने से पूर्व इस प्रश्न के उत्तर के लिए आंकड़े एकत्र किये जायेंगे कि "क्या यह नयी वैक्सीन बच्चों की पक्षाघात से रक्षा कर सकती है ?"

रेण्डी केर नामक ६ वर्ष के बच्चे को सबसे पहले नयी वैक्सीन का टीका लगाया गया था। यह बच्चा वाशिंगटन से कुछ ही मील की दूरी पर वर्जिनिया फाल्स चर्च नामक गांव में रहता है। टीका-आन्दोलन शुरू होने से कुछ ही दिन पहले उस बच्चे ने अपने स्कूल के अध्यापक से प्रार्थना की थी कि उसे सबसे पहले टीका लगाया जाये। रेण्डी की इच्छा पूर्ति की गयी।

जब टीका लगाने की घड़ी आयी, तब रेण्डी अपने स्कूल के भोजन करने के कमरे में पत्र-प्रतिनिधियों की टोली से घिरा हुआ फिल्म एवं टेलिविजन कैमरों के सामने खड़ा हो गया। जब सब प्रकार की तैयारी हो गई, डा० रिचर्ड मुलवानी ने उसके बायें बाजू में साल्क वैक्सीन का इन्जैक्शन लगाया।

सुई के लगने पर रेण्डी के मुख पर पीड़ा का कोई चिन्ह दिखाई नहीं दिया। वह डाक्टर की ओर मुँह करके हँसता रहा।

उसने कहा—"मुझे तो तनिक भी पता नहीं चला, मुझे तो पेनिसिलिन की सुई जितनी भी पीड़ा नहीं हुई।"

रेण्डी को सुई लगाने के बाद १०० से अधिक बच्चों को वहीं पर सुई लगायी गई। उन्हीं डाक्टरों ने टीके लगाये जिन्होंने आन्दोलन में भाग लेने के लिए अपनी सेवाएँ अर्पित की थीं। संभव है, पक्षाघात के विरुद्ध टीका लगाने का यह आन्दोलन एक ऐतिहासिक घटना का रूप धारण कर ले क्योंकि इसमें सफल होने पर मनुष्य एक प्रमुख घातक बीमारी पर विजय हासिल कर सकेगा।

अमेरिका के सभी भागों में हजारों स्कूलों के बच्चों को इसी प्रकार नयी वैक्सीन के टीके लगाये जा रहे हैं। शिशु-पक्षाघात की रोकथाम करने के राष्ट्रीय प्रतिष्ठान द्वारा यह आन्दोलन चलाया गया है। भूतपूर्व प्रेसिडेन्ट-फ्रेंकलिन डी० रूजवेल्ट के के सुझाव पर इस प्रतिष्ठान की स्थापना की गयी थी। वे स्वयं पक्षाघात के शिकार हुए थे।

यह वैक्सीन पिटसबर्ग विश्वविद्यालय के 'स्कूल औव् मेडिसिन' की विषाणु अनुसन्धान-शाला के डा० जोनास ई० साल्क द्वारा तैयार की गयी थी। इस वैक्सीन में पक्षाघात के लाखों मरे हुए विषाणु मौजूद होते हैं। मरे हुए होने के कारण उनसे पक्षाघात रोग नहीं हो सकता, किन्तु मरे हुए होने पर भी उनमें रोग का मुकाबला करने वाले प्राकृतिक जीवाणुओं को सबल बनाने या पैदा करने की क्षमता होती है। इस वैक्सीन का टीका लगाने पर रोगनिरोधक जीवाणु सबल हो जाते हैं। प्रश्न यह है कि क्या उपरोक्त वैक्सीन ग्रीष्म ऋतु में होने वाले शिशु-पक्षाघात से बच्चों की रक्षा करने के लिए पर्याप्त रोगनाशक कीटाणु पैदा कर सकती है ?

प्रारम्भिक परीक्षणों के सम्बन्ध में एकत्र किये गये आंकड़ों से प्रकट होता है कि यह वैक्सीन सफल सिद्ध होगी। किन्तु इस सम्बन्ध में किसी निश्चित निर्णय पर पहुँचने का एकमात्र उपाय यह है कि कि काफी संख्या में बच्चों को इस वैक्सीन का टीका लगा कर उसके परिणामों की तुलना उसने ही उन बच्चों से की जाये जिन्हें टीका न लगाया गया हो।

डा० साल्क को आशा है कि यह वैक्सीन जिस बच्चे को लगाई जायेगी उसे जीवन भर पक्षाघात नहीं होगा। यदि उनका विचार ठीक सिद्ध हुआ तो इसका अर्थ होगा कि अगले ० वर्षों के भीतर टीके लगाकर पक्षाघात रोग पर भी चेचक, टाइफाइड आदि घातक संक्रामक रोगों के समान विजय प्राप्त की जा सकेगी।

भूसे से सभी प्रकार का कागज बनाया जायेगा

अमेरिकी कृषि विभाग के वैज्ञानिकों ने कई वर्षों तक निरन्तर अनुसन्धान करने के बाद भूसे (धान का छिलका, पुआल इत्यादि) से कागज बनाने की एक नवीन वैज्ञानिक विधि की खोज की है। इस नई विधि का नाम 'मेक्नोकेमिकल प्रोसेस' है। वैज्ञानिकों ने अनुसन्धान द्वारा यह पता लगाया है कि लकड़ी की अपेक्षा भूसे से कहीं अधिक परिमाण में कागज की लुगदी तैयार की जा सकती है। यह भी पता लगा है कि यदि भूसे की बनी लुगदी को लकड़ी से तैयार की गई लुगदी से मिला दिया जाय तो केवल लकड़ी की लुगदी से तैयार होने वाले कागज की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छा कागज तैयार किया जा सकता है। व्यवसाय के क्षेत्र में किये गये परीक्षणों से यह सिद्ध हो चुका है कि भूसे की लुगदी से अच्छी किस्म का पतला कागज, कार्डबोर्ड और अखबारी कागज तैयार किया जा सकता है।

संसार में लुगदी की लकड़ी की बढ़ती हुई कमी को दृष्टि में रखते हुए यह नई खोज बहुत ही महत्वपूर्ण प्रतीत होती है। अमेरिका में द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त लुगदी से बनने वाली वस्तुओं की खपत में ५० प्रतिशत की वृद्धि हो गई है। अमेरिका संसार का सब से बड़ा अन्न-उत्पादक देश भी है। इस प्रकार उसे संसार के अन्य देशों की अपेक्षा लुगदी तैयार करने की सामग्री कहीं अधिक विशाल परिमाण में उपलब्ध हो सकती है।

प्राचीन काल में चीनी सभ्यता के प्रारम्भिक काल में भूसे की लुगदी से कागज तैयार किया जाता था। लेकिन वर्तमान युग में इस नई विधि के आविष्कार के पूर्व तक मुख्यतः लकड़ी की लुगदी से ही कागज तैयार किया जाता था। विशेष रूप से अमेरिका में कागज बनाने के लिए लकड़ी की लुगदी ही प्रयुक्त की जाती है। अमेरिका में लकड़ी की लुगदी की खपत अन्य सभी देशों से अधिक है क्योंकि वहां अखबारों, पुस्तकों तथा अन्य कार्यों में प्रयुक्त होने वाला कागज इसी लुगदी से तैयार किया जाता है। लेकिन विकासोन्मुख राष्ट्रों की कागज सम्बन्धी आवश्यकताओं के कारण संसार में कागज की मांग दिनोंदिन बढ़ती जा रहा है।

जिन वृक्षों से लुगदी की लकड़ी प्राप्त होती है उनके फिर से उगने और लकड़ी तैयार होने में कई वर्ष लग जाते हैं परन्तु भूसा प्रत्येक देश में हर वर्ष काफी परिमाण में प्राप्त किया जा सकता है। अमेरिका के खेतों में प्रतिवर्ष लगभग १० करोड टन भूसा तैयार होता है। इस में से कुछ भूसा जानवरों को खिलाने के काम में आता है तथा बहुत अधिक मात्रा खेत जोतते वक्त भूमि में मिला दी जाती है। लगभग आधा भूसा या तो जला दिया जाता है या बेकार चला जाता है। यदि इससे कागज की लुगदी तैयार की जाये तो देश की कागज सम्बन्धी आवश्यकता अच्छी तरह पूरी हो सकती है तथा कुछ कागज विदेशों को निर्यात करने के लिए भी शेष रह सकता है।

अमेरिकी कृषि विभाग की प्योरिया (इलिनौय) स्थित 'नर्दर्न रिसर्च लेबोरेटरी' ने निम्न नवीन विधियों की खोज की है—

(१) गेहूँ के भूसे से ५० से लेकर ५२ प्रतिशत तक शुद्ध लुगदी तैयार करने सम्बन्धी नवीन वैज्ञानिक विधि।

(२) भूसे से ऐसी लुगदी तैयार करने की वैज्ञानिक विधि जिससे अधिक कड़ा कागज तैयार किया जा सके। यह कागज लकड़ी की लुगदी से तैयार किये जाने वाले कागज से भी अधिक कड़ा होगा।

(३) गेहूँ के भूसे से विद्युत अवरोधक कार्डबोर्ड तैयार करने की सरल और सस्ती विधि। इस प्रकार के कार्डबोर्ड का प्रयोग निर्माण कार्यों में किया जा सकेगा।

(४) भूसे से ऐसा कार्डबोर्ड तयार की वैज्ञानिक विधि जो सन्दूक के ऊपरी भाग पर उगाई जाने वाली अच्छी लकड़ी के स्थान पर मढ़ा जा सके। अनुसन्धान द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि सोहागे का इस्तेमाल करने से भूसे की लुगदी का कागज मौसम के प्रभाव को भी सहार सकेगा।

यह परीक्षणशाला ऐसी सामग्रियों और वस्तुओं के सम्बन्ध में भी खोज कर रही है जो केवल अस्थायी या स्थायी रूप से कम मात्रा में उपलब्ध अन्य कच्ची सामग्री के स्थान पर प्रयुक्त ही न की जा सकें बल्कि उनसे श्रेष्ठ और उत्तम कोटि की भी हों।

अमेरिकी उद्योगों को इन आविष्कारों से विशेष रूप से लाभ पहुँच रहा है। पुरानी सामग्री की कीमत बढ़ने के बावजूद उन बक्सों की क़ीमत घट गई है जिनमें माल भर कर विदेशों को भेजा जाता है। भूसे की लुगदी से बनाये जाने वाले कार्डबोर्ड में और अधिक सुधार हो गया है। भूसे की लुगदी से नई-नई प्रकार की वस्तुयें बनाई जा रही हैं और भविष्य में भी उससे अनेकानेक प्रकार की वस्तुयें तैयार होंगी।

मेक्नोकेमिकल विधि द्वारा भूसे से इतनी अधिक मात्रा में लुगदी तैयार की जा सकती है कि आजकल कागज बनाने में भूसे और लकड़ी का प्रयोग करने के सम्बन्ध में होड़ चल रही है। इसके अलावा लुगदी, कागज और कार्डबोर्ड की मांग इतनी बढ़ गई है कि यह आशा की जा सकती है कि इसी प्रकार के कागज बनाने के लिए भूसे की लुगदी का उपयोग स्थायी रूप से किया जाने लगेगा।

कृषि विकास एजेन्सियों ने 'नार्दर्न लेबोरेटरी' द्वारा दी गई सूचना के आधार पर किसानों को यह बताना प्रारम्भ कर दिया है कि भूसा निकालने का उचित ढंग क्या है। इन उपायों के बरतने से और अधिक मात्रा में भूसा प्राप्त होने लगा है। अब अधिकाधिक किसान भूसा इकट्ठा करने और बेचने में दिलचस्पी ले रहे हैं। पहले उनका अधिकांश भूसा यों ही बेकार चला जाता था।

दोगली किस्म की मक्का से स्वतन्त्र देशों में क्रान्ति

अमेरिका और कनाडा में उत्पन्न होने वाली दोगली किस्म की मक्का का उत्पादन अब स्वतन्त्र संसार के अन्य क्षेत्रों में भी होने लगा है। इन क्षेत्रों में मक्का की इस नई किस्म से मानव जाति के हित में शान्तिपूर्ण और रचनात्मक क्रान्ति शुरू हो गई है।

अनेक देशों में दोगली किस्म की मक्का स्वाभाविक किस्मों की मक्का का स्थान तेजी से लेती जा रही है। १९५२ में, फ्रांस के १५ प्रतिशत मक्का-उत्पादक क्षेत्र में दोगली किस्म की मक्का बोयी गई थी और यह अनुपात निरन्तर बढ़ता जा रहा है। हालैंड में १९५० और १९५२ के बीच पहले से तिगुने क्षेत्र में मक्का बोयी गई और जितने क्षेत्र में दोगली किस्म की मक्का बोयी गई, वह कुल मक्का-उत्पादक क्षेत्र का.७५ प्रतिशत था। इटली में दोगली किस्म की मक्का बोने से १९५२ तक मक्का का कुल उत्पादन पिछले उत्पादन की तुलना में २,२०,००० टन अधिक बढ़ गया।

फ्रांस और बेल्जियम में अब अधिकतर भूमि में चुकन्दर और आलू की जगह दोगली किस्म की मक्का बोयी जाने लगी है। ग्रीस में १९५२ में १० प्रतिशत मक्का-उत्पादक क्षेत्र में दोगली किस्म की मक्का बोयी गई थी और तब से ग्रीस के किसान अधिकाधिक भूमि में दोगली किस्म की मक्का बो रहे हैं। स्विट्जरलैण्ड के कुछ क्षेत्र में अब आलू और गेहूँ की जगह मक्का बोयी जाने लगी है। दोगली किस्म की मक्का स्विट्जरलैण्ड के मवेशियों के लिए बहुत पुष्टिकारक सिद्ध हुई है।

स्पेन, पुर्तगाल, जर्मनी, आस्ट्रिया, यूगोस्लाविया,

तुर्की, मिस्र, अल्जीरिया और मोरक्को में, दोगली किस्म की अमेरिकी मक्का उन किस्मों का स्थान तेजी से लेती जा रही है, जिन्हें बोने से इन देशों की पैदावार बहुत कम रही है।

दोगली किस्म की इस मक्का की यह विशेषता है कि यह जल्दी ही पक जाती है, इसे बोने से उतनी ही जगह में अधिक पैदावार होती है; यह तरह तरह के मौसम को अधिक अच्छी तरह सहार सकती है; और इसमें कीड़ों, पौध-रोगों तथा सूखे का प्रतिरोध करने की अधिक क्षमता है।

संयुक्तराष्ट्र-संघ के खाद्य-कृषि संघटन द्वारा हाल में की गई जांच-पड़ताल से पता चला है कि दोगली किस्म की मक्का बोने से यूरोप और भूमध्यसागर के १० देशों में १९५२ में उत्पादकों को २ करोड़ ४० लाख डालर की अतिरिक्त आय हुई। ख्याल किया जाता है कि अगले कुछ वर्षों में दोगली किस्म की मक्का का उत्पादन और अधिक बढ़ जाने से उत्पादकों की आय में चौगुनी वृद्धि हो जायेगी।

खाद्य-कृषि संघटन की ओर से १९५२ में विभिन्न देशों के किसानों को परीक्षण के लिए दोगली मक्का की ४५ किस्में दी गई। अपने देश की सर्वोत्तम स्वाभाविक किस्मों की जगह दोगली मकान को इन किस्मों को बोने से ६० प्रतिशत अधिक पैदावार हुई। इन देशों के कृषि नेताओं और खाद्य-कृषि संघटन का कहना है कि यदि यूरोप में ३ करोड़ एकड़ भूमि में दोगली किस्म की सर्वोत्तम मक्का बोयी जाये तो उससे इतनी अधिक पैदावार होगी कि स्वाभाविक किस्म की मक्का से उतनी ही पैदावार हासिल करने के लिए १ करोड़ ८० लाख अतिरिक्त एकड़ भूमि में मक्का बोनी पड़ेगी।

दोगली किस्म की मक्का बोने से, अमेरिकी किसानों की वार्षिक पैदावार पहले से ७५,००,००,००० बुशल अधिक बढ़ गई। दोगली किस्म की मक्का के विकास के लिए अनुसन्धान तथा परीक्षण सम्बन्धी कार्यक्रम पर खर्च किये गये प्रति १ डालर के बदले में उन्हें प्रतिवर्ष ७५ डालर की आय हुई।

यद्यपि अमेरिका में पिछले २० वर्षों से मक्का-उत्पादक क्षेत्र में निरन्तर कमी होती जा रही है और १९३० के बाद से इस क्षेत्र में लगभग २५ प्रतिशत तक कमी हो चुकी है, किन्तु उत्पादन उत्तरोत्तर बढ़ता गया है। यह सब दोगली किस्म की मक्का को अधिकाधिक बोने और यान्त्रिक साधनों तथा अपेक्षाकृत उत्तम रासायनिक खाद का अधिक प्रयोग करने का ही परिणाम है।

१९२४ और १९३३ के दौरान में अमेरिका में में प्रति एकड़ भूमि में मक्का की जो औसत पैदावार थी, उसकी तुलना में १९४१ और १९५० के दौरान में १० बुशल अधिक पैदावार हुई। दोगली किस्म की मक्का का विकास १९३३ के बाद हुआ था। दोगली किस्मों में और अधिक सुधार हो जाने तथा अवशिष्ट मक्का-उत्पादक भूमि में दोगली किस्म के बोने से उत्पादन प्रतिवर्ष बढ़ता जा रहा है।

ख्याल किया जाता है कि कुछ समय में ही संसार के अनेक भागों में मक्का का उत्पादन दुगना हो जायेगा और इस प्रकार इस उत्पादन-वृद्धि से जहाँ अनेक देशों के स्वास्थ्य को बनाये रखने और उनकी सामाजिक उन्नति करने में योग मिलेगा, वहाँ भूख और दुर्भिक्ष की रोकथाम करने में भी मदद मिल सकेगी।

मक्का मूलतः अमेरिकी अन्न है। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और सद्भावना के दुतरफा रास्ते से जिस प्रकार अनेक उपयोगी वस्तुएँ और उनके सम्बन्ध में जानकारी अमेरिका पहुँचा है, उसी प्रकार मक्का और उसके बारे में जानकारी अन्य देशों को पहुँची है।

अन्य कई फसलों की तरह, मक्का को भी अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा कम लागत से अधिक पैदा करने का प्रयत्न किया जा रहा है। इस कार्य में एक देश का टैक्निकल विशेषज्ञ दूसरे देश के उत्पादक को आवश्यक प्रशिक्षण देता है। अन्य देशों के लोगों के साथ व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित होने से

पारस्परिक विश्वास में वृद्धि होती है और उसके कार्य को सहयोग पूर्वक सम्पन्न करने का अवसर मिलता है।

दोगली किस्म की मक्का विषयक कार्यक्रम के संचालन में संयुक्तराष्ट्रीय खाद्य-कृषि संघटन को अमेरिका के विदेश कार्य-संचालन विभाग तथा यूरोप के आर्थिक सहयोग सम्बन्धी संघटन का सहयोग प्राप्त है।

विज्ञान के नये-नये आविष्कारों के कारण संसार के काम-काज में तेजी

संसार के हर क्षेत्र में आज तेजी दिखलाई पड़ती है। यहाँ विज्ञान के कुछ नये आविष्कारों पर प्रकाश डालने वाले समाचार दिये जा रहे हैं।

हवाई जहाज की रफ़्तार एवं ऊँचाई के नये रिकार्ड

अमेरिकी से वायुसेना के मन्त्री हैरल्ड टैल्बट ने बताया कि अमेरिकी वायुसेना के विमानों ने संसार में १६५० मील प्रति घन्टा की रफ़्तार से उड़ान के पिछले रिकार्ड को तोड़ दिया है और साथ ही ऊँची उड़ान करने का भी नया रिकार्ड कायम किया है। वायुसेना के मन्त्री ने ओमाहा (नैब्रास्का) में हवाई सेना के एसोसियेशन के सम्मेलन में उक्त रहस्य प्रकट किया। साथ ही उन्होंने यह भी बताया कि अमेरिकी हवाई सेना का हर लड़ाकू विमान जैट-चालित है। श्री टैल्बट ने कहा कि सुरक्षा-नियमों के कारण विमानों की गति और ऊँचाई के सम्बन्ध में विस्तृत रूप से प्रकाश नहीं डाला जा सकता। अब तक ऊँचाई का रिकार्ड ८३,२३५ फीट अर्थात् १५॥ मील का था।

प्रति सेकण्ड १८०० अक्षर टाइप करने वाला नया टाइपरायटर

समिट (न्यूजर्सी) के एक निर्माता ने एक नई इलैक्ट्रोनिक टाइपरायटर मशीन तैयार की है, जो अकेली ही ३०० अच्छे स्टैनोग्राफरों के बराबर काम करती है। यह मशीन १,८०० अक्षर प्रति सेकण्ड के हिसाब से टाइप करती है।

इस नई मशीन को "हाई स्पीड टाइपर" कहा जाता है और देखने में यह सामान्य टाइपरायटर से बिल्कुल भिन्न दीखती है। आकार में तो यह मशीन एक बड़े बक्से की तरह होती है और इसमें एक मोटर लगी रहने के अलावा इलैक्ट्रोनिक सामान से भी सुसज्जित होती है।

यह मशीन बड़ी तेजी से काम करती है, क्योंकि इसमें "इलैक्ट्रोनिक ब्रेन" नामक यन्त्र लगा होता है।

एक सेकण्ड के एक लाखवें समय में फोटो

बोस्टन (मैसेच्यूसेट्स) की 'हाइकन मैनुफैक्चरिंग कम्पनी' संसार का एक सबसे जल्दी फोटो उतारने वाला इलैक्ट्रोनिक कैमरा बना रही है।

इस कैमरे से एक सेकण्ड के एक लाखवें समय में फोटो ली जा सकेगी। इसकी रफ़्तार इतनी तेज होगी कि प्रकाश की किरण को पृथक् पृथक् करके उसकी फोटो ली जा सकेगी।

सिर्फ ६० सेकण्ड में पूरी फोटो तैयार करने वाला नया कैमरा

कैमरा तैयार करने वाली जिस अमेरिकी कम्पनी ने १९४७ में ऐसा कैमरा तैयार किया था जिसमें अपने आप फोटो धोई जाती थी उसी ने अब एक नयी किस्म का छोटा और सस्ता कैमरा तैयार किया है। इसका नाम "हाईलैण्डर" है।

नये कैमरे में फिल्म उतारने, उसे धोने और प्रिन्ट करने की सब व्यवस्था होती है। चित्र उतारने के १ मिनट बाद ही तैयार 'प्रिन्ट' मिल जाता है।

इस "हाईलैण्डर" नामक कैमरे में २¼ × १¾ इंच आकार की फिल्म प्रयुक्त होती है। इसमें फोटो लेने के लिए दूरी और लैन्स का हिसाब भी ठीक नहीं करना पड़ता।

जल्दी और सही काम करने वाला नया इलैक्ट्रोनिक थर्मामीटर

वाशिंगटन स्थित अमेरिकी सेना के वाल्टर रीड अस्पताल ने रोगियों का तापमान देखने के लिए एक नये उत्तम इलैक्ट्रोनिक थर्मामीटर तैयार होने की घोषणा की है। यह थर्मामीटर पारे वाले वर्तमान थर्मामीटरों की अपेक्षा अधिक जल्दी और अधिक सही तौर पर तापमान बता सकेगा।

नये थर्मामीटर में पारे के स्थान पर ऐसी धातुओं को प्रयुक्त किया गया है जिनमें बिजली गुजारे जाने पर तापमान की भिन्नता के कारण तुरन्त परिवर्तन आ जाता है। तापमान ज्यादा होने पर धातु का वैद्युतिक प्रतिरोध कम होता जाता है। यूरेनियम, निकल, कोबाल्ट तथा मैंगनीज के औषितों (औक्साइड) को धातु की बनी एक छोटी सी नली में रखा जाता है और बाद में इसे तारों द्वारा बैटरी से जोड़ दिया जाता है। रोगी के शरीर के ताप से एक ऐसी विद्युत् तरंग प्रवाहित होती है जो तारों से होकर थर्मामीटर में जाकर अंकित हो जाती है।

संसार में सबसे जल्दी अखबारी कागज तैयार करने की मशीन

अमेरिका की 'ग्रेट नौर्दर्न पेपर कम्पनी' के मिलीपोकिट (मैन) स्थित कारखाने में हाल ही में अखबारी कागज तैयार करने की एक नई मशीन लगाई गई है। यह नई मशीन एक मिनट में २,७०० फुट के सिहाब से कागज़ तैयार करती है अर्थात् यह अब तक बनी मशीनों से ५०० फुट अधिक कागज तैयार करती है। हर दो मिनट में १ मील से अधिक लम्बा कागज तैयार हो जाता है। इस मशीन में २२ फुट तक चौड़ा कागज तैयार हो सकता है।

मिट्टी के तेल से रेडियो चलाइये

अखिल भारतीय रेडियो के गवेषणा विभाग ने अब ऐसी प्रणाली ढूंढ निकाली है जिसके द्वारा रेडियो मिट्टी के तेल के लैम्प से चलाया जा सकेगा। आशा है कि इस नयी खोज के परिणाम स्वरूप रेडियो का उपयोग बढ़ जायेगा और विशेषकर गांवों में, जहाँ बिजली नहीं है, लोग इस प्रणाली की सहायता से रेडियो सुन सकेंगे।

मिट्टी के तेल से रेडियो चलाने की यह प्रणाली अखिल भारतीय रेडियो के गवेषणा विभाग के श्रीराम यादव ने विकसित की है। उन्होंने प्रणाली के निकालने में भौतिक विज्ञान के इस प्रसिद्ध सिद्धांत का प्रयोग किया है कि यदि दो असम धातुओं के दो जोड़ विभिन्न तापमानों पर रक्खे जायँ, तो एक विद्युत धारा की उत्पत्ति होती है। विद्युत धारा कितनी शक्तिशालिनी होगी, यह प्रयोग में लाये गये धातुओं की किस्म और दोनों जोड़ों के बीच तापमान के अन्तर पर निर्भर होता है। धातु के इन जोड़ों को वैज्ञानिक भाषा में 'थर्मो-कपल' कहा जाता है।

श्री यादव ने जो प्रणाली विकसित की है, उसमें यह 'थर्मो-कपल' सुर्मे के एक मिश्र (अलाय) और यूरेका के इस्तेमाल से बनाये गये हैं। जब शुरू-शुरू में कई साल पहले ये तैयार किये गये थे, तब इनमें कई त्रुटियाँ थीं। अब यह त्रुटियाँ दूर कर दी गयी हैं और ऐसे थर्मो-कपल भारी संख्या में तैयार किये जा सकते हैं।

इन थर्मो-कपलों से बिजली तैयार करने के लिए जो 'जनरेटर' बनते हैं, वे काफी समय तक काम दे सकते हैं। अनुमान है कि यदि एक रेडियो रोजाना तीन घंटे चलाया जाये, तो इन जनरेटरों से बिजली पैदा करने में तीन रु० मासिक का खर्च बैठेगा। आशा की जाती है कि यह प्रणाली देहातों के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगी।

२ अरब टन लिगनाईट (भूरे) कोयले का भंडार

मद्रास राज्य के अन्तर्गत दक्षिण अरकाट जिले में नई वेली स्थान पर बीसियों मजदूर एक करोड़ वर्ष पुराने लिगनाइट कोयले के भंडार को खोजने का प्रयत्न कर रहे हैं। दो अरब टन लिगनाईट कोयले का यह भंडार मिलने पर दक्षिण भारत की अर्थ व्यवस्था का कायापलट हो जायगा।

मद्रास राज्य इस कार्य का खर्च दे रहा है और खदान का लगभग ८५ फीसदी काम हो चुका है। अभी उद्देश्य ६०० फुट लम्बा, ६०० फुट चौड़ा और १८० फुट गहरा गड्ढा खोदकर १०० वर्ग फुट लिगनाईट कोयले की सतह खोल देना है।

इस प्रयोग से जो अनुभव, जानकारी तथा टेकनीकल ज्ञान प्राप्त होगा, उसका उपयोग लिगनाईट की खानों की बड़े पैमाने पर खुदाई में किया जायगा।

केन्द्रीय सरकार तथा अमरीकी टेकनीकल सहयोग मिशन से इस कार्य के लिए मशीन मिली है। इसके अतिरिक्त ५ मार्च १९५३ से अब तक मद्रास सरकार इस खदान के काम पर ४३ लाख रुपये से भी अधिक रकम खर्च चुकी है। कोलम्बो योजना के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार ने टेकनीकल परामर्श देने के लिए एक ब्रिटिश कम्पनी की सेवायें भी प्राप्त की हैं।

लिगनाईट क्या है ?

लिगनाईट वह कोयला है, जो अभी कोयले का रूप धारण नहीं कर सका। इसमें लगभग ३० से ३५ प्रतिशत तक नमी रहती है, किन्तु इसको ठीक करके ईंधन के रूप में काम में लाया जा सकता है। यह लिगनाईट का ईंधन काम में अन्य प्रकार के ईंधन के ही समान है। इससे इञ्जन चलाने, बिजली बनाने, और खाना पकाने आदि का काम लिया जा सकता है। इसके अलावा कृत्रिम पेट्रोल, रसायनों तथा रसायनिक खादों के उद्योगों में भी इसका इस्तेमाल किया जा सकता है।

दक्षिण भारत को लाभ

१०० वर्ग मील से भी अधिक इलाके में फैले हुए लिगनाईट के इस भंडार से मद्रास, आंध्र, तिरुवांकुर-कोचीन, हैदराबाद तथा मैसूर राज्यों के लोगों के लिये, उन्नति के नये द्वार खुल जायेंगे। कारखानों को चलाने के लिये दक्षिण भारत में कोयले का जो अभाव है, लिगनाईट से उसकी बहुत कुछ पूर्ति हो सकेगी। हजारों मील दूर बिहार तथा पश्चिम बंगाल से कोयले लाने का खर्चा भी बच जायगा। लिगनाईट कोयले से बिजली भी पैदा की जा सकेगी। इसके अलावा लिगनाईट से पेट्रोल, प्लास्टिक आदि भी बनाया जा सकेगा।

अन्य लाभ

जिस स्थान पर लिगनाईट की खुदाई का काम हो रहा है, वहाँ अन्य पदार्थों का भी भंडार है। वहीं पर सफेद मिट्टी की मोटी तह पाई जाती है, जिससे चीनी मिट्टी के बर्तन के उद्योग के विकास में सहायता मिलेगी। लिगनाईट में 'मोंटन मोम' काफी मात्रा में पाया जाता है, जो सैनिक उद्योगों के लिए अत्यन्त आवश्यक है। खुदाई से जो पानी बाहर निकलेगा, उसका उपयोग सिंचाई के लिए आसानी से किया जा सकेगा। इस प्रकार खदान से निकलने वाली सभी वस्तुओं का भली-भांति उपयोग किया जा सकेगा।

प्रयोगशाला

खदान के पास अभी एक काम चलाऊ प्रयोगशाला है। यहाँ लिगनाईट तथा अन्य पदार्थों का विश्लेषण किया जाता है। इस वर्ष के अंत तक ब्रिटिश फर्म की रिपोर्ट आने पर काम-काज जोर-शोर से शुरू कर दिया जायगा।

यहाँ वैज्ञानिक लोग लिगनाईट के विश्लेषण करने में व्यस्त हैं, मजदूर इस गड्ढे को प्रतिदिन गहरा करते जा रहे हैं। एक मजदूर ने ही १९३० के करीब एक कुएँ की खुदाई के समय लिगनाईट के इस भंडार का पता लगाया था।

पवन शक्ति का उपयोग

भारत के लोग जल-विद्युत और नदी-घाटी योजनाओं के बहुत से उपयोगों से अच्छी तरह परिचित है। पवन शक्ति के बारे में भी, हाल के वर्षों में काफी लाभदायक विकास हुआ है। भारतीय अन्तरिक्ष विभाग ने जो सर्वेक्षण किये हैं उनसे इसके उपयोग की काफी सम्भावनाएँ नजर आयी हैं। इंजीनियरिंग गवेषणा बोर्ड ने भी बिजली उत्पादन तथा सिंचाई के निमित्त पवन शक्ति का उपयोग करने के लिए कुछ गवेषणा योजनाओं का समर्थ किया है।

अन्तरराष्ट्रीय पवन शक्ति दल के विशेषज्ञ सदस्य इस बात से सहमत हैं कि ठीक स्थितियों में पवन शक्ति का विकास कुछ देशों के आर्थिक जीवन में बड़ा महत्वपूर्ण हो सकता है। ब्रिटेन, फ्रांस, डेन्मार्क में पवन शक्ति के विस्तृत पर्यवेक्षणों से पता चला है कि पवन में इंजीनियरों के अनुमान से अधिक बिजली उपलब्ध की जा सकती है।

प्राचीनकाल से ही डेन्मार्क तथा कुछ अन्य देशों में पवन चक्कियां काम में लायी जाती रही हैं और कुछ आज भी चालू हैं जो अभी काफी अच्छा कार्य कर रही हैं। १९०० से १९१० तक की अवधि में, ३-३० किलोवाट सामर्थ्य की, पवन शक्ति की सैकड़ों मशीनें डेन्मार्क में लगायी गयीं। हाल के वर्षों में, बड़-बड़ी मशीनें तैयार करने की संभावना की ओर ध्यान दिया गया है। इनसे सम्बन्धित प्रौद्योगिक समस्याओं का विश्लेषण किया गया है और उपयुक्त डिजाइन भी तैयार किये गये हैं। इस समय डेन्मार्क में ७० किलोवाट सामर्थ्य तक के पवन चालित 'जेनरेटर' सफलता पूर्वक कार्य कर रहे हैं। ब्रिटेन में इस संबंध में जो जानकारी प्रकाशित की गयी है उससे पता चलता है कि भाप की मशीनों से जितनी बिजली पैदा की जा सकती है, उतनी ही पवन शक्ति की मशीनों से भी पैदा हो सकती है।

मरुभूमि का सुधार

पवन शक्ति और भी बहुत से कामों में लायी जा सकती है। इसकी सहायता से पम्प लगाये जा सकते हैं और इनसे ऊँची भूमि की सिचाई (लिफ्ट इर्रीगेशन) का काम हो सकता है। खासतौर से मरुभूमि के सुधार के लिए इनका विशेष प्रयोग किया जा सकता है।

मरुभूमि के लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति में सौर-शक्ति और पवन-शक्ति बहुत कुछ सहायक हो सकती है। मुख्य समस्या यह है कि बिना अधिक खर्च किये इनका किस प्रकार उपयोग किया जा सकता है।

विषय सूची

सरल विज्ञान ग्रंथावली

लेखक—जगपति चतुर्वेदी, सहा० सम्पा०, 'विज्ञान'

सरल विज्ञान ग्रन्थावली हिन्दी में लोकप्रिय वैज्ञानिक साहित्य सरल रूप में प्रस्तुत करने का एक नवीन तथा अभूतपूर्व प्रयास है। सभी पुस्तकें केवल एक लेखक द्वारा लिखी हुई हैं। लगभग १५० या २०० पृष्ठों तथा बहुसंख्यक चित्रों के साथ प्रत्येक का मूल्य २) है।

भौतिक विज्ञान

बिजली की लीला—बिजली के वैज्ञानिक मर्म, तार टेलीफोन, विद्युत्प्रकाश, एक्सरे रेडियो आदि की कहानी।

परमाणु के चमत्कार—परमाणु सम्बन्धी वैज्ञानिक खोजों तथा परमाणु बम, उदजन बम आदि के मर्म की कहानी।

भूगर्भ वि०, पुरा-जीवविज्ञान, पुरा-वनस्पति विज्ञान

विलुप्त जन्तु—प्रस्तरावशेषों के आधार पर पचास करोड़ वर्षों तक पुराने जन्तुओं के वंश लोप होने की कहानी।

भूगर्भ विज्ञान—धरती के निर्माण तथा अंतः और वाह्य अंगों के रूप परिवर्तन की विलक्षण कहानी।

विलुप्त वनस्पति—प्राचीन काल के प्रस्तरावशेषों के आधार पर पचास कोटि वर्षों तक पुराने वनस्पति वंशों की कहानी।

कोयले की कहानी—पत्थर कोयले की उत्पत्ति तथा वैज्ञानिक शोध और उपयोग की कहानी।

ज्वालामुखी—धरती के आंतरिक भाग में ज्वाला उत्पन्न होने के कारण तथा संसार के ज्वालामुखियों की कहानी।

रसायन

तत्वों की खोज में—रासायनिक तत्वों के अनुसंधान तथा उनके अन्वेषक वैज्ञानिकों की मनोरंजक कहानी।

साधारण

वैज्ञानिक आविष्कार—भाग १, २—पुरानी तथा नई वैज्ञानिक खोजों की विशद कहानियाँ।

आविष्कारकों की कहानी—युगान्तरकारी आविष्कारकों तथा वैज्ञानिकों की कथा।

वनस्पति विज्ञान

वनस्पति की कहानी—वनस्पति के जन्म, वृद्धि, क्रियाकलाप, तथा भेद प्रभेदों की कहानी।

चिकित्सा विज्ञान, कीटाणु विज्ञान

जीने के लिए—रोगों और कीटाणुओं का मर्म ज्ञात करने वाले वैज्ञानिकों की मार्मिक कहानी।

कीटाणुओं की कहानी—रोग उत्पन्न करने वाले तथा अन्य सूक्ष्मदर्शकीय कीटाणुओं और परम कीटाणुओं की कहानी।

पेनिसिलिन की कहानी—रसायन चिकित्सा तथा पेनिसिलिन के अविष्कार, की कहानी।

शल्य विज्ञान की कहानी—शरीर में चीरफाड़ करने के प्राचीन तथा नवीन ज्ञान की कहानी।

जीव-जन्तु विज्ञान

समुद्री जीव-जन्तु—समुद्र के अन्दर रहने वाले अद्भुत रंग-रूपों के जंतुओं का वर्णन।

अद्भुत जन्तु—अद्भुत रङ्ग रूप के जन्तुओं की कहानी।

विलक्षण जन्तु—विचित्र आकार प्रकार के जन्तुओं का वर्णन।

पक्षी ग्रन्थावली—पक्षियों के रङ्ग रूप, जीवन-क्रम, निवास सन्तानोत्पादन, स्वभाव भेद तथा पहचान का वर्णन।

१—शिकारी पक्षी	२)
२—जलचर पक्षी	२)
३—वन वाटिका के पक्षी	२)
४—वन उपवन के पक्षी	२)
५—उथले जल के पक्षी	२)

विज्ञान परिषद्, प्रयाग

Reg. NO 372

Approved by the Directors of Education, Uttar Pradesh
and Madhya Pradesh for use in Schools;
Colleges and Libraries

विज्ञान परिषद् के मुख्य नियम

परिषद् का उद्देश्य

१—१९७० वि० या १९१३ ई० में विज्ञान परिषद् की इस उद्देश्य से स्थापना हुई कि भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य का प्रचार हो तथा विज्ञान के अध्ययन को और साधारणतः वैज्ञानिक खोज के काम को प्रोत्साहन दिया जाय।

परिषद् का संगठन

२—परिषद् में सभ्य होंगे। निम्न निर्दिष्ट नियमों के अनुसार सभ्यगण सभ्यों में से ही एक सभापति, दो उप-सभापति, एक कोषाध्यक्ष, एक प्रधानमन्त्री, दो मन्त्री, एक सम्पादक और एक अंतरंग सभा निर्वाचित करेंगे जिनके द्वारा परिषद् की कार्यवाही होगी।

सभ्य

२२—प्रत्येक सभ्य को ६) वार्षिक चन्दा देना होगा। प्रवेश शुल्क ३) होगा जो सभ्य बनते समय केवल एक बार देना होगा।

२३—एक साथ १०० रु० की रकम दे देने से कोई भी सभ्य सदा के लिए वार्षिक चन्दे से मुक्त हो सकता है।

२६—सभ्यों को परिषद् के सब अधिवेशन में उपस्थित रहने का तथा अपना मत देने का, उनके चुनाव के पश्चात् प्रकाशित, परिषद् की सब पुस्तकों, पत्रों, तथा विवरणों इत्यादि को बिना मूल्य पाने का—यदि परिषद् के साधारण धन के अतिरिक्त किसी विशेष धन से उनका प्रकाशन न हुआ—अधिकार होगा। पूर्व प्रकाशित पुस्तकें उनको तीन चौथाई मूल्य में मिलेंगी।

२७—परिषद् के सम्पूर्ण स्वत्व के अधिकारी सभ्य वृन्द समझे जायँगे।

प्रधान संपादक—डा० हीरालाल निगम
सहायक संपादक—श्री जगपति चतुर्वेदी

नागरी प्रेस, दारागंज, प्रयाग

प्रकाशक—विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

१—विज्ञान प्रवेशिका, भाग १—श्रीरामदास गौड़ और प्रो० सालिगराम भार्गव ।=)
२—चुम्बक—प्रो० सालिगराम भार्गव ।।।=)
३—मनोरञ्जन रसायन—प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव २)
४—सूर्य सिद्धान्त—श्री महावीरप्रसाद श्रीवास्तव छः भाग मूल्य ८)। इस लेखक को १२००) का मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला है।
५—वैज्ञानिक परिमाण—डा० निहालकरण सेठी १)
६—समीकरण मीमांसा—पं० सुधाकर द्विवेदी; प्रथम भाग १।।) द्वितीय भाग ।।=)
७—निर्णायक (डिटर्मिनैंट्स) प्रो० गोपाल कृष्ण गर्दे और गोमती प्रसाद अग्निहोत्री ।।।)
८—बीज ज्योमिति या भुजयुग्म रेखागणित—डाक्टर सत्यप्रकाश डी० एस-सी०, १।)
९—वर्षा और वनस्पति—श्री शंकरराव जोशी ; ।=)
१०—सुवर्णकारी—ले० श्री० गङ्गाशंकर पचौली; ।=)
११—व्यङ्ग-चित्रण—ले० एल० ए० डाउस्ट; अनुवादिका श्री रत्नकुमारी एम० ए०; २)
१२—मिट्टी के बरतन—प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा ; (अप्राप्य)
१३—वायुमंडल—डाक्टर के० बी० माथुर, २)
१४—लकड़ी पर पालिश—डा० गोरखप्रसाद और श्री रामरतन भटनागर, एम० ए०, २) (अप्राप्य)
१५—कलम पेवंद—ले० श्री शंकरराव जोशी; २)
१६—जिल्दसाजी—श्री सत्यजीवन वर्मा, एम० ए० २)
१७—तैरना—डा० गोरखप्रसाद १)
१८—सरल विज्ञान-सागर प्रथम भाग—सम्पादक डाक्ट गोरख प्रसाद मूल्य ६) (अप्राय)
१९—वायुमण्डल की सूक्ष्म हवाएं—डा० सन्तप्रसाद टंडन, डी० फिल० ।।)
२०—खाद्य और स्वास्थ्य—डा० ओंकारनाथ परती, मूल्य ।।।)
२१—फोटोग्राफी—लेखक श्री डा० गोरख प्रसाद डी० एस-सी० (एडिन) ४),
२२—फल संरक्षण—डा० गोरखप्रसाद डी० एस-सी० और श्री वीरेन्द्रनारायण सिंह २।।)
२३—शिशु पालन—लेखक श्री मुरलीधर बौड़ाई । मूल्य ४)
२४—मधुमक्खी पालन—दयाराम जुगड़ान; ३)
२५—घरेलू डाक्टर—डाक्टर जी० घोष, डा० उमाशङ्कर प्रसाद, डा० गोरखप्रसाद, ४)
२६—उपयोगी नुसखे, तरकीबें और हुनर—डा० गोरखप्रसाद और डा० सत्यप्रकाश, ३।।)
२७—फसल के शत्रु—श्री शङ्कर राव जोशी ३।।)
२८—साँपों की दुनिया—श्री रमेश वेदी ४)
२९—पोर्सलीन उद्योग—प्रो० हीरेन्द्र नाथ बोस ।।।)
३०—राष्ट्रीय अनुसंधानशालाएँ—२)
३१—गर्भस्थ शिशु की कहानी—प्रो० नरेन्द्र २।।)

अन्य पुस्तकें

१—साबुन-विज्ञान	६)
२—भारतीय वैज्ञानिक	३)
३—वैक्युमब्रेक	२)
४—यांत्रिक चित्रकारी	२।।)
५—विज्ञान के महारथी (जगपति चतुर्वेदी)	२)
६—पृथ्वी के अन्वेषण की कथाएँ („)	१।।)
७—विज्ञान जगत की झाँकी (प्रो० नारायण सिंह परिहार)	२)
८—खोज के पथपर (शुकदेव दुबे)	।।)

पता—विज्ञान परिषद् (म्योर सेन्ट्रल कालेज भवन) प्रयाग

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ० ।३।५।

भाग ८० | मकर २०११, जनवरी १९५५ | संख्या ४

विज्ञान-परिषद्, प्रयाग

४१ वें वर्ष (अक्टूबर १९५३ से सितम्बर १९५४) का कार्य्य विवरण

इस वर्ष परिषद् का कार्य्य गत वर्षों की तरह संतोषजनक नहीं रहा। इस वर्ष हमारा मासिक पत्र विज्ञान तो नियमित रूप से निकलता रहा परन्तु हम कोई नई पुस्तक न निकाल सके, जिसका केवल एक कारण हमारी आर्थिक परिस्थिति थी। गत दो वर्षों से हमें अपनी उत्तर प्रदेश सरकार से कोई अनावर्तक अनुदान नहीं मिला; इसके पहले प्रति वर्ष तीन हजार से लेकर पाँच हजार रुपये तक हमें मार्च के अन्त तक अनावर्तक अनुदान के रूप में मिल जाते थे। इस सम्बन्ध में हम अपनी ओर से प्रयत्नशील रहे हैं, परन्तु फिर भी मार्च १९५३ तथा मार्च १९५४ में हमें कुछ भी नहीं मिला। छापने के लिये हमारे पास बहुत सामग्री है। श्री ओंकारनाथ शर्मा की पुस्तक 'रेल इंजन' कई वर्षों से हमारे पास है, जिसे हम आर्थिक कठिनाई के कारण न छपवा सके। यह पुस्तक रेलवे के मध्यम वर्ग के कर्मचारियों के लिए बहुत उपयोगी होगी। अतः जब हम लोगों ने उसे श्री कैलाशबिहारी माथुर को, जो अब रेलवे बोर्ड के सदस्य हैं तथा उस समय उत्तर रेलवे के जनरल मैनेजर थे, दिखलाया तो उन्होंने हमें उत्तर रेलवे से एक हजार रुपया पेशगी इसलिये दिला दिया कि छपने पर इतने मूल्य की पुस्तकें हम उनको दे दें। उनकी इस कृपा के लिये हम विशेष आभारी हैं। बहुत लिख-पढ़ी करने पर जुलाई १९५४ में उत्तर प्रदेश सरकार ने भी इस सम्बन्ध में हमें एक हजार रुपया दे दिया है। अतः अब इस पुस्तक की

छपाई प्रारम्भ हो गई है और २-३ महीने में हम इस पुस्तक को आप लोगों की सेवा में भेजने में समर्थ हो सकेंगे। अभी हमें अपनी कुछ पुरानी पुस्तकों के नये संस्करण भी छपवाने हैं। ताप, सूर्य्य सिद्धान्त, वायु मंडल, मिट्टी के बर्तन, भारतीय चीनी मिट्टियाँ, कलम पेबन्द यह सब समाप्त हो चुकी हैं। इसके अलावा घरेलू डाक्टर तथा उपयोगी नुसखों के अन्य भाग छपवाने हैं। सरकार या अन्य विज्ञान के उदार प्रेमियों की सहायता के बिना हम यह कार्य्य नहीं कर सकते। इसके अलावा हमें अपने मासिक-पत्र विज्ञान को और अधिक उपयोगी, रोचक तथा लाभ-प्रद बनाना है, जिसके लिए यह आवश्यक है कि हमारे ग्राहक बढ़ें तथा और अधिक आर्थिक सहायता मिले। हम इस ओर भी प्रयत्नशील हैं।

हमारे कार्य्यों के सुचारु रूप से न चल सकने का एक कारण हमारा अपना भवन का न होना भी था। हमारे भवन-निर्माण के लिए प्रयाग विश्वविद्यालय ने म्योर सेन्ट्रल कालेज में हमें लगभग ३५०० वर्ग गज भूमि दे दी है, जिसके लिए हम अपने कुलपति प्रो० अमियचरन बनर्जी तथा विश्वविद्यालय की कार्य्य-समिति (E. C.) के आभारी हैं। भवन-निर्माण में हमारा लगभग डेढ़ लाख रुपया खर्च होगा। इसके लिए हमारे सभापति जी प्रयत्नशील हैं और उन्होंने लगभग चालीस हजार रुपये के दान का प्रबन्ध कर लिया है। मार्च में इस भवन का शिला-न्यास हम पंडित जवाहर लाल जी नेहरू से कराना चाहते हैं। भवन बन जाने से हमारी अनेक कठिनाइयाँ दूर हो जावेंगी। हमें आशा है कि अगले अधिवेशन तक हमारे भवन का कुछ न कुछ भाग अवश्य बन जायगा।

वैज्ञानिक ज्ञान-कोष के प्रकाशन का एक नया आयोजन हमने उठाया है, जिसमें अधिकांश लेख अँग्रेजी में प्रकाशित इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के स्तर के होंगे। विषयों को चित्रों द्वारा मनोरंजक तथा लाभप्रद बनाने का प्रयत्न किया जायगा। इस कार्य्य के लिये पचीस विभिन्न विषयों के लिये लगभग १०० विद्वानों के अलग-अलग सम्पादक-मंडल बना दिये गये हैं। यह कोष लगभग १००० पृष्ठों के ५-६ भागों में प्रकाशित होगा और इस आयोजन में प्रत्येक भाग में लगभग पचास हजार रुपया लगेगा। अपनी आर्थिक स्थिति देखते हुए इनका प्रकाशन स्वप्न सा ही लगता है, पर हमें आशा करनी चाहिए कि इस स्वप्न को हम सत्यता में परिणत कर सकें।

इसके अलावा हम एक चतुर्मासिक अनुसंधान पत्र भी निकालना चाहते हैं। हमारे देश में अभी इस प्रकार का कोई पत्र नहीं है। इसमें अनुसंधान लेख तो हिन्दी में होंगे परन्तु उनका सारांश हिन्दी अंगरेजी फ्रेंच व जरमन में होगा जिससे सारांश (abstracts) छापने वालों को आसानी हो तथा हमारे अनुसंधान-लेख संसार के वैज्ञानिक साहित्य में स्थान पा सकें। अन्य देशों में इस प्रकार की पत्रिकाएँ छपा करती हैं। इस कार्य में लगभग तीन हजार रुपया प्रतिवर्ष खर्च होगा।

आय-व्यय के लेख से स्पष्ट है कि विज्ञान पत्र घाटे में चल रहा है जो हम पुस्तकों की बिक्री से पूरा करते हैं और इसका फल यह होता है पुस्तकों के नये संस्करण छपवाने को पैसा नहीं रहता। समय समय पर हम सरकार से प्रार्थना करते रहे हैं कि हमारा वार्षिक अनुदान दो हजार से पाँच हजार कर दिया जाय तथा हमें काफी अनावर्तक अनुदान मिले। परिषद के सभी कार्यकर्ता, संपादक, लेखक सारा कार्य सेवा-भाव से करते हैं कुछ भी पारिश्रमिक नहीं लेते। इस प्रकार की संस्था की सहायता सरकार को अवश्य करनी चाहिये।

इस वर्ष आजीवन सभ्यों की संख्या ५७, सभ्यों की १३७ तथा ग्राहकों की २४७ रही। परिषद के पदाधिकारी इस प्रकार थे :—

श्री हीरालाल खन्ना	सभापति
डा० गोरख प्रसाद	उपसभापति
डा० अविनाश चन्द्र चटर्जी	,,
डा० रामदास तिवारी	प्रधान मन्त्री

[शेष पृष्ठ१०१ पर]

परिषद् का ४१ वें वर्ष (अक्टूबर १९५३ सितम्बर ५४ तक) के आय-व्यय का लेखा

आय

	रु०	आ०	पा०	रु०	आ०	पा०
साधारण सभ्यों से	२७६	८	०	०	०	०
पुस्तकों की बिक्री से	१३६९	५	०	०	०	०
विज्ञान के ग्राहकों से	१०३६	५	०	०	०	०
उत्तर प्रदेशीय सरकार से (पुस्तक की छपाई के लिये)	१०००	०	०	०	०	०
उत्तर रेलवे से (पुस्तक की छपाई के लिये एडवान्स)	१०००	०	०	०	०	०
ब्याज से	५	१४	०	०	०	०
पिछली रोकड़ बाकी	२१५३	५	५	०	०	०
योग	६८४१	५	५	०	०	०

व्यय

	रु०	आ०	पा०	रु०	आ०	पा०
लेखक का पारिश्रमिक	०	०	०	४४०	०	०
सह सम्पादक का ,,	०	०	०	३८०	०	०
चपरासी का वेतन	०	०	०	४६८	०	०
इक्का ठेला	०	०	०	११	११	०
पारसल का खर्च	०	०	०	३	६	०
स्टेशनरी	०	०	०	१८	११	६
पोस्टेज	०	०	०	३५३	१२	३
फुटकर	०	०	०	२७	०	६
ब्लाक	०	०	०	४१६	३	६
बैंक कमीशन	०	०	०	३	४	०
साइकिल की मरम्मत	०	०	०	१६	५	०
प्रूफरीडिंग	०	०	०	४०	०	०
जिल्द बंधाई	०	०	०	११	६	०
विज्ञान की छपाई	०	०	०	१८३४	७	०
योग	४०२४	३	३	४०२४	३	३
	* २८१७	२	२			

* सन् १९५०-५१ में पुस्तकें छपवाने के लिये स्थायी कोष से ३६६६) उधार लिया गया था। अतः उस वर्ष हिसाब बनाने में वह आय में लिया गया था। इसलिये यह रोकड़ बाकी वास्तविक नहीं है। इसके अतिरिक्त विज्ञान की दो मास की छपाई का दाम ४०१॥।–)॥। देना है। इस प्रकार इस वर्ष १२५३॥≈) ७ का घाटा है।

विज्ञान के सम्बन्ध में आय–व्यय
(१९५३–५४)

आय

	रु०	आ०	पा०
ग्राहकों से	१०३६	५	०
सभ्यों से	११०	९	६
पिछली रोकड़	२०१	८	३
योग	१३४८	६	९

व्यय

	रु०	आ०	पा०
विज्ञान की छपाई	१८३४	७	०
ब्लाक बनवाई	१०७	१३	०
डाक व्यय	२५५	७	६
लेखक का पारिश्रमिक कुल का ३/४	२९३	५	३
चपरासी का वेतन ,, ,,	३१२	०	०
सहसम्पादक का पुरस्कार	३८०	०	०
इक्का ठेला आदि	११	११	०
प्रूफरीडिंग	४०	०	०
साइकिल की मरम्मत	१६	५	०
विज्ञान की फाइलों की जिल्द बंधाई	११	६	०
	३२६२	६	९
घाटा जो परिषद ने दिया	१९१४	०	०
	१३४८	६	९

आगामी वर्ष (अक्टूबर १९५४ से सितम्बर १९५५ तक) का अनुमानपत्र (परिषद् के सम्बन्ध में)

आय

	रु०	आ०	पा०
आजीवन सभ्यों से	७०	०	०
सभ्यों से	४००	०	०
पुस्तकों से	१२००	०	०
सरकार से	२०००	०	०
योग	३६७०	०	०

व्यय

	रु०	आ०	पा०
रेल इंजन पुस्तक भाग १ की छपाई कागज आदि	१५००	०	०
स्टेशनरी	५०	०	०
डाक व्यय	२००	०	०
लेखक का वेतन कुल का १/३	१६०	०	०
चपरासी का वेतन	१७४	०	०
विज्ञान का घाटा जो परिषद् देगी	३१६०	०	०
	५२४४	०	०

इस प्रकार परिषद् को इस वर्ष १५७४) का घाटा होगा। इसके अतिरिक्त हमें पुराना कर्ज ३६६६) देना ही है।

विज्ञान के सम्बन्ध में

	रु०	आ०	पा०
ग्राहकों से	१०००	०	०
सभ्यों से	१६०	०	०
सरकार से	२०००	०	०
योग	३१६०	०	०

	रु०	आ०	पा०
विज्ञान की छपाई	१८००	०	०
,, का कागज	७००	०	०
कवर ,, ,,	२३०	०	०
,, की छपाई	४००	०	०
बाइंडिंग	२४०	०	०
ब्लाक	३००	०	०
सहायक सम्पादक	४८०	०	०
डाक व्यय	२६०	०	०
लेखक कुल का २/३	३२०	०	०
चपरासी ,, २/३	३४९	०	०
फुटकर	५०	०	०
	५१२९	०	०
घाटा जो परिषद् देगी	१९६९	०	०
	३१६०	०	०

पदाधिकारी

[पेज ९८ शेषांश]

डा० देवेन्द्र शर्मा	मन्त्री
डा० रमेशचन्द्र कपूर	,,
डा० संत प्रसाद टंडन	कोषाध्यक्ष
प्रो० सालिगराम भार्गव	स्था० अन्तरंगी
डा० दिव्य दर्शन पन्त	,,
श्री हरीमोहन दास टंडन	,,
डा० हीरालाल दुबे	,,
डा० हीरालाल निगम	प्रधान सम्पादक
डा० जगराजबिहारी लाल, इन्डस्ट्रियल केमिस्ट, कानपुर	बाहरी अंतरंगी
डा० ब्रजमोहन काशी वि० वि०	,,
डा० दौलत सिंह कुठारी, देहली	,,
डा० रामधर मिश्र लखनऊ विश्वविद्यालय	,,
डा० रामाचरण काशी वि० विद्यालय	,,
डा० सत्य प्रकाश	आय-व्ययपरीक्षक

स्वर्गीय डा० सर शान्ति स्वरूप भटनागर

[डा० सत्य प्रकाश]

डा० सर शान्ति स्वरूप भटनागर की मृत्यु का अकस्यात् समाचार पहली जनवरी अर्थात् नव वर्ष के दिन मिला। ६० वर्ष के लगभग की छोटी आयु में हृदय-गति के अवरुद्ध हो जाने के कारण डा० भटनागर अचानक ही इस लोक से विदा हो गए। उनकी बीमारी का कोई संवाद इधर प्रकाशित नहीं
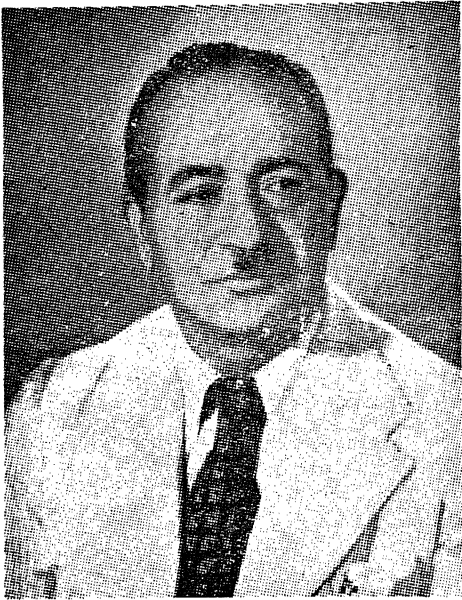
डा० शान्ति स्वरूप भटनागर

हुआ था। अन्य वर्षों की भाँति इस वर्ष भी हमें आशा थी कि जनवरी के प्रथम सप्ताह में होने वाले सायंसकांग्रेस के अधिवेशन में उनके दर्शन होंगे। मैं उनका कभी छात्र न था, पर वे मुझसे स्नेह रखते थे। गतवर्ष नेशनल फिज़िकल लेबोरेटरी में उनके मुझे दर्शन हुये थे और वहाँ के केफिटेरिया में डा० कृष्णन् और डा० भटनागर के साथ हम लोगों ने जलपान किया था। दिल्ली की पारिभाषिक शब्द सम्बन्धी एक बैठक में भी उनके साथ विचार-विनिमय करने का मुझे अवसर मिला। दिल्ली जब जाता, और यदि वे दिल्ली होते तो उनसे अवश्य मिलता। उनके दिवंगत हो जाने के कारण मुझे जो वेदना हुई, उसका उल्लेख करना कठिन है। प्रो० भटनागर का आत्मीयता का स्नेह बहुतों को प्राप्त था, और न जाने कितने व्यक्तियों का उनसे निकट का सा संबंध हो गया था।

प्रो० भटनागर प्रयाग अनेक बार आये। काशी में तो वे अध्यापक ही थे। इस प्रदेश के सिकन्दरा राउ स्थान के वे निवासी थे। पंजाब में उनको काफी वर्ष व्यतीत हुए। लाहौर की रसायन प्रयोग शालाओं के वे डाइरेक्टर थे। एमलशन पायसों, पर उन्होंने लंदन में गवेषणायें प्रारंभ की थीं, और अच्छा नाम कमाया। बाद कलो चुम्बकीय रसायन उनका प्रिय विषयबन गया। इस संबंध में उन्होंने एक ग्रन्थ भी लिखा। गत महायुद्ध के समय उन्होंने कारखानों एवं सरकार की अच्छी सेवा की। काउन्सिल आव् सायं-टिफिक एंड इंडस्ट्रियल रिसर्च के वे डाइरेक्टर रहे। भारत के स्वतंत्र होने के समय से ही वैज्ञानिक कार्यों में वे हमारे प्रधान-मंत्री श्री जवाहरलाल जी के दाहिने हाथ बन गए। इस समय देश में जो १३-१४ राष्ट्रीय प्रयोगशालायें हैं, वे डा० भटनागर की अमर स्मारक हैं। इन प्रयोगशालाओं की स्थापना करके डा० भटनागर ने जो कीर्ति प्राप्त की है, वह देश के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित होने योग्य है। डा० भटनागर ने केवल इन प्रयोग-शालाओं की श्रृंखला का स्वप्न देखा, उन्होंने स्वप्न

[शेष पेज १०४ पर]

दीमक की रोकथाम

(ले० ए० एल० रूनवाल, बन गवेषणाशाला, देहरादून)

लकड़ी और रेशे के सामान को दीमक कैसे नष्ट कर देती है, इसे भारत ऐसे गरम देश के निवासी भलीभाँति जानते हैं। निगाह चूकी, दो दिन भी देख-रेख न हुई, कि दीमक सारे सामानको चट कर डालती है।

इधर कुछ वर्षों से कई देशों में ऐसे रासायनिक पदार्थ की खोज हो रही है जिन्हें चीजों पर लगा देने से दीमक असर न कर सके।

दीमक की वर्ण व्यवस्था

दीमकों का बाकायदा संगठित समाज होता है। बस्तियाँ होती हैं। आपस में इनका काम बंटा रहता है और काम के हिसाब से इनकी जातियाँ होती हैं। इनकी आकृति भी भिन्न होती है। मुख्यतः तीन जातियाँ हैं— मजदूर, सिपाही और प्रजापति। तीसरी जाति की दीमकों के पर होते हैं। और इनमें नर और मादा का भेद होता है। ये संतान पैदा कर सकते हैं और राजा और रानी बनते हैं। मजदूर और सिपाही दीमकों के पर नहीं होते।

दीमक समाज में अधिक संख्या मजदूर दीमकों की होती है। बस्ती का सारा काम यही करते हैं। ये समूहका खाना लाते, रहने के लिए मिट्टी की बांबी बनाते, जमीन या लकड़ी में छेद करते और अंडों को सेते हैं। पर दीमक जिस प्रकार मिल कर काम करते हैं वह तारीफ के लायक है। इनके काम का नमूना देखना हो तो दीमक की किसी बांबी को जरा सा तोड़ दीजिये, दम भर में मजदूर दीमक जुट जायँगे और देखते-देखते टूटे भाग को फिर से बना देंगे। सिपाही दीमक सामूहिक रक्षा करते हैं। इनकी संख्या करीब १० फीसदी होती है। इनका सिर मोटा और जबड़े मजबूत होते है जिससे ये अपनी बस्ती पर हमला करने वालों का मुकाबला करते हैं।

तीसरी जाति के पंखदार दीमक वर्षा के पहले या बाद में निकलते हैं। इनका काम केवल सन्तान पैदा करना रहता है। मादा दीमक बराबर अंडा देती रहती है औसतन प्रति मिनट एक अंडा दे देती है। इस प्रकार एक मादा दीमक ६-७ साल के जीवन में करोड़ों अंडे देती है। प्रायः दीमकों के समूह में कहीं-कहीं दो और कहीं एक राजा और एक रानी रहते हैं। सबसे पहले अंडों से मजदूर दीमक ही निकलते हैं, जो बस्ती के लिए इमारत बनाते और सब सामान जुटाने हैं, और राजा रानी को प्रजोत्पत्ति करने की पूरी सुविधा देते हैं।

इन दीमकों की करीब २ हजार किस्में होती हैं। सौ से अधिक प्रकार के दीमक हमारे ही देश में पाये जाते हैं।

दीमकों की आदतों का अध्ययन करने पर पता चलता है कि कुछ दीमक लकड़ी में घर बनाते हैं और कुछ जमीन में। इनमें से कुछ जमीन के अंदर रहते हैं, कुछ ऊपर बांबी बनाते हैं कुछ पेड़ों पर घोंसले बनाते हैं। दीमक लकड़ी, कपड़ा, रेशे, सींग, चमड़ा आदि अनेक वस्तुओं को तो खा ही जाते हैं। चूने और सीसे तक में घुस जाते हैं। इनके शरीर में एक तेजाबी द्रव्य रहता है जिससे ये कड़ी चीजों को भी गला देते हैं। एक ही जगह भिन्न-भिन्न प्रकार के दीमक पाये जाते हैं और अपने अलग-अलग दायरे में काम करते हैं। मसलन मैंने सलई के एक पेड़ में दो प्रकार के दीमकों को देखा, एक जड़ में एक तने

की ऊपरी सतह में काम करती थी, दूसरी तने के भीतर।

दीमक खेतों और बनों का भयंकर बिनाश करती है। खास तौर से गन्ने और पाट की फसल को दीमक से अत्यधिक हानि पहुँचती है। गोदामों से भरे नाज को दीमक से जो नुक्सान होता है, उसका अन्दाज लगाना कठिन है। इसी प्रकार नर्सरी के पौधों और बीजों को भी दीमक नष्ट कर देती है। इमारती लकड़ी, बल्ली, तारके खंभों, बाँस, आदिका तो दीमक सबसे बड़ा शत्रु है।

पुस्तकालयों, फौजी गोदामों, रेलवे स्टेशन, घर बाहर सभी जगह दीमक विनाश-कार्य जारीरखती है।

यह तो दीमकों से होने वाले नुक्सान का विवरण है, किन्तु कुछ लोगों का मत है कि गर्म देशों में दीमक जमीन को अन्दर से चाल कर, लाभ भी पहुँचाती है, जैसे केचुए। जमीन के अंदर जड़ों और पत्तियों आदि को चाल कर ये उसे गला देते हैं जिससे पौधों को उगने में मदद मिलती है।

दीमक से रक्षा करने के उपाय

(१) जहाँ पौधे लगाये जायँ, और जहाँ नाज अथवा लकड़ी के गोदाम हों, वहाँ बहुत सफाई रखनी चाहिये। कूड़ा-करकट जला देना चाहिये। बेकार सामान हटा देना चाहिये।

(२) पौधों, जमीन और चीजों की हिफाजत के लिये उन पर बेनजीन, हेक्साक्लोराईड, क्लोरडेन, आलड्रिन आदि कीटाणुनाशक दवाइयों को छिड़कना चाहिये।

(३) लकड़ी और अन्य सामान पर पहले से ऐसे रसायनिक लगा देने चाहिये, जिसे दीमक न लग सके। जैसे लोबान।

ऐसी लकड़ी का इस्तेमाल किया जाय, जिस पर कम से कम दीमक लगे। हमारे देश के वृक्षों में बबूल, देवदार, साल, सागवान आदि वृक्षों की लकड़ी में दीमक कम लगती है। लकड़ी की ऊपरी परत या चैले में दीमक अधिक और भीतरी कड़े भाग पर कम लगती है।

यदि लकड़ी में दीमक गहरी लग चुकी हो, तो उसे हटा ही देना चाहिये। यदि लकड़ी में दीमक लगना शुरू ही हुआ हो, तो लकड़ी में छेद करके अन्दर गहराई तक जहरीली बुकनियाँ, - संखिया तूतिया, डी० डी० टी० आदि भर देना चाहिये, जिससे अन्दर घुसे दीमक नष्ट हो जायँ। मरे हुये दीमकों को हटाने के लिये जो दीमक समूह आता है, वह पूरी बस्ती में जहर फैला देता है।

भरत में गवेषणा-कार्य

भारत में दीमकों के अध्ययन के बारे में अभी बहुत कम काम हुआ है। अब कृषि गवेषणा परिषद् ने इसे उठाया है और बन गवेषणाशाला, देहरादून तथा भारतीय कृषि गवेषणाशाला, की दिल्ली में अब गवेषणा प्रारम्भ हो चुकी है।

[१०२ का शेषांश]

को सच्चा बना कर दिखा दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि वे इस स्वप्न को पूर्ण करने के लिये ही जीवित थे।

इधर एक वर्ष से वे यूनियन यूनिवर्सिटी ग्राण्ड्स कमेटी के चेयरमैन थे। यूनिवर्सिटियों में वैज्ञानिक शिक्षा को उन्होंने प्रोत्साहन देना प्रारंभ किया था। उनकी प्रेरणा से ही विश्व-विद्यालयों की प्रयोगशालाओं को इतना अधिक अनुदान मिलने लगा था। यदि वे जीवित रहते तो विश्व-विद्यालयों में विज्ञान विभागों को बड़ा लाभ होता।

कई वर्ष हुए, डा० भटनागर की पत्नी का देहान्त हो गया था। भटनागर जी उर्दू के अच्छे कवि थे। उन्होंने अपना एक कविता संग्रह अपनी पत्नी के नाम पर प्रकाशित कराया। वे मुझसे कहा करते थे, कि बुढ़ापे में अन्य कार्यों से अवकाश लेकर वे कविता में समय व्यतीत करेंगे। पर उन्हें यह अवकाश न मिल सका। ईश्वर उनकी आत्मा को सद्गति और परिवार को धैर्य प्रदान करें।

उच्चतर विमायें (क)

(Higher Dimensions)

[डा० ब्रज मोहन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय]

(१) आत्मिकीय वृत्तियाँ (Psychic Phenomena)

आत्मिकी (Psychic Science) एक नई विद्या है जिसे आरम्भ हुये लगभग ७० वर्ष हुये हैं। इस विषय की चर्चा दिन पर दिन बढ़ती जाती है। योरप और अमरीका के बड़े-बड़े नगरों में वर्षों से बहुत सी संस्थायें आत्मिकीय गवेषणा का कार्य कर रही हैं। इन संस्थाओं के कार्यकर्त्ता कोई साधारण व्यक्ति नहीं हैं। इसमें बड़े-बड़े दार्शनिक और विज्ञानी भी सम्मिलित रहे हैं जैसे सर ऑलिवर लाज, सर विलियम क्रुक्स (इलेक्ट्रोन का आविष्कारक), रसेल वालेस इत्यादि। यह कहने के लिये बड़ा साहस चाहिये कि ये सब के सब महानुभाव या तो संसार को जान बूझकर धोका दे रहे हैं या किसी भ्रमजाल में पड़े हुये हैं। इन संस्थाओं के कार्य-विवरण शनैः-शनैः छपते रहते हैं और जिज्ञासु उनसे बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। यदि आत्मिकीय प्रयोगों की गणना की जाय तो उनकी संख्या सहस्रों नहीं लाखों पर पहुँचेगी और उनमें से प्रयोग तो ऐसे हैं जो इतने महान व्यक्तियों द्वारा और ऐसी परिस्थितियों में किये गये हैं कि सन्देह करने की कोई गुंजायश नहीं रह जाती। यदि आजकल के समय में भी कोई शिक्षित व्यक्ति यह कहे कि उसे ऐसी घटनाओं में कोई तथ्य नहीं दिखाई देता तो यही कहना पड़ेगा कि उसने इस विषय का अध्ययन ही नहीं किया है। जो कुछ प्रमाण उक्त संस्थाओं ने इकट्ठे किये हैं उनको व्यर्थ और निरर्थक बताना ऐसा ही है जैसे हम आज के वैज्ञानिग युग में भौतिकी (Physics) और रसायन (Chemistry) के तथ्यों पर अविश्वास करें। इस लेख में यह प्रयत्न किया गया है कि गणितीय तथ्यों का आत्मिकीय घटनाओं से किस प्रकार सामंजस्य बैठता है।

कुछ वृद्ध लोगों ने बताया है कि २५-३० वर्ष पहले की बात है कि बनारस में एक सभा हो रही थी जिसमें डा० ऐनी बेसेन्ट भी उपस्थित थीं। उस सभा में एक व्यक्ति जिसे कुछ आत्मिकीय क्रियायें सिद्ध थीं अपनी शक्ति का प्रदर्शन कर रहा था। उससे कहा गया कि अपनी शक्ति का अकाट्य प्रमाण दो। उसने अपना हाथ ऊँचा किया और तुरंत उसके हाथ में लन्दन के दैनिक समाचारपत्र 'टाइम्स' की एक प्रति आ गई। वह समाचारपत्र उपस्थित व्यक्तियों में घुमाया गया। उस पर उसी दिन की तारीख पड़ी हुई थी और वह इतना गीला था मानो तुरन्त मुद्रणालय से निकलकर आया हो। उन दिनों तक वायुयानों का चलन बहुत कम था। अतएव उस समाचारपत्र की प्रामाणिकता की जाँच के लिये सब लोगों को तीन सप्ताह तक बाट देखनी पड़ी। तीन सप्ताह के उपरान्त जब उक्त दिनांक का 'टाइम्स' लन्दन से आया तो उसकी तुलना सभा वाले पत्र से की गई। दोनों अक्षरशः एक थे।

कुछ लोगों ने आँखों देखी घटनायें सुनाई हैं। एक कमरे के समस्त किवाड़ और खिड़कियाँ बन्द कर दिये गये हैं। उसमें केवल प्रदर्शक और दर्शक बैठे हुये हैं। कमरे के रोशनदानों तक में कपड़े ठूंस दिये गये हैं। प्रदर्शक से कहा जाता है कि कलकत्ते का एक ऐसा फल मंगाकर दो जो आजकल इस नगर में नहीं मिलता। प्रदर्शक ने फल के दाम मांगे। दाम लेकर प्रदर्शक ने हाथ ऊँचा किया।

उसके हाथ से द्रव्य ओझल हो गया और उक्त फल आ गया। कुछ लोगों ने इन पंक्तियों के लेखक को बताया है कि बनारस में भी ऐसे कई व्यक्ति रहते थे जिनमें से एक का नाम था हसन खां जिन्नी। ऐसी घटनायें केवल सीधे-साधे बुद्धू और भोंदू ने नहीं सुनाई हैं वरन् पढ़े-लिखे गम्भीर, समझदार व्यक्तियों ने इन घटनाओं की पुष्टि की है। अतएव इन तथ्यों को भ्रान्ति अथवा विभ्रम कहकर नहीं टाला जा सकता है।

बनारस में ठठेरी बाजार की नुक्कड़ पर एक पनवाड़ी की दूकान है। उसके पिता या पितामह का नाम इसरी था। उसके हाथ का पान बनारस भर में प्रसिद्ध था। उसका लेखा बनारस के बहुत से रईसों के यहाँ रहता था और महीना दो महीना पीछे हिसाब हुआ करता था। एक बार बनारस के एक रईस अपने इष्ट मित्रों सहित कलकत्ते गये हुये थे। एक दिन वहाँ सब मित्रों का सहभोज हुआ जिसमें बहुत स्वादिष्ट भोजन बना। भोजनोपरांत किसी ने कहा कि "भोज में एक ही बात की कमी रह गई। यदि इस समय इसरी का पान भी आ जाता तो भोजन में चार चाँद लग जाते"। उक्त व्यक्तियों में से एक बोला "यह कौन कठिन बात है"। उसने हाथ ऊपर किया और एक रुपये के लगे पान उसके हाथों में आ गये। सब लोगों ने खाकर पहचाना कि वे इसरी के ही हाथ के पान थे।

कुछ समय पश्चात् धनाढ्य महोदय बनारस लौटे। जब इसरी की दुकान से हिसाब आया तो मुनीम ने उससे अपने बहीखातों की तुलना की। उन दोनों में एक रुपये का अंतर निकला। एक तारीख को एक रुपये के पान इसरी के हिसाब में थे जो मुनीम के बहीखाते में नहीं थे। यह वही तारीख थी जिस दिन उन लोगों ने कलकत्ते में अद्भुत रीति से पान मँगवाये थे।

इस ढंग की घटनायें अनगिनती दी जा सकती हैं किन्तु इन घटनाओं का कहीं पर अभिलेख नहीं है। इसलिये आज इनकी जाँच करना कठिन है। किन्तु सहस्रों उदाहरण ऐसे भी विद्यमान हैं जिनके अभिलेख विस्तारपूर्वक सुरक्षित रखे हुये हैं। ऐसे दो तीन उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं।

१. दस वर्ष की एक लड़की एक गली में जा रही थी। वह ज्यामिति की एक पुस्तक पढ़ती थी। अकस्मात उसका वातावरण उसकी आँखों से ओझल हो गया। उसने देखा कि उसकी मां घर के एक ऐसे कमरे की भूमि पर मरणासन्न पड़ी है जो बहुत कम प्रयोग में आता था। दृश्य बहुत ही स्पष्ट था। बच्ची ने यह भी देखा कि फीतेदार एक रूमाल मां से थोड़ी दूर पर भूमि पर पड़ा है। अनुभूति इतनी वास्तविक थी कि लड़की घर जाने के बदले सीधी डाक्टर के घर गई और उससे अपने घर चलने के लिये गिड़गिड़ाने लगी। वह स्पष्ट रूप से डाक्टर को ले जाने का कारण नहीं बता सकी क्योंकि उसकी मां का स्वास्थ्य काफी अच्छा था और उसको उसी दिन एक काम पर कहीं दूर जाना था। इसलिये यह निश्चय भी नहीं था कि मां घर पर ही होगी। किन्तु फिर भी लड़की डाक्टर को हठ करके घर ले गई। रास्ते में उसके पिता जी घर जाते हुये मिले। पिता ने डाक्टर को देखते ही पूछा कि "कौन रुग्ण है"। बच्ची ने उत्तर दिया 'मेरी मां रुग्ण हैं' और उन दोनों को सीधे उस कमरे में ले गई। उक्त कमरे में उसकी मां ठीक दशा में पड़ी हुई थी जैसी उसने अपने मानसिक चित्र में देखी थी। मां से दूर पर फीतेदार रूमाल भी पड़ा हुआ था। डाक्टर ने मां की परीक्षा करके कहा कि उसे हृद्रोग का आक्रमण हुआ है। डाक्टर ने यह भी कहा कि यदि वह तुरन्त न आ गया होता तो रोगिणी का बचना असम्भव था। जब यह कांड समाप्त हो गया तब पिता को पता चला कि उसकी पत्नी तब रोगग्रस्त हुई थी जब लड़की घर से बाहर जा चुकी थी। घर के किसी नौकर को भी उसकी रुग्णावस्था का पता नहीं था। इस घटना का कारण सिवाय इसके और कोई नहीं दिया जा सकता कि उस लड़की को अपनी मां की दशा का ज्ञान इन्द्रियेतर ज्ञान (Extra-Sensorial

Knowledge) द्वारा हुआ। इसी वृत्त को हम दिव्य दृष्टि (Clairvoyance कह सकते हैं।

यह उदाहरण संगामी घटनाओं (Concurrent events) के इन्द्रियेतर ज्ञान की हैं।

२. यह घटना एक लेखिका और सम्पादिका की है। वह लिखती हैं कि-

मैं और मेरे जुड़वा भाई बचपन में एक छोटे गांव में रहते थे जिनमें बस्ती के बीच में से एक रेल की पटरी जाती थी। यह पटरी हमारे स्कूल के रास्ते में पड़ती थी। प्रति दिन प्रातःकाल एक रेलगाड़ी उस पटरी पर से जाती थी और फाटक पर काफी देर तक खड़ी होती थी। बीच-बीच में पार्श्वायन (Shunting) करती थी और कभी कभी आगे कभी पीछे को चलती थी। हमें स्कूल पहुँचने में देर हो जाती थी। इस लिये बहुत से बच्चे गाड़ी के नीचे होकर पार हो जाते थे। किन्तु हम दोनों को यह चेतावनी दी गई थी कि ऐसा कभी न करें। अतएव हम लोग कभी गाड़ी के नीचे से होकर नहीं निकलते थे।

मैं लगभग १० वर्ष की थी जब मुझे एक स्वप्न दिखाई देने लगा जिसे मैं 'रेलगाड़ी का स्वप्न' कहती हूँ। स्वप्न में मैंने देखा कि एक दिन इंजन गाड़ी से अलग पार्श्वायन करने जा चुका है और गाड़ी फाटक पर खड़ी है। हम दोनों गाड़ी के नीचे से उस पार जाने लगे। स्वप्न बहुत ही स्पष्ट और विस्तृत था। मेरा भाई तो एक लम्बे डिब्बे के बीचो-बीच के नीचे से जाने लगा और मैं न जाने क्यों दो डिब्बों के किनारों के बीच में से जाने लगी। मैं पटरी के दूसरी ओर निकलने ही वाली थी और मेरा केवल एक पैर पटरी पर रह गया था कि गाड़ी ने एक झटका दिया। मेरे पास का पहिया घूमा। उसने मुझे बायीं ओर से धक्का दिया और मैं हाथ पैर के बल पटरी पर गिर पड़ी।*

*. F. B. Rhina. The Reach of the mind, London p. 28.

मुझे गाड़ी की गति की ध्वनि स्पष्ट सुनाई दे रही थी। पहिया मेरी टांगों के ऊपर आने ही वाला था और एक क्षण में मेरा कचूमर निकल जाने वाला था। एकदम से मेरा भाई चीखा और मेरी ओर दौड़ा। किन्तु वह मुझे बचा नहीं सकता था। अकस्मात् गाड़ी चलते-चलते रुक गई और मैं एक प्रबल प्रयत्न करके पटरी के बाहर आ गई। बाहर आकर भी मैं डर के मारे गिर पड़ी। मेरा भाई चिल्लाया कि "मैं तो समझा तुम मर चुकी हो"।

इतने ही में मेरी आंख खुल गई और मैं ने देखा कि मैं थर-थर काँप रही हूँ। यह स्वप्न मुझे बार-बार आने लगा। कभी दो-चार दिन बाद, कभी दो-चार सप्ताह के पश्चात्। कभी-कभी तो एक रात में दो बार स्वप्न दिखाई देता था। इस स्वप्न ने वर्षों तक मेरा पीछा नहीं छोड़ा। किन्तु बार-बार वही स्वप्न देखने से मेरा डर जाता रहा। स्वप्न आदि से अंत तक विस्तारपूर्वक ज्यूं का त्यूं बिना किसी परिवर्तन के दिखाई देता था।

जब मैं १८ वर्ष की हुई तो संगीत सीखने के लिये एक नगर में गई। जिस परिवार में रहने लगी उसमें एक १० वर्ष का लड़का था जो मेरे जुड़वा भाई से मिलता-जुलता था। हम दोनों में मित्रता हो गई। एक दिन हम दोनों कहीं बाहर से आ रहे थे कि रास्ते में रेल के फाटक पर एक मालगाड़ी खड़ी हुई दिखाई दी। मेरे छोटे मित्र ने कहा कि "चलो, इसके नीचे से निकल चलें" और आगे बढ़ गया। मुझे उस समय उस स्वप्न की याद भी नहीं आई थी। मैं भी उस लड़के के पीछे-पीछे चलने लगी। ठीक वही दृश्य घटित हुआ। वह लड़का एक लम्बे डिब्बे के मध्य के नीचे से चलने लगा और मैं दो डिब्बों के किनारों के बीच में से। मैं पटरी को पार करने ही वाली थी कि एकदम से गाड़ी ने झटका दिया। एक क्षण के लिये मैं वास्तविकता और भ्रान्ति का अन्तर भूल गई। सबसे आश्चर्यजनक बात यह है कि मुझे तनिक भी डर नहीं लगा और मैं यही

समझने लगी कि वही रेलगाड़ी का स्वप्न एक बार फिर देख रही हूँ।

जब वह लड़का चिल्लाया तब मुझे वस्तुस्थिति का ज्ञान हुआ। गाड़ी एक झटका देकर फिर खड़ी हो गई थी। इतना समय था कि मैं बाहर कूद पड़ूं और अपनी जान बचा लूँ। मैं प्रयत्न करके कूद कर बाहर खड़ी हो गई और लड़के के हाथ से चिपट गई। वह बार-बार कह रहा था कि "मैं तो समझा तुम मर चुकी हो"।

जब हम दोनों घर की ओर चलने लगे तब मुझे ध्यान आया कि यह मेरे पुराने स्वप्न की वास्तविक आवृत्ति थी। उस दिन के पश्चात् मुझे वह स्वप्न फिर कभी दिखाई नहीं दिया। एक दिन मैंने उस लड़के से पूछा "तुम्हें याद है जिस दिन रेलगाड़ी से मरती मरती बची थी। तुमने क्या शब्द कहे थे"। वह भौंचक रह गया। उसने कहा कि "मैंने तो एक शब्द भी नहीं कहा था। मैं तो इतना हक्का बक्का हो गया था कि मेरे अन्दर बोलने की शक्ति ही नहीं रह गई थी।"

इस उदाहरण में स्वप्न की प्रायः सभी बातें सच्ची निकलीं। केवल इतना अन्तर था कि उसके भाई का स्थान एक अन्य लड़के ने ले लिया था। यह घटना पूर्वबोध * (Pre-Cognition) का उदाहरण है।

३. यह घटना एक व्यक्ति ग्रिजवुड पर घटी थी। जब वह १२ वर्ष का था। एक रात उसे एक स्वप्न दिखाई दिया। उसने देखा कि वह एक लड़का है जो प्रथम चार्ल्स के समय में एक बहुत ही सुन्दर भवन में रहता है। भवन के चारों बाग बगीचे थे। भवन का एक कर्मचारी जान नामक था जिससे उसकी मित्रता थी। उसे ऐसा प्रतीत हुआ मानो उस वातावरण का एक-एक कोना उसका देखा और समझा हुआ है और वह उसमें वर्षों से रहता चला आया है।

जब वह सवेरे उठा उसने स्वप्न की बातें विस्तारपूर्वक स्मरण थीं। अगली रात को उसने फिर वही स्वप्न देखा। उसने देखा कि वह जान के साथ घोड़े पर कहीं जा रहा है। ग्रिजवुड लिखता है कि "मुझे उस स्वप्न की छोटी से छोटी बातें भी आज तक स्पष्ट रूप से याद हैं। दोनों के घोड़ों का रंग, दोनों के वेश, जान की आकृति, उसकी चमड़े की वास्कट इत्यादि।"

स्वप्न प्रति रात दिखाई देता रहा। स्वप्न में पिछली घटनायें दुबारा नहीं दिखाई देती थीं। प्रत्येक रात को स्वप्न पिछली रात की घटनाओं से आगे बढ़ता था। १५ दिन पश्चात् स्वप्न दीखना बन्द हो गया।

इस घटना को वर्षों बीत गये। लगभग ७ वर्ष पश्चात् वह बड़े दिन की छुट्टियों में अपने एक मित्र के यहाँ ठहरने के लिये गया। उसके आतिथेय ने एक दिन कहा "चलो कल तुम्हें एक बड़ा सुन्दर मकान दिखायेंगे"। वे लोग लगभग १० मील दूर चले गये। जब गाड़ी एक सुन्दर भवन के आगे जाकर रुकी ग्रिजवुड भौंचक्का होकर देखने लगा। यह मकान उसके स्वप्न वाला भवन ही था इसमें तनिक भी संदेह नहीं हो सकता था। घर की स्वामिनी उसे मकान के कमरे दिखाने लगी और वह चकित होकर देखने लगा। एक बड़े कमरे में पहुँचकर उसने कहा, "हैं! इस दरवाजे पर जो पश्मीने का पर्दा लटक रहा था कहाँ गया"। मालकिन बोली "तुम्हें कैसे पता चला कि यहाँ पश्मीने का पर्दा लटक रहा था। वह पर्दा तो उस समय हटा दिया गया था जब तुम्हारा जन्म भी नहीं हुआ होगा। सच बताओ बात क्या है?"

युवक बैठ गया और उसने मालकिन को सारी कहानी सुना दी। उसने बड़े ध्यान से सुनी। फिर बोली। "मुझे चलकर बताओ और इस मकान में क्या-क्या परिवर्तन हुये हैं"। जब वे लोग शयनागार में पहुँचे ग्रिजवुड बोला "इस दीवार में तो एक खिड़की थी जिसमें से मैं बाग की छबि देखा करता था। तुमने उसे बन्द क्यों करा दिया है।" यह कह

* W. D. Steuens- The Mystesig of Dreams. London 150 p. 187.

कर उसने दीवार में एक दस्तक दी। दीवार खोखली प्रतीत हुई। मालकिन अवाक् रह गई। दीवार तोड़वाई गई और उसमें खिड़की का ढांचा ज्यूं का त्यूं पाया गया।

यह उदाहरण पश्च-बोध (Retro-Cognition) का है। *

मान लीजिये कि एक बहुत गहरी खाई है जिसमें दोनों किनारों पर दो खंभे लगे हुये हैं जिनके बीच में एक रस्सा टा ठा बंधा हुआ है। का खा एक कीड़ा है जो काफी लम्बा है किन्तु जिसकी चौड़ाई और मोटाई नगण्य है। इस कीड़े के दोनों ओर एक-एक आंख लगी हुई है जो ठीक सीध में ही देख सकती है। इस कीड़े को केवल आगे और पीछे का ज्ञान होगा, दाहिने और बायें का कोई ज्ञान नहीं होगा। ऊपर और नीचे का भी कोई बोध नहीं होगा। इस कीड़े का संसार उस रस्सी तक ही सीमित है जिस पर वह चल रहा है।

(२) एक-विम संसार (Gne dimensional world)
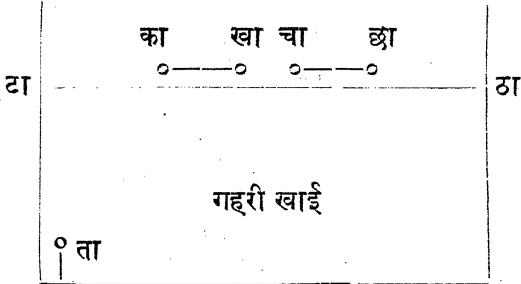
मान लीजिये कि दूसरे खंभे ठा से इसी प्रकार का एक दूसरा कीड़ा चा छा चलकर आता है और दोनों की बीच में मुठभेड़ हो जाती है। दोनों यह सोचने लगते हैं कि किस प्रकार एक दूसरे को पार किया जाय। यह कार्य दोनों को असम्भव दिखाई देता है। दोनों को यही एक मार्ग दिखाई पड़ता है कि दोनों जिधर से आये हैं उधर ही लौटकर चले जाँय।

*. वही, पृष्ठ २४४।

मान लीजिये कि ता एक प्राणी है जिसका संसार द्वैविम (Two dimensional) या त्रैविम (Three d·mensional) है। यह प्राणी खाई में कहीं पर खड़ा हुआ है। वह उन दोनों कीड़ों को आवाज देता है। दोनों कीड़े भौंचक होकर देखने लगते हैं। ता फिर आवाज देता है। कीड़ों की समझ में नहीं आता कि आवाज किधर से आई है। तब उस प्राणी और कीड़ों में निम्नलिखित वार्तालाप होता है :—

ता: क्या तुम लोग मुझे देख सकते हो।

कीड़े: नहीं

ता: क्या तुम मेरी आवाज सुन सकते हो।

कीड़े: हां, किन्तु यह पता नहीं चलता कि आवाज किधर से आ रही है।

ता: मैं तुम लोगों के नीचे खाई में खड़ा हूँ।

कीड़े: 'नीचे' किसे कहते हैं।

ता: का-खा के दाहिने ओर थोड़ा हटकर फिर २५ फुट नीचे।

का खा: हमारी समझ में नहीं आता कि 'दाहिने' और 'नीचे' किसे कहते हो।

ता: तुम लोग आगे और पीछे तो देख सकते हो न।

का-खा: हां, भली भांति

ता: जिस प्रकार आगे और पीछे की दिशायें हैं उसी प्रकार दो दिशायें 'दाहिने और बायें'

का-खा: यह पागलपन की बातें हैं। हमारा सारा संसार आगे और पीछे दिखाई दे रहा है। तुम 'दाहिने' और 'बायें' किसे कहते हो यह समझ में नहीं आता।

ता: अच्छा यह बताओ तुम्हारे सामने कठिनाई क्या है ?

का-खा: मैं ठा की ओर जाना चाहता हूँ और यह व्यक्ति चा-छा टा की ओर जाना चाहता है। किन्तु दोनों के रास्ते बन्द हैं। क्या करें, कुछ समझ में नहीं आता।

ता: तुम चा-छा के ऊपर से होकर क्यों नहीं निकल जाते।

का-खा: फिर वही पागलपन। 'ऊपर' से तुम्हारा तात्पर्य क्या है?

ता: अच्छा यदि मैं तुम दोनों को अपने अपने गन्तव्य स्थान तक पहुँचने का उपाय बता दूँ तो।

का-खा: तुम्हारा बड़ा उपकार होगा। परन्तु तुम यह करोगे कैसे?

ता: अच्छा ठहरो।

ता: ने ऊपर आकर रस्सी के पास कहीं खड़े हो कर का-खा को हाथ से उठा लिया। चा-छा भौंचक्का होकर देखने लगा। का-खा उसकी आँखों से अदृश्य हो गया। कुछ क्षण पश्चात् ता ने का-खा को चा-छा के पीछे उसी रस्सी पर लाकर रख दिया और तब पूछने लगा "कहो अब तो तुम दोनों अपने-अपने रास्ते जा सकते हो।"

चा-छा: तुमने तो जादू सा कर दिया किन्तु मेरी समझ में कुछ नहीं आया कि यह हुआ कैसे?

ता: तुमको क्या दिखाई पड़ा?

चा-छा: मुझे तो केवल इतना दिखाई पड़ा कि का-खा मेरे संसार से लुप्त हो गया। कुछ क्षण पश्चात् वह कहीं से आकर मेरे पीछे की ओर रस्सी पर फिर लेट गया। इसके अतिरिक्त मैं कुछ नहीं देखता।

ता ने का-खा से पूछा कि "तुमने क्या देखा?" का-खा ने कहा कि "मुझे एकदम से ऐसा भान हुआ कि मैं संसार से उठ गया हूँ। मैं संज्ञाहीन हो गया। ऐसा प्रतीत हुआ मानो मेरी मृत्यु हो गई है। कुछ क्षण पश्चात् मेरी आँख खुली तो मैंने देखा कि मैं रस्सी पर का-खा के पीछे लेटा हुआ हूँ। इसके अतिरिक्त मैं कुछ नहीं समझ पाया।"

ता: मैंने कोई जादू नहीं किया है। मैंने केवल तुमको ऊपर की दिशा में उठाया और चा-छा के पीछे लाकर रख दिया। जिस प्रकार तुम्हारे संसार में आगे और पीछे की दिशायें होती हैं उसी प्रकार हमारे संसार में ऊपर और नीचे की भी दिशायें होती हैं।

का-खा: होती होंगी किन्तु हमारी समझ में कुछ नहीं आता।

ता: अब मैं एक और प्रयोग करता हूँ। इधर देखो।

ता ने अपने हाथ में एक लम्बा सा डंडा लिया और उसे रस्सी के ऊपर इस प्रकार खड़ा कर दिया।

ता: तुम्हें क्या दिखाई देता है?

का-खा: एक बिन्दु दिखाई देता है।

ता: केवल एक बिन्दु दिखाई देता है? डंडा दिखाई नहीं देता।

का-खा हमें तो केवल एक बिन्दु दिखाई दे रहा है। तुम डंडा किसे कहते हो।

ता ने डंडे को थोड़ा सा नीचे को खिसकाया और फिर का-खा से पूछा "अब क्या देखते हो?" उसने फिर वही उत्तर दिया "एक बिन्दु।"

ता डंडे को नीचे खिसकाता जायगा किन्तु का-खा को एक बिन्दु के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखाई देगा। जब पूरा डंडा रस्सी के नीचे पहुँच जायगा तब वह का-खा की आँखों से ओझल हो जायगा। का-खा या तो यह समझेगा कि उसे एक बिन्दु दिखाई देता रहा या अधिक से अधिक यह समझेगा कि उसे एक बिन्दुमाला दिखाई दी। यदि ता डंडे को ऊर्ध्व दिशा के बदले क्षैतिज दिशा में या किसी टेढ़ी दिशा में भी दिखाये तो भी का-खा को बिन्दुओं के अतिरिक्त और कुछ दिखाई नहीं देगा।*
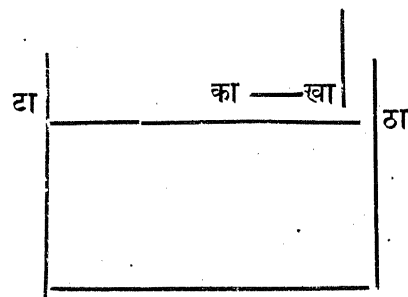
*हमने जिस संसार की कल्पना की है वह यथार्थ रूप में एकविम नहीं है। उसमें दूसरी विमा की भी थोड़ी सी [शेष पृ० ११६ पर]

सूर्य और नक्षत्र-मंडल

[डा० रामधर मिश्र]

'पृथ्वी और समीपवर्ती शून्य' शीर्षक पहिले अध्याय में मैंने यह बताया है कि विश्व का रहस्य ज्ञान पाना अब असम्भव नहीं माना जाता। अरबों रुपये से बनी बड़ी-बड़ी वेधशालाओं में ऐसे-ऐसे यन्त्र हैं जिनसे इस पृथ्वी पर से ही असंख्य मील दूर स्थित तारों के विषय में आशातीत ज्ञान प्राप्त हो रहा है। १०० और २०० इंच बड़े 'कांच' यानी शीशे वाली दूरबीनों की सहायता से अगोचर तारों का सुन्दर दिग्दर्शन एवं उनकी लीला का मनोरम दृश्य उपलब्ध हो जाता है। दूरबीनों से ज्योतिर्विद जो स्वयं देख लेते हैं कैमरा से फोटो खींच कर उसका परिचय अन्य लोगों को भी देते रहते हैं। तारों को देखने के साधनों में दूरबीन तथा कैमरा का विशेष स्थान रहा है किन्तु यदि बाह्य रूप से वास्तविक रहस्य भी ज्ञात हो जाता तो विश्व मण्डल में अज्ञात क्षेत्र बहुत कम होता। सूर्य को ही लीजिये इसमें प्रकाश है उष्णता है, फोटो खींचने से सूर्य के तापमान का ज्ञान नहीं होगा, सूर्य में क्या-क्या पदार्थ हैं यह भी नहीं ज्ञान मिलेगा। किन्तु आज के वैज्ञानिक साधनों ने अज्ञेय को ज्ञेय कर दिया है। स्पेक्ट्रस्कोप (प्रकाश की रंगावलि स्पेक्ट्रम नापने का यंत्र) और 'फोटो-एलेक्ट्रिक सेल' की सहायता से असंख्य मील दूर तारों की क्षीण ज्योति से भी उनके आन्तरिक संगठन का अध्ययन सम्भव हो गया है। मैंने जान बूझ कर अध्ययन शब्द का प्रयोग किया है क्योंकि इस ज्ञानसंचय में गणित का प्रयोग अनिवार्य है; आज भी ज्योति विद्या गणित एवं गणितज्ञों की सूझ पर भी बहुत कुछ निर्भर है।

अब मैं सूर्य और नक्षत्रों की चर्चा करूँगा। सूर्य स्वयं एक नक्षत्र है। अरबों तारों में एक, छोटा, नगण्य सा तारा', किन्तु हमारे लिये यह अदना तारा ही बहुत महत्वपूर्ण है। यदि सूर्य का तेज एवं प्रकाश हमें न मिले तो इस मनोहारिणी पृथ्वी पर प्राणिमात्र का सम्पूर्ण विनाश हो जाये। यदि तेज बढ़ जाय तो भी हमारी इहलीला समाप्त हो जाय। लगभग ५ सहस्र तारे हम बिना दूरबीन के ही देख लेते हैं यदि चार इंच 'लेंस' की छोटी दूरबीन से देखें तो लगभग २०-२२ लाख तारे दृष्टिगोचर हो जाते हैं। और २०० इंच वाली बड़ी दूरबीन से तो लगभग दस अरब तारों से भी अधिक का देखना सम्भव हो गया है। इनमें से ढाई लाख तारों का थोड़ा बहुत अध्ययन कर भी लिया गया है जिनमें न्यूनाधिक २५ हजार तारे हमारे सूर्य सरीखे हैं। अन्तर इतना ही है कि सूर्य हमारे निकट है, वे बहुत दूर हैं। सूर्य का अध्ययन इस ब्रह्माण्ड के अनेकों तारों के रहस्य से हमें परिचित करा देगा। यहाँ यह भी कह दूँ कि मंगल, बुध, शुक्र, शनि आदि जिन ग्रहों की चर्चा मैं पहले कर चुका हूँ वे नक्षत्र नहीं माने जाते; वे सूर्य के प्रकाश से ही चमकते हैं, अपने निजी प्रकाश से नहीं, किन्तु नक्षत्र अपने तेज एवं प्रकाश से आकाश-मण्डल को शोभित करते हैं।

हमारी पृथ्वी से ३ लाख गुना बड़ा यह प्रचण्ड सूर्य अनेकों तारों की अपेक्षा अत्यन्त क्षीणकाय एवं शीतल है। वैज्ञानिक वीन के नियम के आधार पर सूर्य-रश्मियों की रंगावलि से यह निष्कर्ष निकलता है कि सूर्य के ऊपरी भाग का तापमान लगभग ६०००° सेंटीग्रेड है। स्मरण रहे कि खौलते पानी का तापमान केवल १००° होता है। फ्रानहोफर रेखाओं के अध्ययन से भी यही तापमान प्रमाणित होता है।

पहले यह अनुमान था कि सूर्य में लोहे के

परमाणुओं का बाहुल्य है, किन्तु अब यह बात सब को मान्य है कि सूर्य में हाइड्रोजन का प्राधान्य है है। हीलियम आदि पदार्थ भी कुछ-कुछ मात्रा में हैं किन्तु विशेष नहीं। हाइड्रोजन सबसे हल्का, परमाणुओं में सबसे सरल पदार्थ है और यह भी अब मान्य है कि हाइड्रोजन ही ब्रह्माण्ड के समस्त तारों का मौलिक तत्व है।

तारों में सूर्य का अध्ययन सबसे अधिक किया गया है। वह है भी हमारे निकट, किन्तु एक विशेषता और भी है। यह अध्ययन अत्यन्त रोचक है, बड़ी अनोखी बातें एक से एक वैचित्र्य पूर्ण ज्ञात होती चलती हैं। सूर्य के अनेकों चित्र लिये गये हैं, एक से एक सुन्दर, जिन्हें देखकर उल्लास होता है वे चित्र देखने योग्य हैं। सूर्य के अध्ययन में सबसे पहले ध्यान आकर्षित होता है उसके धब्बों (Sun spots) की ओर; ये धब्बे सरीखे चिन्ह हैं। ११ वर्ष क्रम से वे आते रहते हैं। वे बड़े प्रभावशाली हैं किन्तु उनके विषय में कुछ अधिक ज्ञान नहीं मिला है। इनके अन्दर का तापमान लगभग ४०००° सेन्टीग्रेड है अर्थात् सूर्य के अन्य स्थानों की अपेक्षा वे कुछ ठंढे हैं। यह निश्चित है कि सूर्य के उन धब्बों का असर पृथ्वी पर भी होता है यहाँ तक कि रेडियो प्रोग्राम में भी बाधा पहुँचती है। एक चुम्बकीय उथल-पुथल (magnetic storm) मच जाती है।

सूर्य से कुछ *विशालकाय लपटें* उठा करती हैं उनके बड़े सुन्दर चित्र आते हैं किन्तु इन चित्रों के आन्तरिक ज्योतिशिखाओं का भी विशेष अध्ययन नहीं हो पाया है। अभी यह भी नहीं ज्ञान मिला है कि सूर्य के धब्बों के साथ इनका कोई सम्बन्ध है कि नहीं।

सूर्य के चारों ओर एक *आवरण* सा है जो सूर्य-ग्रहण के समय प्रत्यक्ष हो उठता है इस आवरण की रंगावलि के अध्ययन से यह प्रमाणित होता है कि सूर्य की सतह से १०-५ हजार मील दूर इस आवरण में तापमान लगभग २००००° सेन्टीग्रेड है। अन्य नक्षत्रों में भी कुछ इसी प्रकार से आवरण हैं।

सूर्य के इस आवरण को चीरती हुई एक विशेष *ज्योति प्रभा* भी पाई जाती है जो सूर्य के बहुत ऊपर कई करोड़ मील तक निकल जाती है। लपटों से यह भिन्न है। ज्योतिर्विद् एडलेन ने यह खोज निकाला है कि इस ज्योति प्रभा में लोहे और चूने के परमाणुओं का बाहुल्य है। इसका तापमान लगभग १० लाख सेन्टीग्रेड के है।

सूर्य अपनी धुरी पर भी घूमता है बहुत धीरे-धीरे; अधिकतर तारे धीरे ही घूमते हैं। सूर्य लगभग एक मास में पूरा चक्कर करता है। किन्तु इस घूमने में एक विशेषता है बीच में अधिक वेग से धुरी के छोर पर अपेक्षाकृत कम वेग से घूमता है अवश्य ही इसके कारण सूर्य में बड़ी उथल-पुथल मचती होगी सम्भवतः इसके कारण ही (Sun spots) सूर्य के धब्बे सरीखे स्थान बनते होगें।

सूर्य के अन्तर्भाग की चर्चा और भी मनोरंजक है। सूर्य तल पर तापमान ६००० डिग्री है किन्तु अन्दर तापमान बढ़ता जाता है यहाँ तक कि बीच में लगभग एक करोड़ अस्सी लाख डिग्री का तापमान है। ऊपरी दबाव के कारण सूर्य का मूल द्रव्य वायु की नाईं तरल होते हुये भी काफी भारी है।

एक प्रश्न यह उठता है कि जब सूर्य इतने तापमान पर प्रज्वलित है और उसकी शक्ति निरन्तर क्षीण होती जा रही है तो वह ठंढा क्यों नहीं हो जाता? यह शक्ति कहाँ से आती है? कहाँ है उसका उद्गम स्थान, कहाँ है स्रोत और इस शक्ति के विपुल भन्डार का रहस्य क्या है? विज्ञान की नई खोजों ने जिनमें आइंस्टीइन का 'एनर्जी इक्वेशन' विशेष उल्लेखनीय है यह प्रमाणित कर दिया है कि हाइड्रोजन के चार परमाणु यदि मिलकर हीलियम का एक परमाणु बनावें तो इस एक का भार उन चार के भार से कुछ कम होगा और जितनी कमी होगी उसी के हिसाब से शक्ति उत्पन्न होगी। हाइड्रोजन का हीलियम में परिवर्तन डेढ़ दो करोड़ डिग्री के तापमान में ही सम्भव है। सूर्य के अन्दर यह परिवर्तन होता रहता है और जो शक्ति उत्पन्न होती

है वह अन्दर से बाहर आ जाती है और सूर्य से चारों ओर तेज और प्रकाश के रूप में फैलती है। क्रमशः हाइड्रोजन कम हो रहा है और हीलियम कैलशियम आदि की मात्रा में वृद्धि। किसी भी नक्षत्र में हाइड्रोजन के हीलियम में परिवर्तित होने का एक और विशेष प्रभाव होता है। वह नक्षत्र अधिक ज्योतिपूर्ण होता चलता है। साथ ही विलायत के प्रसिद्ध वैज्ञानिक एडिंग्टन की गणना से यह भी प्रमाणित है जितना ही बड़ा नक्षत्र होगा उसकी उतनी ही शक्ति क्षीण होगी। ये दोनों नियम आज की ज्योतिर्विद्या के विशेष स्तम्भ है। ऐसे विशालकाय नक्षत्र पाये जाते हैं जिनमें अब ज्योति प्रायः नहीं के बराबर है। इनका हाइड्रोजन प्रायः समाप्ति पर है। सभी नक्षत्रों का एक न एक दिन यही अन्त होना है। किन्तु अपने सूर्य को ५० अरब वर्षों तक हाइड्रोजन की कठिनाई नहीं होगी।

शक्तिप्रजनन का एक और मत यह है सूर्य के अन्दर से शक्ति बाहर निकलते रहने पर जो शक्तिह्रास होगा वह ह्रास यदि पूरा न हुआ तो सूर्य के अन्दर का भाग ठंढा पड़ने लगेगा। बाहरी भाग के दबाव को झेल लेने की सामर्थ्य भीतरी भाग में कम हो जायगी; इससे सूर्य संकुचित होगा और इससे अन्दर का भाग फिर गर्म हो उठेगा। इस प्रकार के लेन देन से शक्तिप्रजनन में विशेष कमी नहीं पड़ेगी। हाँ हर वर्ष सूर्य का व्यास लगभग १०० गज कम हो जायगा। लेकिन इस क्षति से सूर्य को विशेष भय नहीं, करोड़ों वर्षों में भी सूर्य के विस्तार में कोई उल्लेखनीय कमी नहीं होगी।

केम्ब्रिज के युवा गणितज्ञ 'फ्रेड ह्वायल' के मत से कुछ नक्षत्रों में हाइड्रोजन का हीलियम में परिवर्तन सम्भव नहीं क्योंकि डेढ़ दो करोड़ का तापमान उनमें है ही नहीं। इन नक्षत्रों की बात लेकर इन्होंने यह मत रक्खा है कि विशेष परिस्थिति में चाहें नक्षत्रों का संकुचन हो किन्तु साधारण परिस्थितियों में नक्षत्र का प्रसार होगा, संकुचन नहीं। इनके मत से सूर्य के आकार में भी संकुचन नहीं, प्रसार हो रहा है और बढ़ते-बढ़ते सूर्य इतना फैल जायगा कि बुद्ध और शुक्र उसी में समा जायेंगे और क्रमशः पृथ्वी और मंगल भी। लेकिन वैज्ञानिकों से ह्वायल के मत को पुष्टि नहीं मिली है। यह मत कोरी कल्पना के क्षेत्र में फेंक दिया गया है।

अब अन्य तारों का हाल सुनिये। आकाश मंडल के तारापुंजो में सबसे सुन्दर नक्षत्रसमूह मृगशिरा है। पहले उसी को ले लें।

तारापुंज मृगशिरा की चर्चा वैदिक काल से होती आ रही है, यह पुंज है ही ऐसा मनमोहक। शीतकाल के निर्मल आकाश में यह चित्त को आकर्षित कर ही लेता है। किन्तु ज्योतिर्विद्या में भी इस तारापुंज को विशेष स्थान प्राप्त है। नाना प्रकार के जितने तारे होते हैं छोटे, बड़े, श्वेतवर्ण, रक्तवर्ण, ज्वलन्त, मेघोपम सभी के दो चार नमूने इस नक्षत्रसमूह में मिल जाते हैं। इस तारापुँज में सबसे पहले दृष्टि जाती है 'सीरियस' की ओर। संस्कृत में उसका नाम है ही 'लुब्धक', आकाश में सबसे ज्वलन्त तारा यही है, सूर्य से भी ४० गुना अधिक प्रकाशवान। किन्तु इस तारापुँज के अनेक तारे सीरियस से अधिक प्रकाशवान हैं। दूर होने से वे उतने तेज नहीं जान पड़ते। सूर्य की अपेक्षा यह दूना बड़ा और गर्म है। अंग्रेजी में इसे ग्रेट डाग भी कहते हैं।

इसके पास ही एक हल्का सा तारा है जिसका नाम है प्रोक्यान (Procyon अथवा Little Dog लघुश्वान)। यह तारा सूर्य के बराबर ही भारी है किन्तु आकार में उससे बहुत छोटा। सूर्य लगभग २५ हजार गुना अधिक बड़ा है। अवश्य ही इसका एक इंच का टुकड़ा लगभग ३० मन वजनी होगा फिर भी इसका द्रव्यपदार्थ ठोस रूप में नहीं है, वह वायु के समान तरल है। सीरियस का यह साथी अपना हाइड्रोजन प्रायः समाप्त कर चुका है और क्रमशः संकुचित होता रहता है। नक्षत्रों में इसे 'श्वेत वामन' (white dwarf) कहते हैं। सूर्य के निकटतम २५ तारों में ३ श्वेत वामन हैं।

मृगशिरा में रीगेल नाम का तारा भी अच्छा

खासा चमकता है। वह सूर्य से २० हजार गुना अधिक प्रकाशवान और सीरियस से लगभग १५ गुना अधिक बड़ा है। इस तारे के चारों ओर वैसा ही आवरण है जैसा सूर्य के। किन्तु बहुत बड़ा, बहुत ही ज्वलन्त। इस तारे की गणना सुपर जायन्ट नक्षत्रों में की जाती है।

रीगेल के दूसरी ओर हल्के लाल रंग का जो तारा है उसे हिन्दी में आर्द्रा अंग्रेजी में (Betelguex) कहते हैं। यह अपेक्षाकृत शीतल है किन्तु है बहुत बड़ा, सूर्य से आकार से प्रायः तीन सौ गुना अधिक, प्रकाश में एक हजार गुना अधिक, किन्तु इसके आकार में एक प्रकार का स्पन्दन है। कभी छोटा, कभी बड़ा और उसकी ज्योति में भी स्फुरण होता रहता है।

मृगशिरा के तीसरे कोने पर एक छोटा सा तारा है। उसके स्फुरण में लगभग १ वर्ष का क्रम है और उसका प्रकाश कभी कम कभी अधिक होता रहता है, यहाँ तक कि उसकी ज्योति सौ गुना अधिक तक हो जाती है। ज्योतिविद्या में ऐसे तारों का बड़ा महत्व है, इनका अध्ययन अत्यन्त अध्यवसाय के साथ हो रहा है।

मृगशिरा के सभी चमकदार तारे सूर्य से कहीं अधिक प्रकाशवान हैं, किन्तु ये हैं थोड़े। बहुतायत तो उन तारों की है जो सूर्य की अपेक्षा मद्धिम, हल्के शीतल हैं। तारों की दुनियाँ में ऐसे ही तारे अधिकतर पाये जाते हैं और इनसे एक विशेष अनुक्रम (main sequence) बन गया है। इस अनुक्रम के बाहर के तारे दानवीय या वामनीय giants अथवा dwarfs कहे जाते हैं। मुख्य अनुक्रम के छोटे तारे मृगशिरा में जो मेघोपम नामस नेबुला है उसमें भरे पड़े हैं। उन सबकी विशेषता यह है कि उनके आकार में स्पन्द और प्रकाश में स्फुरण हैं; क्रम से कभी मद्धिम कभी तेज। मृगशिरा में इन तारों की बहुतायत से यह सन्देह होता है कि सम्भवतः उनकी उत्पत्ति शायद उस नामस नेबुला में से ही हुई है। शायद आज भी बादल सरीखा जो द्रव्य पदार्थ है वह नये तारों को जन्म दे रहा है, और पुराने छोटे तारों की आकारवृद्धि में योग दे रहा है।

नामस से घिरे इस प्रकार के तारे वृष और वृश्चिक के तारापुञ्जों में भी पाये जाते हैं यह निर्णय चाहे अभी न हो पाये कि नामस से नये तारे उत्पन्न होते हैं अथवा वृद्धि पाते हैं किन्तु यह निश्चय है कि विधि के विधान में, ब्रह्माण्ड के फैलाव में इनका महत्वपूर्ण स्थान है।

प्रमुख अनुक्रम के ज्वलन्त तारे सूर्य से लगभग १० हजार गुना अधिक प्रकाशवान हैं; जो सबसे मद्धिम है उनसे सूर्य लगभग १० लाख गुना अधिक ज्वलन्त है उनके आकार सूर्य से २० गुना बड़े से लेकर दसवां भाग छोटे तक में बिखरे हुये हैं। उनके तापमान ५ लाख डिग्री से लेकर एक दो हजार सेन्टीग्रेड तक के हैं।

जो तारे अधिक प्रकाशवान हैं उन्हीं की ओर ध्यान भी अधिक जाता है किन्तु उनकी संख्या बहुत कम है। यह सही है कि रीगेल तारा सूर्य से दस हजार गुना अधिक प्रकाशवान है किन्तु यह भी सही है कि सूर्य सरीखे तारों की संख्या रीगेल सरीखे तारों की अपेक्षा दस हजार गुनी है।

अन्त में यह कह देना भी उचित है कि यद्यपि इस ब्रह्माण्ड में अरबों तारे पाये जाते हैं लेकिन उसका भौतिक भाण्डार अधिकांश में नामस में कणों और परमाणुओं के रूप में बिखरा हुआ है।

पृष्ठ ११० का शेषांश

छाया है। क्योंकि हमने ऊपर कहा है कि कीड़े में थोड़ी सी चौड़ाई और मोटाई भी है। जो प्राणी वास्तव में एकविम होगा उसमें चौड़ाई और मोटाई हो ही नहीं सकती। इसी प्रकार न ऐसे संसार में डंडे की कल्पना हो सकती है, न रस्सी की। यहाँ यह मानना पड़ेगा कि डंडे रस्सी से सटाकर नीचे को खिसकाया जा रहा है। यदि डंडे और रस्सी में तनिक भी चौड़ाई और मोटाई न हो तो हम उपरिलिखित दृश्य की कल्पना कर ही नहीं सकते।

नक्षत्रों का उद्भव और विकास

—:०:—

नक्षत्रों की चर्चा तो पिछले अध्याय में ही आरम्भ हो गई थी। शीतकाल की किसी सुहावनी रात में आकाश में तारे चमकते दिखाई पड़ते हैं। उनकी संख्या केवल ५ लाख के लगभग है। लेकिन अमरीका के २०० इंच शीशे वाली दूरबीन से देखने पर तारों की संख्या दस अरब के ऊपर ही निकलती है। यह तारे पृथ्वी से बहुत दूर हैं। असंख्य मील दूर! इतनी दूर कि उनकी दूरी की चर्चा साधारण मीलों की भाषा में नहीं हो पाती। एक नया पैमाना प्रयोग में लाया जाता है जिसे प्रकाश वर्ष कहते हैं। प्रकाश बहुत गतिवान है, एक सेकेन्ड में १ लाख ८६ हजार मील दूर जा पहुँचता है। चन्द्रमा से पृथ्वी तक जो दूरी है उसे प्रकाश प्राय: एक सेकन्ड से कुछ अधिक समय में तय कर लेता है। सूर्य्य के प्रकाश को पृथ्वी तक पहुँचने में लगभग ८ मिनट लगते हैं जिस फासले को पार करने में १ लाख ८६ हजार मील प्रति सेकेन्ड चलने वाले प्रकाश को भी एक वर्ष लग जाय उसे प्रकाश वर्ष कहते हैं। जो दूर-दूर के तारे हैं वे पृथ्वी से हजारों लाखों प्रकाश वर्ष की दूरी पर हैं। सभी तारे अपने निजी प्रकाश से चमकते हैं जो अधिक दूर हैं और अपेक्षाकृत कम चमकदार हैं वे खाली आँख से नहीं दिखते। सूर्य्य भी एक तारा है किन्तु तारों में छोटा- मामूली सा। पृथ्वी, मंगल, बुध आदि ग्रहों की गिनती तारों में नहीं है वे अपने निजी प्रकाश से नहीं चमकते। सूर्य्य के प्रकाश में ही ज्योतिर्मान हैं।

इस विश्वमण्डल में जहाँ अरबों तारे हैं वहाँ दो प्रकार के बादल भी पाये जाते हैं एक तो हाईड्रोजन के हैं जिनकी चर्चा की जा चुकी है दूसरे इनसे बिल्कुल भिन्न हैं धूल या आँधी या कोहरे के समान जिनके आर पार देखना भी कठिन हो जाता है। पहिले इनकी जाँच-पड़ताल इसलिये की गई कि ये नक्षत्रों के अध्ययन में बाधा डालते हैं। जो निकट तारे हैं वे इस कोहरे में पड़ कर मद्धिम दिखने लगते हैं और दूर जान पड़ते हैं। जब इनके बारे में छान-बीन की गई तो जान पड़ा कि विश्व में कई स्थलों पर यह कोहरा बेहद घना है और उसकी मात्रा इतनी अधिक है कि विशालकाय तारे उसमें खो जाते हैं। इन कोहरे सरीखे बादलों का काफी अध्ययन हो गया है। इनके कण ठोस हैं, कुछ अंश में धातु कण हैं। जिनमें लोहे का बाहुल्य है, और चुम्बक के लक्षण हैं। अधिकांश कण धातु पदार्थ के नहीं जान पड़ते। इतना अध्ययन होने पर भी इन कोहरों के विषय में अभी एक मत स्थिर नहीं हो पाया है। काफी वाद-विवाद जारी है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि तारों से इनका विशेष- सम्बन्ध है। यह माना जाता है कि तारों की गति पर इन बादलों का पूरा नियंत्रण है।

अनेक प्रकार के जो तारे आकाश मण्डल में भरे पड़े हैं, उनकी कुछ चर्चा पहिले की जा चुकी है, उनमें से मृगशिरा तारापुंज के चमकीले तारे के साथ एक दूसरा तारा भी घूमता है। ये दोनों एक दूसरे के चारों ओर घूमते हुये विश्वमण्डल में अपनी यात्रा कर रहे हैं। ऐसे कई जोड़े हैं, और अब तो यही जान पड़ता है कि बहुत कम तारे ऐसे हैं जो इस विश्व-मण्डल में अपनी यात्रा एकाकी कर रहे हों। ज्योतिर्विद हर्शेल (Hershel) ने युगल तारों की महत्ता समझी और आकाशमण्डल में युगल तारों को ढूँढ़ना आरम्भ किया। पिछले पौने दो सौ वर्ष में दसियों हजार युगल तारे पहचान लिये गये हैं।

इन युगल तारों के बीच बहुत दूरी भी हो सकती

है, अब यह अनुमान किया जाता है कि ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है त्यों-त्यों उनके आपस के चक्कर का घेरा बड़ा होता जाता है। इस अनुमान का एक महत्वपूर्ण परिणाम यह निकलता है कि जो युगल तारे आज एक दूसरे के चारों ओर घूम रहे हैं, वे बहुत समय पहले और भी निकट रहे होंगे अर्थात् आरम्भ से ही एक साथ रहे होंगे।

ज्योतिर्विदों ने हिसाब लगा कर निश्चय किया है कि आँख से दिखाई पड़ने वाले युगल तारों में कई के बीच जितना फासला है उतना होने में प्रायः दस अरब वर्ष लग गये होंगे। इसका एक निष्कर्ष यह भी है कि विश्व-मण्डल के वे प्रभाव जिनसे साथ वाले तारों की दूरी बढ़ने लगती है प्रायः दस अरब वर्ष से अपना काम कर रहे हैं।

ज्योतिर्विद्या में इन युगल तारों का जो सबसे बड़ा महत्व है वह यह है कि उनका वजन ज्ञात किया जा सकता है। जो तारे एकाकी हैं। उनका वजन किसी प्रकार से भी जाना नहीं जा सकता। बात यह है कि यदि एक तारा दूसरे तारे के चारों ओर घूमता हो और यदि यह ज्ञान हो जाय कि मार्ग कितना बड़ा है और कितने समय में चक्कर पूरा होता है तब न्यूटन के नियमों से उन तारों का अलग-अलग वजन गणित की सहायता से निकाला जा सकता है। यदि दोनों तारे छोटे बड़े हों तो उनके कक्ष भी बड़े छोटे होंगे। इस प्रकार गणना करके यह पाया गया है कि बड़े तारे बेहद वजन के हैं। १ की संख्या के बाद ६ शून्य रखने से दस लाख बनता है। यदि २४ शून्य रक्खें तो अरब, खरब, नील, पद्म, संख आदि सब नाम समाप्त हो जाने पर महासंख ही कहना पड़ेगा। लुब्धक (सीरियस) तारे का वजन पाँच हजार महासंख टन होगा और रीगेल का ६५ हजार महासंख टन।

तारापुञ्जों में कृत्तिका (Pleiades) में छः तारे दिखाई देते हैं लेकिन दूरबीन से देखने पर यह ज्ञात हो जाता है कि वह छोटे-छोटे सैकड़ों तारों का समूह है। इन तारों की विशेषता यह है कि सब के सब ये पृथ्वी से प्रायः एक ही दूरी पर हैं और अखिल विश्व के अपने मार्ग में एक साथ यात्रा कर रहे हैं। गणना से इस बात की सम्भावना बहुत कम निकलती है, प्रायः नहीं के बराबर है कि ये सैकड़ों तारे घूमते-घूमते किसी विशेष घटनावश एक साथ हो गये हों, निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि ये जब से हैं तभी से साथ हैं।

तारों का जन्म कब हुआ और कैसे हुआ, इस प्रश्न के उत्तर देने में कुछ वैज्ञानिक नियमों की चर्चा कर देना उचित है। धातु पदार्थों में कुछ ऐसे हैं जिनके परमाणुओं में स्थिरता नहीं है, उन्हें रेडियो ऐक्टिव कहा जाता है, ऐसे पदार्थ का शनैः शनैः विनाश होता रहता है। यह देखा गया है कि किसी एक रेडियोऐक्टिव पदार्थ के टुकड़े का आधा अंश नष्ट होने में एक निश्चित समय लगता है। वह टुकड़े की छुटाई-बड़ाई पर निर्भर नहीं है। इसे उस पदार्थ का अर्धजीवन काल कहते हैं। सभी पदार्थों का अर्ध-जीवन एक नहीं होता। किसी का कम है किसी का अधिक। यह प्रत्यक्ष है कि जिनका अर्ध-जीवन अपेक्षाकृत कम है ऐसे पदार्थ विश्व में अब शेष नहीं रहे होंगे, अब तक नष्ट हो गये होंगे। नेप्चूनियन पदार्थ का अर्ध-जीवन दो करोड़ वर्ष है, परन्तु यह पदार्थ प्रकृति में अब नहीं मिलता। हाँ, विज्ञानशालाओं में अणु बम बनाने के सिलसिले में उत्पन्न होता है। अवश्य ही इससे यह प्रत्यक्ष है कि इस ब्रह्माण्ड की आयु दो करोड़ वर्ष से अधिक है। इसी प्रकार यूरेनियम की गणना से इस विश्व की आयु कम से कम पाँच अरब पचास करोड़ वर्ष निकलती है।

भिन्न-भिन्न गणनाओं से यह अनुमान किया जाता है कि विश्व की आयु दस अरब वर्ष से कम नहीं है। युगल तारों से भी यही समय निकला था। इस बीच में इस ब्रह्माण्ड में अनेकों परिवर्तन हुये होंगे। यह परमाणु दस अरब वर्ष पहले कहाँ से आये और कैसे उत्पन्न हुये वह अभी अज्ञात है। इस दस अरब वर्ष की काल-सीमा को 'काल-क्षितिज' कह लेने से यह बात साफ हो जाती है कि उसके परे सब

अज्ञात है। यह समझना ठीक न होगा कि यह 'काल क्षितिज' सृष्टि के आरम्भ की सीमा है।

प्रायः ज्योतिर्विद् यह मानते हैं कि इस ब्रह्माण्ड में हाइड्रोजन का फैलाव है और यह हाइड्रोजन गतिशील है। यह जो आकाश गंगा है वह एक बहुत बड़ी टिक्की के समान है जिसका व्यास ६० हजार प्रकाश वर्ष के लगभग है। इसमें तारे हैं, हाइड्रोजन गैस है और कहीं-कहीं कणों के कोहरे सरीखे बादल हैं। यह वायु अत्यन्त सूक्ष्म रूप से व्यापक है। तवा सरीखी यह आकाश गंगा अपने केन्द्र के चारों ओर बहुत तीव्र गति से घूम रही है। पृथ्वी और सूर्य इस तवे के केन्द्र से दूर किनारे की ओर हैं और आकाश गंगा की धारा में उसकी अपनी गति के कारण एक घंटे में दस लाख मील की तेजी से दौड़ लगा रहे हैं। किन्तु आकाश गंगा इतनी बड़ी है कि सूर्य्य के इतनी तीव्र गति से दौड़ने पर भी एक चक्कर लगाने में उसे बीस करोड़ वर्ष लग जाते हैं। यहाँ यह भी उल्लेख किया जा सकता है कि हम लोग पृथ्वी पर बैठे लगभग एक हजार मील प्रति घंटे के हिसाब से धुरी के चारों ओर घूम रहे हैं और साथ ही यह पृथ्वी लगभग सत्तर हजार मील फी घंटा के हिसाब से सूर्य्य के चारों ओर दौड़ रही है। हाँ, एक बात और; सूर्य्य और पृथ्वी आदि जिस आकाश गंगा में हैं वैसी अनेकों आकाश गंगायें इस ब्रह्माण्ड में अपना अलग-अलग विश्व मण्डल बनाये विचर रही हैं।

हाइड्रोजन वायु के फैलाव पर भी न्यूटन का आकर्षण नियम लागू है जिसके परिणाम स्वरूप आकाश गंगा के अन्दर हाइड्रोजन के छोटे-छोटे भाग कभी घने होकर अलग हो गये। शनैः शनैः आकर्षण शक्ति के प्रभाव में वह और घने हुये और इस प्रकार कई बार में उन्होंने तारों का रूप ले लिया। अर्थात् तारों की सृष्टि से पहले हाइड्रोजन गैस की घूमती हुई आकाश गंगा थी। उसमें कुछ भँवर बने, वे घने हुये और अन्त में तारों का रूप आया। यह सन्देह हो सकता है कि डाइड्रोजन गैस के बादल अब भी क्या शेष हैं सब के तारे क्यों नहीं बन नये।

जब एक तारा बन गया तो वह चारो ओर की हाइड्रोजन वायु के अन्दर से गुजरने पर सुरंग सरीखा मार्ग बना लेता है। तारे की गति धीमी होने से बड़ी और तेज होने से सुरंग की चौड़ाई कम होगी। सुरंग की कुछ वायु तारे में आ लगेगी और कुछ तारे वेग से घसीटती हुई सी जान पड़ेगी। सूर्य्य के चारों ओर जो लाखों मील की ज्योतिप्रभा दिखाई देती है, वह इसी घसीटती हुई हाइड्रोजन वायु की ज्योति है। केम्ब्रिज के ज्योतिर्विद् फ्रेड ह्वालर के मत से सूर्य्य की सुरङ्ग का व्यास सूर्य्य के व्यास से लगभग एक सहस्र गुना बड़ा है और उसमें से हाइड्रोजन के वह बादल जो सूर्य्य का अंश बनते जाते हैं, इतनी कम मात्रा में हैं कि दस अरब वर्ष के बाद ही सूर्य्य के आकार में मापने योग्य परिवर्तन होगा।

युगल तारों की उत्पत्ति कुछ इस प्रकार है। दो तारे जिनकी सुरंगें आस-पास हैं, जैसे-जैसे सुरङ्ग की हाइड्रोजन लेते चलते हैं, क्रमशः वैसे-वैसे उनकी सुरङ्गें बड़ी और एक दूसरे के निकट होती जाती हैं। यहाँ तक कि अन्त में दोनों तारों की सुरङ्गें एक हो जाती हैं तब दोनों तारे आपस में पड़कर एक दूसरे के चारों ओर घूमने लगते हैं और इस प्रकार घूमते हुये आगे बढ़ते हैं।

अवश्य ही यह प्रश्न किया जा सकता है कि युगल तारे ही क्यों हों, तीन, चार और इससे भी अधिक तारों के समूह बनने की सम्भावना भी तो होनी चाहिये। सचमुच यह देखा गया है कि ऐसे तारापुंज भी हैं। ध्रुवतारा जो देखने में एकाकी लगता है ऐसे पाँच तारों का समूह है जो एक साथ हैं। कृत्तिका तारापुंज में तो जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, सैकड़ों तारे एक साथ चलते हैं।

तारे के अन्दर की हाइड्रोजन वायु ऊँचे तापमान में हीलियम में परिवर्तित होती रहती है। जब तारे का हाइड्रोजन प्रायः समाप्त होने लगता है तब किसी किसी तारे में अन्दर की विशेष परिस्थितियों से उसका आकार बढ़ने लगता है। पिछली वार्ता में मैंने वामनीय (Dwarfs) और दानवीय (Giants)

की चर्चा की थी। तारों के विकास के वे अनेकों रूप हैं। आकाश में कभी कभी तीव्र ज्योति के साथ तारे टूटते दिखाई देते हैं। रोज ही दो चार टूटते रहते हैं। तारे के टूटने पर कुछ अंश छटक कर बाहर हो जाता है और पुराना तारा नये तारे का रूप ले लेता है। अँग्रेजी में इन्हें 'नोवा' कहते हैं। टूटने के कुछ समय पहले से ही तारा गुब्बारे की तरह फूलना आरम्भ कर देता है और उसका प्रकाश बढ़ता जाता है। फिर वह फट सा जाता है और उसके अन्दर का कुछ पदार्थ चारों ओर बिखर जाता है, किन्तु यह बिखरा हुआ पदार्थ अपेक्षाकृत कम होता है और नया तारा लगभग पुराने के बराबर ही होता है। यह कल्पना नहीं है। इसकी अनेकों तस्वीरें ली जा चुकी हैं।

'सुपर नोवा' की कहानी भिन्न है। इस तारे के फटने पर तारे का तहस-नहस हो जाता है। वह विल्कुल बिखर जाता है, यही मृत्यु है। नौ सौ वर्ष पहले फटे हुये एक सुपर नोवा के अब जो चित्र लिये गये हैं, उनसे यह प्रत्यक्ष है कि उस सुपर नोवा का बिखरना अब भी जारी है। सुपर नोवा में हाइड्रोजन शेष नहीं मिलता। अवश्य ही उन तारों की इह-लीला समाप्त होने के पहले उनका हाइड्रोजन चुक जाता है, तारों के लिये हाइड्रोजन प्राणवायु के समान है, सुपर नोवा का पदार्थ इतना घना होता है कि एक इंच के टुकड़े का वजन पाँच करोड़ के लग-भग होगा।

नक्षत्रों के विकास की कहानी बुनने में एडिंगटन, जीन्स, रसेल, स्ट्रव, फान, वाइत्सेकर, ह्वायल, लिटिल-टन, ह्विपिल और चन्द्रशेखर के नाम उल्लेखनीय हैं।

कुछ ज्योतिर्विदों के मत से ह्वायल का सुरङ्ग वाला मत कोई महत्व नहीं रखता। उनके मत से तारे में जो हाइड्रोजन है उसी पर तारे का भविष्य निर्भर है। इस मत से तारे की उत्पत्ति के बाद अपने जीवन भर उसे उतनी ही सामग्री पर निर्भर रहना है। जितनी कि जन्म के समय उसके हिस्से पड़ी।

आज से ५० वर्ष पहले यह माना जाता था कि पृथ्वी की उत्पत्ति सूर्य्य से हुई, अब वह कहानी पुरानी हो गई है और यह माना जाता है कि सूर्य्य और पृथ्वी भाई-बहन हैं। जिस विधि से इस आकाश में तारे उत्पन्न हुये उसी विधि से इस ब्रह्मांड में अनेकों आकाश गंगाओं की सृष्टि हुई और जिस विधि से सूर्य्य उत्पन्न हुआ, उसी विधि से पृथ्वी का भी जन्म हुआ। हाइड्रोजन वायु में भँवर बनना, उसके बाद घना होना, और फिर तारा बनना इसमें लगभग १० लाख वर्ष लग जाते हैं। आज पृथ्वी इन तारों से बिल्कुल भिन्न है, ठोस है, उसमें अपना निज का प्रकाश नहीं। अवश्य ही पृथ्वी अनेकों तारों की अपेक्षा आयु में बड़ी होगी।

पृथ्वी की आयु जानने के जो उपाय भूगर्भ-शास्त्रियों ने निकाले हैं उनसे यह ज्ञात होता है। इस पृथ्वी पर जीवन के चिह्न ५० करोड़ वर्ष से मिलते हैं। वैज्ञानिकों ने यह भी हिसाब लगाया है कि पृथ्वी का धरातल लगभग ३ अरब वर्ष पुराना है। मैंने अभी यह बताया था कि कुछ परमाणुओं की आयु लगभग ५ अरब वर्ष की है। पृथ्वी की आयु भी प्रायः इतनी ही है, इससे यह समस्या उत्पन्न होती है कि यदि पहले ब्रह्मांड में परमाणु उत्पन्न हुये, इन परमाणुओं से तारों की उत्पत्ति हुई और तब इन तारों के ग्रह बने तो पृथ्वी की, जो एक ग्रह है, आयु परमाणुओं की आयु के बराबर किस प्रकार होगी? पृथ्वी का सूर्य्य से उत्पन्न होना सम्भव नहीं दिखता। शायद पृथ्वी कभी उतनी गर्म भी नहीं रही जितना सूर्य्य है। कोई आश्चर्य नहीं कि पृथ्वी सूर्य्य से भी पुरानी हो। अन्य तारों की आयु के सम्बन्ध में वैज्ञा-निक ढंग से जो हिसाब लगाये गये हैं, उनसे यह फल निकलता है कि बहुत से उज्ज्वल तारों की आयु उतनी भी नहीं होगी जितनी कि पृथ्वी पर जीवन के प्रथम पदार्पण की। अवश्य ही रीगेल सरीखे तारे पृथ्वी की अपेक्षा दुधमुँहे बच्चे हैं।

किन्तु पृथ्वी के जन्म की कहानी आगे लिखूँगा।

क्वीवाणु (२)

[श्री कृष्ण जोशी]

क्वीवाणु—एक तरंग

आज अणु विज्ञान में द्वैतवाद साधारण मनुष्य के लिये एक अटपटी सी बात बन गई है, पागल की पगली बकवाद वह भले ही कुछ समझ लें, पर वैज्ञानिक की भाषा वह नहीं समझ पाता, उसकी गणित-भाषा, जटिल सूत्रों, उसके टेढ़े-मेढ़े चिन्हों का वह तनिक भी अर्थ नहीं निकाल पाता। सबसे अधिक आश्चर्य तो उसे तब होता है जब वह वैज्ञानिक को पहले तो किसी लव (विद्युदणु, क्वीवाणु आदि) को एक ठोस गोल छोटी सी वस्तु कहते सुनता परन्तु दूसरी बार उसी लव को एक प्रवाहित तरंग के रूप में वर्णित करते हुये पाता है। साधारण आदमी की समझ तरल तरंग के तले डूब जाती है। वास्तविक बात यह है कि मनुष्य परमाणु के सूक्ष्म जगत का वर्णन अपनी साधारण दैनिक जीवन की भाषा में चाहता है। यह माँग सरासर अनुचित है। यह भाषा उसके दैनिक व्यवहारों के वर्णन के लिये भले ही पूर्ण रूपेण उपयुक्त और उचित हो परन्तु यह आशा करना कि सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु जगत में उसकी यह मोटी भाषा प्रयुक्त हो एक दुराशा है, एक झूठा स्वप्न है। आप कभी भी यह दुराग्रह न करेंगे कि पशु मनुष्य की भाषा बोलें, उसके समाजिक नियमों का पालन करें। परमाणु के अन्तर्जगत का वर्णन करने के लिये नयी भाषा चाहिये, नये शब्द चाहिये और चाहिये नये नियम। इस सूक्ष्म जगत और हमारे दैनिक जीवन के विराट जगत के बीच समानता की कुछ कड़ियाँ हो सकती हैं परन्तु दोनों को बिलकुल एक कहना मूर्खतापूर्ण तथा अवैज्ञानिक होगा। आज के अवैज्ञानिक का क्वान्टुम मेकैनिक्स (Quantum mechanics—ऊर्जांतु यांत्रिकी) इसी अणु जगत की भाषा के आविष्कार की ओर प्रथम प्रयत्न है।

इस द्वैतवाद के माने यह नहीं है कि हमारा लव कभी गोले के रूप में और कभी तरंग के रूप में रहता है। लव का वास्तविक स्वरूप कुछ और ही होगा परन्तु उसे हम दुनिया की अपनी इस समझ से अपनी आवश्यकतानुसार कभी तरंग के रूप में मानते हैं और कभी लव के रूप में। दोनों स्वरूपों की सत्यता के पक्ष में प्रचुर प्रमाण समुपस्थित हैं। हम एक को गलत और दूसरे को सही नहीं कह सकते। हमारे यहाँ तीन अंधों की एक कहानी प्रचलित है। मार्ग में जाते हुये इन अंधों को एक व्यक्ति एक हाथी के पास ले गया और कहा "भाइयो, तुम्हारे सामने एक हाथी नाम का जानवर खड़ा है। तुम बताओ कि इस जानवर का क्या आकार है।" भाग्यवश तीनों अंधों में से एक हाथी की पूँछ के पास खड़ा था, दूसरा उसके पेट के पास और तीसरा उसके एक पाँव के पास। पाँवों पर लिपटते हुये तीसरा अंधा एकदम बोला 'भाइयो, मैं जान गया कि, हाथी एक बहुत मोटे खम्भे की तरह होता है।' तब तक दूसरे ने अपने दोनों हाथों से हाथी के पेट को टटोला और कहा 'नहीं ! नहीं !! हाथी तो ठीक दीवाल की तरह का होता है।' पूँछ को पकड़े हुये पहला अंधा बोला उठा 'हाथी तो रस्सी के एक टुकड़े के आकार का होता है।' वास्तव में हाथी के अंगों में इन सब वस्तुओं से समानता होते हुये भी हाथी यह सब कुछ न था। इन सब तथ्यों का एकीकरण करके हाथी के वास्तविक स्वरूप की कल्पना कर सकने की शक्ति उन अंधों में न थी।

अणुवाद और तरंगवाद को एकीकृत करके लवों के वास्तविक स्वरूप निर्णय करने की प्रमुख समस्या आज वैज्ञानिक के सामने है।

क्लीवाणुओं के तरंग होने का सबसे बड़ा प्रमाण है उनके द्वारा प्रतिस्वनता (Resonance) का प्रदर्शन। नियमित (आवर्त) लहरों का यह एक खास गुण है। झूले पर झूलता हुआ कोई बालक जैसे अपनी झूल को यथा समय दी हुई झूलों के द्वारा अति अधिक बढ़ा लेता है और हर बार झूल की शक्ति बढ़ती ही जाती है। यह क्रिया प्रतिस्वनता से बहुत समानता रखती है। किसी केन्द्रक से होकर कोई क्लीवाणु-तरंग प्रवाहित हो रही हो। केन्द्रक का अगला सिरा इस तरंग-प्रवाह के लिये एक अवरोध (Obstacle) का कार्य करेगा और तरंगें इसके कारण प्रविक्षेपित (Scattered) हो जायेंगी। प्रविक्षेपित तरंगों में से कुछ पीछे की दिशा में मुड़ेगी। अगर यह तरङ्गें आगे बढ़ती हुई क्लीवाणु से ठीक कदम मिलाती हों तो दोनों के मेल से प्राप्त तरंगें और भी अधिक शक्तिशाली होकर आगे बढ़ेंगी। यह बढ़ी हुई शक्ति वाली क्लीवाणु-तरंगें पुनः अगले अगले सिरे से टकरा कर लौटेंगी। इस प्रकार इस बार भी यह आगे बढ़ती हुई तरंगों की शक्ति पहली बार की अपेक्षा और अधिक बढ़ा देंगी। इस क्रिया के लिये यह आवश्यक है कि आगे बढ़ती हुई और लौटती हुई तरंगें कदम मिलती हुई हैं। यदि यह न होगा तो दो तरंगें एक दूसरे को बढ़ाने के स्थान पर नष्ट करने की चेष्टा करेंगी। इस क्रिया की कई बार पुनरावृत्ति होने पर केन्द्रक के अन्दर हमारी क्लीवाणु-तरङ्ग का तरङ्ग-विस्तार (Amplitude) काफी बढ़ जायगा। तब वैज्ञानिक आपसे कहेगा कि इसका अर्थ है इस दशा में क्लीवाणु के केन्द्रक में पाये जाने की संभावना बहुत अधिक है और यह संभावना क्लीवाणु के तरङ्ग-विस्तार के साथ बढ़ती जाती है।

प्रतिस्वनता की इस क्रिया को प्रदर्शित करने के तत्व विशेष के केन्द्रक के लिये विशेष तरङ्ग-आयाम (Wavelength) वाली क्लीवाणु-तरंगों की आवश्यकता होगी। यह तरंग-आयाम (Wavelength), केन्द्रक के सिरे से विक्षेपित तरङ्ग के तरङ्ग-आयाम के बराबर होना चाहिये। यह इन दो तरङ्गों के कदम मिलाकर चल सकने योग्य होने की सर्व प्रथम कसौटी है। अब १९२३ में विश्वविख्यात फ्राँसीसी वैज्ञानिक डी ब्रोग्ले ने बताया कि किसी किसी वेगवान लव का तरङ्ग-आयाम उस लव के आवेग का व्युत्क्रमानुपाती होता है। इससे यह प्रकट होता है कि क्लीवाणु-तरंगों का तरंग-आयाम क्लीवाणुओं की शक्ति पर निर्भर करेगा और क्लीवाणुओं के वेग को घटा बढ़ा कर तरंग-आयाम को बढ़ा घटा सकता है। किसी खास शक्ति के क्लीवाणुओं के प्रयोग करने पर यह संभव हो सकता है कि इनका तरङ्ग-आयाम प्रतिस्वनता की क्रिया के प्रदर्शन के लिये बिलकुल उपयुक्त ठहरता हो। तब जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है केन्द्रक में इस क्लीवाणु-तरङ्ग का तरङ्ग-विस्तार बहुत बढ़ जायगा अर्थात इस तरंग के क्लीवाणुओं के केन्द्रक में पाये जाने की बहुत अधिक संभावना होगी या यों कहें कि केन्द्रक इस प्रकार के क्लीवाणुओं को भूखे शेर की तरह चबा जायगा। परन्तु यदि हम इसी केन्द्रक के लिये इन्हीं क्लीवाणुओं की शक्ति अतः तरङ्ग-आयाम में तनिक भी परिवर्तन कर दें तो यह केन्द्रक क्लीवाणु तरंग के लिये पूर्णता पारदर्शी हो जायगा। यही कारण है कि प्रतिस्वनता के अध्ययन के लिये एक विशिष्ट शक्ति के क्लीवाणु-पुञ्ज का प्रयोग किया जाता है।

क्लीवाणु-तरंगें प्रतिस्वनता के अतिरिक्त तरङ्गों के और भी अन्य सभी प्रमुख गुण प्रदर्शित करती हैं। इनके साथ व्याभंग (Diffraction), प्रविक्षेपक (Scattering), आवर्तन, परावर्तन, अशेष परावर्तन, अभिस्पन्दन (Polarization), अपकिरण (Dispersion), प्रचूषण (Absorption) संबंधी प्रयोगों को फसलता पूर्वक सम्पन्न किया जा चुका है। चूँकि तीव्रगामी क्लीवाणु का तरंग-

आयाम इतना कम होता है कि इन उपरोक्त तरंगों के गुणों का परीक्षण अति ही कठिन और असम्भव हो जाता है । यदि धीमे क्लीवाणुओं का परीक्षण किया जाय तो उनका तरङ्ग आयाम लगभग $१०^{-८}$ से० मी० हो जाता है । यह पदार्थ के दो अणुओं के बीच की दूरी के बराबर दूरी होती है । हमारी विद्युच्चुम्बिक तरंग एक्स-किरणों (X'rays) का तरंग-आयाम भी इस ही कोटि (Magnitude) का होता है, अत: एक्स-किरणों की तरह क्लीवाणु-तरंगों को भी तटेनमित करना सम्भव है। तटेनमन की क्रिया के लिये हमें पदार्थ के रवों की आवश्यकता होती है ठीक उसी प्रकार और उसी कारण जैसे और ज्यों एक्स-किरणों के लिये, यह रवों के बारे में हमारी जानकारी बढ़ाने में अति उपयोगी सिद्ध हुआ और कई जटिल रवों की रचना पर प्रकाश पड़ा। हिम के रवे की रचना के ज्ञान में, जो कि वैज्ञानिकों के लिए वाद-विवाद का विषय था, रवे में हाइड्रोजन के केन्द्रकों की स्थिति को सुस्पष्ट करके इस विधि ने अपूर्व योग दिया।

क्रियाशील क्लीवाणु

आइये, अब आपको क्लीवाणु के रुद्र रूप का थोड़ा सा परिचय दे दें। उसकी आवेशहीनता, उसकी क्षणभंगुरता से आप यह अनुमान मत कीजिये "यह क्लीवाणु क्या कुछ करेगा ?" जो अपने मार्ग पर के अणुओं को अयनित न कर सका और हवा में सीधे-सीधे मीलों चुपचाप चल दिया, भला वह क्लीवाणु क्यों इस लव जगत के अन्य लवों में आकर्षित हो और क्यों उनसे मेल-मिलाप, क्रिया-प्रक्रिया करे। नहीं ! नहीं !! वास्तविकता यह नहीं, भले ही अपनी आवेश-हीनता के कारण क्लीवाणु हवा के अणुओं को प्रचुर मात्रा में अयनित न कर सका हो, अनुकूल परिस्थितियों में पदार्थों से मिलने में इसकी क्रियाशीलता वर्णनातीत है। यह अपनी स्वतन्त्रतावस्था में दुनिया का सबसे अधिक क्रियाशील लव है। इस दुनिया में हीलियम के केन्द्रक को छोड़कर कोई भी केन्द्रक ऐसा नहीं जिससे यह प्रक्रिया न करता हो। विभिन्न परिस्थितियों में प्रक्रिया करने वाले केन्द्रक और क्लीवाणु की गति के अनुसार विभिन्न प्रकार से प्रक्रिया होती है। अधिकतर तत्वों का तत्वान्तरण करना, कई तत्वों को रेडियमधर्मी बना देना, किसी केन्द्रक को बिलकुल विखंडित कर देना, इस प्रकार की होती हैं क्लीवाणु की प्रक्रियायें। इन प्रक्रियाओं में कहीं तो हमें गामा किरण प्राप्त होती है तो कहीं पर केन्द्रक से प्राणु, अल्फा-लव, क्लीवाणु अथवा दो या तीन लव निकलते हुये मिलते हैं। इनमें से प्रत्येक प्रकार की क्रियाओं का विस्तृत अध्ययन वैज्ञानिकों ने किया है। इन वैज्ञानिकों में इटली के महान वैज्ञानिक फर्मी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन्हीं ने तत्वान्तरण में सर्वप्रथम क्लीवाणु को उपयुक्त किया था और इसी उपलक्ष में उन्हें १९३८ ई० में नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ। सच है तत्वान्तरण का अनुपम साधन, यह क्लीवाणु आज के वैज्ञानिक का पारस पत्थर है जिसकी रगड़ व टक्कर से वह मनचाहा तत्वान्तरण अपनी प्रयोगशाला में कर सकता है।

हम देख चुके हैं कि क्लीवाणु के लिये विद्युदणु नगण्य हैं। वह उनके बीच से ऐसे ही चल बनता जैसे सियारों के बीच से होकर मस्त मृगराज-सिंह। वह क्लीवाणु सीधे केन्द्रक से टकराता है। केन्द्रक एक सुदृढ़ गढ़ के समान है जिसके चारों ओर ऊँची, दुर्गम दीवालें बनी हुई हैं। केन्द्रक-गढ़ की यह दीवालें मिट्टी, पत्थर की बनी हुई न होकर शक्ति की दीवालें हैं। आप जरा एक धीमे प्राणु तथा अल्फा लव (हीलियम का केन्द्रक) को किसी केन्द्रक से मिलने भेजिये। प्रथम तो आपके धनाविष्ट प्राणु या अल्फा लव की चाल अणु के विद्युन्मय वातावरण से गुजरते ही क्षीण हो जायगी और यह मन्दगति लव ज्यों ही केन्द्रक की शक्ति की दीवालों से होकर अन्दर प्रवेश करने का दुस्साहस करेगा, त्यों ही वह इन दीवालों से ऐसी टक्कर खायेगा अर्थात् केन्द्रक की आवेशजन्य शक्ति उसे ऐसा धक्का देंगी कि वह उलटे मुँह लौट

पड़ेगा। बहुत अधिक शक्तिशाली आविष्ट लवों का प्रयोग करने पर ही आप इनको केन्द्रक की इन दीवालों को लंघवा करके गढ़ के अन्दर भेजने में सफल हो सकते हैं। पर क्लीवाणु एक ऐसा अद्भुत मायावी है जिसके लिये यह शक्ति की दीवालें कुछ भी नहीं हैं। वह अपने माया-बल से आसानी से केन्द्रक की दीवालों से होकर निकल जाता है और केन्द्रक में प्रविष्ट हो जाता है। क्लीवाणु के माया-बल का सारा भेद छिपा है उसके क्लीव होने में, क्योंकि केन्द्रक के चारों ओर की अवरोधक दीवालों का अस्तित्व होता है आने वाले आविष्ट लव और केन्द्रक के बीच की निराकरण की शक्ति पर। यदि लव हमारे क्लीवाणु की तरह अनाविष्ट है तो इस प्रकार की कोई शक्ति न रहेगी और लव अबाध, केन्द्रक से मिलकर प्रक्रिया कर सकता है।

वैज्ञानिकों को यह बात ज्ञात हुई कि किसी क्लीवाणु के किसी केन्द्रक का प्रकार और उस क्रिया के सम्पन्न होने की सम्भाविता क्लीवाणु की गति पर निर्भर करती है। आविष्ट लवों के विपरीत किसी तेज क्लीवाणु के केन्द्रक से क्रिया करने की कम सम्भावना रहती है और क्लीवाणु की चाल मन्द होने के साथ-साथ प्रक्रिया के होने की सम्भाविता बढ़ती जाती है। यह बात सर्वथा उचित प्रतीत होती है। एक रिक्से पर होकर जाते हुये व्यक्ति के प्रयाग में ठहरने, यहाँ के बाजार में क्रय-विक्रय करने और यहाँ की लूट-खसोट से प्रभावित हो जाने की सम्भावना उस व्यक्ति की अपेक्षा अधिक होगी जो वायुयान द्वारा शीघ्रता से प्रयाग के ऊपर से होकर उड़कर चलता बने। मन्दगति क्लीवाणु को केन्द्रक में ठहर कर उसके साथ क्रिया-प्रतिक्रिया करने का पर्याप्त अवसर प्राप्त होता है। यही मन्दगति क्लीवाणु है विज्ञान-जगत का सबसे अधिक क्रियाशील पदार्थ !

क्लीवाणु की गति का मन्दीकरण

यह जान लेने पर कि मन्दगति क्लीवाणु एक तेज क्लीवाणु की अपेक्षा अधिक क्रियाशील है तथा साधारण क्रियाओं और केन्द्रक के विखण्डन से प्राप्त होने वाले क्लीवाणु प्रारम्भ में अपार वेग से आगे बढ़ते हैं, स्वतः ही यह प्रश्न उठता है कि क्लीवाणु वेग को कम करके किस प्रकार उन्हें अधिक क्रियाशील बनाया जाय। प्रकाश वेग के $\frac{१}{२०}$ वें वेग से चलने वाला क्लीवाणु प्रथम जब किसी अणु के केन्द्रक से टकराता है तो इस संघट्टन में क्लीवाणु की गतिज शक्ति केन्द्रक और क्लीवाणु के बीच में बँट जाती है। शक्ति का यह बँटवारा केन्द्रक के भार पर आश्रित रहता है। यदि केन्द्रक का भार क्लीवाणु के भार के बराबर ही हो तो केन्द्रक और क्लीवाणु शक्ति का बँटवारा इस प्रकार होता है कि क्लीवाणु अपनी आधी से कुछ कम शक्ति केन्द्रक को दे देता है और दोनों लगभग बराबर वेग प्राप्त करते हैं। इस संघट्टन में क्लीवाणु और केन्द्रक दोनों के पहले की गति-दिशा में भी यथेष्ट परिवर्तन आ जाता है। परन्तु यदि केन्द्रक, क्लीवाणु की अपेक्षा बहुत भारी हो तो यह केन्द्रक संघट्टन में बहुत कम शक्ति लेगा और अपने स्थान से थोड़ा ही हिलेगा। इस संघट्टन (Collision) से क्लीवाणु की गति में बहुत ही कम कमी आयेगी। यदि हम लोहे की एक छोटी सी गोली को लोहे के एक गोले के विरुद्ध फेंकें तो यह गोली, उस गोले से टकरा कर बिना उसको हिलाये ही अपने पुराने वेग के साथ लौट आयेगी। परन्तु यदि छोटी गोली अपने ही समान आकार-प्रकार और भार वाली दूसरी गोली से टकरायेगी तो सम्भव है कि कई बार यह उस गोली से इस प्रकार टकराये कि हमारी पहली गोली तो बिलकुल रुक जाय और दूसरी गोली इस पहली वाली गोली के समान वेग से आगे बढ़े। यह तो टकराने की एक खास दशा में ही होगा, टकराने की सब दशाओं का हिसाब लगाते हुये यह ज्ञात होता है कि औसतन पहली गेंद की लगभग चालीस प्रतिशत शक्ति दूसरी गेंद ग्रहण कर लेती है।

यदि हम गति कम करने वाले पदार्थ के अणुओं से होकर इन क्लीवाणुओं को भेजें तो प्रत्येक संघट्टन के फलस्वरूप क्लीवाणु की शक्ति और गति में कुछ

कमी आ जायेगी। इस प्रकार कुछ संघट्टनों के पश्चात् यह स्थिति हो सकती है कि क्लीवाणु की गति पदार्थ के अणुओं (या व्यूहाणुओं) की तापीय गति (Thermal Velocity) के बराबर हो जाय। ऐसे क्लीवाणुओं को हम तापीय (Thermal) क्लीवाणु भी कहते हैं। गति कम करने के लिये खास तत्वों की आवश्यकता होती है और इनके छटाव में कई बातों का ध्यान रखना पड़ता है, यथा क्लीवाणु कितने संघट्टनों के बाद (—पदार्थ के केन्द्रक से) तापीय गति धारण करता है, पदार्थ क्लीवाणुओं का प्रचूषण तो नहीं करता और पदार्थ आसानी से शुद्ध अवस्था में पाया जाता है या नहीं। इसके अतिरिक्त अन्य गौण बातें भी देखी जाती हैं। इन सब बातों पर विचार करते हुये हम पाते हैं कि क्लीवाणु के समान ही भार वाले हाइड्रोजन का अणु गति-मन्दक के रूप में आदर्श सिद्ध होगा। देखा गया कि हाइड्रोजन क्लीवाणुओं को प्रचूषित करके ड्यूटिरियम बनाती है। एदतदर्थ ड्यूटिरियम का प्रयोग विशेष श्रेयस्कर होना चाहिये। इसके गैस होने के कारण सुविधानुसार इसका प्रयोग नहीं किया जा सकता अतः एक द्रव्य के रूप में प्राप्त होने वाले हैवी वाटर (Heavy Water) में स्थित ड्यूटिरियम (द्वित्ताणु) ही गति-मन्दक के रूप में अधिक प्रयुक्त होता है। इसके अतिरिक्त विशुद्ध पैरैफिन की हाइड्रोजन, बेरीलियम और ग्रैफाइट (लिखिज) के रूप में कार्बन भी गति-मन्दक की तरह प्रयुक्त होते हैं। जैसा कि कहा जा चुका है इन सब पदार्थों का शुद्धावस्था में होना आवश्यक है। थोड़ी सी भी अशुद्धि अपना विनाशकारी प्रभाव डाले बिना न रहेगी। इसे आप इस प्रकार समझ सकते हैं—यदि हमारे पास एक घनाकार सन्दूक में एक षटख (Million) मटर सजे हों। अगर प्रत्येक एक हजार सफेद मटरों के बाद एक काली मटर हो और आप किसी छोटी पिन से इन मटरों पर मनमाना प्रहार करें, तो यह सम्भावना कि काली मटरों पर चोट होगी, हजार में से एक नहीं वरन् बारह में से एक होगी। अर्थात् बहुत बड़ी संख्या में चोट करने के बाद अगर आप गणना करने की क्षमता रखते हों तो आप पायेंगे कि प्रत्येक बारह चोटों में से एक चोट काली मटरों पर हुई है। काली मटरों का प्रभाव यहाँ पर उनकी संख्या के अनुपात में लगभग ८० गुना बढ़ गया।

स्वास्थ्य और क्लीवाणु

क्लीवाणु हमारी ऊतियों (Tissues) में स्थित कार्बन आदि तत्वों से आसानी से क्रिया करेगा, इन क्रियाओं में गामा किरण, अल्फा किरण जैसे ऐसे उत्सरण प्राप्त होते हैं जो हमीरी टिस्सुओं के लिये विनाशकारी सिद्ध होते हैं। अतः क्लीवाणुओं का प्रयोग करने वाली प्रयोगशालाओं या अन्य स्थलों में क्लीवाणुओं की एक अभय मात्रा (Dosage) नियत कर दी गयी है। किसी भी व्यक्ति को इससे अधिक मात्रा में क्लीवाणुओं से प्रभावित नहीं होने दिया जाता। क्लीवाणुओं का प्रभाव बहुत काल तक रहने वाला और एकत्रीकृत होने वाला (Cumulative) होता है अतः महीने भर पड़े हुये छोटे छोटे प्रभाव अन्त में मौत तक ला सकते हैं। क्लीवाणु औषध के रूप में भी प्रयुक्त होते हैं। यमार्बुद (Cancer) के उपचार में इसका प्रयोग किया जा चुका है।

क्लीवाणु का केन्द्रक में बन्धन

यदि कोई ऐसा दर्शक होता जो अणु लोक में विचरण कर सकता तो वहाँ की जनसंख्या के वितरण में उसे एक विचित्रता मिलती। अणु के बाहरी आवरण—जिसमें विद्युदणु पाये जाते हैं—में उसे सहारा के रेगिस्तान में भटके हुये एक बटोही की तरह शायद ही किसी निवासी (विद्युदणु) से भेंट होती। परन्तु अणु-केन्द्रक में पदार्पण करते ही वह एकाएक परिवर्तन पाता। उसे अनुभव होता वह सहारा की मरुभूमि से लन्दन की किसी जन-संकुल गली में पहुँच गया हो। केन्द्रक में उसे प्राणु और क्लीवाण, कन्धे से कन्धा टकराते, ढकेलते, उठते, गिरते, पिसते, कहीं-कहीं पर मरते और पैदा होते नजर आते।

अणु के हृदय-केन्द्रक में प्राणु और क्लीवाणु बहुत पास-पास सटे हुये रहते हैं। विश्व के प्रत्येक पदार्थ के केन्द्रक में प्राणु और क्लीवाणु की यह सघनता एक सी ही रहती है। इन लवों के घनत्व की महत्ता हमें आश्चर्यचकित किये बिना नहीं रहती। केन्द्रक में पदार्थ का घनत्व पानी के घनत्व का चतुर्दशख (१००,०,००,०००,०००,०००) गुना होता। पृथ्वी के सबसे भारी तत्व ओस्मियम का घनत्व पानी से केवल २२.५ गुना है। केन्द्रक के द्रव का घनत्व इतना अधिक है कि इसकी एक बूँद पूरे ताजमहल के भार के बराबर होगा।

वह कौन सी और कैसी शक्ति है जो क्लीवाणु तथा प्राणु को केन्द्रक में इतनी दृढ़ता से इतने छोटे से स्थान में बनाये हुये है ? वह कौन सी सीमेन्ट ही जो केन्द्रक की रचना में प्रयुक्त ईंटों को ढहने नहीं देती ? वह कौन सी बन्धन रज्जुयें,हैं जो प्राणु-क्लीवाणु को केन्द्रक में बाँधे हुये हैं ? वह कौन सी आकर्षण शक्ति है जो केन्द्रक के इन लवों को तितर-वितर नहीं होंने देती ? ऐसे प्रश्नों का वैज्ञानिक के मस्तिष्क में उठना स्वाभाविक था।

हम दो प्रकार की आकर्षण शक्तियों से परिचित हैं प्रथम वैद्युत और दूसरी गुरुत्वाकर्षण-जनित। यह दोनो यहाँ पर हमारी आवश्यकता-पूर्ति नहीं कर सकतीं। यदि हम वैद्युत शक्ति को लें तो यह स्पष्ट है कि क्लीवाणु को जो अनाविष्ट है यह शक्ति क्यों कर बाँध सकती है। इसके अतिरिक्त प्राणु, प्राण के बीच में केन्द्रक में निराकरण की शक्ति होनी चाहिये अर्थात् एक प्राणु आपस में ही निराकरण द्वारा दूसरे प्राणु को ढकेल बाहर करेगा। मान लिया यदि यह निराकरण, आकर्षण में भी बदल जाता है तो यह शक्ति केन्द्रक की वास्तविक बन्धन शक्ति का केवल चालीसवाँ भाग होगी। अतः इसके द्वारा हम केन्द्रक की बन्धन-शक्ति को समझाने में असफल सिद्ध होते हैं।

इस बन्धन शक्ति की गुरुत्वाकर्षण से समानता की कल्पना तो स्वप्न में भी करना मूर्खतापूर्ण है क्योंकि लवों के बीच संभव हो सकने वाली गुरुत्वाकर्षण जनित शक्ति उनकी वास्तविक बंधन शक्ति का केवल $\frac{१}{१०^{३७}}$ वाँ भाग होगी। कितनी असाधारण न्यूनता है !

कई केन्द्रक-प्रतिक्रियाओं में उत्पन्न होने वाली शक्ति की माप द्वारा अथवा आइंस्टाइन के शक्ति और पदार्थ में संबंध बताने वाले सूत्र द्वारा हम केन्द्रक की बन्धन-शक्ति का मूल्यांकन कर सकते हैं। इस द्वितीय साधन के अनुसार, यदि क्लीवाणु और प्राणुओं के केन्द्रक में मिलने पर भार में कुछ कभी आ जाती हैं, तो इस कमी को प्रकाश के वेग के वर्ग से गुणा करने पर हमें बन्धन-शक्ति का अनुमानित लगभग मूल्य ज्ञात हो जाता है। यह शक्ति व्यूहाणुओं को आपस में बाँधने वाली शक्ति का करोड़ों गुना अधिक होती है।

इन बन्धन-शक्तियों का प्रमुख गुण है इनका बहुत सीमित व संकुचित कार्यक्षेत्र। दो प्राणुओं के बीच की दूरी यदि $१०^{-१३}$ से० मी० (०,०००,०००, ०००,०००,०१ से० मी०) हो तो यह बन्धन-शक्ति प्राणुओं के बीच की वैद्युत निराकरण शक्ति का चालीस गुना होगी। यदि दूरी को चार गुना बढ़ा दिया जाय तो दोनों प्रकार शक्तियाँ बराबर हो जायेंगी। इस दूरी की २५ गुना बढ़ाने पर वैद्युत निराकरण शक्ति इस बन्धन-शक्ति का लगभग करोड़ गुना होगी। वैज्ञानिकों की यह भी धारणा है कि अगर हम इस दूरी को आधा कर दें तो यह शक्ति, महान निराकरण की शक्ति में बदल जाती है। इतना ही नहीं यह शक्ति लवों की गति और उनके आभ्राम (Spin) की दिशा पर भी निर्भर रहती है। इन लवों के बीच की यह शक्ति लवों के आवेश से कोई भी संबंध नही रखती, अर्थात् प्राणु-प्राणु, प्राणु-क्लीवाणु और क्लीवाणु-क्लीवाणु के बीच यह बन्धन शक्ति बराबर होती है।

अब इन तथ्यों का ज्ञान प्राप्त होने पर एक वैज्ञानिक का लक्ष्य होगा इन सबको सुन्दरता पूर्वक

सिद्धान्त सूत्र में पिरोना। इस सैद्धान्तिक सामञ्जस्य को प्राप्त करने की ओर सबसे प्रथम सफल एक जापानी, नोबेल पुरस्कार प्राप्त वैज्ञानिक यूकावा ने उठाया। उन्होंने कहा कि केन्द्रक में इस बन्धन-शक्ति को प्रसारित करने का कार्य एक लव करता है। इस लव की कल्पना में उन्होंने साधारण विद्युत् शक्तियों की सहायता ली। यदि दो विद्युताविष्ट लवों को निकट लाते हैं तो इसके कारण उत्पन्न हुई शक्ति उन आविष्ट लवों के विद्युत् क्षेत्रों के कारण होती है। उन्होंनें कहा इसी प्रकार केन्द्रक के लवों में मेसोनिक आवेश (Mesonic Charge) होता है जिसके कारण एक मेसोनिक क्षेत्र की उत्पत्ति होती है। जैसे कि विद्युत् क्षेत्र में आविष्ट लवों की असमान गति के कारण विद्युच्चुम्बिक तरंगों प्राप्त होती हैं इन्हीं दशाओं में मेसोनिक आवेशों से हमको मेसोनिक तरंगें प्राप्त होती हैं। उल्लिखित द्वैत सिद्धान्त के अनुसार इन दोनों प्रकार को तरङ्गों से संबंध रखने वाले एक अलग-अलग लव होना चाहिये। विद्युच्चुम्बिक तरङ्गों के लव को फोटोन का नाम प्राप्त था। मेसोनिक तरङ्गों के लव को यूकावा ने मेसोन (Meson) का नाम दिया।

केन्द्रक की इन बन्धन-शक्तियों के सीमित कार्य-क्षेत्र के कारण यूकावा ने बताया कि इन मेसोन (मध्याणुओं) का कुछ भार होना चाहिये। गणना के आधार पर उन्होंने बताया कि इस लव का भार विद्यदणु के भार का लगभग ३० गुना से लेकर २०० गुना तक हो सकता है। उनके अनुसार केन्द्रक में शक्ति के लेन देन की तरह के गुणों (Exchange Properties) के होने के कारण इन मध्याणुओं ऋण और धन दोनों प्रकार का विद्युत् आवेश रहना चाहिये। प्राणु जब किसी धनात्मक मध्याणु को निःसृत करता है तो क्लीवाणु इसे ग्रहण करता है इस क्रिया से प्राणु क्लीवाणु और क्लीवाणु प्राणु में परिवर्तित हो जाता है। इसी प्रकार क्लीवाणु ऋणात्मक मध्याणुओं को निःसृत करके प्राणु में बदल जाते हैं और इस ऋणात्मक मध्याणु को अंगीकृत करके प्राणु क्लीवाणु में परिवर्तित हो जाता है। आज यूकावा का यह काल्पनिक मध्याणु हमारी वास्तविकता है। ब्रह्माण्ड रश्मियों में और साइक्लोट्रोनों (द्वित्ताणुत्वरों) की सहायता आज हम इनको प्राप्त करके इनके साथ मनोनुकूल प्रयोग कर सकते हैं।

इस दिशा में दूसरा कदम ब्रिटिश वैज्ञानिक यन० केमर ने उठाया है। उनके अनुसार एक प्राणु-प्राणु की और क्लीवाणु-क्लीवाणु की क्रिया को समझने के लिये एक अनाविष्ट मध्याणु की कल्पना करना आवश्यक है अन्यथा प्राणु-प्राणु की क्रिया में एक प्राणु अपने धनावेश के कारण दूसरे प्राणु से निःसृत धनाविष्ट मध्याणु को ग्रहण नहीं करेगा। इसी प्रकार की समस्या क्लीवाणु-क्लीवाणु क्रिया पर विचार करने पर समुपस्थित होती है। प्रयोगों से क्लीव मध्याणु की खोज के पश्चात् यह मत भी आज विज्ञान में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त कर चुका है।

वर्णनात्मक ढंग से मध्याणु सिद्धान्त द्वारा केन्द्रक में समुपस्थित लवों की बन्धन-शक्ति को समझाया जा चुका है। यह विज्ञान और वैज्ञानिकों की उन्नति का प्रतीक भले ही हो वे इससे संतुष्ट नहीं हो जाते। विज्ञान चाहता है समस्या के अंग-प्रत्यंग का गणनात्मक विवेचन। अतः आज का तपस्वी वैज्ञानिक मध्याणु तथा प्राणु (या क्लीवाणु) की पारस्परिक प्रकियाओं के गणन में लीन है ताकि वह उस शक्ति को भली विधि समझ ले और उस शक्ति के संबंध में गणना से प्राप्त फल प्रायोगिक तथ्यों के अनुकूल हों। इस प्रकार के निष्ठावान पुजारियों में मौरिस लेवी नामक फ्राँसीसी वैज्ञानिक का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उनके कार्य से हमें सफलता की कुछ आशाकिरणें निःसृत होती है।

क्लीवाणु की आंतरिक रचना आज गहनतम विवादग्रस्त है क्योंकि इनको अब न तो हम अल्प घटक ही कह सकते हैं और न लव ही। अब तो ऐसा प्रतीत हो रहा है कि वैज्ञानिक का समस्या-समूह ही अल्प घटक है।

जड़ी-बूटियाँ और जहरीले पौधे

(ले० श्री आर० एस० चौपड़ा, जम्मू और काश्मीर औषध गवेषणाशाला के निर्देशक)

प्रसन्नता की बात है कि भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् कृषि विषयों के अतिरिक्त तत्संबंधी अन्य विषयों पर ध्यान देने लगी है, मसलन वह जड़ी-बूटियों तथा जहरीले पौधों की भी व्यावहारिक गवेषणा कर रही है।

संसार की सभी प्रकार की जलवायु, ऋतु और मिट्टी भारत में पायी जाती है। १३० डिग्री फा० तापमान (मैदानों में) से लेकर—४६ डिग्री फा० तापमान (काश्मीर द्रूस में) तक प्रतिवर्ष ४३० इंच वर्षा (आसाम के चेरापूंजी में) से लेकर ५ इंच से भी कम वर्षा (राजपूताना की मरुभूमि में) तक और हिमालय की जन-वन विहीन गगनचुम्बी पर्वतमालाओं से लेकर दक्षिण की दलदली भूमि तक, विभिन्न प्रकार की स्थितियाँ यहाँ मिलती हैं। इसलिए संसार में अपने आकार-प्रकार के किसी भी देश की अपेक्षा भारत में सबसे अधिक प्रकार की वनस्पतियाँ मिलती है।

जड़ी-बूटियों का सर्वेक्षण

भारतीय वनस्पति के बारे में पहले कभी काफी लिखा जा चुका है, परन्तु देश के आर्थिक विकास में उसके उपयोग पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया। भारतीय कृषि गवेषणा परिषद् ने यह काम अपने हाथ में लिया। उसने पहले वनस्पति का व्यवस्थित रूप से सर्वेक्षण इन पंक्तियों के लेखक से कराया और लाभदायक पौधों के नमूनों को इकट्ठा किया। इसका ठीक-ठीक पता लगाया गया कि भारत के किस भाग में कौन से पौधे स्वतः उगते हैं।

अब यह काम प्रायः पूरा हो चुका है और इस विषय की एक पुस्तक 'ग्लौसरी आव इण्डियन मेडीसिनल-प्लाण्ट्स' छप रही है। इसमें पौधों के पैदा होने का स्थान, उनका वैज्ञानिक तथा देशी नाम, उनके उपयोग आदि का वर्णन किया गया है।

सर्वेक्षण से अनेक जड़ी-बूटियों का पता चला है जिनमें से अनेक संसार के विभिन्न देशों में दवा में काम आ रही हैं।

विदेशी दवाइयों का स्थान ले सकती हैं।

विदेशों से आनेवाली मंहगी दवाइयों में जो औषधें पड़ती हैं, लगभग उन्हीं के समान गुणवाली जड़ी-बूटियां भारत में भी पाई जाती हैं। विदेशी औषधों के स्थान पर ये जड़ी-बूटियां काम में लाई जा सकती हैं। कुछ का वैज्ञानिक परीक्षण किया जा चुका है और वे चिकित्सा में काम आ रही हैं। इन एवजी औषधों की सूची छप गई है और औषधि निर्माता उन्हें तैयार कर रहे हैं।

जहरीले पौधे

देश में बहुत से नशीले और जहरीले पौधे होते हैं। इनमें से कुछ दवाई के भी काम आते हैं। परिषद् ने खोज से पता लगाया है कि लगभग ७०० ऐसे पौधे हैं जो मनुष्यों, पशुओं, कीटों, मछलियों आदि के लिए जहरीले होते हैं। परिषद् ने इस विषय पर एक पुस्तक प्रकाशित की है जो दो भागों में है। इसका पहला भाग प्रकाशित हो गया है।

मनुष्य के लिये जो पौधे जहरीले होते हैं उनके बारे में हमारी जानकारी काफी हो गई है और अनेक पौधों का उपयोग दवा बनाने में किया जा रहा है। पशुओं के लिए जहरीले पौधे भी वे खा जाते हैं, जिनके कारण काफी प्राणहानि होती है। कुछ पौधे

ऐसे होते हैं जिन्हें खाने से पशु कम दूध देने लगते हैं या उनका दूध जहरीला हो जाता है।

चारे के काम आने वाले कुछ ऐसे भी पौधे हैं जो हानि करते हैं। जैसे, खेसारी दल मनुष्यों और पशुओं को दुबला-पतला कर देती है। ऐसे अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। परिषद् की आर्थिक सहायता से इन पौधों की काफी जांच की जा चुकी है। इस समय उत्तर पश्चिमी हिमालय में उगने वाले १५० से भी अधिक जहरीले पौधों को संग्रह किया जा चुका है और उनकी जांच की जा रही है।

कीटाणु भगाने और मारने वाले पौधे

कुछ पौधे कीड़ों के लिये विषैले होते हैं। कीटाणु-नाशक कृत्रिम दवाइयों की अपेक्षा इन पौधों से बनी दवाइयां मनुष्य और पशुओं को कम हानिकारक होंगी। पाइरेथ्रम, देरिस, तमाखू, टेफ्रोज, पिकरस्मा, लर्कसपुर, वेराट्रम आदि के पौधे कीटाणु-नाशक होते हैं। कई अन्य पौधों की अभी खोज करनी बाकी है। कुठ की जड़, युकलिप्टस के पत्तों का सत्त पतचौली, नीम आदि कीड़े भगाने के काम आते हैं। ऐसे पौधों के विषय में अभी काफी खोज की जरूरत है।

जड़ी-बूटियों का उत्पादन

भारत और विदेशों में जड़ी-बूटिओं के बारे में रुचि बढ़ रही है। इनमें से अनेक, जैसे राउओ-ल्फिया सर्पन्टाइन, बेलेडोना आदि का अंधाधुंध उपयोग होने के कारण उनके समाप्त होने की नौबत आ गयी है। ज़ड़ी-बूटियों के उगने के अनेक स्थान अब पाकिस्तान में चले गये हैं। इससे भी काफी नुकसान हुआ है।

परिषद् की भारतीय जड़ी-बूटी समिति ने जड़ी-बूटियों के उत्पादन को बढ़ावा देने के लिए गवेषणा योजनायें चालू की हैं। काश्मीर में पाइरेथ्रम, बेले-डोना आदि की परीक्षा के लिए खेती हो रही है। मद्रास में अगार्ट की खेती हो रही है और उसे बाजार में बेचा भी जा रहा है। पहले इसे बाहर से मंगाना पड़ता था।

परिषद् का एक विभाग, लाभदायक विदेशी पौधों को देश में उगाने का प्रयत्न करता है। सिन्कोना और इपेकाकुहां के पेड़ भारत में १९ वीं शताब्दी में लाये गये थे और इनसे बड़ा लाभ हो रहा है। पाइ-रेथ्रम भी कश्मीर, नीलगिरि, आसाम तथा अन्य स्थानों में पैदा किया जा रहा है। इससे कीड़े मारने की बहुत तेज दवा बनती है। परिषद् ने कश्मीर में अनेक परीक्षण केन्द्र बनाये हैं जहाँ लैवेंडर, पुदीना, लिकरिस आदि की खेती करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। दक्षिण अफ्रीका में पैदा होने वाले 'स्ट्रोपेन्थस कोम्ब' और आस्ट्रेलिया के 'दोबेसिया माइओपरा-डस' के बीजों को भी भारत के विभिन्न स्थानों में उगाने का प्रयत्न किया जा रहा है।

भारतीय कृषि गवेषणा परिषद् की आर्थिक सहा-यता से इन पंक्तियों के लेखक ने देशी जड़ी-बूटियों के सम्बन्ध में शोध का काम किया है। यह काम देश-वासियों के हित के लिए आवश्यक है।

(पृष्ठ १२८ का शेषांश)

उल्लेखनीय कार्य किया है। नया पूसा-गेहूँ निकाला गया है तथा चावल और आलू की नयी-नयी किस्में निकाली गयी है। दाल, ईख, सन, अलसी, पटसन आदि पर भी परिषद् ने उपयोगी गवेषणा कार्य किया है।

पानी की कमी वाले क्षेत्रों के लिये सूखी खेती (ड्राई फार्मिंग) के बारे में खोज की गयी है। इसके अलावा, भू-संरक्षण और कैसी जमीन में कैसा खाद डालना चाहिये तथा किस तरह की मिट्टी में कौन से पौधे उपयुक्त रह सकते हैं, इन बातों पर भी अनुसंधान किया गया है और इससे लाभ उठाया गया है।

पौधों की बीमारियों को दूर करने तथा टिड्डियों और कीड़ों की रोक थाम के बारे भी व्यावहारिक कार्य किया गया है। इसी प्रकार जानकारी एकत्र की गयी है।

कृषि-गवेषणा के २५ वर्ष

(ले० पी० परीजा, सहकुलपति, उत्कल विश्वविद्यालय)

कृषि सम्बन्धी शाही आयोग की सिफारिश पर १६२८ में कृषि अनुसंधान परिषद् की स्थापना की गयी थी। तब से आज तक परिषद् कृषि-विज्ञान और पशुपालन के क्षेत्र में गवेषणा कार्य करती आ रही है।

सारी कृषि गवेषणा का केन्द्र-बिन्दु पौधा है। इसकी ओर जितना ही ध्यान दिया जायगा उतना ही इस गवेषणा का सुपरिणाम निकलेगा। उपज बढ़ाने और उसे उत्तम बनाने के लिये पौधे की जाति पर और सिंचाई खाद आदि के लिए स्वयं अपने पर निर्भर करना होता है। पौधे के जातीय गुण दो प्रकार से बढ़ाये जाते हैं (१) अच्छे किस्म के पौधे चुनने से और (२) बढ़िया जाति के पौधों की कलमें लगा कर इच्छित किस्म के पौधे तैयार करने से। इच्छित गुण और विशेषता वाले पौधे तैयार हो जाने पर उन्हें इन तीन शत्रुओं से बचाना चाहिये (१) पुष्टई के अभाव (२) बीमारियाँ और कीड़े तथा (३) बढ़ने के लिये स्थानाभाव।

अभाव: पानी रोशनी और पोषक तत्व पौधे की खुराक हैं। आक्सीजन और कारबन-डाइ-आक्साइड को छोड़कर और सारे पोषक तत्व पौधे को पानी के जरिये ही मिलते हैं। आदिकाल से खेती वर्षा के पानी पर निर्भर रही है। नदी और चश्मों में पानी भी वर्षा से ही आता है। कृषि विज्ञान की प्रगति होने पर सिंचाई से भी खेती होने लगी है। पर बहुत से देशों में, और विशेष रूप से भारत में, हर जगह सिंचाई का इंतजाम सम्भव नहीं है। अतः बहुत से भागों में खेती वर्षा के समय ही होती है और जहाँ वर्षा कम होती है वहाँ ऐसे ही पौधे बोने चाहिये जो कम वर्षा में फल फूल सकें।

जहाँ सिंचाई का प्रबन्ध सम्भव है वहाँ भी पानी किफायत से खर्च करना होता है। लम्बी और गहरी गवेषणा से पता चला है कि पौधों के बढ़ने और स्वस्थ रहने के लिये कुछ तत्व आवश्यक होते हैं और ये तत्व उचित मात्रा में और घुले रूप में पौधों की जड़ों में पहुँचने चाहिये। इनका अभाव और आधिक्य दोनों ही फसल के लिए हानिकारक हैं।

बीमारियाँ और कीड़े: पौधों में बीमारियाँ पोषण के अभाव के कारण अथवा कीटाणु लगने से होती हैं। ऐसा होने से उपज बहुत घट जाती है। कीड़े वनस्पति और जीवों से भी पैदा हो सकते हैं। इनसे भी पौधों की रक्षा करना नितांत आवश्यक है। बीमारियों से बचाने के लिये बाहरी उपाय भी करने होते हैं और ऐसी नस्लें भी पैदा करनी होती हैं जिन पर बीमारियों का असर न हो।

बढ़ने के लिए स्थानाभाव: पौधों के बहुत पास-पास लगाने या कांस, घास आदि के उग आने से पानी, रोशनी और दूसरी खुराक की कमी हो जाती है, पौधे पूरी तरह बढ़ नहीं पाते और इस कारण उपज घट जाती है। पौधों की एक दूसरे से कितनी दूरी रहनी चाहिये, इस विषय में भी गवेषणा कार्य बहुत जरूरी है।

अब देखना यह है कि कृषि अनुसंधान परिषद् ने किस क्षेत्र में क्या कार्य किया है।

पौधों की नस्ल सुधारने की दिशा में परिषद् ने

(शेष पृष्ठ १२७ पर)

सरल विज्ञान ग्रंथावली

लेखक—जगपति चतुर्वेदी, सहा॰ सम्पा॰, 'विज्ञान'

सरल विज्ञान ग्रन्थावली हिन्दी में लोकप्रिय वैज्ञानिक साहित्य सरल रूप में प्रस्तुत करने का एक नवीन तथा अभूतपूर्व प्रयास है। सभी पुस्तकें केवल एक लेखक द्वारा लिखी हुई हैं। लगभग १५० या २०० पृष्ठों तथा बहुसंख्यक चित्रों के साथ प्रत्येक का मूल्य २) है।

भौतिक विज्ञान

बिजली की लीला—बिजली के वैज्ञानिक मर्म, तार टेलीफोन, विद्युत्प्रकाश, एक्सरे रेडियो आदि की कहानी।

परमाणु के चमत्कार—परमाणु सम्बन्धी वैज्ञानिक खोजों तथा परमाणु बम, उदजन बम आदि के मर्म की कहानी।

भूगर्भ वि॰, पुरा-जीवविज्ञान, पुरा-वनस्पति विज्ञान

विलुप्त जन्तु—प्रस्तरावशेषों के आधार पर पचास करोड़ वर्षों तक पुराने जन्तुओं के वंश लोप होने की कहानी।

भूगर्भ विज्ञान—धरती के निर्माण तथा अंतः और वाह्य अंगों के रूप परिवर्तन की विलक्षण कहानी।

विलुप्त वनस्पति—प्राचीन काल के प्रस्तरावशेषों के आधार पर पचास कोटि वर्षों तक पुराने वनस्पति वंशों की कहानी।

कोयले की कहानी—पत्थर कोयले की उत्पत्ति तथा वैज्ञानिक शोध और उपयोग की कहानी।

ज्वालामुखी—धरती के आंतरिक भाग में ज्वाला उत्पन्न होने के कारण तथा संसार के ज्वालामुखियों की कहानी।

रसायन

तत्वों की खोज में—रासायनिक तत्वों के अनुसंधान तथा उनके अन्वेषक वैज्ञानिकों की मनोरंजक कहानी।

साधारण

वैज्ञानिक आविष्कार—भाग १, २—पुरानी तथा नई वैज्ञानिक खोजों की विशद कहानियाँ।

आविष्कारकों की कहानी—युगान्तरकारी आविष्कारकों तथा वैज्ञानिकों की कथा।

वनस्पति विज्ञान

वनस्पति की कहानी—वनस्पति के जन्म, वृद्धि, क्रियाकलाप, तथा भेद प्रभेदों की कहानी।

चिकित्सा विज्ञान, कीटाणु विज्ञान

जीने के लिए—रोगों और कीटाणुओं का मर्म ज्ञात करने वाले वैज्ञानिकों की मार्मिक कहानी।

कीटाणुओं की कहानी—रोग उत्पन्न करने वाले तथा अन्य सूक्ष्मदर्शकीय कीटाणुओं और परम कीटाणुओं की कहानी।

पेनिसिलिन की कहानी—रसायन चिकित्सा तथा पेनिसिलिन के अविष्कार, की कहानी।

शल्य विज्ञान की कहानी—शरीर में चीरफाड़ करने के प्राचीन तथा नवीन ज्ञान की कहानी।

जीव-जन्तु विज्ञान

समुद्री जीव-जन्तु—समुद्र के अन्दर रहने वाले अद्भुत रंग-रूपों के जंतुओं का वर्णन।

अद्भुत जन्तु—अद्भुत रङ्ग रूप के जन्तुओं की कहानी।

विलक्षण जन्तु—विचित्र आकार प्रकार के जन्तुओं का वर्णन।

पक्षी ग्रन्थावली—पक्षियों के रङ्ग रूप, जीवन-क्रम, निवास सन्तानोत्पादन, स्वभाव भेद तथा पहचान का वर्णन।

१—शिकारी पक्षी	२)
२—जलचर पक्षी	२)
३—वन वाटिका के पक्षी	२)
४—वन उपवन के पक्षी	२)
५—उथले जल के पक्षी	२)

विज्ञान परिषद्, प्रयाग

Reg. NO 372

Approved by the Directors of Education, Uttar Pradesh
and Madhya Pradesh for use in Schools;
Colleges and Libraries

विज्ञान परिषद् के मुख्य नियम

परिषद् का उद्देश्य

१—१९७० वि० या १९१३ ई० में विज्ञान परिषद् की इस उद्देश्य से स्थापना हुई कि भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य का प्रचार हो तथा विज्ञान के अध्ययन को और साधारणतः वैज्ञानिक खोज के काम को प्रोत्साहन दिया जाय ।

परिषद् का संगठन

२—परिषद् में सभ्य होंगे । निम्न निर्दिष्ट नियमों के अनुसार सभ्यगण सभ्यों में से ही एक सभापति, दो उप-सभापति, एक कोषाध्यक्ष, एक प्रधानमन्त्री, दो मन्त्री, एक सम्पादक और एक अंतरंग सभा निर्वाचित करेंगे जिनके द्वारा परिषद् की कार्यवाही होगी ।

सभ्य

२२—प्रत्येक सभ्य को ६) वार्षिक चन्दा देना होगा । प्रवेश शुल्क ३) होगा जो सभ्य बनते समय केवल एक बार देना होगा ।

२३—एक साथ १०० रु० की रकम दे देने से कोई भी सभ्य सदा के लिए वार्षिक चन्दे से मुक्त हो सकता है ।

२६—सभ्यों को परिषद् के सब अधिवेशन में उपस्थित रहने का तथा अपना मत देने का, उनके चुनाव के पश्चात् प्रकाशित, परिषद् की सब पुस्तकों, पत्रों, तथा विवरणों इत्यादि को बिना मूल्य पाने का—यदि परिषद् के साधारण धन के अतिरिक्त किसी विशेष धन से उनका प्रकाशन न हुआ—अधिकार होगा । पूर्व प्रकाशित पुस्तकें उनको तीन चौथाई मूल्य में मिलेंगी ।

२७—परिषद् के सम्पूर्ण स्वत्व के अधिकारी सभ्य वृन्द समझे जायेंगे ।

प्रधान संपादक—डा० हीरालाल निगम
सहायक संपादक—श्री जगपति चतुर्वेदी

नागरी प्रेस, दारागंज, प्रयाग

प्रकाशक—विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

१—विज्ञान प्रवेशिका, भाग १—श्रीरामदास गौड़ और प्रो० सालिगराम भार्गव ।=)
२—चुम्बक—प्रो० सालिगराम भार्गव ।।।=)
३—मनोरञ्जन रसायन—प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव २)
४—सूर्य सिद्धान्त—श्री महावीरप्रसाद श्रीवास्तव छः भाग मूल्य ८)। इस लेखक को १२००) का मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला है।
५—वैज्ञानिक परिमाण—डा० निहालकरण सेठी १)
६—समीकरण मीमांसा—पं० सुधाकर द्विवेदी; प्रथम भाग १।।) द्वितीय भाग ।।=)
७—निर्णायक (डिटमिनेंट्स) प्रो० गोपाल कृष्ण गर्दे और गोमती प्रसाद अग्निहोत्री ।।।)
८—बीज ज्योमिति या भुजयुग्म रेखागणित—डाक्टर सत्यप्रकाश डी० एस-सी०, १।)
९—वर्षा और वनस्पति—श्री शंकरराव जोशी ; ।=)
१०—सुवर्णकारी—ले० श्री० गङ्गाशंकर पचौली; ।=)
११—व्यङ्ग-चित्रण—ले० एल० ए० डाउस्ट; अनुवादिका श्री रत्नकुमारी एम० ए०; २)
१२—मिट्टी के बरतन—प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा; (अप्राप्य)
१३—वायुमंडल - डाक्टर के० बी० माथुर, २)
१४—लकड़ी पर पालिश—डा० गोरखप्रसाद और श्री रामरतन भटनागर, एम० ए०, २) (अप्राप्य)
१५—कलम पेवंद—ले० श्री शंकरराव जोशी; २)
१६ जिल्दसाजी—श्री सत्यजीवन वर्मा, एम० ए० २)
१७—तैरना—डा० गोरखप्रसाद १)
१८—सरल विज्ञान-सागर प्रथम भाग—सम्पादक डाक्ट गोरख प्रसाद मूल्य ६) (अप्राय)
१९—वायुमण्डल की सूक्ष्म हवाएं—डा० सन्तप्रसाद टंडन, डी० फिल० ।।)
२०—खाद्य और स्वास्थ्य—डा० ओंकारनाथ परती, मूल्य ।।।)
२१—फोटोग्राफी—लेखक श्री डा० गोरख प्रसाद डी० एस-सी० (एडिन) ४),
२२—फल संरक्षण—डा० गोरखप्रसाद डी० एस-सी० और श्री वीरेन्द्रनारायण सिंह २।।)
२३—शिशु पालन—लेखक श्री मुरलीधर बौड़ाई। मूल्य ४)
२४—मधुमक्खी पालन—दयाराम जुगड़ान; ३)
२५—घरेलू डाक्टर—डाक्टर जी० घोष, डा० उमाशङ्कर प्रसाद, डा० गोरखप्रसाद, ४)
२६—उपयोगी नुसखे, तरकीबें और हुनर—डा० गोरखप्रसाद और डा० सत्यप्रकाश, ३।।)
२७—फसल के शत्रु—श्री शङ्कर राव जोशी ३।।)
२८—साँपों की दुनिया—श्री रमेश वेदी ४)
२९—पोर्सलीन उद्योग—प्रो० हीरेन्द्र नाथ बोस ।।।)
३०—राष्ट्रीय अनुसंधानशालाएँ—२)
३१—गर्भस्थ शिशु की कहानी—प्रो० नरेन्द्र २।।)

अन्य पुस्तकें

१—साबुन-विज्ञान ६)
२—भारतीय वैज्ञानिक ३)
३—वैक्युमब्रेक २)
४—यांत्रिक चित्रकारी २।।)
५—विज्ञान के महारथी (जगपति चतुर्वेदी) २)
६—पृथ्वी के अन्वेषण की कथाएँ („) १।।)
७—विज्ञान जगत की झाँकी (प्रो० नारायण सिंह परिहार) २)
८—खोज के पथपर (शुकदेव दुबे) ।।)

पता—विज्ञान परिषद् (म्योर सेन्ट्रल कालेज भवन) प्रयाग

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। विज्ञानेन जातानि जीवन्तिविज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ० ।३।५।

भाग ८० | कुम्भ २०११; फरवरी १९५५ | संख्या ५

विश्व का रहस्य

४. पृथ्वी और नक्षत्रों का उद्भव

[डा० रामधर मिश्र]

प्राचीन काल से जब कि ज्योतिर्विद्या सूर्य और ग्रहों तक ही सीमित थी, हमें इस बात की चर्चा मिलती है कि विद्वान लोग सूर्य्य और पृथ्वी आदि के विषय में अनुमान लगाया करते थे। अफलातून ने भी इस विषय में कुछ अनुमान किये थे प्लेटो के मत से ब्रह्मा ने इन सब ग्रहों को असीम दूरी पर बनाकर सूर्य्य की ओर फेंक दिया और जब वह अपनी अपनी पूर्व निश्चित परिधि पर पहुँचे तो तो सहसा अपनी गति के समकोण पर चलने लगे।

सन् १७७२ में वैज्ञानिक बोडे ने यह मत दिया कि हम ०, १, २, ४, ८, १६, ३२, ६४, १२८ २५६ एक से दुगनी संख्याओं को लें और इन संख्याओं के तिगुने में चार चार जोड़ें तो ये संख्यायें मिलती हैं अर्थात् ४, ७, १०, १६, २८, ५२, १००, १९६, ३८८, ७७२ सूर्य्य से बुध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल तारावर्ग समूह, बृहस्पति, शनि युरेनस, नेप्चून, प्लूटो के फासले इसी अनुपात में हैं। और यह संख्या-क्रम बहुत उपयुक्त जान पड़ता था। उस समय नेप्चून और प्लूटो का आविष्कार नहीं हुआ था। परन्तु यह दोनों ग्रह इस क्रम में ठीक नहीं बैठते—यही कहा जा सकता है कि बोडे के अनुमान में जितना अंश सही है वह केवल संजोग की बात है।

१७५० में वैज्ञानिक बफन (Buffon) ने यह मत प्रतिपादित किया कि कोई पुच्छल तारा आकर सूर्य्य से टकरा गया और सूर्य्य के वे भाग जो छिटक कर बाहर जा पड़े क्रमशः सूर्य्य के ग्रह बन गये। दार्शनिक कान्ट ने भी तीन वर्ष के निरन्तर चिन्तन के बाद इस विषय में अपना मत दिया किन्तु यह गणित की कसौटी पर असन्तोषजनक साबित हुआ।

सन् १७९६ में गणितज्ञ लाप्लास ने दार्शनिक कान्ट का आश्रय लेकर किन्तु गणित पर आधारित अपना मत सामने रक्खा। लाप्लास के मत से एक बादल सरीखे पदार्थ में जो आरम्भ से ही अपने चारों ओर घूम रहा था क्रमशः संघनन और संकुचन (Condensation & Contraction) हुआ और घूमने के वेग में तीव्रता आई। तीव्रगति के कारण उसका कुछ भाग छिटक कर बाहर जा पड़ा। इस प्रकार ज्यों-ज्यों संकुचन बढ़ता गया त्यों-त्यों गति की मात्रा में वृद्धि हुई और कई टुकड़े छिटक कर अलग होते गये। क्रमशः वे सब ग्रह बन गये और इसी प्रकार ग्रहों से जो टुकड़े छिटक कर अलग हुए वे उपग्रह बन गये। लाप्लास के मत से सब ग्रहों का जन्म सूर्य्य से हुआ। लगभग १०० वर्षों तक लाप्लास का मत लोगों को मान्य रहा किन्तु अब उसके विरुद्ध काफी सामग्री जमा हो गई है। हिसाब लगाने से यह पता चलता है कि सूर्य्य की गति में उतनी तेजी कभी हो ही नहीं सकती थी जितनी कि उसके किसी अंश के छिटककर अलग हो जाने के लिये आवश्यक होगी—सूर्य्य में जो गति है कम से कम उसकी सौ गुनी हुए बिना काम नहीं चलता। लाप्लास के मत के विरुद्ध एक और बात है। सूर्य्य का कोई अंश यदि छिटककर बाहर हुआ हो तो उसे एकदम बिखर जाना चाहिये था। एकत्रित रहकर वह ठोस बन सके इतनी शक्ति उसमें कदापि नहीं हो सकती थी। इसमें लाप्लास के गणित का दोष नहीं है किन्तु अणु और परमाणुओं के बारे में जो नये आविष्कार हुये हैं उनके कारण सूर्य से ग्रहों के जन्म का यह मत अब मान्य नहीं रहा। किसी दूसरे तारे की सहायता लिये बिना ग्रहों का जन्म नहीं हो पाता।

सन् १९०० के आस पास एक नया मत पुष्टि पाने लगा जिसे 'वेला वाद' कह सकते हैं (Tidal theory)। इस वाद को कैम्ब्रिज के वैज्ञानिक सर जेम्स जीन्स ने बड़ी पुष्टि दी है। जैसे चन्द्रमा के कारण समुद्र में ज्वार भाटे होते हैं वैसे ही सूर्य्य के निकट से कोई बड़ा तारा कभी निकला होगा जिसने सूर्य के द्रव पदार्थ को खींचकर उससे अलग कर दिया। वह परदेसी तारा वहाँ ठहरा नहीं, अपनी राह गया लेकिन सूर्य के एक भाग को खींचकर पृथक कर गया। वह छोटा भाग सूर्य के चारों ओर घूमने लगा। तब संघनन और संकुचन की क्रियाओं से इसके कई भाग हो गये जो क्रमशः अलग-अलग ग्रह बने। इस मत से सूर्य का जो भाग अलग हुआ उसकी आकृति करेला सरीखी थी। बीच में मोटी, दोनों छोरों पर पतली। और इस करेला सरीखे भाग के बीच वाले वृहत अंश से बृहस्पति बना। सूर्य के सबसे निकट का ग्रह बुद्ध सबसे छोटा हुआ और सबसे दूर का ग्रह प्लूटो भी बहुत छोटा रह गया—बृहस्पति के एक ओर शनि, दूसरी ओर ऐस्टिरायड्स (तारा वर्ग समू) बने। इस मत के अनुसार स्वभावतः बीच के ग्रहों के उपग्रहों की संख्या अधिक होनी चाहिये और है भी ऐसा ही। बुध और शुक्र के उपग्रह नहीं हैं। पृथ्वी के एक है। मंगल के दो, बृहस्पति के ग्यारह, शनि के नौ, यूरेनस के पांच और नेप्चून के दो।

यह वेला वाद आज के ज्योतिर्विदों को स्वीकृत नहीं है। रसेल ने जीन्स के वेलावाद का जो खण्डन किया है उसका विशेष तर्क यह है कि सूर्य का जो भाग अलग हो गया वह कदापि इतना नहीं हो सकता था कि उसका एक छोर बुध के पास हो और दूसरा प्लूटो के। जैसा मैं पहले कह चुका हूँ कि यदि सूर्य ६ इन्च का एक गेंद हो तो बुध ७ गज और प्लूटो ७१० गज दूर स्थित होंगे। छः इन्च के गेंद का एक छोटा अंश खिंचकर अलग हो और ७०० गज तक फैल जाय यह बात किसी तरह समझ में नहीं आती। जगत-सृष्टि मीमांसा (Cosmology) के नये मतों के अनुसार पृथ्वी आदि ग्रहों का जन्म सूर्य्य से तो कदापि नहीं हुआ और चाहे जैसे हुआ हो।

वेलावाद के विरुद्ध मत की पुष्टि में एक और तर्क है। सारे ब्रह्माण्ड का मौलिक पदार्थ हाइड्रोजन है। सूर्य्य तथा अन्य तारों में हाइड्रोजन का प्राधान्य है। हाइड्रोजन और हीलियम के अतिरिक्त सूर्य्य में जो अन्य पदार्थ हैं, वह अनुपात में १०० में एक भाग

हीलियम ही हैं। किन्तु पृथ्वी तथा अन्य ग्रहों में लोहा, चूना, एलम्यूनियम ऐसे पदार्थ लगभग हाइड्रोजन और हीलियम की बराबर मात्रा में हैं। इससे यह प्रत्यक्ष है कि सूर्य्य से निकले हुए भाग से पृथ्वी आदि ग्रह नहीं बने। साथ ही इससे एक और अत्यन्त महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकलता है। वह यह है कि पृथ्वी तथा अन्य ग्रह सूर्य्य आदि तारों से बिल्कुल भिन्न हैं। इस सृष्टि में पृथ्वी एकदम अनोखी है।

तीसरा तर्क इस प्रकार है। इस ब्रह्माण्ड में हाइड्रोजन के परमाणुओं का पसारा है। वे कहां से आये, कैसे आये, कोई नहीं जानता। उनसे नये-नये परमाणु बने। वैज्ञानिक आधार पर यह कहा जा सकता है कि कुछ परमाणुओं की आयु कम से कम ५ अरब वर्ष की है। इस पृथ्वी की आयु भी तीन अरब वर्ष से कम नहीं निकलती। कम से कम पचास करोड़ वर्ष से पृथ्वी पर किसी न किसी प्रकार के जीवन का प्रमाण मिलता है। सूर्य्य से जो प्रकाश पृथ्वी को मिलता है यदि उसका दसवां भाग भी कम हो जाय तो ठंडक के कारण पृथ्वी पर जीवन असम्भव हो जायगा। और यदि दसवां भाग बढ़ जाय तो समुद्र का पानी खौलने लगेगा। इस प्रकार भी जीवन असम्भव हो जायगा। इससे सहज ही यह निष्कर्ष निकलता है कि कम से कम ५० करोड़ वर्ष से सूर्य्य इसी प्रकार पृथ्वी को गर्मी और रोशनी देता रहा है। पचास करोड़ वर्ष पहले सूर्य्य में अकस्मात कोई परिवर्तन हो गया हो, ऐसा सम्भव नहीं मालूम देता। यह भी इस पक्ष का समर्थन करता है कि पृथ्वी का जन्म सूर्य्य से नहीं हुआ।

तब इस प्रश्न का उत्तर बाकी रह जाता है कि पृथ्वी आदि ग्रहों का जन्म कैसे हुआ और यह सूर्य्य के चारों ओर घूमने कहां से आये? केम्ब्रिज के गणितज्ञ लिटिलटन और ह्वायल के मत से कभी सूर्य्य के साथ कोई दूसरा तारा घूम रहा होगा। मैं पिछली वार्ता में कह चुका हूँ कि इस विश्व में युगल तारों की बहुतायत है। दो तारे एक दूसरे के चारों ओर घूमते हुए अपनी आकाश गंगा में बहते चले जाते हैं। यह दूसरा तारा कभी उसी प्रकार से फूट गया जैसे सुपर नोवा फूटते हैं—इसके टुकड़े बिखर कर बड़ी दूर चले गये, रह गई उस सुपर नोवा की बिखरी हुई कुछ गैस जो सूर्य्य के क्षेत्र में रह जाने के कारण चक्र की नाईं सूर्य्य के चारों ओर एकत्रित होकर घूमने लगी।

सूर्य्य का साथी तारा सूर्य्य से काफी बड़ा रहा होगा और इतनी दूर होगा जितना अब शनि है। यह तारा अवश्य ही असाधारण था और फटा होगा प्रचण्ड वेग से। यह सब कल्पना कोरी कल्पना नहीं है। युगल तारों का अध्ययन यह बताता है कि इस फासले पर घूमने वाले युगल तारे विश्व में मिलते हैं और सुपर नोवा का इस प्रकार फटना कोई असाधारण बात नहीं। सन् १०५४ का फटा हुआ एक सुपर नोवा जिसकी चर्चा चीनियों ने की थी आज भी आकाश में बिखरा हुआ मिलता है। माउन्ट विलसन की वेधशाला में अन्वेषण करने वाले दो ज्योतिर्विदों ने इनका बड़ा विस्तृत अध्ययन किया है। जब कोई सुपर नोवा फटता है तो उसके अन्दर का यथेष्ट भाग जलती हुई गैस की भांति करोड़ों मील की गति से भाग निकलता है। तो सूर्य्य के साथी तारे में से निकली हुई गरम गैस कुछ समय में—दो चार सौ वर्षों में—फैलकर सूर्य के चारों ओर चक्र के रूप में घूमने लगी। यह ठंडी हुई और घनी हुई। अन्त में उसमें से जहाँ तहाँ ग्रहों का जन्म हुआ, जो बाद में ठोस होकर उसी चक्र में सूर्य्य के चारों ओर घूम रहे हैं। और इन ग्रहों के जन्मदाता तारे का भग्नावशेष दूर कहीं किसी कोने में पड़ा चक्कर काट रहा होगा।

ज्योतिर्विद मिन्कावस्की के मत से सुपर नोवा के अन्दर सूर्य्य के गर्म की अपेक्षा ३०० गुना अधिक तापमान होगा। इस तापमान पर हाइड्रोजन से हीलियम तो बनता ही है, किन्तु उससे लोहा, सीसा, अलुमुनियम आदि पदार्थों के परमाणु अधिक मात्रा में बनते हैं। यह इस समस्या को पूरी तरह हल कर

देता है कि पृथ्वी का पदार्थ-वितरण सूर्य्य अथवा अन्य तारों से भिन्न क्यों है।

इस मत से यह परिणाम भी निकलता है कि पृथ्वी के गर्भ में उतनी गर्मी नहीं है जितनी कि अभी तक समझी जाती थी।

हायल के मत से अपनी आकाश गंगा में प्रायः २००,३०० वर्ष में एक सुपर नोवा फटता है। इस प्रकार गत चार सौ करोड़ वर्षों में लगभग एक करोड़ सुपर नोवा फूट चुके होंगे। यदि उनमें आधे भी युगल तारे वाले सुपर नोवा थे तो प्रायः एक करोड़ ग्रह मण्डल अपनी अपनी आकाश गंगा में घूम रहे होंगे। हमारे अपने सूर्य्य मंडल के दस ग्रहों में केवल पृथ्वी पर जीवन के चिन्ह हैं। इस अनुमान से लगभग एक लाख ग्रहों पर जीवन की सम्भावना है। यदि हमारी पृथ्वी पर जीव-जगत मिलता है तो यह कोई विशेष दैविक घटना नहीं है। वस्तुस्थिति अनुकूल होने से अकेले हमारी आकाश गंगा में ही हजारों ग्रहों पर जीव विचरते होंगे।

हायल की कल्पना बहुत कुछ कोरी कल्पना ही मानी जाती है। जगत् सृष्टि मीमांसा में नये नये मत प्रतिपादित होते रहे हैं। अब मैं नवीनतम मत की चर्चा करता हूँ।

इस अपार असीम विश्व में दूरबीन की सहायता से जो खोजें हुई हैं उनसे यह जान पड़ता है कि अपनी आकाश गंगा सरीखी लाखों करोड़ों आकाश गंगायें हैं। निश्चय ही वे खाली आँख से नहीं दिखतीं किन्तु विशेष आयोजन करके उनमें से कुछ के बड़े स्पष्ट और सुन्दर चित्र खींच लिये गये हैं। यदि और शक्तिशाली दूरबीनें बन सकें तो यह आशा की जाती है कि अनेकों नई आकाश गंगायें मिलेंगी। एक एक आकाश गङ्गा में लाखों करोड़ों तारे हैं। अनेक तारों के साथ वैसे ही ग्रह घूमते हैं जैसे सूर्य्य के साथ। कई ज्योतिविदों का यह मत हो चला है कि इस विशाल ब्रह्माण्ड में जिस नियम से आकाश-गंगायें बनीं उसी शक्ति से प्रेरित होकर प्रत्येक आकाश गंगा के तारे बने और उसी अविचल नियम के अन्तर्गत तारों के ग्रह तथा उपग्रह बने। इस नए मत से ग्रहों और उपग्रहों की जीवन-कहानी विश्व के उद्भव की कहानी से भिन्न नहीं। प्रकृति का एक मौलिक नियम सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त है; पृथ्वी उससे परे नहीं। इस प्रकार विश्व के रहस्य का मूल तत्त्व उसकी आकाश गंगाओं के जीवन में निहित है। आकाश गंगाओं के उद्भव, विकास एवं प्रसार की चर्चा अगले अध्याय में दी गई है।

५—विकासशील विश्व और उसमें मनुष्य की स्थिति

यह विश्व आकाश गंगाओं से भरा पड़ा है। असंख्य आकाश गंगायें हैं और एक-एक आकाश गंगा में असंख्य तारे हैं। अमरीका की वेधशाला में आकाश गंगाओं के अनेक चित्र खींचे गये हैं। उनसे यह पता चलता है कि आकाश गंगायें कई प्रकार की हैं। नारंगी समान गोल, शंख समान, चपटी और अस्त व्यस्त। कोई बहुत बड़ी, कोई छोटी। हमारी अपनी आकाश गंगा (Milky way) में कई तारे हमसे एक हजार वर्षमील की दूरी पर हैं, और जिस विशाल आकाश गंगा का वह अंग है उसका विस्तार ६० हजार वर्षमील तक फैला हुआ है। कुछ आकाश गंगायें जिनके चित्र खींचे जा सके हैं अरबों वर्षमील की दूरी पर हैं।

यदि हम अपनी आकाश गंगा की हद के बाहर टेलिस्कोप की सहायता से देखें तो आकाश में तारों से अनेकों बादल सरीखी आकाश गंगायें दीख पड़ेंगी। वह आकाश गंगा जो हमारी आकाश गंगा के सबसे निकट है वह भी हमसे ७ लाख वर्षमील की दूसरी पर है और हमारी ही आकाश गंगा सरीखी है। इन आकाश गंगाओं में अनेकों चमकदार दानव तारे भी हैं। वे गंगायें अपने चारों ओर घूम रही हैं, उनमें भी ग्रह हैं और उन ग्रहों पर सम्भवतः

प्राणी उसी प्रकार रहते होंगे जैसे इस पृथ्वी पर।

आज की बड़ी दूरबीनों से हम एक अरब वर्ष मील की दूरी से ज्यादा नहीं देख सकते। इसलिये यह कहना अभी असम्भव है कि इस दूरी के आगे क्या है। यह आकाश गंगायें आपस में प्रायः दस लाख वर्षमील की दूरी पर बिखरी हुई हैं और इन आकाश गंगाओं की संख्या कदापि दस करोड़ से कम नहीं है।

इस विश्व की उत्पत्ति कैसे हुई, ये आकाश गंगायें कहाँ से आईं, इस विषय में पुराना मत यह है कि बहुत काल पहले कहीं पर केन्द्रित मौलिक पदार्थों में बड़े जोर का एक विस्फोट हुआ जिसके फल-स्वरूप उस मूल तत्व का अंश कई टुकड़ों में इधर-उधर बिखर गया। उसी से आकाश गंगायें बनीं। यह मत अब कदापि मान्य नहीं है—हमारी आकाश गंगा में कोई ऐसे लक्षण नहीं हैं, जिनसे यह माना जा सके कि यह छिटक कर आये हुए मौलिक तत्व का रूप है। एक बात और है। मौलिक तत्व में संकुचन और संघनन की क्रिया हुए बिना तारों और आकाश गंगाओं का बनना सम्भव नहीं जान पड़ता। स्फोट और संघनन दोनों परस्पर विरोधी क्रियायें हैं और गणना से यह सिद्ध किया जा सकता है कि यदि विस्फोट के कारण मूल तत्त्व इतना बिखर गया होता तो ऐसा संघनन संभव नहीं होता कि तारे बन सकते।

दूसरा मत यह है कि निकट के पदार्थों में आकर्षण और दूर के पदार्थों में विकर्षण की क्रिया से इस विश्व के सीमित मूल तत्त्व का अवश्य ही विकास हुआ होगा। लिमेट्र (Lamaitre) और एडिंग्टन ने इसी मत का प्रतिपादन किया, किन्तु इस मत में आकाश गङ्गाओं की आयु इतनी अधिक हो जाती है जितनी संभव नहीं जान पड़ती।

तीसरा मत कुछ-कुछ इस प्रकार है—आरम्भ में कभी इस ब्रह्माण्ड में कोई मूल पदार्थ होगा जो इस विश्व में व्यापक था, इसमें गति थी, आकर्षण था—क्रमशः संकुचन और संघनन की क्रियाओं के कारण विश्व में अनेकों आकाश गङ्गायें बन गईं। अधिक संकुचन और संघनन होते रहने से तारे भी बन गये।

सन् १९२७ में प्रोफेसर W. de Sitter ने आइन्सटाइन के सापेक्षवाद पर आधारित गणना से यह बताया कि यह विश्व विकासशील है। जो आकाश गंगायें हमसे अधिक दूर हैं वे उतने ही वेग से और अधिक दूर होती जा रही हैं। शंख रूप की आकाश गङ्गायें प्रायः सबसे अधिक दूरी पर हैं और सभी दूर भागती हुई जान पड़ती हैं। गोल आकाश गङ्गाओं में कुछ, लेकिन बहुत कम, निकट आती भी जान पड़ती हैं।

आकाश गङ्गाओं का दूर भागना वास्तव में किसी ने नहीं देखा, किन्तु उनसे जो प्रकाश आता है उनकी रंगावलि लाल रंग की ओर बढ़ी हुई होती है और डॉपलर (Doppler) के नियम से उसका यह निष्कर्ष निकलता है, कि प्रकाश का उद्गम स्थान अर्थात् वह विशेष आकाश गङ्गा हमसे दूर भाग रही है। आइन्सटाइन ने अपने सापेक्षवाद में यह दिखाया कि सूर्य्य से प्रकाश किरणें जब चलती हैं तो सूर्य्य के आकर्षण के प्रभाव में प्रकाश की शक्ति कम हो जाती है, और उससे उसकी रंगावलि लाल रंग की ओर बढ़ी हुई रहती है। इस मत से रंगावलि का लाल रंग की ओर अग्रसर होना केवल यही प्रमाणित करता है कि प्रकाश की शक्ति में कमी हुई। कुछ लोगों के मत से उससे यह परिणाम निकालना कि आकाश गङ्गायें दूर भाग रही हैं, सही नहीं है। ज्वीकी (Zwicky) ने इसी आशय का एक मत दिया किन्तु गणना से वह गलत साबित हुआ।

आइन्सटाइन के सापेक्षवाद मत से इस विश्व में जो आकर्षण नियम लागू है, अर्थात्

$$G_{\mu\nu} = \lambda g_{\mu\nu}$$

उसके हिसाब से कुछ दूरी तक-करोड़ों मील-आकर्षण शक्ति प्रबल रहती है किन्तु बहुत अधिक अर्थात् हजारों लाखों वर्ष मील की दूरी पर विकर्षण का

प्रभाव होने लगता है और इस अन्तर पर स्थित आकाश गंगायें बिखरती हुई सी जान पड़ती हैं।

आइन्सटाइन के मत के अलावा और भी कई मत हैं, एक मत यह भी है कि कभी विश्व विकासशील होता है, कभी सिकुड़ने लगता है। कौन मत सही निकलेगा यह कहना आज सम्भव नहीं है।

विश्व का विकास साधारण भाषा में कह पाना असम्भव है। समझने के लिये गुब्बारे का दृष्टान्त दिया जा सकता है। यदि किसी गुब्बारे पर कुछ चिन्ह बने हों और वह फूलता जाय तो उन चिन्हों के बीच का अन्तर भी बढ़ता जाता है।

यह आकाश गङ्गायें लाखों मील के वेग से दूर भागती जान पड़ती हैं, और कुछ तो बीस करोड़ मील प्रति घंटा की गति से भाग रही हैं। आज जो आकाश गङ्गायें सबसे दूर दिखाई पड़ती हैं उनकी दूनी दूरी पर स्थित जो आकाश गंगा होगी वह प्रकाश की गति से भी अधिक वेग से भागती जान पड़ेगी। किन्तु आइन्सटाइन के सापेक्षवाद में कोई पदार्थ प्रकाश के वेग से अधिक वेग नहीं पा सकता। इसका यह निष्कर्ष निकलता है कि जो आकाश गंगायें इतनी दूर होंगी उनका प्रकाश हम तक कभी पहुँच ही नहीं सकता, वह हमको कभी दिखाई नहीं दे सकतीं। शायद वह हो ही नहीं।

आइन्सटाइन ने इस समस्या का हल विश्व को नति (curvature of space) देकर किया है। किन्तु कठिनाई यह है कि अमरीका की सबसे बड़ी दूरबीन से विश्व का जितना अंश हम देख पाते हैं, उसकी दूनी दूरी तक का हाल जानने के लिये हमारी दूरबीन कम से कम दस लाख गुनी बड़ी होनी चाहिये अर्थात् इस विश्व का जो अंश हम देख सकते हैं वह हमेशा ही सीमित रहेगा और उसकी सीमा दो अरब वर्ष मील की है। उसके परे जो है वह अगोचर है, अज्ञेय है।

आज के नये मत से इस विकासशील विश्व में जो आकाश गंगायें दो अरब वर्ष मील की दूरी के बाहर जा पड़ती हैं वे हमारे लिये खो सी जाती हैं। उनको न हम देख सकते हैं न उनके विषय में कुछ जान सकते हैं। यदि हम विश्व की उत्पत्ति के पुराने मतों को मान लें और उसमें विश्व के विकासशील होने का योग दें तो प्रायः दस अरब वर्षों में इस विश्व का सभी अंश उस अगोचर क्षेत्र में जा पड़ना चाहिये। यह दस अरब वर्ष की आयु सूर्य्य की कुल आयु का केवल पंचमांश है।

केम्ब्रिज के विद्वान ह्वायल ने एक नया मत सामने रक्खा है। वह यह है—इस ब्रह्माण्ड के मौलिक तत्व में से उसी मात्रा में नई आकाश गंगायें बनती रहती हैं जिस मात्रा में दूर की आकाश गंगायें अज्ञेय एवं अगोचर क्षेत्र में जा पड़ती हैं। इस प्रकार ह्वायल के मत से इस विश्व में सृष्टि एवं विनाश का कार्य-क्रम निरन्तर जारी है।

नये मतों की कोई कमी नहीं। आये दिन नये मत प्रतिपादित होते रहते हैं।

विश्व के रहस्य में आज चार मौलिक बातें हैं जिनको लेकर ही कोई नया मत चलाया जा सकता है।

(१) इस विश्व की आयु दस अरब वर्षों से कम नहीं।

(२) विश्व का विकासशील होना अर्थात् कई अरब वर्ष मील पहले सारा विश्व एक छोटे से क्षेत्र में संकुचित रहा होगा।

(३) साधारण ज्यामिति के नियमों का उल्लंघन अर्थात् आइन्सटाइन के सापेक्षवाद की नितान्त आवश्यकता है।

(४) विश्व के गर्भ में से नई-नई किरणों का आविष्कार जिन्हें अंग्रेजी में (Cosmic rays) कहते हैं।

यह सही है कि विश्व के विकासशील होने की बात केवल दूर की आकाश गंगाओं से आये हुए प्रकाश की रंगावलि के लाल रंग की ओर अग्रसर होने का ही निष्कर्ष है। किन्तु इस प्रतिभास का अभी तक कोई दूसरा कारण समझ में नहीं आता। जिस दिन अन्य कोई कारण समझ में आ जावेगा

उस दिन विश्व के विकासशील होने का प्रमाण हवा हो जायेगा। तब तक आइन्सटाइन के सापेक्षवाद को भी छोड़ा नहीं जा सकता; उसका भी यही निष्कर्ष है, कि विश्व विकासशील है।

विश्व के रहस्य को समझने के लिये दो और थर्मोडाइनिमिक्स के नियमों का जान लेना आवश्यक है—

(१) इस विश्व की शक्ति सीमित है, न वह घटती है न बढ़ती है।

(२) शक्ति सूक्ष्म रूप से बदलकर स्थूल रूप में तो जा सकती है, किन्तु स्थूल रूप से सूक्ष्मतर रूप में नही बदलती। जैसे शुद्ध रोशनी से गर्मी तो बन सकती है, लेकिन केवल गर्मी से रोशनी नहीं बनती। इन दोनों नियमों के कारण इस विश्व की समस्त (Energy) अपनी मात्रा और गुण दोनों में सीमित है। अवश्य ही यह विश्व अनन्त नहीं हो सकता।

इस विश्व में आकाश गंगायें छोटी भी हैं और बड़ी भी। हमारी अपनी आकाश गंगा मध्यम श्रेणी की है, न बहुत छोटी न बहुत बड़ी। इस आकाश गंगा में हमारा सूर्य्य मंडल न केन्द्र के बहुत निकट है न केन्द्र से बहुत दूर। लगभग दो तिहाई दूरी पर स्थित है। इस सूर्य्य मण्डल में कुछ ग्रह सूर्य्य के निकट हैं कुछ बहुत दूर। हमारी पृथ्वी न बहुत निकट है न बहुत दूर। यदि अधिक दूर होती तो ठंढक के कारण इस पर जीवन संभव नहीं होता। बहुत निकट होती तो गर्मी के कारण जीवन असम्भव हो जाता। ग्रहों में कुछ ग्रह बहुत छोटे हैं—कुछ बड़े। पृथ्वी न बहुत छोटी है न बहुत बड़ी, मध्यम श्रेणी की है। पृथ्वी पर बहुत बड़े जीव-जन्तु भी हैं, बहुत छोटे भी। मनुष्य न बहुत बड़ा है न बहुत छोटा। इस प्रकार विश्व की व्यापकता में मनुष्य हर प्रकार से मध्यम श्रेणी की शृङ्खला में बँधा हुआ है—इससे यह अनुमान निकाला जा सकता है कि मनुष्य जाति के इतिहास में कोई उल्लेखनीय स्थान जिस किसी मनुष्य को मिलेगा वह न बहुत अमीर होगा न बहुत गरीब, न विलासी होगा न सन्यासी। न पहलवान होगा न मरियल। मध्यम श्रेणी के वही व्यक्ति जो मध्यम मार्ग (middle path) का अनुसरण करते हैं उन्हीं का विश्व के साथ समन्वय है।

इस विश्व के जीवन में पृथ्वी की आयु न बहुत अधिक है न बहुत कम और पृथ्वी पर मनुष्य जाति बहुत प्राचीन भी नहीं है। अवश्य ही इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इस महान् विश्व के अस्तित्व में मनुष्य की स्थिति कोई विशेष महत्व नहीं रखती। अनेकों आकाश गंगाओं में अनेकों सूर्य्य होंगे, जिनमें कहीं कोई ग्रह ऐसी मध्यम परिस्थिति में मिलेंगे जिनमें जीवन के लिये अनुकूल वातावरण होगा, जिन पर प्राणी विचरते होंगे और संभवतः जिन पर मनुष्य सरीखे नर-नारी जीवन यापन कर रहे होंगे। भविष्य में शायद कभी हमारा उनका सम्पर्क भी स्थापित हो जाय! वह दिन विश्व के इतिहास का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होगा। विश्व का वास्तविक रहस्य भी शायद तभी जान मिलेगा।

सिंह या विडाल वंश

विडाल या सिंह वंश से क्या अभिप्राय हो सकता है, इसे जनसाधारण तुरन्त नहीं अनुमान कर सकते, परन्तु जन्तु-विज्ञान के विद्वानों ने विभिन्न प्रकार के जन्तुओं का अध्ययन कर विभिन्न छोटे-बड़े विभाग किये हैं। ऐसे ही विभागों में एक बड़ा विभाग मांसभक्षी या हिंसक पशुओं का हो सकता है। वह विभाग हिंसक या मांसभुज गण नाम से पुकारा जाता है। उसमें प्रमुख रूप के जन्तु ही एक छोटा उपविभाग बनाते हैं जो बिल्ली के पर्यायवाची शब्द विडाल या इसी प्रकार के किन्तु प्रबल हिंस्र जन्तु, सिंह के नाम पर विडाल या सिंह वंश कहा जाता है। यह उपविभाग एक ओर तो हमारे घरों में म्याऊँ-म्याऊँ कर कभी जूठन खाने वाली और कभी चूहे-चूहियों का शिकार कर अपनी आखेट-प्रवृत्ति दिखाने वाली बिल्ली होती है तो दूसरी ओर वन्य जन्तु-समाज-केशरी या सिंह भी इसी वंश का सम्भ्रान्त सदस्य बनता है। बाघ, तेंदुआ, चीतल, बनविडाल आदि भी इसी वंश के हैं। यदि इनको बिल्ली या विडाल वंश का न कह कर व्याघ्र वंशी या सिंह वंशी कहा जाय तब भी स्थिति में कोई अन्तर तो नहीं पड़ता, परन्तु सिंह और व्याघ्र जहाँ हमसे सदा दूर ही रहने वाले, केवल दुर्भाग्यवश जङ्गल में सम्मुख पड़ने वाले या जन्तुशाला में ही हमें दिखाई पड़ सकने वाले होते हैं, वहाँ बिल्ली (विडाल या मार्जार) हमारे सम्मुख नित्य आने वाला जन्तु है। इस कारण इन सब जन्तुओं में कुछ विशेषताओं का साम्य होने से यदि परिचित जन्तु, विडाल या मार्जार के नाम पर ही वंश को पुकारा जाय तो वह अधिक सुबोध या ग्राह्य हो सकता है, परन्तु शब्द कुछ भी हो, उसका अभिप्राय हमें ठीक तरह ध्यान में रखना चाहिये।

शिकारी पशुओं में विडाल वंश को सर्वोपरि कहना चाहिये। अन्य शिकारी पशु भी हैं किन्तु किसी के दाँत विशेषतया मांसभक्षण के अनुकूल नहीं होते या कुछ अन्य शिकारी पशुओं के पंजे कुन्द होने के कारण शिकार-कार्य के अधिक उपयुक्त नहीं होते। इन दृष्टियों से विडाल वंशीय जन्तुओं को पूर्णतः आखेटक जंतु कहना उचित है। इनके पंजे अपने शिकार पर प्रहार करने तथा संघर्ष में उसे पकड़ सकने के सर्वथा उपयुक्त होते हैं तथा इनके दाँत मांस में धस जाने, उसे काट डालने तथा चीरने-फाड़ने के लिए पूर्णतः उपयुक्त रूप में विकसित होते हैं। विडाल वंशीय जन्तु केवल दाँतों तथा पंजों के उपकरणों की दृष्टि से ही सर्वोपरि आखेटक नहीं होते, बल्कि शिकार करने के आवश्यक गुणों, साहस, पराक्रम, क्षिप्रता आदि से भी सज्जित होते हैं। जीवित शिकारों को तीव्रवेग से पकड़ने, मार डालने तथा खा डालने के साधनों से पूर्ण युक्त होकर ये अपने आखेटक जीवन का अत्यन्त विशिष्ट रूप प्रकट करते हैं।

शिकारी पशु रूप में विडाल वंश पर जब हम ध्यान देते हैं तो उनकी ज्ञानेन्द्रियों पर हमारी दृष्टि जाती है। हमें यह जानने की इच्छा होती है कि विडाल वंश की किन जातियों में किन विशेष ज्ञानेन्द्रियों द्वारा आखेट में विशेष सहायता प्राप्त होती है। अन्य जन्तुओं को मारकर अपना उदर पालन करने में बड़ी बुद्धि तथा कुशलता की आवश्यकता होती है। अतएव आखेटक जन्तुओं में शिरोमणि विडालवंश में, केवल मनुष्य तथा बनमानुषों को छोड़कर अन्य सभी जन्तुओं से अधिक प्रबल मस्तिष्क और बुद्धि होती है। जितने भी मांसभक्षी जन्तु हैं उनमें श्रवणेन्द्रियाँ, घ्राणेन्द्रियाँ तथा चाक्षुषेन्द्रिय आदि सभी उच्चतर ज्ञानेन्द्रियाँ अत्यधिक

विकसित होती हैं जिससे उनमें सुनने, सूँघने तथा देखने की अद्भुत क्षमता होती है किन्तु ये ज्ञानेन्द्रियाँ विशेष रूप से आखेटक जंतुओं में ही और विशेषकर विडाल वंश में अधिक प्रबल होती हैं।

विडालों के मुख पर मुच्छीय रोम से होते हैं जो लम्बे और कड़े होते हैं। ऐसे ही कड़कड़ाते बालों का गुच्छ अगले पैरों पर भी होता है, परन्तु ये निरर्थक या केवल आवरण रूप के ही पदार्थ नहीं है, बल्कि इनमें तीव्र संवेदन शक्ति होती है। इनका उपयुक्त स्नायुओं द्वारा सम्बन्ध होता है जिससे वे किसी वस्तु का स्पर्श होते ही उसका ज्ञान मस्तिष्क के विशेष अंग को करा देते हैं। किन्तु स्पर्श द्वारा ज्ञान होने से भी अधिक कुशल ज्ञानेन्द्रिय विडाल की श्रवणशक्ति है। किसी शिकार की जरा भी कहीं आहट हुई कि विडाल के संवेदनशील सजग कान उसका तुरन्त ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। उसके कानों का लम्बा चोंगा या चर्मीयपट ऐसे रूप का बना होता है कि मन्द ध्वनि को भी वायु-लहरों द्वारा सहज ग्रहण कर ले। कोई शब्द सुनते ही उसके आने की ठीक दिशा ज्ञात करने में भी विडाल बड़े कुशल होते हैं। विडाल वंश की दृष्टि (चाक्षुषेन्द्रिय) भी उल्लेखनीय है। उसके नेत्र सभी मांसभक्षी पशुओं से बड़े होते हैं। नेत्रों के अन्दर पेशियों की इतनी भव्य व्यवस्था होती है कि तीव्र प्रकाश में उसकी पुतली संकुचित बन जाती है जिससे उसके क्षत होने का भय नहीं रहता। छोटे विडालों में पुतली संकुचित होने पर खड़ी लंबवत पतले झरोखे-सी बन गई होती है किन्तु सिंह, व्याघ्र, तथा चित्रव्याघ्र में छोटे गोले छेद समान बन जाती है। अँधेरे में पुतलियाँ फैलाकर अधिक से अधिक प्रकाश ग्रहण करने में हमारे नेत्रों को समर्थ बनाती हैं। विडाल वंश में नेत्रों की पुतलियाँ अंधेरे में कार्य-शील होने की इतनी अभ्यस्त होती हैं कि वे रात्रिचारी शिकार की गतिविधि का शीघ्र ज्ञान प्राप्त कर लेती हैं।

ऐसा विश्वास किया जाता है कि विडाल वंश के सभी जन्तु शिकार करते समय श्रवणशक्ति की अपेक्षा दृष्टिशक्ति पर ही अधिक निर्भर करते हैं तथा श्वान अपने शिकार की सफलता के लिए सूँघने की शक्ति का ही भरोसा करते हैं। किन्तु यह भी किंवदंती है कि सिंह अपने आखेट-कार्य के लिए मुख्यत घ्राण-शक्ति पर ही अवलम्बित होता है तथा व्याघ्र या चित्रव्याघ्र आखेट-कर्म में दृष्टि तथा श्रवणशक्ति पर ही निर्भर रहते हैं। सच पूछा जाय तो यह कहना बड़ा कठिन ही है। कि आखेट जन्तु रात को आखेट करने की क्रिया में अपनी दृष्टिशक्ति से कितना अधिक काम लेते हैं। घने जङ्गलों में चारों ओर झाड़-झंखाड़, घनी वृक्षावली, लता आदि की बाढ़ से दृष्टि-शक्ति का क्षेत्र निस्सन्देह ही सीमित रह सकता है। अतएव रात्रिचारी आखेटक जंतुओं के सम्बन्ध में यह कल्पना करना अधिक समीचीन हो सकता है कि वे अपने शिकार के स्थान, वातावरण, जंतु की स्थिति आदि के अनुसार अपनी सभी ज्ञानेन्द्रियों का यथाशक्ति उपयोग कर अपनी उदरपूर्ति के लिए प्रचुर खाद्य प्राप्त करने के लिए जन्तुओं को धर-पकड़ने मारने आदि का सदा प्रयत्न करते रहते होंगे। वन्य वातावरण में अंधेरे में निर्जन स्थलों में मनुष्य से दूर भाग कर रहने वाले अथवा भीषण हिंसक पशुओं की ऐसी वृत्तियों तथा शक्तियों का निरीक्षण तथा ज्ञान अवश्य ही बड़ा कठिन है।

विडाल वंश के दाँत विशेष उल्लेखनीय हैं। कुकुरदन्ता या रदनक दाँत तो हमें कुत्तों के समान जन्तुओं में भी दिखाई पड़ते हैं, परन्तु विडालों में उनका विशेष आकार प्रकार होता है। उनका काम शिकार के मांस को चीर-फाड़ डालना है। ये अन्य सभी जन्तुओं की अपेक्षा विडालों में दीर्घकाय और परिपुष्ट होते हैं। बड़े विडालों में तो वे विकट अस्त्र बन गए होते हैं। वे विशेष लंबे हो गए होते हैं और अन्य दाँतों से यथेष्ट पृथक स्थित होते हैं। जबड़ों के बन्द होने पर ऊपर-नीचे के रदनक एक दूसरे से मिल कर फाँस बना लेते हैं, परन्तु इन विकट जन्तुओं के जबड़े दुर्भाग्य-वश किसी शिकार के सम्मुख खुलते हैं तो शिकार के अंग-अंग के मांस-खंड की धज्जियाँ उड़ते विलम्ब नहीं लग सकता। अन्य दाँतों से सर्वथा

पृथक रहने के कारण ये रदनक दाँत आक्रान्त जन्तु के मांस में पूर्णतया धसाए जा सकते हैं। उनको मांस-खंड में पूर्ण प्रविष्ट होने में बाधा पहुँचाने के लिए इनके सन्निकट कोई भी दाँत नहीं होता। इन बलिष्ठ रदनक दाँतों को प्रश्रय देने वाले जबड़े क्षुद्रकाय किन्तु शक्तिशाली होते हैं, मानो शक्ति को थोड़े स्थान में संचित कर रखने के लिए उनका आकार प्रकृति ने छोटा बना रक्खा हो। गंध विडाल के नोकीले थूथन या श्वान वंशीय जन्तुओं तथा ऋक्षों के लंबोतरे थूथन से विडाल वंशीय जन्तुओं का चपटा थूथन स्पष्टतः भिन्न रूप का होता है। उसमें यथेष्ट दृढ़ता तथा बल लाने के लिए कपोलीय अस्थियों में दृढ़ चौड़ा मेहराब होता है तथा कपाल का अस्थिनिर्मित शिखर भी प्रशस्त होता है। उनमें संलग्न बलिष्ठ पेशियाँ रदनक दाँतों को असीम बल प्रदान करती हैं। उन उपकरणों से सज्जित होकर विडाल वंश के मुख की दंशक्रिया आक्रान्त जन्तुओं के नाश का कारण होती है।

विडाल वंश के रदनक तथा कर्तनक दाँत शिकार को पकड़ने तथा काटने के प्रबल अस्त्र होते हैं। उसके चर्वणक (चहू के दाँत) मांस के खंड-खंड करने में उपयुक्त होते हैं। इन कार्यों के लिए मांसभोजी स्तनपोषी जन्तुओं की दन्तावली बिलकुल उपयुक्त होती है। जब हम जन्तुओं की दन्तावली पर साधारण रूप में दृष्टिपात करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि जन्तुओं में चहू के या चबाने के दाँत (चर्वणक) जितनी अधिक संख्या में होते हैं उनके दाँतों के शीर्ष उतने ही अधिक चपटे होते हैं। अतएव ऐसी दन्तावली रखने पर अधिकतर यही सम्भावना हो सकती है कि वह जन्तु मिश्रितभोजी ही हो। इसके विपक्ष चर्वणक दाँतों की संख्या न्यून होगी और उनके शीर्ष पिचक कर तीक्ष्ण धारयुक्त बने होंगे, उनको एकमात्र मांसाहार पर ही निर्भर रहने वाला पाया जायगा। मांसभोजी स्तनपोषी जन्तुओं में दोनों जबड़ों के प्रत्येक पार्श्व में एक-एक चर्वणक ही होते हैं। मांसभोजी स्तनपोषी के इन चर्वणक दाँतों को मांसभक्षक दन्त नाम ही दिया जाता है। ये शुद्ध मांसभोजियों में बिडाल सरीखे जन्तुओं में दीर्घकाय तथा विशेष विकसित होते हैं। इन दाँतों की स्थिति ही ऐसे स्थल पर होती है जहाँ मांसछेदक पेशियाँ अधिक से अधिक बल लगा सकती हैं। निम्न जबड़े की गति भी मांसपिंड काटने में विशिष्ट रूप की होती है। यह ऐसी संधि से जुटा होता है कि ऊपर-नीचे हो सके परन्तु आगे-पीछे या पार्श्व (अगल-बगल) दिशाओं में बिलकुल ही नहीं घूम सकता। इस प्रकार ये चर्वणक कैंची के दोनों फलकों की भांति संचालित होकर मांस चीर-फाड़ डालते हैं। अतएव हमारे जबड़ों के आगे-पीछे तथा अगल-बगल घूम सकने की भाँति विडालों के जबड़े में गति नहीं होती। उनकी पेशियों का बल केवल एक दिशा में (ऊपर नीचे ही) गति करने के कारण केन्द्रित सा होता है। इसी कारण विडालों के दाँत मांसपिंडों को अस्थि खंडों से काट डालने या दृढ़ पदार्थों को ध्वस्त करने के विशेष उपयुक्त होते हैं। कर्तनक दाँतों का भी विशेष उपयोग होता है। प्रत्येक मांसभोजी स्तनपोषी में प्रायः छः कर्तनक दाँत होते हैं। उनका सन्दंश (सँडसी) समान रूप अस्थियों के कोमल दुर्बल छोरों को कुतर डालने और पेशियों के कंडरा (बंधन सूत्रों) को नोच डालने में समर्थ होता है।

दाँतों के अतिरिक्त विडालों की जीभ भी मांस-भक्षण में विशेष सहायक होती है। अस्थियों से मुख्य मांसपिंड को दाँतों से काट और नोच खाने के बाद जब कुछ अवशिष्ट अंश चिपका रह जाता है तो विडाल उसे अपनी खुरदरी जीभ से चाट डालता है। ऐसी दशा में विडाल की जीभ हमारी या अधिकांश अन्य जन्तुओं की जीभ के केवल स्वादेन्द्रिय धर्म से कुछ विशेष कार्य कर दिखा सकती है। सच पूछिए तो मांसभोजी जन्तुओं को मांसपिंड की बोटी की बोटी निगल जाने से ही काम निकल जाता है, स्वाद लेने का कोई विशेष प्रश्न ही नहीं रहता। उनके जीभ की स्वादग्रंथियाँ अत्यन्त क्षुद्र होती हैं तथा केवल छोरों पर ही स्थित होती हैं।

जीभ का मुख्य भाग तो शंक्वाकार मांस-सूत्रों या पतले मांसअर्बुदों से आच्छादित होता है। वे मांस-सूत्र शृंगीय नोकीले खोलों में भीतर रहते हैं। अतएव स्पर्श करने पर वे काँटे या पिन की तरह चुभते ज्ञात होते हैं। बहुसंख्यक काँटे सदृश मांस-सूत्र कठोर नोकीले सिरों युक्त होते हैं, इस कारण विडाल अपनी जीभ से अस्थिखंड पर का बचा-खुचा मांस का अंश खुरचकर उसे स्वच्छ बना देता है। अतएव हमें यह स्पष्ट ज्ञात हो सकता है कि विडाल वंशों के समान कोई भी अन्य आखेटक जन्तु शिकार के इतने अधिक उपकरणों से सज्जित नहीं होता।

शिकार करने में विडाल वंश के पैर भी कम महत्व नहीं रखते। शिकार तो अन्य वंशों के स्तनपोषी जन्तु भी करते हैं, परन्तु विडालों की आखेट-पद्धति आकस्मिक प्रहार की होती है। कहीं पर छिपे या दबे रहकर शिकार की टोह में रहने या उसके निकट दुबककर पहुँचने के बाद उसे सहसा अपनी चपेट में लेना उसकी एक विशेषता होती है। ऐसे त्वरा वेग के आक्रमण में उछाल मार कर पहुँचने की क्रिया ऐसी होती है कि उस क्रिया का यथार्थ दर्शन या अनुभव करने के पूर्व ही आक्रान्त जन्तु आक्रामक विडाल के चंगुलों के अधीन हुआ दिखाई पड़ता है। ऐसे आखेट के उपयुक्त पगों की रचना का अनुभव हमें आक्रमण की घटना के समय व्याघ्र या घरेलू बिल्ली के पगचिन्हों को देखकर हो सकता है। साधारण रूप में चलने पर व्याघ्र या अन्य मार्जारों की पादांगुलियों तथा उनकी पश्चात्‌वर्ती गद्दी का ही चिन्ह दिखाई पड़ता है किन्तु एड़ी (पार्ष्णि) तथा सुपली या तलवे (पाद तल) का चिन्ह नहीं दिखाई पड़ता क्योंकि विडाल वंशीय जन्तु केवल पादांगुलियों को ही भूमि पर आश्रित कर उसके बल चलते हैं अतएव इनको पादांगुलिगामी जन्तु कहना अनुचित नहीं। उनकी एड़ी (पार्ष्णि) तथा तलवे (पादतल) भूतल से ऊपर ही उठे रहते हैं, अतएव उनके शरीर का सन्तुलन कुछ परिवर्तित-सा हो जाता है, जिससे उनका शरीर आगे की ओर क्षेपित हो जाता है और उनकी गति में वृद्धि हो जाती है। उनके पैरों के केवल पंजे या पादांगुलियों के ही चलने के समय भूस्पर्श करने से केवल गति में ही वृद्धि नहीं होती। बल्कि उछाल मारने में भी क्षिप्रता प्रदर्शित होती है।

किसी भी आखेटक स्तनपोषी जन्तु में चार से कम पादांगुलियाँ नहीं होतीं। विडाल वंशीय जन्तुओं में अगले पैर में पाँच-पाँच पादांगुलियाँ तथा पिछले पैरों में चार-चार पादांगुलियाँ होती हैं। किन्तु अगले पैर के अँगूठे पैर के कुछ ऊपरी भाग में स्थित होते हैं। अतएव चलने के समय विडाल के पगचिन्ह में केवल चार पादांगुलियां ही अपनी छाप प्रदर्शित करती हैं किन्तु उसके पैर की मोटी गद्दियां तो चुपके से निश्शब्द चल सकने में समर्थ बनाकर आक्रान्त जन्तुओं के प्राण को सुगमतया हरण करने का मार्ग संक्षिप्त बना देती हैं। यही बात है कि व्याघ्र की गति को प्रेत की चाल कहा जाता है। एक विचित्र बात यह होती है कि जब विडाल चलते हैं तो उनके प्रत्येक पार्श्व के दोनों पैर एक साथ ही गतिमान होते हैं। घरेलू बिल्ली की मामूली चाल पर आप ध्यान दें तो स्पष्ट दिखाई पड़ेगा कि अगले पैर के पगचिन्ह पर ही पिछला पैर भी ठीक जा बैठता है। ऐसी स्थिति में तो इस चतुष्पद के पगचिन्ह ऐसे ज्ञात होते हैं मानो किसी द्विपद के ही हों। इसी व्यवस्था के कारण बिल्ली मौन गति करती पाई जाती है। व्याघ्र की गति में भी ऐसी ही बात पाई जा सकती है। परन्तु साधारण चाल में व्याघ्र के प्रत्येक पार्श्व के दोनों पैर दुहरा पगचिन्ह प्रदर्शित करते हैं। किन्तु आखेट को हस्तगत करने के उद्देश्य से निश्शब्द रूप में उसकी गति होने पर चार पगचिन्ह केवल दो पग चिन्हों में ही परिणत हो गए होते हैं। ऐसी गति कर सकने के अतिरिक्त विडालों के पाद तथा पादांगुलियों की रचना ऐसे विशेष रूप की होती है कि वे आखेट को पकड़ने तथा मारने में समर्थ हों।

विडालों की दन्तावली शिकार को धर दबोचने के लिए मुख्यतः प्रयुक्त होती है, परन्तु प्रहार करने

तथा पकड़ने में उनके चंगुल काम आते हैं। अतएव विडाल के चंगुल शिकार पर आक्रमण करने के मुख्य अस्त्र होते हैं। चंगुलों की मेहराबदार या वक्रित रचना विचित्र ही होती है। वे अन्य सभी आखेटकों की अपेक्षा अधिक पूर्णता प्राप्त होते हैं। इसी कारण बघनख की इतनी प्रसिद्धि भी सुनी जाती है। शिवा जी द्वारा औरंगजेब के सेनानी अफजल खां पर हाथ में गुप्त छिपाए हुए बघनख द्वारा घातक प्रहार तो इतिहास की प्रसिद्ध घटना हो गई है। किन्तु यह मनुष्य द्वारा व्याघ्र या विडालों के नख या चंगुल का अनुकरण उतारकर ही इतिहास-प्रसिद्ध घटना घटित करने की बात हुई। स्वयं व्याघ्र किंवा विडाल वंश के अन्य जंतुओं के अर्द्धवृत्ताकार वक्रित नखों के स्वाभाविक रूप में त्वचा-आवरण में छिप सकने तथा अवसर आते ही आखेट या शिकार पर वज्र प्रहार करने के लिए नग्न होकर बाहर निकल कर आघात कर बैठने की घटना इस वंश द्वारा अन्य जन्तुओं को त्रस्त करने के लिए कितनी भयावह वस्तु होगी। ऐसी सुन्दर प्राकृतिक व्यवस्था से जहां विडाल ने आखेट पर आघात करते समय अपने नखों का वक्रित रूप नग्न कर रखने की क्षमता दिखाई उसी को त्वरा वेग से आखेट पर दौड़ पड़ने या अन्य प्रबल शत्रु से दूर भागने के लिए विवश होने पर अपने वज्रप्रहारी नखों को त्वचा आवरण में छिपाकर उनकी तीक्ष्णता मन्द होने से रक्षित रखते भी पाते हैं। भाले की नोक समान पैने हथियार को चला लेना और आवश्यकता न होते ही उठा ले चलते समय म्यान में छिपा सकने की व्यवस्था जन्तु जगत में विडाल ही हमारे सम्मुख उपस्थित कर दिखाते हैं।

शरीर के अनेक अंगों की ऐसी विशिष्ट रचनाओं द्वारा विडाल अपने आखेट पर प्रहार करने के लिए अनेक उपयुक्त अस्त्र सुलभ पाते हैं। अतएव उनका यथावसर उपयोग करते हैं। कभी पैरों के उछाल से उन्हें भूमि पर से भाग उड़ती चिड़ियाँ हाथ लग जाती हैं तो कभी कोई निरीह जन्तु लम्बी छलाँग से तुरन्त हस्तगत हो जाता है। उस पर पंजे का प्रहार अवश करने के लिए यथेष्ट हो सकता है। कोई जन्तु कहीं चुपचाप खड़ा ही है तो कोई बाघ चुपके-चुपके निकट आकर या धड़ाम से कुलांच द्वारा पहुँचकर उसके नीचे जाकर गला दांतों से दबाकर उसका सिर धराशायी कर देता है और पकड़ के भीषण दबाव से उसका गला दबोच देता है। कभी अपने पिछले पैरों पर खड़े होकर ऊपर से उसकी गर्दन अपने जबड़ों से पकड़ लेता है। फिर एक पंजे को शिकार की गर्दन तथा कंधे पर रखकर दूसरे पंजे से उसके थूथन को भयंकर पकड़ द्वारा भूमि पर घसीट लाता है। उसके वज्रपाश, भयावह प्रबल प्रहार से आखेट की गर्दन ऐंठ जाती है या उसे पीछे की ओर उलटकर तोड़ डालता है। वह गर्दन तोड़ने का कोई विशेष लक्ष्य नही रखता। उसकी भयानक पकड़, दबोच या मुठ-भेड़ से ही गर्दन टूट जा सकती है। कभी किसी बड़े आकार के जन्तु के पिछले पैरों को ही पकड़कर जोड़ों के ऊपर दाँत गड़ाकर या तो संधि-सूत्रों (कंडरा) को काट डालता है या हड्डी ही तोड़ देता है। ऐसी अवस्था में वृहद् आकार का जन्तु भी भाग सकने या सामना कर सकने में सर्वथा असमर्थ हो जाता है। वन्य महिष, वृषभ आदि जन्तु इसी प्रकार बाघ के शिकार बन जाते हैं।

छोटे या बड़े विडाल आखेट करने की कला में पूर्ण क्षमता के कारण ही जन्तु जगत में ऊँचे पद पर आसीन हैं। उनके अंगों की उपयुक्त रचना के साथ उनके शरीर का रंग भी आखेट कार्य में सहायक कहा जाता है। घरेलू बिल्लियों में प्रायः खड़ी पट्टियों युक्त रंग पाया जाता है जिसकी पृष्ठभूमि में धूसर-सा रंग होता है परन्तु काली बिल्ली भी देखी जाती है। बिलकुल उजली बिल्ली भी होती है परन्तु बड़े विडालों में प्रायः शरीर की पृष्ठभूमि पीली भूरी (पिंगल) होती है। उस पर धब्बों के कारण चितकबरा या आड़ी या खड़ी पट्टियों के कारण पट्टित रूप होता है। दीर्घ विडालवंशी जन्तुओं में केवल सिंह (केशरी) तथा प्यूमा (अमेरिकीय व्याघ्र की एक जाति)

का रंग युवावस्था में सर्वांग एक होता है किन्तु शिशु अवस्था में वे भी चितकबरे या चित्रित होते हैं। अतएव यह प्रति-भासित होता है कि उनकी उत्पत्ति चित्रित विडाल के पूर्वजों से हुई है।

विडालवंशीय जन्तुओं के मुख्यतः चित्रित या पट्टित रंग को देखकर उनके जीवन में उसकी उपयोगिता पर हमारा ध्यान स्वभावतया जाता है। दीर्घ विडाल तो पूर्णतः किन्तु लघु विडाल अधिकांशतः वन्य जन्तु हैं। इनका निवास ऐसे स्थलों में होता है जो वनस्पतियों से आच्छादित होते हैं। उनमें हम शाखाओं, पत्तियों तथा वृक्षावलियों के मध्य अंतराल की भी बहुलता देखते हैं जिससे छाया अविच्छिन्न नहीं होती। बीच-बीच में प्रकाश की झलक भी जहाँ-तहाँ रह-रहकर दिखाकर छाया तथा प्रकाश की गंगा-जमुनी (धूप-छाँह) का रूप प्रकट करती है। उस दृश्यावली से ही मेल खाते रूप इन विडालों के के शरीर पर हल्के रंग की पृष्ठभूमि के मध्य गहरे रंग के धब्बों या धारियों के रहने से प्रदर्शित होते हैं। अतएव जन्तु तथा उसके रहने के वातावरण का रंग एक समान झलकता-सा है।

ऐसी दशा में आखेट में प्रवृत्त रहकर जीवनयापन करने के सहज अभ्यस्त विडालवंश का रूप छाया तथा प्रकाश के झिलमिल रूप समान दीखकर आक्रांत जन्तुओं से उन्हें अदृश्य-सा रख सकता है। ऐसी कल्पना तो बड़ी तर्कसंगत जान पड़ती है, परन्तु प्यूमा तथा सिंह को भी बाघ, तेंदुओं, बनविडालों आदि के समान बनों में रहने की आवश्यकता भी उनके चित्रित तथा पट्टित होने में सुविधाजनक होती। उनके आखेट कार्य में एक समान रंग का शरीर बाधा नहीं पहुँचाता, इतना तो निश्चय ही है, अन्यथा उनकी जाति ही आहार की दुर्लभता से नष्ट हो चुकी होती। अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि दीर्घ विडालों का चित्रित या पट्टित रूप उनके आखेट-कार्य के लिए जीवन की नितान्त आवश्यकता नहीं हो सकती। फिर भी यह भारी संदेह की बात है कि दिन के प्रकाश में प्रकाश और छाया के मेल से झिलमिल रूप से उनके चितकबरे या धारीदार रूप की समानता से उनको अपना शरीर छिपा रखने की संभावना हो सकती है किन्तु उनका आखेट कार्य तो विशेषतया रात्रिकाल या धूमिल प्रकाशयुक्त गोधूलि वेला में होता है। अँधेरे में उनके चितकबरेपन द्वारा रूप छिपाने की बात पर कैसे विश्वास किया जाय। पूर्णतः श्वेत व्याघ्र या काले तेंदुआ को देखकर हमारे संदेह की वृद्धि और भी अधिक होती है। यदि चितकबरापन ही दीर्घ विडालों के जीवन की परम आवश्यकता होती तो हमें श्वेत व्याघ्र या काले रंग के तेंदुओं को देखने का अवसर नहीं मिल पाता। एक ही रंग का शरीर होने पर भी ये जीवनयुद्ध में विजयी रहकर आज मौजूद हैं।

जंतुओं की रहन-सहन, आहार-विहार जीवन-क्रम आदि की विभिन्नता से उनके विभिन्न निवास स्थान पाये जाते हैं। सिंह, व्याघ्र तथा चित्रव्याघ्रों की वृत्तियों तथा निवास स्थलों का अध्ययन करने पर उनकी वृत्तियों का विशेष रूप से निवास स्थलों से पारस्परिक सम्बन्ध ज्ञात होता है। व्याघ्र का स्थान वनस्थली है जहाँ उनके छिपने के यथेष्ट स्थल हों। यह ऊष्ण तथा शीतोष्ण कटिबंधों के जंगलों में आश्रय ग्रहण करते हैं किन्तु मरुस्थल या अर्द्ध मरुस्थल में नहीं पाये जाते। इसका स्पष्ट कारण यह है कि इनके छिपने के लिए वहाँ यथेष्ट हरियाली सुलभ नहीं होती। उष्णता के कारण इसको जीवन में कठिनाई नहीं प्रतीत होती, परन्तु जंगल अवश्य होना चाहिए जहाँ कड़ी धूप में छिपे पड़े रहने का इसे अवसर हो। जहाँ जंगल होगा, वहाँ पानी भी अवश्यंभावी है, अतएव उसे तृषा तृप्त करने के लिए जल सुलभ हो जाता है। उधर हरियाली की अधिकता से वन्य पशुओं का भी बाहुल्य होता है। इससे उसको यथेष्ट आखेट के भी अवसर होते हैं। वृक्षों, कुंजों आदि की ओट में रहकर यह शिकारों को पकड़ सकता है। अतएव जहाँ घनी वृक्षावली या घास के जंगल छिपने के लिए सुलभ नहीं, वहाँ बाघ नहीं रहता।

सिंह की वृत्ति बाघ से विशेष भिन्न होती है। वह साहस की मूर्ति होता है। वनराज उसका नाम भी है। इसलिए छिपकर शिकार पर चोट करने का हीन व्यापार वह नहीं करता। वह तो अपने शौर्य, पराक्रम तथा साहस का नग्न-प्रदर्शन कर खुले रूप में ही आखेट पर प्रहार करता है। साथ ही उष्णता का भी उसे भय नहीं होता। वह इन कारणों से खुले मैदानों में भी रहता है। उष्णता सहन कर सकने की शक्ति के कारण मरु तथा अर्द्ध मरुस्थलों में निवास कर सकता है। वहाँ घने वृक्षों के अभाव से इसे कोई असुविधा नहीं हो पाती। छिपकर या धोखे से शिकार करने की वृत्ति न होने से उसे ऐसे स्थलों में आहार प्राप्त हो जाता है।

तेंदुआ या चित्रव्याघ्र इन दोनों प्रकार के जन्तुओं से अधिक विस्तृत क्षेत्रों में निवास बनाता है। यह पहाड़ी भूमि के सूखे तथा वृक्षहीन भागों, विरल झाड़ियों के स्थलों में उतनी ही अधिक सुविधा से रह सकता है जितना वर्षा के अतिरेक युक्त जङ्गलों में। शीत या उष्णता अथवा शुष्कता या आर्द्रता के अतिरेक के स्थलों में उसका जीवन-यापन निष्कंटक रूप में हो जाता है। साधारण झाड़-झंखाड़ में भी यह आश्रय प्राप्त कर लेता है। उधर इसका आहार भी अनेक प्रकार के छोटे जन्तुओं तक का हो सकता है जिसे सिंह या व्याघ्र नहीं खा सकते। ऐसे ही कारणों से सिंह, व्याघ तथा चित्रव्याघ (तेंदुआ) के विभिन्न रूप में प्रसारक्षेत्र होते हैं।

जन्तु-विद्या-विशारदों का कथन है कि जन्तुओं के रहने के वातावरण का उनके रंग रूप पर प्रभाव पड़ता है। अतएव एक जाति के जन्तुओं को ही बाह्य रूप के विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में कुछ विभिन्न रूप का पाया जाता है, परन्तु उन सब उपजातियों में उस जाति के विशेष मुख्य लक्षण सर्वत्र पाये जाते हैं। इन भौगोलिक विभागों या उपजातियों में शरीर के रंग तथा चिह्नों की विभिन्नता अध्ययन कर इनको स्थानीय विभेद कहा जाता है।

ये उपजातियाँ जैसे विशेष रूप के भूभाग में रहती हैं उसके अनुरूप रंगों की विभिन्नता हुई प्रतीत होती है। तापमान, शुष्कता या आर्द्रता, अथवा प्रकाश की न्यूनाधिकता का इनके रंग-रूपों पर प्रभाव पड़ता है। जो जन्तु ध्रुवीय क्षेत्र में रहते हैं उनमें चमकीले रंग की प्रवृत्ति पाई जाती है। श्वेत, चिकना धूसर या धूसर भूरा रंग उनकी विशेषता-सी कही जा सकती है। उससे अपेक्षाकृत दक्षिणी अक्षांश के जन्तुओं में तापमान तथा आर्द्रता की अधिकता होने से उनमें क्रमागत रूप से रंग की गहराई तथा प्रचुरता पाई जा सकती है। इस गहराई तथा प्रचुरता की पराकाष्ठा भूमध्य-रेखा के निकटवर्ती वनों में पाई जा सकती है जहाँ औसत तापमान तथा आर्द्रता उच्चतम होती है। ऐसे वनों में घनी वृक्षावली के चँदोवे से भूतल पर प्रकाश की अधिक न्यूनता-सी होती है। कदाचित् इस कारण ही जन्तुओं के रङ्ग गहरे होते हों। व्याघ्र तथा चित्रव्याघ्र (तेंदुआ) के रंगों में कदाचित प्रकृति का यही खेल प्रदर्शित होता है। यह बात अवश्य है कि एक ही स्थान में एक जाति या उपजाति के रङ्गों में ही विभिन्नता दिखाई पड़ सकती है, जिसके परिणाम-स्वरूप गहरे तथा हल्के रंग के जन्तु एक क्षेत्र में ही प्रदर्शित हो सकते हैं, परन्तु साधारण रूप की व्यापक प्रवृत्ति यही पाई जाती है कि व्याघ्र तथा चित्रव्याघ्रों का रंग उत्तरी अक्षांशों में धूमिल होता है तथा उष्ण और आर्द्र स्थलों में रहने वाले व्याघ्रों तथा चित्रव्याघ्रों का रंग अपेक्षाकृत गह । तथा प्रचुर होता है, परन्तु भारत के भी समान उष्ण तथा आर्द्र भूभागों के व्याघ्रों और चित्रव्याघ्रों के रंग की अपेक्षा विशेष उष्ण तथा अधिक आर्द्र-स्थलों मलाया, सुमात्रा और जावा आदि भूमध्य-रेखा निकटवर्ती स्थलों में व्याघ्रों और चित्रव्याघ्रों का रंग अधिक गहरा होता है।

जन्तुओं के रंगों का वैज्ञानिक अध्ययन करने वालों के मत से कुछ रंगोत्पादक कणों को प्रभावित करने वाले कारण होते हैं। जहाँ उच्च तापमान, अत्यधिक आर्द्रता और न्यून प्रकाश होता है, वहाँ रंगोत्पादक कणों की सघन मात्रा उत्पन्न होती है,

इस कारण कालापन या गहरापन का प्रभाव पाया जाता है। ऐसी क्रिया रंगोत्पादक कणोत्तेजन कही जाती है। इसके विरुद्ध इनकी विरलता के मुख्य कारण शुष्कता तथा प्रकाश की प्रचंडता तथा तापमान की अतिवृद्धि हैं। ऐसी स्थिति में धूमिल बलुहा पीला या लालयुक्त भूरा रंग उत्पन्न होता है ऐसा वातावरण मरुस्थलों में होता है, अतएव उन भागों के जन्तु ऐसे फीके रङ्गों के पाये जाते हैं। भारत के तेंदुआ (चित्रव्याघ्र) मरुस्थलों में पाये जाने पर ऐसे मरुस्थलीय वातावरण के अनुरूप बलुहे पीले होते हैं किन्तु बनों में रहने वाले तेंदुओं (चित्रव्याघ्रों) का रंग निस्सन्देह ही इससे गहरा होता है। रंगोत्पादक कण-ह्रास ही मरुस्थलीय चित्रव्याघ्र के फीके रंग का कारण होता है। आर्द्रता के स्थान पर शुष्कता की अधिकता ही ऐसी क्रिया उत्पन्न करती है। यही कारण है कि श्वेत या आंशिक श्वेत व्याघ्र मध्यवर्ती भारत के कुछ शुष्क जंगलों में बहुधा पाये जाते हैं।

कृष्ण वर्ण चित्रव्याघ्र अपने रंग की विचित्रता से हमारे सम्मुख उपर्युक्त रंगोत्पादक व्यवस्थाओं का एक नमूना रखता है। काला चित्रव्याघ्र (तेंदुआ) कोई पृथक् जाति नहीं है। एक ही चित्रव्याघ्र दम्पति से एक बार में ही उत्पन्न शिशुओं में में से कोई काला होता है तथा कोई साधारण चित्रित रूप का होता है। इस कालेपन का कारण रंगोत्पादक कणों की सघनता ही है। ऐसी क्रिया के उपयुक्त विशेष वातावरण में हमें काले तेंदुआ बहुसंख्यक दिखाई पड़ सकते हैं। ऐसा वातावरण वर्षाधिक्य के उन जंगलों में होता है जो भूमध्य रेखा के निकटवर्ती भूभाग में होते हैं। यथार्थतः ऐसे स्थलों में हमें काले जंतु अधिक मिलते हैं। मलाया में हमें काले तेंदुआ के साथ चित्रित तेंदुआ भी दिखाई पड़ सकते हैं किन्तु उसके दक्षिण के उष्ण भूभागों में केवल काले तेंदुआ की ही उपजाति देखने को मिल सकती है। इसके विरुद्ध अपेक्षाकृत उत्तर के स्थालों, बर्मा तथा आसाम के आर्द्र बनों में भी काले तेंदुआ मिलते हैं। परन्तु उनकी संख्या उतनी अधिक नहीं होती। इसी प्रकार निम्न हिमालय तथा पश्चिमी घाट के वर्षाप्रचुर बनों में भी कुछ काले तेंदुआ मिलते हैं। परन्तु मध्यवर्ती भारत के सूखे खुले मैदान या मरुदेशों में वे दुर्लभ ही होते हैं।

रंगों के अन्य भी कारण होते हैं। मरुस्थलों में हम उष्ण भूभाग तथा शीत भूभाग पाते हैं। इन दोनों रूपों के मरुस्थलों के जन्तुओं के रंग में अन्तर होता है। उष्ण मरुभूमि के जन्तु तो विशेष रंग के होते हैं, किन्तु शीत मरुभूमि में मरुभूमि तथा ध्रुवीय वातावरणों का मेल होने से ध्रुवीय क्षेत्रों के समान रंग पाया जाता है। अतएव लद्दाख तथा उत्तर-पूर्वी काश्मीर में जंतुओं का रंग ध्रुवीय क्षेत्रों की भाँति श्वेत, धूसर तथा धूसर-भूरा होता है। इन क्षेत्रों के चित्रव्याघ्रों (तेंदुओं) का रंग साधारण पीले के स्थान पर फीका धूसर होता है। जो जन्तु जैसे क्षेत्र में रहता है उसके शरीर का रंग उस क्षेत्र के वातावरण के रंग के अनुरूप पाया जाता है। इस प्रकार काश्मीर के चित्रव्याघ्र का रंग चिकना धूसर, या सिंध के चित्रव्याघ्र का बलुहा रंग तथा आर्द्र जङ्गलों के गहरे रंग के चित्रव्याघ्रों को देखकर हम अनुमान कर सकते हैं कि इनके निवास-क्षेत्रों के वातावरण का रङ्ग भी ऐसे ही रूपों का होगा जिससे वे अपना रूप उस क्षेत्र के अनुरूप पाकर वातावरण के रंग में छिप सकते हों।

शरीर के रंग के पश्चात् बाह्यरूप में रोमों का रूप विचारणीय है। इसमें ऋतु की उग्रता मुख्य प्रभावोत्पादक कारण होती है। ग्रीष्म के उत्तराखण्ड के व्याघ्र में घने तथा लम्बे रोम होते हैं। ग्रीष्म के आते ही उनकी यह भारी ओढ़नी झड़ जाती है। भारतीय व्याघ्र में भी कुछ ऐसी क्रिया होती है, परन्तु शीत की उतनी अधिक उग्रता न होने के कारण उतने अधिक लम्बे और घने बाल नहीं उगते। जाड़े में थोड़े लम्बे और साधारण घने बालों से ही काम चल जाता है जो गर्मी में झड़कर छोटे रूप के उगते हैं। मार्च में इनमें अधिक से अधिक बड़े तथा घने बाल होते हैं। भारत की अपेक्षा सिंध और ईरान के

प्रतिभास तथा प्रतिभास-दीप

श्री० हरिमोहन, भौतिक-शास्त्र विभाग, विश्वविद्यालय, प्रयाग

विज्ञान के इस चमत्कारिक युग में कदाचित् ही कतिपय ऐसे हों जिन्होंने सामान्यतः बाजारों में तथा अनेकानेक उत्सवों पर रात्रि में भी धूप जैसा प्रकाश देने वाली देदीप्यमान् बेलनाकार छड़ें न देखी हों। साधारण विद्युत-बल्ब से इनका प्रकाश सर्वथा भिन्न सा रहता है। हममें से लगभग प्रत्येक के मस्तिष्क में यह भी जिज्ञासा उत्पन्न हुई होगी कि इस प्रकार के प्रकाश-स्रोत विज्ञान की किस चमत्कारिक गवेषणा के फल हैं, तथा किस सिद्धान्त पर इनकी गति विधि है। वस्तुतः सूर्य की होड़ करने वाले ये बेलनाकार प्रकाश-स्रोत केवल प्रतिभास-दीप (Fluorescent-lamps) हैं तथा अवदीप्ति (Luminiscence) के द्वारा प्रकाश-निस्सरण (Light Emission) ही इनका आधार-सिद्धान्त है। प्रकाश-निस्सरण की इसी विधि तथा उपरोक्त प्रकार के प्रकाश-दीपों का एक विवेचनात्मक विवरण ही प्रस्तुत लेख का मुख्य उद्देश्य है।

प्रकाश भी शक्ति का एक स्वरूप है; अतः किसी भी पदार्थ को प्रकाश का उद्गम बनने के पूर्व उसे किसी न किसी रूप में शक्ति प्रदान होना अनिवार्य है। अधिकांश विषयों में यह प्रक्रिया पदार्थ को गरम करके दी जाती है तथा इस भाँति शक्ति का प्रदान ताप के रूप में होता है। जब पदार्थ के अणुओं का ताप-चाञ्चल्य (Thermal agitation) बढ़ जाता है तब साथ ही साथ अधिकाधिक अणु उत्तेजित तेज-अवस्थाओं (Excited energy states) को उन्नत होने लगते हैं। जितना उच्चतर तापक्रम होता है, उत्तेजित अणुओं की संख्या उतनी ही अधिक होती है एवं निस्सृत प्रकाश उतना ही तीव्रतर होता है। इस प्रकार के उष्णीय-उत्तेजन (Thermal excitation के साधन से हमें न केवल सूर्य द्वारा ही प्रकाश-प्राप्ति होती है वरन् इसी विधि से हमारे अनेकानेक कृत्रिम साधन जैसे टॉर्च, विद्युत-बल्ब इत्यादि हमें प्रकाश देते हैं। उपरोक्त विधि में ताप-चाञ्चल्य के फलस्वरूप अणु उत्तेजित तेज-अवस्थाओं को उन्नत होते हैं। साथ ही साथ यह भी सम्भव है कि पदार्थ को बिना गर्म किए ही उसके परमाणुओं को उच्चतर तेज-अवस्थाओं तक उन्नत किया जा सकता है इसके लिए शक्ति का स्थानापन्न परमाणुओं के केवल उसी भाग को होना आवश्यक है जो प्रकाश-निस्सरण के आधार-भूत हों। इन परिस्थितियों में पदार्थ द्वारा प्रकाश-निस्सरण को वीयडमान नामक वैज्ञानिक ने अवदीप्ति (Luminiscence) शब्द दिया।

अवदीप्ति के दो अङ्ग हैं (१) प्रतिदीप्ति अथवा प्रतिभास (Fluorescence) (२) स्फुर-दीप्ति (Phosphorescence)। प्रारम्भिक परिभाषा के अनुसार प्रतिभास उस प्रकाश निस्सरण को कहते हैं जो कि उत्तेजन-क्रिया के समाप्त होने के पश्चात् माप्यकाल तक जागृत नहीं रहता। स्फुर-दीप्ति में उत्तेजन-क्रिया के समाप्त होने पर भी कुछ समय तक प्रकाश-निस्सरण आवद्ध रहता है, कभी-कभी तो यह क्रिया घंटों तक रहती है।

अवदीप्ति-उत्तेजन के लिए पदार्थ द्वारा प्रकाश-शक्ति का शोषण आवश्यक है। जब प्रकाश-रश्मि किसी अवदीप्यशील (Luminiscent) पदार्थ पर पड़ती है, तो वह पदार्थ में शोषित हो जाती है। इसी शक्ति से उसके अणु उत्तेजित तेज-अवस्थाओं को उन्नत हो पाते हैं तथा उनके पूर्व-शान्त अवस्था

(Ground state) को प्रत्यागमन होने के फलस्वरूप प्रकाश निस्सरण होता है। क्योंकि प्रकाश का शोषण तथा पुनः निस्सरण शक्ति के आलोक-कणों (Light Quanta) की इकाई में होता हैं तथा एक परमाणु शोषित प्रकाश से अधिक प्रकाश निस्सृत नहीं कर सकता इसलिए अवदीप्ति में उत्तेजक-प्रकाश (Exciting light) से निम्नतर तरङ्ग-दैर्घ्य (Lower wavelength) वाली प्रकाश-रश्मियाँ अनुपस्थित रहती हैं। पदार्थ-परमाणु के प्रकाश-शक्ति द्वारा उत्तेजित तेज अवस्था में उन्नत हो जाने तथा पुनः वहाँ से किसी निम्न-शक्ति-स्तर पर सत्वर-स्थानापन्न (Spontaneous Transition) होने के फल-स्वरूप प्रकाश-निस्सरण का ही नाम प्रतिभास है। इस साधना की सामान्य आयु इसी स्थानापन्नता की संभावना (Probability) पर आश्रित हैं। अधिकतर यह अत्यन्त ही अल्प होती है। स्फुर-दीप्ति तथा प्रति-दीप्ति में सैद्धान्तिक दृष्टि से केवल यही अन्तर है कि प्रथम विधि में उत्तेजित अणुओं का एक अंश किसी उत्तेजित-अवस्था 'अ' से शान्त अवस्था 'ब' पर लौट कर तुरन्त ही प्रकाश-निस्सरण आरम्भ नहीं कर देता वरन् कुछ अस्थायी अवस्थाओं (Meta stable states) में गुजरता हैं जिनका तेजमान (Energy value) 'अ' से कम होता है।

प्रतिभास-दीप (Fluorescent-lamps) वस्तुतः गैस-निबाध-दीपों (Gas discharge lamps) के अनुरूप ही होते हैं। इनमें एक काँच-नालिका की दीवारों के भीतर की ओर अवदीप्यशील पदार्थ (Luminiscent substance) की एक पतली तथा पारदर्शक पर्त जमी रहती है। गैस-निबाधन (Gas discharge) द्वारा उत्पन्न अदृश्यमान् अति-बैंजनी (Ultra Violet) प्रकाश-रश्मियाँ अवदीप्यशील पदार्थ की पर्त पर पड़ कर दृश्यमान् (Visible) प्रकाश-पुञ्ज में परिवर्तित हो जाती हैं। निम्न-वोल्टीय अन्य गैस-निबाध दीपों के समान ही निम्न-वोल्टीय प्रतिभास-दीपों में भी एक नालिकाकार बल्ब के दोनों सिरों पर कुण्डली-बद्ध (coiled) टंगस्टन के तार के विद्युद्ग्र (Electrodes) होते हैं। इन पर किसी क्षारीय-अर्थ-ऑक्साइड (Alkaline earth oxide) की एक हल्की पर्त रहती है जिससे कि निम्न तापक्रम पर ही इलैक्ट्रॉन्स निस्सृत होने लगते हैं। गैस-निबाधन को आरम्भ करने के लिए प्रथम विद्युद्ग्रों का गर्म होना अनिवार्य है। यह प्रक्रिया विद्युद्ग्रों के श्रेणी-बद्ध तार-तन्तुओं (Filaments) में सीधे-सीधे विद्युत-धारा-प्रवाह से की जाती है। प्रवाह को स्थापित रखने वाला स्विच इस भाँति संयोजित रहता है कि जैसे ही विद्युद्ग्र पर्याप्त गर्म हो जाते हैं स्विच स्वतः खुल जाता है तथा गैस निबाधन आरम्भ हो जाता है।

इन प्रतिभास दीपों में ऋणमय-विद्युतीय-विभवान्तर का गुण (Negative Current Voltage Characteristic) होने के कारण धारा पर नियन्त्रण रखने के लिए एक प्रतिबन्धक-कुण्डली (Choke) की आवश्यकता पड़ती है। विद्युद्ग्रों को गर्म करने वाली धारा के मध्य आ जाने से प्रतिबन्धक-कुण्डली द्वारा एक उच्च-विभव (High potential) का अल्प-आवेश (Short Vick) उत्पन्न होता है जो कि गैस निबाधन को आरम्भ करने के लिए पर्याप्त होता है।

साधारणतः इन प्रतिभास-नालिका-दीपों (Fluorescent tube lamps) में लगभग ४ मी० मी० दबाव पर आर्गन गैस भरी रहती है तथा इसके अतिरिक्त कुछ अल्प मात्रा पारद-वाष्प (Mercury Vapours) की भी रहती है जिसका दबाव ०.०१ मी० मी० से भी निम्न होता है। इस परिस्थिति में प्रयोगात्मक रूप से केवल पारद के ही परमाणु प्रकाशोत्पादन के लिए गतिमान हो पाते हैं। इन दीपों में धारा-घनत्व (Current density) तत्फलस्वरूप तापक्रम तथा वाष्प-दाब इस भाँति संयोजित रक्खे जाते हैं कि वाष्प-निबाधन के फलस्वरूप निस्सृत प्रकाश में २५३७ A° तरङ्ग-दैर्घ्य वाली रश्मियों की प्रचुरता हो। २५३७A° पारद-वाष्प की अनुकम्पन रश्मि-रेखा (Resonance Line) का दैर्घ्य है।
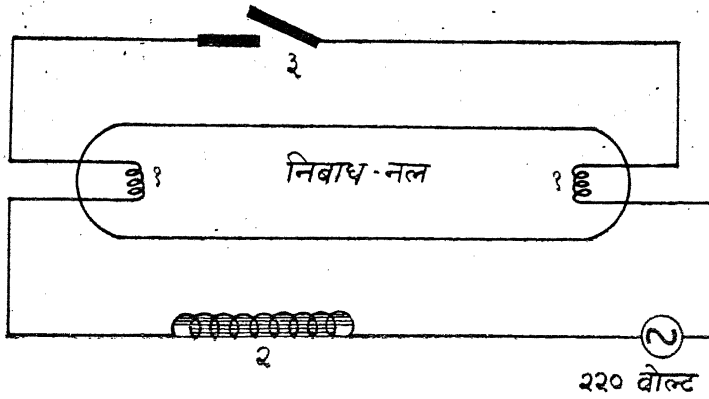
चित्रः—प्रतिभास-दीप का साधारण विद्युत चक्र

१—उष्णतन्तु ऋण-विद्युदग्र (Hot filament cathode)

२—प्रतिबन्धक कुण्डली (Choke)

३—स्वयं क्रियाशील स्विच (Automatic Switch)

आर्गन के स्थान पर उपरोक्त नालिका-दीपों में गत्यमान गैस (Exciting gas) के रूप में नीयौन इत्यादि अन्य निष्क्रिय गैसें भी प्रयुक्त होती हैं। इस अवस्था में नीयौन की अनुकम्पन-रश्मियाँ (Resonance lines) (अर्थात् ७३६A° तथा ७ ०A°) प्रतिभास को उत्तेजित करती हैं।

उच्च वोल्टीय तथा ठंडे विद्युदग्रहों वाले प्रतिभास-दीप भी बनाए जाते हैं ये ६००—३००० वोल्ट पर संचालित होते हैं, अपेक्षाकृत इनकी उपयोगिता कम है।

इन प्रतिभास-दीपों से दो मुख्य उद्देश्य सिद्ध होते हैं। प्रथम् तो अति-बैंजनी (Ultra-violet) रश्मिपुन्ज जो किसी भी गैस निबाधन-दीप के प्रकाश के वर्णक्रम (Spectrum) में रहता है, दृश्यमान् प्रकाश के उत्पादन के उपयोग में आ जाता है। दूसरे, किसी भी आभास (Tinge) का प्रकाश बिना रङ्गीन शीशों की सहायता के ही उपलब्ध हो जाता है तथा प्रकाश तीव्रता (Light itensity) अधिक क्षीण भी नहीं होती।

अब प्रश्न आता है उपयुक्त अवदीप्यशील-पदार्थ (Luminiscent Substance) के चयन का। अवदीप्यशील पदार्थ ऐसा होना चाहिए कि उसका चरम-शोषण (Maximum Absorption) गैस निबाधन के चरम-अति बैंजनी निस्सरण (Ultra violet emission) के समरूप हो। कार्बनिक यौगिक (Organic compounds) अपने अस्थायित्व के कारण सर्वथा अनुपयोगी हैं। जिन्क सल्फाइड तथा अन्य सल्फाइड भी यहाँ पर अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं होते। कारण ये यौगिक वर्णक्रम के केवल दृश्यमान् तथा निकट अतिबैंजनी (Near Ultra Violet) वर्ण रेखाओं से ही सम्यक् प्रकार उत्तेजित हो पाते हैं।

पारद-वाष्प प्रतिभास दीपों के लिए अत्यन्त उपयोगी यौगिक हैं, $CaWO_4$ (Pb), $MgWO_4$ तथा cd. Borates तथा Phosphates इत्यादि। उपरोक्त यौगिकों के तीव्रतर (Intense) शोषण वर्ण पट्ट (absorption bands) ३०००A° से नीचे की वर्णक्रम-परिधि (Spectral Range) में ही आ जाते हैं।

जैसे आभास (Tinge) की आवश्यकता हो उसी के अनुसार भिन्न-भिन्न अवदीप्यशील यौगिक यथायोग्य अनुपात में मिश्रित करके उपयोग में लाए जाते हैं। उदाहरणतया धूप जैसा प्रकाश २८% श्वेत,

तथा २५% गुलाबी-श्वेत, $Zn\,Be\,SiO_4$ तथा ४७% नील-श्वेत $Mg\,WO_4$ के मिश्रित चूर्ण से उत्पन्न किया जाता है। इस प्रकार रंग-विरंगे प्रकाश का निस्सरण करने वाले प्रकाश-स्रोत आज उपलब्ध हैं।

अवदीप्यशील चूर्ण को नालिका की भीतरी दीवारों पर चिपकाने के लिए दो विधियाँ प्रयोग में आती हैं। या तो दीवारों पर पहले ही कोई चिपचिपा पदार्थ पोत दिया जाता है तथा उष्ण वायु के भपके (Blast) से पदार्थ-चूर्ण को चपका दिया जाता है। अथवा पदार्थ-चूर्ण को किसी द्रव में घोलकर उसे लेप के रूप में कर लिया जाता है तथा उस लेप को दीवारों पर पोत दिया जाता है। इन क्रियाओं के लिए अकार्बनिक चेपक (Inorganic adherants) ही प्रयुक्त होते हैं इनके द्वारा यौगिक भली-भाँति दीवारों से चिपक जाता है। उक्त समस्या का सबसे सुन्दर हल तो यह होना चाहिए कि क्यों न यौगिक को काँच में ही निहित (Embedded) कर दिया जाय। इस दिशा में गवेषणा प्रगतिशील है, परन्तु अभी तक प्रयोगात्मक दृष्टि से उपयोगी परिणाम नहीं निकल पाये हैं।

प्रतिभास दीपों की दीप्ति-सामर्थ्य (Luminous efficiency) उनके प्रतिभास-वर्ण पर अधिक आश्रित रहती है। $Zn_2\,Si\,O_4\,(Mn)$ के अत्यन्त ही अनुरूप हरित-प्रतिभास के कारण आर्गन-पारद प्रतिभास-दीपों में १०० लुमैन (Lumen) प्रतिवाट तक की दीप्ति-सामर्थ्य रहती है। प्रकाश-वर्ण, नालिका की लम्बाई तथा अन्यान्य गुणों की विभिन्नता के कारण बाजारू प्रतिभास-दीपों की दीप्ति-सामर्थ्य २० से १०३ लुमैन प्रति वाट (watt) तक होती है। उदाहरणतया, एक १५ वाट की श्वेत दीपनालिका जिसकी लम्बाई लगभग १२″ है तथा व्यास १″ है साधारणतः कुल मिलाकर ४५० लुमैन प्रकाश निस्सृत करती है, तथा इसके ही अपेक्षाकृत एक ४० वाट का दूधिया (Frosted) विद्युत्-बल्ब केवल ४२५ लुमैन प्रकाश देता है। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि एक श्वेत प्रतिभास दीपनालिका लें तथा उसके ही अनुरूप तथा उतनी ही मात्रा में प्रकाश देने वाला एक साधारण फिलामेण्ट बल्ब लें तो दोनों में व्यय होने वाली विद्युत शक्तियों का अनुपात $\frac{1}{2}$ से $\frac{1}{3}$ तक होता है। फिलामेण्ट बल्ब प्रयुक्त विद्युत शक्ति का लगभग ८०% ताप के रूप में निस्सृत कर देता है परन्तु प्रतिभास दीप में प्रयुक्त शक्ति का ५०%, २५% अंश दृश्यमान् सुन्दर प्रकाश के रूप में हमें प्राप्त होता है तथा इसमें अवलोहित रश्मि-पुञ्ज (Infra-red rays) का केवल अल्पांश ही होता है।

पारद-वाष्प (Mercury vapours) के दबाव के कारण इन प्रतिभास-दीपों का चरम-प्रकाश-निस्सरण तक पहुँचने में कुछ समय लगता है। इस बीच में पारद-वाष्प का दबाव जो आरम्भ में अत्यन्त निम्न रहता है (लगभग १०^{-3} मी०मी०), बढ़ता है तथा संतुलित अनुकूलतम (Optimum) तापक्रम के मान तक पहुँच जाता है तथा तभी दीप-नालिका अधिकतम संतुलित प्रकाश निस्सरण के योग्य हो पाती है।

इस प्रकार के दीपों की आयु (Life) पर कई बातों का प्रभाव पड़ता है। इनमें कार्यान्वित (working) विद्युद्ग्रों की आयु का महत्वपूर्ण स्थान है। साधारणतः इसका अनुमान लगभग २५०० घंटे लगाया जाता है। सामान्य गैस-निबाध-दीपों (Gas discharge lamps) जैसे नीयौन नालिका (Neon Tube), पारद-नालिका (Mercury Tube) इत्यादि से प्राप्त प्रकाश पर प्रयुक्त प्रत्यावर्ती-विभवान्तर (Alternating voltage) के अस्थायी परिवर्तनों का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। परन्तु प्रतिभास-दीपों में यदि ऐसे अवदीप्यशील पदार्थों का प्रयोग किया जाय जिनकी अवदीप्ति (Luminiscence) प्रत्यावर्त्ती धारा के अर्ध-आवर्त्त-काल (Half Period) से अधिक समय तक जागृत रहे तो यह समस्या पर्याप्त सुलझ जाती है। साधारण विद्युत-बल्बों की अपेक्षा इन दीप-नालिकाओं का प्रकाश-निस्सरण लाइन-वोल्टेज (Line-Voltage) के तनिक परिवर्तन से प्रभावित नहीं होता।

[शेष पृष्ठ १५० पर]

औषधियों द्वारा पौधों और फलों के रोगों का उपचार

अमेरिकी कृषि विभाग के कृषि अनुसन्धान कार्यालय की कन्दमूल फल शाखा के मुख्य विशेषज्ञ के अनुसार पौधों और फलों के रोगों के उपचार में कीटाणुनाशक औषधियों से अच्छी सफलता मिली है।

नाशपाती और स्ट्रेप्टोमाइसिन

कृषि विशेषज्ञ श्री जौन सी० डनेगन का कथन है कि स्ट्रेप्टोमाइसिन और टेरामाइसिन ऐसी औषधियाँ हैं, जिन्हें आजकल नाशपाती को होने वाले रोग को दूर करने में परीक्षा की दृष्टि से इस्तेमाल किया जा रहा है। आपने बताया कि अब तक हुए परीक्षणों के, बड़े ही सफल परिणाम निकले हैं।

श्री डनेगन ने बताया कि नाशपाती को होने वाले भीषण रोग कई वर्षों तक वैज्ञानिकों के लिए समस्या बने रहे हैं। नाशपाती को नष्ट करने वाले कीटाणु खतरनाक और व्यापक रूप में फैले हुए हैं। पूर्वी अमेरिका में 'ब्लाइट' नामक रोग स उत्तम किस्म की नाशपाती की पैदावार कम हो गई है। यहाँ तक कि अमेरिका के दूर पश्चिम में भी, जहाँ मौसम में नमी कम होती है, नाशपाती उद्योग को 'ब्लाइट' नामक रोग से खतरा है।

तांब्र-चूर्ण का प्रयोग

श्री डनेगन ने कहा कि अमेरिकी कृषि विभाग ने इससे पहले तांब्र-चूर्ण छिड़क कर नाशपाती उद्योग को 'ब्लाइट' रोग के खतरे से बचाने की चेष्टा की थी। रोगग्रस्त टहनियों और शाखाओं को काट देने के बाद तांब्र-चूर्ण छिड़कने की उक्त विधि से अमेरिका के पश्चिम में तो कुछ बचाव हुआ, लेकिन अमेरिका के नमी वाले पूर्वी क्षेत्र में जहाँ फल होते हैं, ये तरीके उपयोगी सिद्ध नहीं हुए। इसके विपरीत उन से फलों को हानि पहुँची और उनका रंग भूरा पड़ जाने की संभावना उपस्थित हो गई।

आपने बताया कि चूँकि 'ब्लाइट' निरोधक प्रभावशाली साधनों का सन्तोषजनक ढंग से पता नहीं चल सका, इसलिए गत कुछ वर्षों से वैज्ञानिकों का ध्यान उक्त नई औषधियों की उपयोगिता और क्षमता को आंकने की ओर गया। इस क्षेत्र में विभिन्न राज्यों और अमेरिकी कृषि विभाग के कर्मचारियों ने जो परीक्षण किये हैं, उनके परिणाम बहुत ही आशाजनक है।

स्ट्रैप्टोमाइसिन और टैरामाइसिन की सफलताएँ

कृषि-विशेषज्ञों ने यह बताया है कि स्ट्रैप्टोमाइसिन तथा स्ट्रैप्टोमाइसिन और टैरामाइसिन को मिला कर प्रयुक्त करने से सेब और नाशपातियों को होने वाले 'ब्लाइट' नामी संक्रामक रोग में काफी कमी हुई है। कैलिफोर्निया स्थित मेरीविल में इस वर्ष नाशपाती के ६०० वृक्षों पर १० लाख हिस्सों वाले घोल में ३० हिस्से स्ट्रैप्टोमाइसिन और ३ हिस्से टैरामाइसिन मिला कर यह मिश्रण पांच बार छिड़का गया। इस से वृक्षों में इस संक्रामक रोग को रोकने में सन्तोषजनक सफलता मिली। लेकिन जब १० लाख हिस्सों वाले घोल में १०० हिस्से स्ट्रैप्टोमाइसिन और १० हिस्से टैरामाइसिन मिला कर उसे तेज बना लिया गया, तो जहां उक्त औषधि छिड़कने से पहले हर वृक्षों में ६ स्थानों में यह

बीमारी देखने में आती थी, वहां इस औषधि के छिड़कने के बाद हर वृक्ष में एक ही स्थान पर इस बीमारी के चिन्ह पाये गये।

साइक्लो-हैक्सीमाइड का प्रयोग

साइक्लो हैक्सीमाइड या एक्टी-डियोन एक और ऐसी औषधि है, जिसे फलों को लगने वाली बीमारी को रोकने के लिए इस्तेमाल किया जा रहा है। इसे उसी फफून्दी से तैयार किया जाता है जिस से स्ट्रैप्टोमाइसिन तैयार होती है, लेकिन गुण में उस से यह कुछ भिन्न होती है। आजकल इसे बैरी के पत्तों को लगने वाले रोग के जवाब के लिए विस्तृत रूप से इस्तेमाल किया जाता है। फलों की फसल की समाप्ति के बाद ही इस औषधि का प्रयोग करने की सिफारिस की गई है। जब तक इसके नशीले असर के बारे में अच्छी तरह से छानबीन नहीं कर ली जाती, तब तक इसे फसल के समय इस्तेमाल नहीं किया जा सकता। सेब की बीमारी की रोकथाम के लिए यह औषधि इतनी गुणकारी सिद्ध नहीं हुई है।

अन्य कुछ औषधियाँ

अमेरिकी कृषि विभाग इस समय एन्डोमाइसिन, हैलिक्सन, टौक्सी माइसिन और एन्टी माइसिन नामक रोगाणुनाशक औषधियों के बारे में भी छानबीन कर रहा है। केलों में 'पनामा' नामक रोग की रोकथाम के लिए मुसारिन नामक औषधि के बारे में अध्ययन जारी है।

तम्बाकू, आलू, टमाटर आदि के रोग

तम्बाकू, आलू, टमाटर तथा काली मिर्च के पौधों को लगने वाली बीमारियों को रोकथाम करने के लिए भी उचित औषधियों की अमेरिकी कृषि विभाग जांच कर रहा है।

यद्यपि विभिन्न औषधियों के बारे में अध्ययन जारी है। फिर भी इस बारे में थोड़ी बहुत जानकारी उपलब्ध हो सकी है कि विभिन्न औषधियों को विभिन्न पौधों और फलों पर प्रयुक्त करने से इसके क्या परिणाम होते हैं।

अधिक जानकारी आवश्यक

श्री डनेगन ने बताया कि हमें अब यह निश्चय रूप से मालूम हो गया है कि इन औषधियों को पौधे चूस लेते हैं और बाद में ये पौधों में फैल जाती है। बहुत तेज औषधियों के इस्तेमाल करने पर वास्तव में रोग फैलने वाले कीटाणु मर जाते हैं। लेकिन आपने कहा कि इस समस्या को हल करने के लिए अभी अधिक जानकारी की आवश्यकता है।

जब पौधे इन औषधियों को चूस लेते हैं, तब उन्हें किसी संक्रामक रोग का कोई भय नहीं रहता। लेकिन इन पौधों पर कितने समय तक किसी संक्रामक रोगा का असर नहीं होगा, इसके बारे में अभी कुछ नहीं कहा जा सकता। संभवतया यह सब बातें पौधे और औषधि की किस्म पर निर्भर करती हैं।

[प्रतिभास तथा प्रतिभास-दीप—पृष्ठ १४८ का शेषांश]

वस्तुतः इन अनेकानेक प्रकार के साधारण फिलामेण्ट बल्ब से सर्वदा भिन्न, विभिन्न आकार-प्रकार के, रंग बिरंगे प्रकाश देने वाले इन प्रतिभास दीपों ने प्रदीप्ति-इंजीनियरिंग (Illumination Engineering) के क्षेत्र में अनेकानेक नवीनतम समस्याएँ प्रस्तुत कर दी हैं। आधुनिक विज्ञान-जगत में यह भी सोचा जाने लगा है कि विद्युत शक्ति द्वारा प्रकाश उपलब्ध न करके क्यों न सूर्य के प्रकाश को अधिक दीप्ति-काल वाले स्फुरदीप्यशील (Phosphorescent) पदार्थों की सहायता से किसी भाँति रात्रि के लिए सँजो कर रख दिया जाय तथा घरों को प्रकाशित किया जाय। ये समस्याएँ आज विचाराधीन हैं।

बैन्जमिन फ्रैंकलिन

गत वर्ष १७ जनवरी को जब बैन्जमिन फ्रैंकलिन की २४८ वीं वर्षगांठ मनाई गयी थी, तब अमेरिकन फिलोसोफिकल सोसाइटी ने फ्रैंकलिन के लेखों को ३० जिल्दों में प्रकाशित करने की घोषणा की थी। साथ ही उनकी आत्मकथा संशोधित रूप में प्रकाशित करने की योजना भी तब घोषित की गयी थी।

इस प्रसिद्ध अमेरिकी दार्शनिक एवं राजनीतिज्ञ द्वारा छोड़े गये लेखों की छानबीन करने से यह स्पष्ट होता जा रहा है कि ये प्रसिद्ध चित्रकार लिओनार्डो द विन्सी के बाद संसार में योग्यतम व्यक्ति हुए हैं। मुद्रक, सम्पादक, लेखक, वैज्ञानिक होने के साथ-साथ प्रो० फ्रैंकलिन एक कुशल व्यापारी भी थे। इन्होंने सर्वप्रथम अमेरिका में एक चलते-फिरते पुस्तकालय की स्थापना की थी। इन्होंने हो ऐसी ऐनक का आविष्कार किया था, जिसकी सहायता से दूर तथा निकट दोनों की वस्तुएँ देखी जा सकती हैं। आप ही ने स्वाधीनता के घोषणा-पत्र की जाँच भी की थी, ताकि उसमें कोई दोष न रह जाय।

जन्म और प्रारम्भिक कार्य

१७०६ ई० में बोस्टन के एक मध्यवर्ग परिवार में श्री फ्रैंकलिन का जन्म हुआ था। इनके पिता मोमबत्ती बनाने का व्यवसाय करते थे। ये अपने पिता की १७ संतानों में १५ वीं संतान थे। इनके पिता इन्हें अधिक समय तक स्कूल में नहीं पढ़ा सके। १३ वर्ष की आयु से पूर्व ही श्री बैन्जमिन ने अपने भाई जेम्स के छापेखाने में काम सीखना शुरू कर दिया। उस समय श्री जेम्स अमेरिका के एक बहुत अच्छे मुद्रक समझे जाते थे।

किन्तु ये अधिक समय तक वहाँ नहीं टिके। तीसरे ही वर्ष में अपने भाग्य की परीक्षा करने के लिए आप न्यूयार्क चले आये। न्यूयार्क में कोई काम न बनने पर ये वहाँ से फिलाडेल्फिया चले गये। वहाँ इनको काम ढूँढ़ने में कोई कठिनाई पेश नहीं आई। २२ वर्ष की आयु में ही फ्रैंकलिन ने अपना ही छपाखाना शुरू कर दिया। उसके बाद इन्होंने "पेन्सिलवेनिया गजट" नामक एक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित किया। १७३२ ई० में इन्होंने अपनी प्रसिद्ध कृति पुअर रिचर्डस एलमनाक (गरीब रिचर्ड का पत्रा) प्रकाशित की, जिसकी शीघ्र ही हर वर्ष १० हजार प्रतियाँ बिकने लगीं।

प्रतिष्ठित नागरिक

कुछ ही वर्षों में, बैन्जमिन फ्रैंकलिन फिलाडेल्फिया के एक प्रतिष्ठित नागरिक समझे जाने लगे। आप बस्ती की धारा सभा के मुख्य सचिव नियुक्त हुए तथा शहर की जन परिषद् के अध्यक्ष भी चुने गये। इसके साथ ही फिलाडेल्फिया के प्रथम दमकल का संघटन भी आपने ही किया।

कुछ वर्ष और गुजरने के बाद, फ्रैंकलिन ने फिलाडेल्फिया एकाडमी की स्थापना की। बाद में उसी संस्था ने पेन्सिलवेनिया विश्वविद्यालय का रूप धारण कर लिया। आपने अमेरिकन फिलोसोफिकल सोसाइटी की भी स्थापना की। इसकी स्थापना का उद्देश्य राष्ट्र के वैज्ञानिकों के मध्य सम्बन्ध स्थापित करना था।

बिजली सम्बन्धी प्रयोग और ख्याति

४० वर्ष की आयु में श्री फ्रैंकलिन ने अपने बिजली सम्बन्धी प्रयोगों के परिणाम स्वरूप विश्व ख्याति प्राप्त की। आपनेही सर्व प्रथम यह मालूम किया था कि बिजली एक तरंग है। सब से पूर्व आप ही ने विद्युत तरंग का स्वेच्छानुसार प्रसार कर दिख-

लाया था। यह भी सर्वप्रथम आपने ही मालूम किया था कि बिजली एक प्रकार की शक्ति है। श्री फ्रैंकलिन द्वारा की गयी इन खोजों ने यूरोप के वैज्ञानिकों को चकित कर दिया था। उन्होंने आपको अनेक विद्वत्सभाओं का सदस्य बनाया और बहुत से बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों ने आपको सम्मान सूचक उपाधियाँ प्रदान कीं।

उत्कृष्टतम कूटनीतिज्ञ

कभी-कभी श्री बैन्जमिन फ्रैंकलिन का उल्लेख अमेरिका के अपूर्व उत्कृष्टतम कूटनीतिज्ञों में किया जाता है। फ्रांस के साथ हुई जिस सन्धि से फोर्ज घाटी स्थित सेनाओं को उत्साह और स्फूर्ति प्राप्त हुई थी और जिससे अमेरिकी क्रान्ति को सफलता मिली, उसका अधिकांश श्रेय आपको ही था। जब कि फ्रैंकलिन की वर्साई में एक स्वीकृत राष्ट्र के राजदूत के रूप में नियुक्ति हुई, तब यूरोप के लोगों ने इस बात की बड़ी सराहना की तथा आपका हृदय से सम्मान किया।

अमेरिका का संविधान तैयार करने के लिए १७८६ ई० में जो तूफानी सम्मेलन हुआ, उसमें श्री फ्रैंकलिन ने अपने विनोद तथा चातुर्य से समझौते की भावना पैदा की। आप भी श्री लिंकन के समान मनोरंजक कहानियाँ सुनाकर लोगों के गुस्से के उबाल को ठण्डा कर देते थे। इस प्रकार सम्मेलन को विफल होने से बचाने में आपने बड़ी सहायता दी। मतदान अथवा उच्चपद का कार्यभार सँभालने के लिए व्यक्ति का सम्पत्तिशाली होना आवश्यक है, इस प्रश्न का आपने सफलतापूर्वक विरोध कर अन्त में सम्मेलन की सबसे बुरी जिच दूर कर दी। बड़े राज्य चाहते थे कि जन संख्या के अनुपात से प्रतिनिधियों का चुनाव किया जाए। परन्तु छोटे राज्य चाहते थे कि सब राज्यों से समान प्रतिनिधि लिये जाएँ। इस बात पर कई सप्ताहों तक गतिरोध रहा। अन्त में श्री फ्रैंकलिन के समझाने-बुझाने पर यह तय हुआ कि प्रतिनिधि-सभा में जन संख्या के अनुपात से तथा सेनेट में समानता के आधार पर प्रतिनिधि लिये जाएँ।

जब ८४ वर्ष की आयु में श्री फ्रैंकलिन का देहान्त हुआ, तब संसार के लोगों ने यह अनुभव किया कि स्वाधीनता का एक सच्चा मित्र संसार से उठ गया। फिलाडेल्फिया के लोगों ने इनकी याद ताजी रखने के लिए इनकी पुस्तकों, पत्रों, इनके आविष्कारों के माडलों तथा इनके चित्रों को संगृहीत कर लिया।

दार्शनिक के तौर पर फ्रैंकलिन का मुख्य सिद्धांत यह था कि भलाई के काम किये जायें। आप ऐसे कार्यों को अधिक अच्छा समझते थे जिनसे समस्त समाज का हित होता हो। आपमें जैफर्सन का सा उच्चादर्श तो नहीं था, लेकिन उच्च कोटि की व्यावहारिकता अवश्यक थी।

आप समाज सुधारक भी थे। आपका विश्वास था कि यदि अच्छी संस्थाओं की स्थापना हो जाये तो बुरी संस्थाएँ स्वयं समाप्त हो जायेंगी। आप सभी बातों में उदार थे और यह उदारता निःसन्देह आपके नैतिक कार्यक्रम का अंग बन चुकी थी।

श्री फ्रैंकलिन का विनोद, जीवन के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण और यहाँ तक कि इनकी साहित्यिक शैली उस समय के अमेरिकियों की सरलता, निष्कपटता, स्पष्टता, तथा अपनत्व की भावना की द्योतक है। यह शैली उनकी आत्मकथा से भली-भांति प्रकट होती है।

"भारतवर्ष में कोयले का उद्योग'

ले०—श्री० कृष्ण चंद दुबे, भौतिक विज्ञान विभाग, सागर विश्वविद्यालय

हमारे इस औद्योगिक संसार को कोयले पर कितना अधिक निर्भर रहना पड़ता है, इस कारण हम उसे 'काला सोना' कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। औद्योगिक विश्व में किसी देश का स्थान उसके कोयले के उद्योग से जाना जा सकता है और इस प्रकार कोयले की खपत देश के औद्योगिक विकास की परिचायक है।

नीचे विश्व के छै देशों में प्रति मनुष्य द्वारा कोयले की वार्षिक खपत को दर्शाया हैं :—

बेलजियम	३·६८ टन
इङ्गलैंड	३·८० टन
संयुक्त राज्य अमेरिका	३·३१ टन
जरमनी	३·७७ टन
फ्रांस	१·७४ टन
भारतवर्ष	०·०७ टन

भारतवर्ष में विश्व का २ प्रतिशत कोयला उत्पन्न होता है और संसार के कोयला उत्पादक देशों में भारतवर्ष का स्थान आठवां है। पर एक औसत भारतवासी एक औसत अमेरिकन की तुलना में १/४७ भाग कोयले का उपयोग करता है। नीचे सन् १८८४ से लेकर सन् १९५० तक कोयले का वार्षिक उत्पादन दर्शाया है :—

१८८४	११ लाख टन
१९०१	६६ ,, ,,
१९१४—१९१८ (औसत)	१४७ ,, ,,
१९२८	२२५ ,, ,,
१९३८	२८३ ,, ,,
१९४०	३६० ,, ,,
१९४२	२५५ ,, ,,
१९४३	२२५ ,, ,,
१९४५	२५४ ,, ,,
१९५०	३२० ,, ,,

भारत वर्ष में कोयला तीन अवस्था के शिला क्रमों में प्राप्त होता है। सबसे प्राचीन अवस्था का कोयला विन्ध्य शिला क्रम की रेतदार शिलाओं के साथ अन्तर-स्तरीगत है। यह कोयला उस काल की आर्कियोप्टेरिस वनस्पति के कोयलीकरण से बना है। परन्तु हमारे मुख्य कोयला-उत्पादक क्षेत्र गोंडवाना शिलाक्रम में हैं। गोंडवाना शिला क्रम की दामूदा श्रेणी में हमारे देश का कोयला है। दामूदा श्रेणी के दो स्तर विभाजन हैं—बाराकर और रानीगंज। इनमें कोयला-उत्पादन की दृष्टि से बाराकर अधिक उपयोगी है। गोंडवाना शिलाक्रम की अन्य श्रेणियों और अवस्थाओं से भी कोयला प्राप्त होता है पर ये उतना महत्वपूर्ण नहीं है। ये श्रेणियाँ हैं—कोटा, चिकियाला और उमिया। बाराकर स्थित जहाँ भी प्राप्त होती है वहाँ कोयला अवश्य मिलता है पर रानीगंज अवस्था का कोयला रानीगंज, झरिया और बोकारो क्षेत्रों में ही सीमित है। गोंडवाना शिलाक्रम का कोयला-विस्तार निम्नलिखित है: —

(१) *हिमालय विभाग*:—अबोर, मिरी, दफला और अका, भूटान की पहाड़ियाँ, बक्सा दुआर और दार्जीलिंग। ये स्थान एक तो आवागमन के साधनों से दूर हैं, दूसरे यहाँ के कोयला-स्तरों में विभंजन और उपद्रव बहुत है। इससे आर्थिक दृष्टि से उनका उपयोग नहीं हो सकता।

(२) *उत्तर बंगाल विभागः*—हुरा, गिल्हूरिया, चूपारमिटा, पचवारा और ब्रह्मानी। ये सभी क्षेत्र छोटे हैं और मुख्य नहीं हैं।

(३) *दामोदर घाटी विभागः*—कुंडित कुरैया, सहाजुरी, जैंती, गिरीडिह, चोपे, इत्खुरी और डाल्टनगंज। ये सारे क्षेत्र उत्तरी क्षेत्र हैं। इनसे भी अधिक प्रसिद्ध दक्षिणी क्षेत्र हैं जो रानीगंज, झरिया, बोकारो, रामगढ़, उत्तर और दक्षिण करनपुरा, औरंगा और हुटार।

(४) *मध्य प्रदेशः*—(पूर्वी क्षेत्र) तातायानी, सिंगरौली, कोरार, उमरिया, जोहिला, सोहागपुर और झिलमिली।

(५) *महानदी घाटी विभागः*—इसदो-रामपुर (सरगुजा) कोरबा, मांद नदी, रायगढ़, हिमगिर, इब नदी और तालचिर। इनमें से कुछ क्षेत्र बहुत कोयला दे सकते हैं।

(६) *मध्यप्रदेश (पश्चिमी क्षेत्र)ः*—मोह पानी, सोनादा, शाहपुर, दुल्हारा, पाटारवेरा, कन्हान घाटी और पेंच घाटी क्षेत्र।

(७) *वर्धा—गोदावरी घाटी विभागः*—चाँदर, बरोरा, वून, घूघस-तेजवासा, चांदा, बल्लारपुर, वामनपल्ली, सस्ती-राजुरा, अंतरगांव तांदुर, सुंदरपल्ली, कामारम, बांदाला-अल्लापल्ली, सिंगाला, सिंगारेनी, कोहागुदेम, दामरचेरला, अश्वरावपेटा, और वेडाडानुरू।

तीसरी अवस्था का कोयला तृतीयक काल के शिलाक्रम में प्राप्त होता है। काश्मीर के करेवा नामक स्थान का लिगनाइट कोयला शिवालिक युग का है। तृतीयक युग का मुख्य कोयला आसाम के नामचिक, पाकूम और नजीरा में मिलता है और यहाँ यह पट्रोलियम के साथ मिलता है। इस स्तर की अवस्था मायोसीन है। गारो की पहाड़ियाँ तथा कचार का कोयला भी इसी अवस्था का है। लिगनाइट कोयला फालाना बीकानेर, आसाम में, राजपूताना, बलूचिस्तान और पंजब में प्राप्त होता है।

यद्यपि भारतवर्ष में सन् १७७४ में रानीगंज में कोयले की खोज हुई थी पर उसे निकालने का कार्य ४० वर्षों बाद सन १८१४ के लगभग हुआ। भारतीय कोयले की मुख्य खपत यहाँ की रेलों में होती है और वास्तव में रेलों की उन्नति के साथ ही साथ कोयला क्षेत्रों की भी उन्नति हुई। इसके सिवा अन्य उद्योग भी कोयले का उपयोग शक्ति और ईंधन के रूप में करते हैं। भारतीय कोयले का निर्यात भी होता है और पाकिस्तान, सीलोन, बर्मा, सिंगापुर और हांगकांग को कोयला भेजा जाता है। कोयला इङ्गलैंड और आस्ट्रेलिया को भी जाता है। निर्यात के कुछ आंकड़े यहाँ दिये हैं:—

प्रथम विश्व-युद्ध के पूर्व प्रतिवर्ष

औसत निर्यात	८·२५ लाख टन
सन् १९१४ – १९१८ काल में	
औसत निर्यात	५·३६ लाख टन
सन् १९१८ से १९२६ तक का प्रतिवर्ष	
औसत	४·३४ लाख टन
सन् १९२६ – १९२७	६·४५ लाख टन
१९४०—४१	१९·४१ लाख टन
१९४४—४५	१·०९ लाख टन

भारतवर्ष सन् १९४५ के पूर्व कोयले का आयात भी करता था। यहाँ यह पूछा जा सकता है कि जब यहाँ इतना कोयला होता था कि उसका निर्यात सम्भव था तो फिर आयात की क्या आवश्यकता थी। इसका कारण था मद्रास और बम्बई की कोयला क्षेत्रों से दूरी। एक कारण तो यह दूरी थी दूसरी कुछ व्यापारिक कठिनाइयाँ भी थीं जिससे बम्बई और मद्रास विदेशी कोयले का उपयोग करते थे। प्रथम महायुद्ध के पूर्व तथा पश्चात विदेशी कोयले की जो मांग भारत में थी, द्वितीय महायुद्ध के समय उसका शतांश भी नहीं रह गई थी। नीचे के आंकड़ों से यह स्पष्ट हो जावेगाः—

१९१३—१४ के पूर्व का औसत	
आयात	४·५५ लाख टन
प्रथम युद्ध-कालीन वार्षिक औसत	१·३३ „ „
युद्धोपरांत वार्षिक औसत	६·३० „ „

१९२९—१९३०	वार्षिक औसत	२·३८ लाख टन
१९३८—१९३९	,, ,,	०·४८ ,, ,,
१९४१—१९४२		०·१२ ,, ,,
१९४२—१९४३		०·०५ ,, ,,
१९४३—१९४४		०·०१ ,, ,,
१९४४—१९४५		नगण्य रूप में

कोकदार कोयला—कोकदार कोयला लोहे और इस्पात बनाने के काम में आता है। इस प्रकार के कोयले से कोक तैयार करके उसे कच्चे लोहे के साथ भट्टी में डालते हैं। सन १९३६ की 'कोयला-खान कामेटी' के अनुसार हमारे देश में यह कोयला केवल १४२·६ करोड़ टन होगा। परन्तु 'भारतीय कोयला-क्षेत्र कामेटी' (१९४६) ने बताया है कि यह कोयला ६०·० से ६१·५ करोड़ टन से अधिक नहीं है।

भारतीय कोयले का प्रकार—भारत में जो कोयला प्राप्त होता है वह प्रायः सारा का सारा बिटुमिनस और सब-बिटुमिनस प्रकार का है। हम जानते हैं कि कोयला 'पीट' प्रकार से लेकर 'एंथ्रासाइट' प्रकार तक का होता है और यह जानने के लिये कि भारतीय कोयला किस प्रकार का है निम्न अंकित चार्ट सहायक होगा जिसमें कोयलीकरण की विभिन्न अवस्थाएँ दर्शायी गयी हैः—

हमारे यहाँ का कोयला कोयलीकरण की केवल बिटुमिनट अवस्था तक का ही है। पर दार्जीलिंग विभाग की डालिंग और तिनधारिया क्षेत्र का कोयला सेमी-बिटूमिनस और एंथ्रासाइट प्रकार का है। इसका कारण हिमालय विभाग के भू-उत्पात हैं।
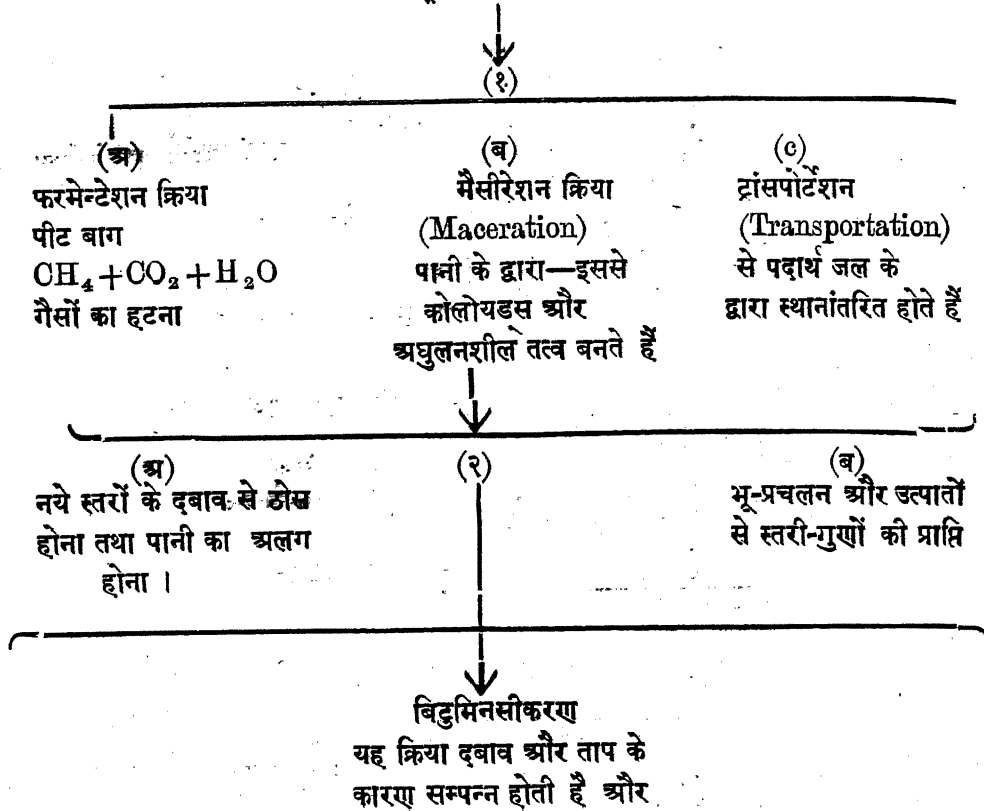
इसके कारण—

(१) कोयले से पानी के कण और बिन्दु कम होते हैं—

(२) CO_2, CH_4 और H_2O की भी कमी होती है—

(३) अम्ल और बेसिक ह्यूमिक तत्वों का एकीकरण होता है

(४) फीनालिक तत्वों के कोकदार तत्वों का निर्माण होता है।

↓

(४)

एंथ्रासाइटीकरण

भू उत्पातों और प्रचलन से दबाव और ताप की वृद्धि इस क्रिया को सम्पन्न करती है।

कोयले का वर्गीकरण इस प्रकार होता है—
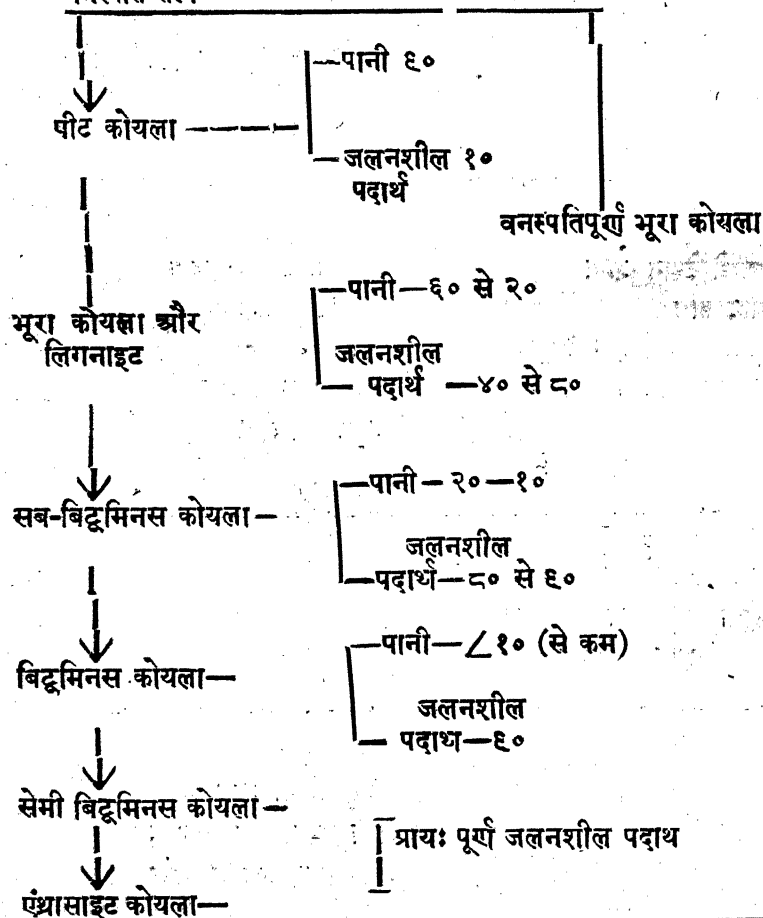
तृतीयक युग का कोयला केवल लिगनाइट और सब-बिटूमिनस प्रकार का है। तो इस प्रकार जहाँ तक रेलों में जलाने और शक्ति प्राप्त करने के लिये कोयले की आवश्यकता है, भारत को चिन्ता की जरूरत नहीं। परन्तु प्रश्न अच्छे कोयले का है जो धातु पिघलाने के काम में आ सके, और यह कोकदार कोयला भारत में बहुत कम है।

कोयले की धुलाई—कोकदार कोयले की कमी को दूर करने के लिये विज्ञान ने एक अन्वेषण किया है। उच्च प्रकार और नीचे प्रकार के कोयले को मिलाकर कोकदार कोयला अथवा धातुशोधक कोयला तैयार किया गया है। इस क्रिया को वेलडिंग (welding) या मिलाई कहते हैं। इसी प्रकार अधिक राखदार ऊँचे प्रकार के कोयले को धोकर भी कोकदार कोयला तैयार करने पर अन्वेषण चल रहा है। भारतवर्ष में बिहार क्षेत्र की मशीनें १५० टन कोयला प्रति घन्टा धो सकती हैं।

जरमनी के वैज्ञानिकों ने यह संभव कर दिखाया है कि कोयले से तेल बनाया जा सकता है। भारतवर्ष में धनबाद की गवेषणा-शाला में इस पर अन्वेषण हो रहा है और अनुसंधान की सफलता के बाद हम अपने साधारण नीचे प्रकार के कोयले का उपयोग करने में सफल होंगे।

गाजर एक पूर्णाहार

श्री गौरी शंकर गुप्त

गाजर अत्यन्त पौष्टिक पदार्थ है। इसमें विटामिन ए, बी, सी, लोह फास्फोरस तथा गन्धक पूर्ण मात्रा में विद्यमान् रहते हैं। यही नहीं, इसमें 'केरोटीन' नामक तत्व भी पाया जाता है। आधुनिक वैज्ञानिक इस तत्व की प्राप्ति के लिये गाजर के रसपान का परामर्श देते हैं।

गाजर अपेक्षाकृत सस्ते मूल्य पर उपलब्ध हो जाती है। स्वस्थ व्यक्तियों को इसका अधिकाधिक सेवन करना चाहिये। स्वास्थ्यदायक कन्द के रूप में तो यह प्रसिद्ध है ही, साथ ही आबालवृद्ध सभी के लिये सम-उपादेय है। आहार-सन्तुलन की दृष्टि से भी गाजर विशेष उपयोगी है। शारीरिक विकास एवं वृद्धि के लिये इसका उपयोग अवश्य करना चाहिये। रोगों के आक्रमण से रक्षा गाजर का अपना विशेष गुण है।

गाजर के भेद

गाजर प्रायः सभी स्थानों में पायी जाती है। यह देशी और विदेशी दो प्रकार की होती है। देशी गाजर किंचित् लाल तथा काली और विदेशी गाजर पीले तथा लाल रंग की होती है। विदेशी बीजों से उत्पन्न होनेवाली गाजर देशी बीजों से उत्पन्न होनेवाली गाजर से अधिक उपयोगी होती है। विदेशी गाजर स्वाद की दृष्टि से भी अच्छी होती है।

खेती और उपज

नरम तथा भुरभुरी मिट्टी में गाजर की खेती होती है। नमकीन मिट्टी इसकी उपज के लिये अत्यन्त उपयोगी होती है। भाद्रपद से कार्तिक पर्यन्त बोई जाने के कारण गाजर की खेती में विशेष सिंचाई की आवश्यकता नहीं पड़ती।

गाजर का कंद मूली के आकार जैसा छोटा, लाल अथवा पीले रंग का और स्वाद में तीक्ष्णता एवं मधुरतायुक्त होता है। इसकी पत्तियों को भाजी के रूप में भी प्रयोग करते हैं।

रासायनिक तत्व

गाजर में ८६ प्रतिशत जल, १.१ प्रतिशत खनिज पदार्थ •६ प्रतिशत प्रोटीन, ०.१ प्रतिशत वसा, १०.७ प्रतिशत कार्बोहाइड्रेट, ०.०८ प्रतिशत चूना ०.०३ प्रतिशत फास्फोरस १.०६ मिली ग्राम प्रतिशत ग्राम लोह, २०२० से ४३०० इ. यू. विटामिन ए. प्रतिशत ग्राम, ६० इ. यू. विटामिट बी. १ प्रतिशत ग्राम तथा ३ मिलीग्राम विटामिन सी. प्रतिशत ग्राम विद्यमान है।

गाजर की पत्तियों में भी ८३.३ प्रतिशत जल, २.८ प्रतिशत खनिज पदार्थ, ५.१ प्रतिशत प्रोटीन, ०.५ प्रतिशत वसा, ८.३ प्रतिशत कार्बोहाइड्रेट. ४.३४ प्रतिशत चूना, ०.११ प्रतिशत फास्फोरस तथा ८.८ मिलीग्राम प्रतिशत ग्राम लोह सुरक्षित है।

रासायनिक विवेचन

लोह, गंधक तथा केरोटीन की प्रचुरता के कारण सर्वश्रेष्ठ लौह प्रदायिनी औषधियों के स्थान पर गाजर का प्रयोग सफल हो सकता है। शरीर में औषधियों से मिलनेवाले लोह की अपेक्षा रक्त में शीघ्रता से मिलकर शारीरिक त्रुटियों की पूर्ति करनेवाली शक्ति गाजर में भरी पड़ी है। साग-भाजियों तथा फलों में उपलब्ध होनेवाने खनिज क्षारों में सीधे रक्त में घुलमिलकर आवश्यकताओं की पूर्ति करने का अद्भुत गुण है औषधियों के रूप में

प्रयोग किये जानेवाले खनिज शरीर में कठिनाई से मिल पाते हैं तथा उनका अधिकांश अघुलनशील होने के कारण शेष रह जाता है, जिसे बाहर निकालने में शरीर को प्रचुर शक्ति कम करनी पड़ता है।

गाजर में प्रोटीन की अल्प मात्रा होने पर भी पूर्ण आहार के गुण हैं। फल शर्करा चीनी पर्याप्त मात्रा में लगभग १० प्रतिशत रहती है। केरोटीन के लाल कण तथा लोह फास्फोरस, गंधक तथा खनिज क्षारों के रस में पेक्टेन, अलब्यूमिन एवं एक प्रकार का उडनशील तेल रहता है, जो औषधि रूप गुणों का कारण है। इस प्रकार गाजर एक उत्तम पौष्टिक कन्दशाक माना जाता है।

विभिन्न रोगों में गाजर

नेत्र तथा कर्ण रोगों के अतिरिक्त नासूर के समान भयानक रोग तो इसका सेवन करते रहने से हो ही नहीं सकता। शारीरिक सौंदर्यवृद्धि करने के अतिरिक्त रक्त-शुद्धि और गुर्दों की जलन मिटाने में भी गाजर अद्वितीय है।

प्रातः सायं ३ से ४ छटांक तक गाजर का रस पीने से अम्लविकारशांत होता है। उदर अथवा आंतों के घाव की तो गाजर रामबाण औषधि है। भयंकर कोष्ठबद्धता के निवारण का विलक्षण गुण गाजर में भरा है। जिगर की बीमारियों, पित्त-विकार, पांडुरोग, गुर्दे के रोग, मूत्र में रेत आदि रोगों में कच्ची गाजर पकाकर अथवा इसका रस विशेष परिमाण में मिलाने से लाभ होता है।

केवल गाजर १५-२० दिन ही खाने से चर्मरोगों में विशेष लाभ होता है और गाजर का रस तो खुजली में विशेष उपयोगी है।

उबालकर निकाले हुए गाजर के रस में छोटे-छोटे टुकड़े करके मंदी आंच पर पकाकर और उसमें गुड़ मिलाकर पीने से स्वादिष्ट लगता है। गाजर को पकाकर निकाला हुआ रस बच्चों के लिये लाभप्रद है।

रक्ताल्पता, घेघा तथा रक्तविकारों में भी गाजर विशेष उपयोगी है। पके हुए पुराने घाव पर गाजर का गूदा उबालकर बांधने से शांति मिलती है। कच्ची गाजर कुचलकर उसमें आटा मिलाकर छाले तथा जलन वाले घावों पर बांध दिया जाय तो अवश्य लाभ होता है। सूजन के स्पर्श से होनेवाली गरमी तथा पीड़ा में भी इसके प्रयोग से शांति मिलती है।

पित्त, शूल, दाह तथा तृषा निवारक गुण गाजर में पाये जाते हैं। इससे तीक्ष्ण कृमि नष्ट होते हैं, रुचि बढ़ती है और शरीर की आन्तरिक सड़न क्रिया भी सुधरती है। पुरानी संग्रहणी में भी इसका उपयोग लाभप्रद है। मधुमेह के रोगियों के लिये गाजर लाभप्रद न होते हुए भी यक्ष्मा के रोगियों के लिये खटिक चूने की पर्याप्त मात्रा तथा शर्करा चीनी की दृष्टि से गाजर का रस अत्यन्त लाभप्रद है।

पाचन क्रिया की खराबियों से आंतों में विषैले पदार्थ संचित हो जाते हैं और उनके सड़ने से भयंकर कीटाणु उत्पन्न होते हैं, किन्तु गाजर का सेवन करने से सड़न नष्ट होती है और कीटाणु भी नहीं रहने पाते। गाजर में विटामिन ए अत्यधिक मात्रा में होने के कारण दूध, तथा काड़ मछली के तेल के पूरक के रूप में गाजर की गणना होती है। अतएव मछली के तेल आदि का प्रयोग न करने वाले भी इससे लाभान्वित हो सकते हैं।

गाय तथा घोड़ों की जाति के पशुओं के लिये भी गाजर में पोषक तत्व हैं। दूध गाढ़ा स्वादिष्ट, मधुर करने तथा बढ़ाने के लिये गाय को गाजर खिलायी जाती है।

कुछ आवश्यक बातें

बासी की अपेक्षा ताजी गाजर में सभी गुण सुरक्षित रहते हैं। खुले पात्र में तलने से अथवा घृत में तलने से इसका विटामिन ए नष्ट हो जाता है। अतएव पकाने के समय इसे हवा से बचाना चाहिये।

सूखी हुई अथवा मुरब्बे के रूप में गाजर में वे गुण नहीं रहने पाते, जो ताजी गाजर में होते हैं। अधिकांश लोग हलुआ, मुरब्बा, अचार, तरकारी

इत्यादि के रूप में भी इसका प्रयोग करते हैं, किन्तु पकाने से विटामिन नहीं रहने पाते। अतएव पूर्ण लाभान्वित होने के लिये गाजर कच्ची ही खानी चाहिये।

गाजर के बीच का काष्ठमय भाग नहीं खाना चाहिये। रस निकालने के लिये गाजर उबालने से भी विटामिन नष्ट हो जाते हैं, इसलिये कच्ची गाजर को कुचलाकर तथा कपड़े से छानकर रस निकालना चाहिये। अच्छी बड़ी गाजर से आधपाव तक रस निकल सकता है।

गाजर के खाद्य पदार्थ

यद्यपि पकाने से गाजर के रासायनिक तत्व नष्ट हो जाते हैं, फिर भी स्वाद की दृष्टि से खाद्य पदार्थों के रूप में गाजर के विभिन्न प्रयोग सर्वसाधारण में प्रचलित हैं। इसी दृष्टि से कपितय विधियाँ उपस्थित की जाती हैं :—

सलाद—लाल गाजर धोकर घिस लें। अच्छा मीठा दही मथकर उसमें चीनी मिलावें और उसे गाजर में डालकर मिलादें। उसमें धोयी हुई साफ किशमिश डालकर तैयार करलें। सलाद के रूप में गाजर का उपयोग उत्तम है।

तरकारी—(१) काली गाजर के छोटे-छोटे टुकड़े काटकर साधारण साग की भांति भूनें और थोड़ा पानी गलने के उद्देश्य से छोड़ें। गलने पर खटाई छोड़कर उतार लें। यही सूखी तरकारी होगी।

(२) रसेदार तरकारी बनाने के लिये गाजर खुरचकर छील लें और लम्बे-लम्बे तीन-चार टुकड़े कर लें। ½ गैलन पानी में १ बड़ा चम्मच नमक ऊपर तक भरकर छोड़ दें।

(३) दूसरी विशेष विधिः—बड़ी गाजर खुरचकर चौथाई इञ्च मोटे गोल टुकड़े कतर लें। बर्तन में मक्खन डालकर पिघलाएँ और उसमें गाजर तथा आवश्यक मसाले डालकर चलावें। थोड़ी देर के पश्चात् जब गाजर मक्खन में खूब तर हो जाय तब उबला हुआ जल छोड़कर मन्दी आंच पर गलने दें। दूसरे बर्तन में थोड़ा मक्खन तथा आधा बड़ा चम्मच मैदा डालें। जब कुछ लाली दिखने लगे तब वह पानी, जिसमें गाजर पकाई जाय, इस पर छोड़ दें। उबल जाने पर उसे उठाकर गाजर पर छोड़ दें और मन्दी आंच से पकने दें तथा गल जाने पर उतारें।

रायता—मोटी गाजर धोकर साफ करें और बीच में से लम्बे-लम्बे दो हिस्से कर डालें। बीच का बड़ा भाग हटाकर उसके लच्छे निकालकर उबालें और ठण्डा होने पर पानी निचोड़ कर चीनी मिलाए हुए दही में उसे मिलादें। इच्छानुसार नमकीन रायते के मसाले भी मिला सकते हैं।

सूप—गाजर खुरचकर छिलके हटादें और धोकर पोंछलें। पश्चात् ¼ इञ्च मोटे टुकड़े करके बर्तन में मक्खन डालकर आग पर चढ़ादें। गाजर डालकर मन्दी आंच में एक घन्टे तक पकावें। पानी डालकर धीरे-धीरे गलने दें और लगभग १ घंटे के उपरान्त चलनी में से मसलकर निकाल दें। अन्त में मसाला मिलाकर ५ मिनट तक उबालकर उपयोग में लावें। १ पौण्ड गाजर में १–½ औंस मक्खन, १ क्वार्ट जल तथा आवश्यकतानुसार मसाले छोड़े।

अचार

काली गाजर के चार टुकड़े करके उबालें और मिट्टी के एक बर्तन में रखकर उबाला हुआ काफी पानी उसमें छोड़ें बाद में आवश्यकतानुसार मसाले छोड़ दें। २-३ दिन धूप लगाने से रस का रंग काफी लाल हो जाय तब प्रयोग करें।

इसका रस कांजी के नाम से भी प्रसिद्ध है। कांजी अत्यन्त स्वादिष्ट तथा पाचक होती है।

हलुआ

ताजी गाजर उबालकर उसके बीच का कड़ा हिस्सा अलग करके उसे पीस लें या घिसकर उबाल लें। उबाली हुई गाजर ठण्डी होने पर उसे निचोड़ कर कड़ाही में दूध चढ़ाकर उसी में गाजर डालदें और मन्दी आंच से तब तक भूनें जब तक सारा दूध खोये के रूप में न हो जाय। तत्पश्चात् उसमें आवश्यकतानुसार चीनी और मेवा मिलाकर गाढ़ा होने पर उतार लें।

Reg. NO 372

Approved by the Directors of Education, Uttar Pradesh
and Madhya Pradesh for use in Schools;
Colleges and Libraries

विज्ञान परिषद् के मुख्य नियम

परिषद् का उद्देश्य

१—१९७० वि॰ या १९१३ ई॰ में विज्ञान परिषद् की इस उद्देश्य से स्थापना हुई कि भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य का प्रचार हो तथा विज्ञान के अध्ययन को और साधारणतः वैज्ञानिक खोज के काम को प्रोत्साहन दिया जाय।

परिषद् का संगठन

२—परिषद् में सभ्य होंगे। निम्न निर्दिष्ट नियमों के अनुसार सभ्यगण सभ्यों में से ही एक सभापति, दो उप-सभापति, एक कोषाध्यक्ष, एक प्रधानमन्त्री, दो मन्त्री, एक सम्पादक और एक अंतरंग सभा निर्वाचित करेंगे जिनके द्वारा परिषद् की कार्यवाही होगी।

सभ्य

२२—प्रत्येक सभ्य को ६) वार्षिक चन्दा देना होगा। प्रवेश शुल्क ३) होगा जो सभ्य बनते समय केवल एक बार देना होगा।

२३—एक साथ १०० रु॰ की रकम दे देने से कोई भी सभ्य सदा के लिए वार्षिक चन्दे से मुक्त हो सकता है।

२६—सभ्यों को परिषद् के सब अधिवेशन में उपस्थित रहने का तथा अपना मत देने का, उनके चुनाव के पश्चात् प्रकाशित, परिषद् की सब पुस्तकों, पत्रों, तथा विवरणों इत्यादि को बिना मूल्य पाने का—यदि परिषद् के साधारण धन के अतिरिक्त किसी विशेष धन से उनका प्रकाशन न हुआ—अधिकार होगा। पूर्व प्रकाशित पुस्तकें उनको तीन चौथाई मूल्य में मिलेंगी।

२७—परिषद् के सम्पूर्ण स्वत्व के अधिकारी सभ्य वृन्द समझे जायेंगे।

प्रधान संपादक—डा॰ हीरालाल निगम
सहायक संपादक—श्री जगपति चतुर्वेदी

नागरी प्रेस, दारागंज, प्रयाग प्रकाशक—विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद

विज्ञान

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तै० उ० ।३।५।

भाग ८० | मीन २०११; मार्च १९५५ | संख्या ६

पृथ्वी और विश्व : उद्भव और विकास

[नन्दलाल जैन]

[१.] पृथ्वी की आयु (अ) शीतलीभवन विधि

आज भूमंडल पर प्रतिदिन परिवर्तन होते जा रहे हैं। अपने देश में तो यह आये दिन की चर्चा हो चली है कि गंगा नदी उत्तर प्रदेश के और ब्रह्मपुत्र आसाम से स्थल भाग बहा कर ले जा रही है। इस बहाव को रोकना राज्यों के लिए एक समस्या बन गई है। परन्तु नदियों द्वारा पृथ्वी का बहाव और नदियों के बीच टापू-चट्टानों का आविर्भाव एक बहुत ही पुरातन प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में स्थल भाग जलमय और जलीय भाग स्थलमय होता जा रहा है। लेकिन यह प्रत्यक्ष है कि ये परिवर्तन स्थलीय भाग के ऊपरी तल पर ही हो रहे हैं। पृथ्वी का गर्भ तो अभी भी अग्नि उगल रहा है। यह तो सामान्य अनुभव की बात है कि मिट्टी खोदने पर पृथ्वी का तापक्रम क्रमशः नीचे की ओर वृद्धिगत होता जाता है। यह अनुमान लगाया गया है कि प्रत्येक ३४० गज नीचे ६°-७° श तापक्रम बढ़ता जाता है। इस तापक्रम की वृद्धि का प्रत्यक्ष प्रमाण तो यह है कि दक्षिण अफ्रिका की सोने की खानों में कृत्रिम रूप से ठंड उत्पन्न कर काम कराया जाता है। इसी आधार पर हम यह कह सकते हैं कि पृथ्वी के गर्भ में लगभग ४० मील नीचे इतना अधिक तापक्रम होगा कि चट्टानें पिघल जावें। इस निचाई से आगे तो समस्त पृथ्वी ही गलित अवस्था में होगी एवं उसका तापक्रम भी बहुत अधिक होगा। इस स्थिति से हम सहज ही यह अनुमान लगा सकते हैं कि हमारे धरातल का अधिकांश भाग अब भी पिघली हुई अवस्था में है। अनुमानतः वह गलित भाग संपूर्ण धरातल का ९७ प्रतिशत पाया गया है। पृथ्वी के अन्तर की गलितावस्था से यह सोचना स्वाभाविक ही है कि किसी समय संपूर्ण पृथ्वी गलित रही होगी। जो ठोस धरातल आज हमारे समक्ष उपस्थित है, वह उक्त गलित भाग से निरन्तर

ठंडे होने की प्रक्रिया का परिणाम है, जो अरबों वर्ष पहले प्रारंभ हुई होगी। पृथ्वी के शीतलीभवन की यह क्रिया तो तभी समाप्त हो सकेगी, जब संपूर्ण धरातल ठोस बन जाय। पृथ्वी के इस शीतलीभवन क्रिया की गति, और पृथ्वी की ठोस तह की मोटाई का एक निश्चित संबंध है जिसकी सहायता से गणना करने पर पृथ्वी की आयु कई अरब वर्ष अनुमानित की जाती है।

[१. ब] सीस परिमाण विधि—

पृथ्वी की आयु का अनुमान उन चट्टानों से भी लगाया जाता है जो उपर्युक्त शीतलीभवन की क्रिया के फलस्वरूप धरातल पर उद्भूत होती जा रही है। यद्यपि चट्टानें ठोस होती हैं, और सामान्य जन तो उन्हें निर्दयता या कठोरता के गुणों की तुलना में ही कहा करते हैं, फिर भी वे भूतत्व-वेत्ताओं के लिये घड़ी का काम देती हैं जिन्हें देखकर ही वे उनकी या पृथ्वी की आयु का अनुमान कर लेते हैं। आप पूछेंगे कि घड़ी में तो कांटें होते हैं जो समय बताते हैं, पर चट्टानों में कांटें कहाँ? पर यहाँ भी वे हैं, जिसे आप लोग नहीं देख सकते। रासायनिक और भूतत्ववेत्ताओं की आँखें ही उन्हें देख सकती हैं। ये काँटे हैं—चट्टानों में विद्यमान कुछ तेजस्क्रिय (यूरोनियम; थोरियम आदि) धातुतत्वों के परिमाण, जो प्रत्येक चट्टान में विभिन्न मात्राओं में पाये जाते हैं। इन धातुओं के तेजस्क्रिय होने से ये सदा सीसे में परिणत होती रहती हैं। अतएव हमें किसी चट्टान की प्रस्तर-रचना में सीसे की मात्रा ज्ञात हो, तो हम निम्न सरल सूत्र द्वारा प्रस्तर की आयु का परिज्ञान कर सकते हैं—

$$t = \frac{Pb}{U_{\circ} + \cdot 58 Pb} \times 8200 \times 10^{6} \text{ वर्ष}$$

यह गणना यूरेनियम (u) के आधार पर है; थोरियम धातु के रूप में निम्न सूत्र $t = \frac{Pb}{U_{\circ} \times \cdot 384 th} \times$

$$8200 \times 10^{6} = 2.303 \frac{U_{\circ}}{U_{th}} \times 6 \times 10^{9} \text{ वर्ष}$$

काम में लिये जाते हैं। इन सूत्रों के आधार पर विश्व की विभिन्न चट्टानों की आयु ज्ञात की गई है और यह पता चलता है कि विश्व में सर्वाधिक आयु फिनलेंड देश में स्थित कोला नामक चट्टान की है जो १ अरब ८५ करोड़ वर्ष है। दक्षिण डाकोटा की काली पहाड़ियों की आयु १ अरब ५६ करोड़ वर्ष है। इसी प्रकार नारवे की चट्टानों की आयु १ अरब ५ करोड़ वर्ष है। चट्टानों की इस आयु से हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि पृथ्वी के शीतली-भवन की यह क्रिया लगभग दो अरब वर्ष पहले प्रारम्भ हुई होगी। सीस परिमाण विधि आजकल सर्वाधिक विश्वसनीय और प्रमाणिक मानी जाती है।

[१. स] चट्टानों की मोटाई या ऊँचाई—

चट्टानों की ऊँचाई या मोटाई नापने से भी उनकी आयु का पता लग सकता है। पृथ्वी के ठोस होते रहने के कारण प्रतिवर्ष चट्टानों की ठोस तह कुछ बढ़ती जाती है। इस ठोस तह के जमने का औसत संकलित कर लिया गया है जिसके अनुसार चट्टान की आयु निर्धारित करना सरल ही है। यह अनुमान लगाया गया है कि ४००० वर्ष में लगभग १ फुट ठोस तह जमती है। विश्व की सर्वाधिक ऊँची चट्टानें १०० मील मोटी हैं। इससे सहज ही यह कहा जा सकता है कि इन चट्टानों का उद्भव लगभग १००×१७६०×३×४०००=२ अरब ११ करोड़ वर्ष पूर्व हुआ होगा।

उपर्युक्त तीन विधियों से चट्टानों के उद्भव का या पृथ्वी के ठोस रूप में बनने के समय का अनुमान दो अरब वर्ष से अधिक नहीं हो पाता है। अपने ठोस रूप के पहले पृथ्वी पूर्णतया संतप्त और गलित पिंड या जिसके चारों ओर वायु, वाष्प व अन्य गैसों का घेरा भी मंडरा रहा होगा।

[२.] पृथ्वी की उत्पत्ति—

पृथ्वी की आयु का परिज्ञान करते समय हमें पुरातन में पृथ्वी के गलित होने का ज्ञान हुआ, पर यह गलित पिंड अचानक ही आविर्भूत हुआ या

इसके उत्पन्न होने में कुछ कारण या शक्तियों का हाथ है, यह स्वाभाविक जिज्ञासा भी साथ ही साथ उत्पन्न हो गई। इस जिज्ञासा की तृप्ति में वैज्ञानिकों ने परिश्रम किया है और कर रहे हैं, पर पूर्णतया किसी उचित समाधान पर अभी वे नहीं आ सके हैं क्योंकि वर्तमान में प्रस्तुत समाधानों की समीक्षा के बाद भी जैसा आप आगे दिये गये विवरण में देखेंगे, यह प्रश्न सामने रहता ही है कि अमुक स्थिति का उद्भव कैसे हुआ। इस स्थिति के बावजूद भी हमें वर्तमान वैज्ञानिकों के परिश्रम से प्राप्त परिणामों की जानकारी प्राप्त करते रहना चाहिये, इसलिये अबतक जो परिणाम प्रकट हैं, उनका सार यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

सामान्यतः पृथ्वी की उत्पत्ति के विषय में पहले दो मत प्रचलित थे, जो सर्वांश सत्य नहीं थे, अतएव अब एक तीसरा मत भी प्रस्तुत किया गया है, जो १९४३ में जर्मनी के प्रसिद्ध भौतिक विज्ञान-वेत्ता श्री वीजेकर ने प्रस्थापित किया था।

[२. अ] संघर्ष सिद्धान्त—

यह मत श्री बफून ने १७४९ में प्रस्तुत किया था। इसके अनुसार विश्व में सबसे पहले धधकता हुआ सूर्यपिंड मात्र था, किसी समय उसके अन्तर्नक्षत्रीय पिंड से एक भीमकाय पुच्छलतारा निकला और अपनी पूँछ से सूर्य के पिंड की सतह को रगड़ लगाता हुआ पुनः विलीन हो गया। इस रगड़ ने सूर्यपिंड से बहुत से अल्पपिंड-कण जो आज विभिन्न नक्षत्रों के रूप में विद्यमान हैं, बिखेर दिये जो इसी संघर्षजन्य बल के कारण आकाश में आगे की ओर चक्कर लगाते हुए निकल गये।

[२. ब] स्वयं-उद्भव सिद्धान्त —

यह मत जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक श्री इमेनुअल कांट ने प्रस्तुत किया था। यह मत एक सर्व-साधारण घटना का परिवर्धित रूप ही कहना चाहिये। यह तो सभी लोग जानते हैं कि जब कोई वृत्ताकार वस्तु परिभ्रमित की जाती है, तो घूमते समय किसी दिशा में उसके आकारों में संकुचन होता है और परिभ्रमण-गति की वृद्धि के साथ ही किन्हीं-किन्हीं दिशाओं में उसके आकार में विस्तार भी देखा जाता है। जब गति बहुत बढ़ जाती है तो संभव है कि केन्द्रापसारक-बल के आधिक्य के कारण वृत्ताकार वस्तु का आकार बढ़ते-बढ़ते विशृंखलित हो जावे, और उसके टुकड़े दूर-दूर छिटककर जा पड़ें। ठीक यही हाल सूर्य-पिंड का भी हुआ है, जो अपनी धुरी पर चक्र लगाता रहा है। सूर्य-पिंड के निरंतर शीतलीभवन से कुछ तो उससे आकार में संकुचन होता रहा होगा, जिससे उसकी गति बढ़ जाती होगी। जब यह गति एक ऐसी संक्रामक अवस्था को पार कर गई, तो उससे बहुत से गोल पिंड विशृंखलित होकर विलग हो गये और कालांतर में विभिन्न-नक्षत्रों के रूप में गिने जाने लगे। इस प्रकार इस मत में संघर्ष से नहीं, अपितु सूर्य की स्वयं की परिभ्रमण क्रिया की तीव्रता ने ही विभिन्न नक्षत्रों का उद्भव किया जिनमें पृथ्वी भी एक है।

इन सिद्धान्तों का जब परीक्षण किया गया, तो ज्ञात हुआ कि संघर्ष या प्राकृतिक गति की तीव्रता से जो पिंड बिखरे हैं, और उनका कुल जितना भार है, वे, वर्तमान में इतने घने रूप में, व्याप्त नहीं हो सकते थे। सैद्धान्तिक दृष्टि से तो आकर्षण बल के कम होने के कारण विकिरित पिंडवृत्त नक्षत्रों में प्रादुर्भूत ही नहीं हो सकते थे।

अतएव यह माना जाने लगा कि इन पिंडों के घने रूप में होने का कारण यह है कि सूर्य के चारों ओर एक गैसीय वातावरण व्याप्त है, जिसका भार सूर्य से भी लगभग शतगुणित अधिक है। इस वातावरण के मानने पर भी एक और विरोध उत्पन्न होता है कि जब यह वातावरण धीरे धीरे शीतलीभूत होने के कारण संकुचित हो रहा होगा, तब सूर्य में मिल गया होगा, और तब सूर्य की चक्रगति, संकोचन के कारण, और भी अधिक होना चाहिये। इन आपत्तियों के कारण ये दोनों ही मत प्रमाणिक नहीं बन सके।

इन दोनों मतों के बीच एक मध्यम मार्ग प्रस्तुत किया। श्री मोल्टन और चैम्बरलेन ने, जिसका आशय यह है कि पृथ्वी या नक्षत्रों की उत्पत्ति हुई तो संघर्ष से ही है, पर वह संघर्ष सूर्य और पुच्छलतारे के बीच नहीं, अपितु सूर्य के एक दूसरे सूर्य के समान पिंड की टक्कर में ही हुआ है। परन्तु इस मत के अनुसार भी यह शंका तो होती ही है कि विकिरित पिंड-कणों का आकार तो विभिन्न होता है, पर सूर्य के चारों ओर व्याप्त परिभ्रमणशील वातावरण में पड़ जाने के कारण वे वृत्ताकार धारण कर लेते हैं। यह गैसीय वातावरण उस पुरातन काल में ही था, अब तो वह लुप्तप्राय है।

[२. स] कणिका-सिद्धान्त—

विश्व की उत्पत्ति का वर्तमान सिद्धान्त जर्मनी के प्रमुख भौतिकविज्ञान-शास्त्री श्री वीजेकर ने सन् १९४३ में प्रस्तुत किया था, जिसके अनुसार उन्होंने श्री काँट के मत की ही स्थापना की है। श्री वीजेकर का कथन है कि अब तक सूर्य और पृथ्वी की रासायनिक रचना एक-सी ही मानी जाती थी, और उनकी रचना में ओषजन, सिलिकन, लौह और कुछ भारी तत्त्वों के साथ उदजन और हीलियम गैसों की भी थोड़ी-बहुत मात्रायें मानी जाती रही हैं। परन्तु डेनमार्क के प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् श्री स्ट्रामजन ने बताया कि उपर्युक्त मान्यता सत्य नहीं है और सूर्य की रचना पृथ्वी से भिन्न है। उनका मत है कि सूर्य की रचना में कम से कम ३५ प्रतिशत उदजन होना चाहिये। अन्य वैज्ञानिकों के अनुसार उदजन के साथ हीलियम भी प्रचुर मात्रा में होनी चाहिये। आधुनिक प्रयोगों के अनुसार तो अब यह स्पष्ट ज्ञात हो चुका है कि पृथ्वी व सूर्य की रसायनिक रचना में मात्र १ प्रतिशत साम्य पाया जाता है। रचना की इस विभिन्नता के साथ यह भी पता चला है कि नक्षत्रों के बीच जो रिक्त स्थान पाया जाता है, वह शून्य नहीं, अपितु गैस और धूलि के सूक्ष्म कणों का मिश्रण है। इस मिश्रण की रचना सूर्य की रासायनिक रचना के समान है। इन कणों का ज्ञान हमें तब होता है जब हम नक्षत्रों द्वारा उद्भूत प्रकाश-किरणों के वर्ण-चित्रपट का अवलोकन करते हैं। इस वर्णचित्र पर से यह पता चलता है इन नक्षत्रों से निःसृत प्रकाश-किरणें मध्यवर्ती स्थान में आंशिक रूप से शोषित हो गई हैं, और ये शोषक हैं वे अतिसूक्ष्म कण, जिनका उल्लेख ऊपर आया है।

श्री वीजेकर के अनुसार सूर्य के चारों ओर जो गैसीय वातावरण व्याप्त है, वह भी उपर्युक्त प्रकार का मिश्रण ही है। इसी मिश्रण का कुछ भाग पृथ्वी व अन्य नक्षत्रों के रूप में परिणत हो गया है। इस मिश्रण का अवशिष्ट गैसीय भाग, जिसमें उदजन व हीलियम प्रमुख हैं या तो सूर्यपिंड में संयुक्त हो गया है या अन्य नक्षत्रीय स्थानों में विलीन हो गया है। अतएव श्री वीजेकर के मतानुसार विश्व की उत्पत्ति का विवरण निम्नरूप में प्रस्तुत किया जाता है।

विश्व में सर्वप्रथम उपर्युक्त मिश्रण ही व्याप्त था। इस मिश्रण का कुछ भाग ठंडा होकर सूर्य के चारों ओर व्याप्त रहा। इस गैसीय माध्यम में निरंतर चलनशील सूक्ष्म-कण परस्पर में संघर्ष करते रहे जिसके फलस्वरूप छोटे-छोटे कण परस्पर मिलकर बड़े होते गये और कालांतर में भिन्न-भिन्न नक्षत्रों के रूप में बदलते गये। अपनी गणनाओं के आधार पर श्री वीजेकर ने यह बताया कि सूक्ष्मकणों के संघर्षरत होकर विभिन्न नक्षत्रों के रूप में परिणत होने में लगभग एक अरब वर्ष लगे होंगे। सूक्ष्मकणों के संघर्ष से बनने वाले बड़े कणों के भी परस्पर संघर्ष करते रहने से बहुत ताप उत्पन्न हुआ होगा, फलस्वरूप जब अंतर्नक्षत्रीय कण परस्पर मिलकर बड़े हो गये, तो वे विकिरण-क्रिया द्वारा बाहर की ओर से ठंडे होने लगे। यह धीरे-धीरे शीतलीभवन की क्रिया अन्तः सतहों में प्रारम्भ होती रही और अब नक्षत्रों की बाहरी ठोस तहें बढ़ने लगीं और विभिन्न नक्षत्र पृथक्-पृथक् रूप में विश्व में अवतरित हुए।

यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक है कि उपरोक्त सूक्ष्म कणों के परस्पर संघर्ष करते रहने के विभिन्न वृहत् रूपों में परिणत होने के बदले ये सूक्ष्म कण एक ही वृहत् पिंड में क्यों नहीं परिणत हुए ? इस प्रश्न का उत्तर देने के पहिले हमें यह देखना चाहिये कि इन कणों के संघर्ष प्रारम्भ होने के समय इनकी गति कैसी रही होगी ? यह तो स्पष्ट है कि सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाने वाले कण अंडाकार मार्ग ही चलते होंगे। इसलिये सूर्य के चारों ओर चलने वाले कणों की संघर्ष-स्थिति की दिशा भी तदनुरूप ही होगी। ऐसे संघर्ष से दो प्रकार की गति हो सकती हैं (१) वे कण, जिनकी गति संघर्ष-करण से भी समान बनी रहे, (२) वे कण, जिनकी गति तीव्र संघर्ष से सामान्य कणों की गति से तीव्रतर हो जावे। यह तो स्पष्ट है कि चक्राकार मार्ग में समान गति वाले कणों की अपेक्षा तीव्रतर गति वाले कण दूसरा मार्ग अपनावेंगे। गति की यह भिन्नता स्वाभाविक है, उसी प्रकार मार्गों की भिन्नता भी स्वाभाविक है। दूसरा मार्ग अपनाने वाले कणपिंड धीरे-धीरे अपना अलग रूप ही धारण कर चक्कर लगावेंगे। इस प्रकार ये अलग वृत्ताकार पिंड ही विभिन्न नक्षत्रों के रूप में आज पृथक-पृथक् विद्यमान हैं।

श्री वीजेकर के इस सिद्धान्त ने सूर्य से विभिन्न ग्रहों की दूरी के विषय में प्रचलित 'टिटु-बोडनियम' की भी उचित व्याख्या करदी जिसके अनुसार प्रत्येक ग्रह एक निश्चित दूरी पर स्थित होकर ही सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाता है। सामान्य ज्यामिति नियमों के अनुसार प्रत्येक अग्रिम ग्रह का अर्धव्यास पूर्ववर्ती ग्रह के दुगुना पाया जाता है। यही नियम उपग्रहों पर भी लागू होता है। इसलिये हम यह भी अनुमान लगा सकते हैं कि उपग्रहों का उद्भव निर्माण भी ठीक इसी प्रकार हुआ होगा। यह पहले ही बता चुके हैं कि कणों के पिंडों में परिणत हो जाने के बाद बचा हुआ गैसीय-माध्यम अन्तर्नक्षत्रीय स्थलों की ओर प्रवाहित हो गया होगा।

श्री वीजेकर के अनुसार कणों के संघर्ष से ही विश्व की उत्पत्ति हुई है—और यह प्राकृतिक ही था। पूर्व वर्णित संघर्ष सिद्धान्त के अनुसार आकस्मिक नहीं। परन्तु इस मत के अनुसार यदि सभी ग्रह-उपग्रहों का प्रादुर्भाव एक ही विधि से संभावित हुआ माना जावे, तो यह आश्चर्य है कि जीवन केवल पृथ्वी ग्रह में ही संभावित देखा जाता है, । अन्य ग्रहों में तो उसकी सम्भावना भी नहीं की जाती है। इस मत से यह बात तो समाप्त हो ही जाती है कि सूर्य से पृथ्वी का उद्भव हुआ। अतः श्री वीजेकर के अनुसार सूर्य व पृथ्वी की आयु लगभग बराबर ही है।

[३] ताराओं की अजस्र शक्ति का स्रोत और उनकी आयु

हम यह देख चुके हैं कि सूर्यादि ताराओं की रचना में लगभग ५० प्रतिशत उदजन व अवशिष्ट अधिकांश हीलियम के साथ थोड़े बहुत अन्य तत्व पाये जाते हैं। सभी तारापिंडों का भार भिन्न-भिन्न है, उनके केन्द्रीय तापक्रम भिन्न हैं। इसी भिन्नता के कारण उनके भिन्न रूपों और तीव्रताओं में शक्ति उद्गीरित होती रहती है। इस शक्ति का या तारा से विकिरित प्रकाश का स्रोत है—उनके केन्द्रीय तापक्रम द्वारा उद्भावित 'कार्बन-चक्र' जिसमें कार्बन व नत्रजन के परमाणु उदजन केन्द्रपिंडों के संघर्ष करते करते विभिन्न रूपों में बदल कर, प्रखर ताप और प्रकाश उद्गीर्ण करते हैं और पुनः पूर्व रूप में ही आ जाते हैं। इस 'कार्बन-चक्र' की आबद्ध-वृत्त-प्रणाली को संक्षेप में इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है:—

$$C^{12} + P \rightarrow N^{13} + \gamma\text{-ray} \rightarrow C^{13} + \beta + P \rightarrow N^{14}\gamma\text{-ray} + P \rightarrow O^{15} \rightarrow N^{15} + \beta + P \rightarrow C^{12} + He^{4}$$

[यहाँ उदजन के केन्द्रपिंड को P से दिखाया गया है]
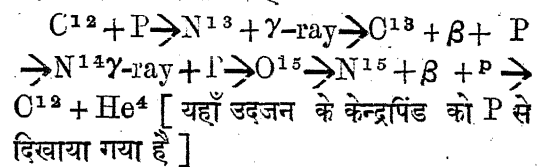
इस प्रक्रिया में उदजन पिंड हीलियम में परिवर्तित होकर अपारशक्ति उद्भूत करता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यह 'कारबन-चक्र' बाहरी व भीतरी तापक्रमों की अधिकता पर भी अपनी गति-

शीलता के लिये प्रभावित होता रहता है। इस H-He पतिवर्तन प्रक्रिया की गति के वेग का अनुमान कर लिया गया है, इस वेग के आधार पर किसी भी तारा की पूर्णायु का ज्ञान किया जा सकता है। उदाहरणार्थ सूर्य को ही ले लीजिये। यह बताया जा चुका है कि सूर्य की रचना में ५०% उदजन है, सूर्य का भार २×१०२७ टन है [हमारी महासंख तक की संख्या १०१९ तक होती है: उससे भी १० करोड़ गुणित यह संख्या है]। यह भी गणना कर ली गई है कि सूर्य के केन्द्र-और बाहरी नलों के दो करोड़ व छः हजार शतांश तापक्रमों पर एक सेकन्ड में ६६ करोड़ टन उदजन हीलियम में परिणत होता है। अतएव यदि सूर्य के आधे भार को उदजन मान लिया जाय, तो सूर्य की आयु

$$\frac{२ \times १०^{२७}}{२ \times ६६ \times १०^{७}} = \frac{१५ \times १०^{१८}}{} \text{ सेकंड} =$$

$$\frac{१५ \times १०^{१८}}{६० \times ६० \times २४ \times ३६५} = ५० \text{ अरब}$$

वर्ष होगी, क्योंकि इतने समय में सूर्यपिंड का सारा उदजन निष्क्रिय हीलियम में बदल सकेगा। अब आप सूर्य की आयु का अनुमान लगाइये, जब कि वह अब तक २-३ अरब वर्ष ही सृष्टि में पूर्ण कर सका है: सूर्य की आयु के समक्ष, सूर्य की शक्ति के समक्ष शतवर्षायु और कुछ-सहस्र अश्वसामर्थ्य प्राप्त करने वाले विकासशील मानव की क्या गणना ? जिन ताराओं का पिंड सूर्य से अधिक है वे और भी अधिक तेजी से उदजन को हीलियम में परिवर्तित करते हैं: अतएव उनकी आयु अपेक्षाकृत कम होती है। उदाहरणार्थ सिरियस नामक तारा को लीजिये, जो सूर्य के २·३ गुना भारी और ३० गुना प्रकाशवान् है, पर उसकी आयु केवल तीन अरब होगी: इसी प्रकार सूर्य से १७ गुने भारी तारा की आयु कुल १० करोड़ वर्ष होगी।

उपर्युक्त निरूपण से यह भली-भाँति विदित हो गया होगा कि 'कार्बन-चक्र' की शृंखलाबद्ध प्रक्रिया ही तारा की अपार शक्ति का स्रोत है। अब यह शंका स्वाभाविक ही है कि जब ताराओं में विद्यमान समस्त उदजन हीलियम में परिवर्तित होकर समाप्त हो जाता है, तो तारा की क्या अवस्था होती होगी ? यह तो स्पष्ट है कि शक्ति-स्रोत समाप्त होने से ग्रहों का जीवन समाप्त हो जाता होगा, अतएव वे प्रसारित न होकर संकुचित होने लगते हैं। उनका घनत्व बढ़ने लगता है। अन्तिम समय में इन तारा की ठीक वैसी अवस्था होती है जैसे तेल कम होने पर अन्त में टिमटिमाते हुए दीपक की लौ की होती है। अपनी अन्तिम तेज चमक के साथ लौ के समाप्त होने के समान ही एक अन्तिम विस्फोट के साथ तारा मिट जाते हैं। इनके मिटने की क्रिया में केन्द्रवर्ती उच्च तापक्रमों पर विद्यमान 'इलेक्ट्रनों' से द्वारा उद्गीरित 'न्यूट्रिनों' कणों का विकिरण होता है, जो केन्द्रीय तापशक्ति को समाप्त कर ग्रहों को शीघ्र ठंडा होने व उनके समाप्त होने में सहायक होते हैं।

[४] विश्व का वर्तमान वैज्ञानिक रूप—

अगणित ताराओं या नक्षत्रों व आकाशगङ्गाओं को अपने जाल में पिरोये हुए यह विश्व कब से प्रारम्भ हुआ ? क्या यह अनादि और अनंत है ? वर्तमान अनुसंधानों के आधार पर यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि एक समय था, जब विश्व का उद्भव प्रारम्भ हुआ था। इसमें धीरे-धीरे विकास होता गया और आज वह वर्तमान अवस्था में है। साथ ही यह भी एक प्रकट तथ्य है कि विश्व निरन्तर पर धीरे-धीरे बदल रहा है। अरबों वर्ष पूर्व सूर्य, पृथ्वी, चन्द्रमा आदि उद्भूत हुए थे। धीरे-धीरे विभिन्न ग्रहादि का अस्तित्व होता रहा है। पूर्व वर्णित विधियों और पृथ्वी-पृष्ठ पर विद्यमान कुछ भारी तत्वों के परिमाण के आधार पर भी विश्व के अवयवों के कई-अरब वर्ष उद्भूत होने की गणना प्राप्त होती है।

यह तो हमें ज्ञात ही है कि पृथ्वी में कुछ तेजोद्गिर व भारी तत्व पाये जाते हैं, जो सदा शक्तिमय किरण व कणों का उद्गिरण कर अब अन्य तत्वों

में परिवर्धित होते रहते हैं। पृथ्वी पर यदि इन्हीं तत्वों के अस्तित्व पर विचार किया जावे, तो यह सहज ही कल्पनीय है कि या तो तत्व (भारी) ही सृष्टि के प्रारम्भ में हलके केन्द्रपिंड बने होंगे, और उनके पारस्परिक संयोग से ये भारी परमाणु निरंतर बनकर विखंडित होते रहते हैं। इन दोनों बातों में से दूसरी बात की कल्पना वैज्ञानिक के लिये असंभव सी प्रतीत होती है। क्योंकि हलके केन्द्रपिंडों को दीर्घ केन्द्रपिंडों में परिणत करने के लिये जिस अरब-खरब शतांश अत्युच्च तापक्रम की आवश्यकता है, वह वर्तमान सर्वाधिक संतप्त केन्द्रपिंड वाले किसी भी ग्रह में नहीं पाया जाता है। इनके मध्यभाग का तापक्रम करोड़ों शतांश से अधिक नहीं हो पाता है। अतएव हमें यह स्वीकार करना चाहिये कि सृष्टि के प्रारम्भ में ही भारी तत्व प्रकृत्या निर्मित किये गये थे। वर्तमान में यह देखा जाता है कि पूरे नियम तत्र के समस्थानिकों में U_{238} की अपेक्षा U_{235} १४० गुना कम पाया जाता है। अनुमानों के अनुसार U_{238} का उद्भव ५०० करोड़ वर्ष पूर्व हुआ होगा। और उसके १४० वें भाग के कम होने में लगभग ३½ अरब वर्ष लगे होंगे। रासायनिक तत्वों के निर्माण के आधार पर विश्व का यह उद्भव काल पूर्वोक्त विधियों से कहीं अधिक विश्वसनीय माना जा सकता है।

[५. अ] प्रसरणशील विश्व

विश्व की स्थिति के विषय में एक तथ्य और संग्रहणीय हो गया है: वह है दूरवर्ती ग्रह-नक्षत्रादि से निःसृत प्रकाश-किरणों का वर्णचित्रपट। यह देखा गया है कि प्रत्येक श्वेतकिरण सात वर्णों [Vybgoor] का संयुक्त रूप है। दूरवर्ती ग्रहों से निकलने वाली प्रकाश-किरणों का वर्णचित्र, यंत्र में लाल (R) रंग की ओर अधिक झुका हुआ रहता है: एवं समीपवर्ती ग्रहों से निकलनेवाली किरणों का वर्णचित्र कासनी (V) रंग की ओर। श्री डॉप्लर ने तो यह भी उद्घाटित किया है कि लाल रंग की ओर पाया जाने वाला झुकाव ग्रहों की दूरी के अनुपात में होता है। श्री हबल ने अपने यंत्रों द्वारा यह देखा कि सभी ग्रहों से निकलने वाली प्रकाश-किरणों का वर्ण-चित्र क्रमशः लालरंग की ओर ही झुकता जा रहा है। इसका आशय यह है कि सभी ग्रह दूर-दूर हटते जा रहे हैं। यह तथ्य फुटबाल के ब्लेडर (Bladder) पर दो-चार स्याही के चिन्ह लगाने और फिर ब्लेडर में हवा भरने पर होनेवाले प्रसरण के कारण उन चिन्हों की पारस्परिक बढ़ती हुई दूरी को देखकर अच्छी तरह समझ में आ सकता है। इससे यह तो ज्ञात हो ही सकता है कि जितना ही प्रसरण अधिक होता जायगा, चिन्हों की (या ग्रह-नक्षत्रों की) दूरी उतनी ही अधिक होती जावेगी। इस निरंतर वृद्धिगत प्रसार के वेग की गणना भी की गई है, और यह अनुमान लगाया गया है कि यह प्रसरण लगभग २०-३० अरब वर्ष पहले प्रारंभ हुआ होगा। इस प्रसार का वेग ३०० किलोमीटर $\left(= \frac{३०० \times १००० \times १००}{२\cdot५४ \times १२ \times ३ \times १७६०} = १८३\cdot३ \right.$ मील) प्रति सेकंड पाया गया है। इस प्रसार के के प्रारंभ होने के पूर्व विश्व में विद्यमान आधुनिक समीप व दूरवर्ती ग्रह-नक्षत्रादि एक प्रकार के संतप्त गैसीय वातावरण में परस्पर में सटे हुए पड़े होंगे इनके भी पूर्व यह संतप्त गैसीय वातावरण बहुत ही तप्त और सघन रहा होगा: और उसी समय भिन्न-गुरुतत्वों का निर्माण भी हुआ होगा। इसके भी पूर्व विश्व के समस्त अवयव एक अतिसंतप्त केन्द्र-द्रव के रूप में रहे होंगे।

[५. ब] प्रसार का आदि और अन्त

उपर्युक्त प्रसार-कल्पना के तथ्यों के आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि विश्व का विस्तार प्रारंभ में सूर्य से अठगुना रहा होगा, जब कि आज उसका अर्धव्यास ५० करोड़ प्रकाश-वर्ष मील है। इसी प्रकार प्रारंभ में विश्वीय अतिसंतप्त द्रव का घनत्व भी $१०^{१४}$ रहा होगा, जब कि वर्तमान में यह घनत्व $१०^{३०}$ है। घनत्व के इस अन्तर से ही हम

विश्व के आयतन के विस्तार की कल्पना कर सकते हैं। इसी प्रकार अवस्था में विश्व का अर्धव्यास लगभग १०⁸ प्रकाश-वर्ष मील रहा होगा। परंतु विश्व इस अतिसंतप्त द्रवावस्था में बहुत दिनों नहीं रहा होगा, और उसमें शीघ्र ही प्रसार प्रारंभ हो गया होगा और प्रसार के समय ही गैसीय मिश्रण गोलों में विघटित होकर विभिन्न आकाशीय पार्थिव पिंडों के, व बाद में आकाशगंगाओं के रूप में परिणत हो गया होगा एवं इसी प्रकार प्रसरित होते होते आज के रूप विश्व हमारे सामने उपस्थित है।

यह प्रसरण क्यों होता है ? क्या यह प्रसार कभी बंद भी होगा, या सदा चलता ही रहेगा ? विश्व की प्रारंभिक द्रवावस्था आकर्षण शक्ति के कारण थी, पर एक बार इस आकर्षण-बल का बंधन हटा कि जड़ता के नियमों [Laws of Inertia] का अनुकरण करता हुआ विश्व प्रसरित होता ही जा रहा है। यह देखा गया है कि यदि किसी पदार्थ या पिंड का वेग ११००० मीटर। सेकंड से अधिक हो जाता है तो वह अनंत आकाश में अनंतकाल तक विचरण ही करता जायगा। उसकी गति को कोई भी भौतिक शक्ति या आकर्षणशक्ति अवरुद्ध नहीं कर सकती है। हम यह बता चुके हैं कि विश्व का प्रसरण वेग ११००० मीटर से अधिक तो क्या, ३००, हजार (या ३ लाख) मीटर प्रति सेकंड हैः फिर विश्व का प्रसार कौन रोक सकता है ? अतएव यह गति अब ऐसी है कि इसके कम होने या रुकने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। विश्व में कोई भी प्राकृतिक या कृत्रिम शक्ति नहीं है, जो इस गति को रोक सके। यदि इस बात की कल्पना भी की जावे, कि विश्व की यह ऊपर की ओर प्रसरित होने की गति किसी समय रुक जावे, तो समस्त विश्व हमारे ऊपर गिर पड़ेगा, और यह पृथ्वी तो पिच ही जावेगीः तो भी ऐसा होने में अरबों वर्ष लगेंगे जैसे इसके प्रसार में लगे हैं।

विश्व की प्रसरणशील अवस्था के पूर्व जो अतिसंतप्त द्रवावस्था थी, वह भी उसके पूर्व विद्यमान किसी अत्यन्त प्रसरणील अवस्था का संकुचित रूप ही रही होगी और यह तो सभी जानते हैं कि यदि फुटबाल के हवा भरे ब्लेडर को दबाकर छोड़ दिया जावे, तो वह पुनः प्रसरित ही होता है। इसी प्रकार विश्व भी उस संकुचित स्थिति से पुनः प्रसरित हुआ है।

पर इस स्थिति के पूर्व विश्व की क्या स्थिति रही होगी ? विज्ञान और दर्शन इस प्रश्न के उत्तर में अब तक कोई बुद्धिगम्य तथ्य नहीं बता सके हैं। हां वैज्ञानिक अवश्य इस प्रश्न के हल की ओर प्रयत्नशील हैं।*

---

*इस विवरण को प्रस्तुत करने में "एक-दो-तीन...अनंत" नामक अंग्रेजी पुस्तिका से पर्याप्त सहायता ली गई है।

भारतीय कृषि अनुसंधान संस्था, नई दिल्ली

[रामव्रत प्रसाद सिन्हा, कृषि-विशारद (इला०), विज्ञानाचार्य (कृषि)]

भारतवर्ष प्राचीनकाल से कृषि-प्रधान देश रहा है। यहाँ के लोगों की जीविका का साधन खेती होने पर भी देश में वैज्ञानिक साधनों की कमी के कारण कभी कभी अकाल पड़ते रहे हैं। इसके लिये कई आयोगें बैठीं, जिसका ध्यान कृषि की उन्नति के तरफ गया। इसी का फल था कि भारतवर्ष में कृषि विभाग की स्थापना की गई। परन्तु कृषि की उन्नति के लिये इससे सम्बन्धित विषयों का विस्तृत अनुसंधान तथा अध्ययन आवश्यक था। इन्हीं दिनों अमेरिका के श्री हेनरी फिप्स ने लार्ड कर्जन को भारत में वैज्ञानिक अनुसंधान के लिये एक बड़ी रकम दान में दी। अतः इस दान की सहायता से सन् १९०५ ई० में पूसा (बिहार) नामक स्थान पर कृषि अनुसंधान संस्था तथा महा विद्यालय (Agricultural Research Institute and College) की स्थापना की गई। इस संस्था में शुरू में निम्नलिखित विभाग स्थापित किये गये थे:—

१. कृषि तथा पशु संवर्द्धन विभाग।
२. रसायन विज्ञान विभाग।
३. आर्थिक वनस्पति विभाग
४. कीट विज्ञान विभाग।
५. फफूँद विज्ञान विभाग।

इन विभागों में क्रमशः इन्हीं विषयों के विशेषज्ञ नियुक्त किये गयेः—

१. साम्राज्यकीय कृषि विशेषज्ञ (Imperial Agriculturist)
२. साम्राज्यकीय कृषि रसायन विशेषज्ञ (Imperial Agricultural Chemist)
३. साम्राज्यकीय आर्थिक वनस्पति विशेषज्ञ (Imperial Economic Botanist)
४. साम्राज्यकीय कीट विज्ञान विशेषज्ञ (Imperial Entomologist)
५. साम्राज्यकीय फफूँद विज्ञान विशेषज्ञ (Imperial Mycologist)

इन सब विभागों का संयोजन एक अध्यक्ष तथा प्रधानाचार्य (Director and Principal) के द्वारा होने लगा। श्री बी० कावेन्ट्री प्रथम अध्यक्ष तथा प्रधानाचार्य नियुक्त किये गये थे।

इस प्रकार भारतवर्ष में कृषि अनुसंधान की साम्राज्यकीय संस्था (Imperial Institute of Agricultural Research) बाद को साम्राज्यकीय कृषि अनुसंधान संस्था तथा भारतीय कृषि अनुसंधान संस्था (Indian Agricultural Research Institute) की स्थापना की गई जो देश में अपने किस्म की पहली वैज्ञानिक संस्था थी।

यह संस्था पूसा (बिहार में) नामक स्थान पर ३० वर्षों तक कार्य करती रही परन्तु बिहार के भयानक भूकंप से इसे यहाँ से दिल्ली ले आया गया।

दिल्ली में—१५ जनवरी, १९३४ में बिहार में भयंकर भूकंप आया। इस भूकंप से संस्था की शानदार इमारत टूट गई। इस क्षति पर भारत सरकार ने यह निश्चय किया कि संस्था को उठाकर दिल्ली ले आया जाय और उसके लिये नई इमारत बनाई जाय। इस प्रकार यह संस्था नई दिल्ली रेलवे स्टेशन से लगभग पाँच मील की दूरी पर बनाई गई। यहाँ आम लोगों में यह पूसा इन्स्टीट्यूट (Pusa Institute) के नाम से प्रसिद्ध है।

तब से इस संस्था ने देश की बहुत सेवायें की हैं। अब इसके कार्य और भी विस्तृत हो गये हैं और दिनों दिन होते जा रहे हैं। सन् १९५१ ई० में केन्द्रीय

कृषि महा विद्यालय (Central College of Agriculture) को भी इसी संस्था में मिला दिया गया। यह महाविद्यालय छात्रों को दिल्ली विश्व-विद्यालय की बी० एस-सी० (कृषि) की शिक्षा देता है।

संस्था के पास लगभग एक हजार एकड़ भूमि है। इसमें लगभग आधी भूमि कृषि सम्बन्धी परीक्षण के काम में लाई जाती है। संस्था के प्रयोग शालाओं के अतिरिक्त एक पुस्तकालय भवन, एक गौशाला, अस्पताल, मिडिल स्कूल, आग बुझाने का केन्द्र तथा पुलिस चौकी भी हैं। दो मंजिले दो छात्रा-वास भी हैं। एक छात्रावास संस्था के स्नातकोत्तर छात्रों (Post Graduate students) के लिये तथा दूसरा कृषि महाविद्यालय के छात्रों के लिये हैं। एक और नया छात्रावास स्नातकोत्तर छात्रों के लिये बन रहा है। जब यह तैयार हो जायगा तब अधिक छात्र प्रशिक्षण के लिये, लिये जा सकेंगे। अनुसंधान कर्मियों के लिये तथा दूसरे कर्मचारियों के निवास
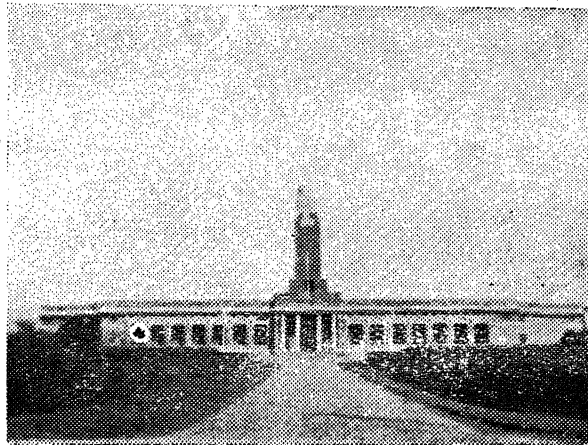
कृषि अनुसंधान परिषद दिल्ली का पुस्तकालय भवन

लिये तथा दूसरे कर्मचारियों के निवास स्थान भी संस्था के क्षेत्र के भीतर ही बने हुए हैं।

संस्था का मुख्य उद्देश्य अनुसंधान करना तथा प्रशिक्षण देना है:—

अनुसंधान—प्रारम्भ में इसका मुख्य कार्य सैद्धा-न्तिक अनुसंधान करना था। इसके साथ-साथ यहाँ बुनियादी किस्म के व्यावहारिक अनुसंधान भी किये जाते हैं। पहले देश में पुरानी किस्म की गेहूँ बोई जाती थी, जो न अधिक उपज देती थी और न बीमारी को ही सहन कर सकती थी। इसी प्रकार पुराने किस्म के गन्ने बोये जाते थे जिससे कम उपज होती थी तथा चीनी भी कम पड़ती थी। परन्तु संस्था के अनुसंधान के फलस्वरूप भारतीय कृषि में काफी परिवर्तन हो चुका है। अब समूचे देश में सुधरे हुए "न्यू पूसा गेहूँ" तथा 'को" नस्ल के गन्ने बोये जाते हैं। इस प्रकार अब भारतीय किसान अपने खेत से काफी उपज लेता है। उसके फसलों में अब उतनी बीमारियाँ नहीं लगतीं, जितनी पहले लगती थीं।

प्रशिक्षण (Training)—संस्था कृषि विभागों के लिये कृषि-स्नातकों को प्रशिक्षित करती है। इसके लिये वही लोग लिये जाते हैं जो कृषि या इससे संबंधित विषय लेकर एम० एस-सी० या कम से कम बी० एस-सी० (कृषि) हों तथा तीन वर्ष का कृषि का व्यवहारिक ज्ञान हो। यहाँ का पाठ्यक्रम दो वर्ष का है, लड़के को अनुसंधान के लिये विषय दे दिये जाते हैं जिस पर वह अनुसंधान कार्य करके निबंध

(Thesis) लिखता है। इसके साथ-साथ प्रत्यक्ष-कर्माभ्यास (Practical Examinations) परीक्षा में भी उत्तीर्ण होना आवश्यक है। उत्तीर्ण होने पर लड़के को 'भारतीय कृषि अनुसंधान संस्था की उपाधि' (Assoc. I. A. R. I.) प्रदान की जाती है। कई विश्व-विद्यालयों ने भी इस उपाधि को एम० एस-सी० (कृषि) के बराबर मान लिया है।

इस समय भारत के विभिन्न राज्यों और कुछ पड़ोसी देशों के लगभग सौ कृषि-स्नातक प्रतिवर्ष यहाँ शिक्षण पाते हैं। प्रतिवर्ष लगभग ५० नये विद्यार्थी लिये जाते हैं। जब नया छात्रावास तैयार हो जायगा, तब अधिक छात्र प्रशिक्षण के लिये, लिये जा सकेंगे। इसके अतिरिक्त छोटे-शिक्षण-क्रम भी बनाये गये हैं। इस शिक्षण क्रम से राज्यों के कृषि विभाग के कर्मचारी तथा कुछ चुने हुए विद्यार्थी लाभ उठाते हैं।

कुछ विश्वविद्यालयों ने अपने स्नातकों को यहाँ अनुसंधान कार्य करने की आज्ञा दे रक्खी है। ये स्नातक यहाँ अनुसंधान कार्य करके निबंध लिखते है, यह निबंध एम० एस-सी०, पी-एच० डी० आदि उपाधि का होता है। संस्था की प्रयोगशाला में अनुसंधान कार्य करने के लिये अध्यक्ष से आज्ञा लेनी पड़ती है।

इस संस्था के अब निम्नलिखित विभाग हैं:—

(१) कृषि विज्ञान विभाग।
(२) वनस्पति विज्ञान विभाग।
(३) मिट्टी तथा कृषि रसायन विज्ञान विभाग।
(४) कीट विज्ञान विभाग।
(५) फफूँद तथा पौध रोग विज्ञान विभाग।
(६) कृषि-यंत्र विज्ञान विभाग।

प्रत्येक विभाग का एक विभागाध्यक्ष (Head of the Division) होता है, जो संस्था के अध्यक्ष के प्रति उत्तरदायी होता है। अध्यक्ष तथा विभागाध्यक्ष स्वयं भी अनुसंधान कार्य करते हैं और अपने सहायक विशेषज्ञों को इस कार्य में अपने आदर्श से प्रेरित करते रहते हैं। इन विभागों के अतिरिक्त अर्थशास्त्र तथा अंक विज्ञान (Statistics) विभाग भी स्थापित किये गये हैं। इन विभागों में तथा कृषि-यंत्र विज्ञान विभाग में सभी सुविधायें उपलब्ध नहीं हैं, इसलिये इन विभागों में प्रशिक्षण के लिये छात्र नहीं लिये जाते हैं।

संस्था के दो स्थायी उपकेन्द्र (Substation) पूसा (बिहार) तथा करनाल (पंजाब) में बने हुए हैं। इसके अतिरिक्त शिमला, पूना (बंबई) तथा इन्दौर उपकेन्द्र भी अस्थायी तौर पर हैं, जहाँ अनुसंधान कार्य जारी है। ईख संवर्द्धन उपकेन्द्र, कोयम्बटूर अब अलग अनुसंधान संस्था बन गयी है। इसी प्रकार और भी कई कार्य जो उपकेन्द्रों में थे, अब अलग संस्था का रूप धारण कर चुके हैं जैसे तम्बाकू, आलू, लाख आदि। इन सब विषयों के लिये अब इस संस्था की तरह ही अलग संस्थायें बन गई हैं।

(१) *कृषि विज्ञान विभाग* (Division of Agronomy)—इस विभाग में कृषि के अर्थशास्त्र का अध्ययन किया जाता है। यहाँ पर विभिन्न प्रकार के खादों को खेतों में डालकर परखा जाता है, उपजाऊपन बढ़ाने के लिये परीक्षण किये जाते हैं। फसलों को बारी-बारी से बोकर खेत के लिये उनकी उपयुक्तता जाँची जाती है। मिश्रित खेती (Mixed cropping) संबंधी परीक्षण किये जाते हैं। जितने भी नये किस्म के बीज पैदा किये जाते हैं, उनकी परीक्षा खेतों में बोकर की जाती है। फार्म का प्रबंध तथा पशु संबर्द्धन संबंधी कार्य किये जाते हैं। फसलों पर सिंचाई संबंधी परीक्षण किये जाते हैं।

गौशाला—इस विभाग का कार्य पशुपालन और उनका संवर्द्धन शुरू से रहा। इसी के अनुसंधान का फल है कि आज गौशाला की गायों से चार-चार बार दूध निकाला जाता है। उधर देशी गायें बहुत कम दूध देती हैं। यहाँ की गायें दूध देने में काफी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी हैं। यहाँ शाहीवाल नस्ल की गायें हैं। इसी विभाग के करनाल उपकेन्द्र की गौशाला में थारपरकर नस्ल की गायें

थीं, यह नस्ल भी अधिक दूध देने वाली होती हैं। इन दोनों गौशालाओं को भारत सरकार ने करनाल में बृहत्तर गौशाला बनाने के उद्देश्य से ले लिये हैं। इस प्रकार नई दिल्ली की गौशाला में थोड़ी सी शाहीवाल (Sahiwal) नस्ल की गायें रह रही हैं जो कि अनुसंधान तथा परीक्षण के उद्देश्य से हैं।

जानवरों को पर्याप्त पुष्टिकारक घास खिलाने से अधिक कार्य लिया जा सकता है। इसके लिये विदेशी तथा देशी घासों पर अनुसंधान करना आवश्यक है। इन अनुसंधानों से कई प्रकार की देशी तथा विदेशी घास भारतीय जानवरों के लिये लाभदायक सिद्ध हो सकती हैं। इसी उद्देश्य से इस विभाग में यह कार्य चल रहा है।

विस्तार कार्य के अन्दर किसानों को सुधरे हुए बीज (Improved Seeds), खाद तथा अन्य प्रकार की कृषि सम्बन्धी सहायतायें दी जाती हैं।

कृषि-अनुसंधान उपकेन्द्र, करनाल (Agricultural Research Sub-station, Karnal)—यह उपकेन्द्र स्थायी है। यहाँ पर भी कृषि सम्बन्धी परीक्षण किये जाते हैं। जितने भी नये किस्म के फसलों के बीज निकाले जाते हैं, उनकी परीक्षा इस केन्द्र में की जाती है। इस परीक्षण से यह पता चल जाता है कि यह फसल इस इलाके में उपज सकती है या नहीं। यहाँ जो गौशाला थी, उसमें थारपरकर नस्ल की गायें थीं। थारपरकर नस्ल (Tharparkar) के बैल हल्के काम के लिये उपयोगी होते हैं। हाँ, गायें अच्छी दूध देती हैं। इस गौशाला को वृहत्तर गौशाला में मिला दिया गया है तथा काफी जमीन भी उसी गौशाला को दे दिया गया है।

इस विभाग में विद्यार्थियों को इन्हीं विषयों में से कोई एक विषय अनुसंधान के लिये दिया जाता है, जिस पर वह अनुसंधान कार्य करके निबन्ध लिखता है।

(२) *वनस्पति विज्ञान विभाग* (Division of Botany)—यहाँ पर वनस्पति उत्पत्ति तथा जनन विज्ञान (Plant breeding and Genetics), कौशिकी विज्ञान (Cytology) कौशिकी-जनन विज्ञान, वनस्पति शरीर-क्रिया विज्ञान (Plant physiology) तथा वनस्पति विज्ञान से सम्बन्धित अन्य विषयों पर अनुसंधान तथा अध्ययन किये जाते हैं।

देश में अधिक अन्नोत्पादन के लिये यह परमावश्यक है कि अच्छी नस्ल के बीजों का उपयोग किया जाय। और अच्छी नस्ल के बीजों का पता लगाने और उसमें सुधार लाने के लिये यह जरूरी था कि देश के विभिन्न भागों में पैदा होने वाले विभिन्न फसलों की विभिन्न नस्लों का पता लगाया जाये। यह कार्य इस विभाग में शुरू किया गया था जो कि अभी तक चल रहा है।

प्रारम्भ में भारतीय गेहूँ घटिया किस्म की समझी जाती थी। अतः इस ओर काफी ध्यान दिया गया। आरम्भ में इस बात का प्रयत्न किया गया कि छँटाई और नस्लों के संस्करण से ऐसे बीज तैयार किये जायें जो अधिक उपज देने के साथ-साथ अच्छे गुणयुक्त हों। श्री ए० हौवार्ड (Mr. A. Howard) ने यह कार्य आरम्भ किया। उन्होंने गेहूँ की कई उन्नत किस्में निकालीं जो आई॰पी० गेहूँ कहलाती थीं। इन गेहुँओं में आई-पी० अब न्यू पूसा ४, १२ तथा ५२ बहुत प्रसिद्ध हुई। न्यू पूसा-४ को तो पिसाई, अच्छी चपाती आदि गुणों के कारण विश्व प्रदर्शनी में प्रथम इनाम मिला। फिर क्या था, ये गेहूँ अपने गुणों के कारण लाखों एकड़ में बोये जाने लगे।

गेहूँ के नये सुधरे हुए किस्मों ने अधिक उपज तथा अच्छे गुणों की समस्या तो हल कर दी, परन्तु अब ऐसे गेहुँओं की आवश्यकता थी जिनमें ये दोनों गुण होने के साथ-साथ सूखा सहने की शक्ति भी हो और ऐसे किस्म की भी आवश्यकता थी जिसमें रतुया रोग सहने की शक्ति हो। इस कार्य को डा० बी० पी० पाल (पी-एच० डी० (कैन्टब), एफ० एल० एस०, एफ० एन० आई०, एफ० बी० एस०) जो कि विख्यात गेहूँ-विशेषज्ञ हैं, कर रहे हैं। इन्होंने कई नई किस्में निकाली हैं जैसे न्यू पूसा ७१०,

७१८, ७६१, ७७० तथा ७७५ आदि। इनमें से कुछ किस्में अच्छे गुण तथा अच्छी उपज के साथ-साथ रतुया निरोधक भी हैं।

मकई या मक्का—मक्का देश की प्रमुख फसल है। इसके उन्नतिशील बीज पैदा करने के तरफ भी ध्यान दिया जा रहा है। परीक्षण में वर्णसंकर Hybrid) नौर्थकैरोलिना-२७ ने तो ६१ मन फी एकड़ के हिसाब से उपज दी है जब कि एक प्रमुख भारतीय नस्ल कानपूर टी-४१ ने ४५½ मन एकड़ उपज दी। इस प्रकार मक्का में भी काफी सुधार होने की आशा है। इसके लिये प्रयोग चल रहे हैं।

आलू—आलू देश की महत्वपूर्ण तरकारी या सब्जी है। भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद (Indian Council of Agricultural Research) की सहायता से शिमला में आलू वर्द्धन केन्द्र खोला गया और उसमें बहुत कुछ सुधार हुए। इसकी विशेष महत्ता को देखते हुए भारत सरकार ने इसके लिये अलग केन्द्रीय आलू अनुसंधान संस्था (Central Potato Research Institute) की पटना (बिहार) में स्थापना की है।

गन्ना—चीनी एक प्रमुख आहार है। इसके लिये काफी अनुसंधान करने की आवश्यकता थी। इसके लिये कोयम्बटूर में ईख उत्पत्ति केन्द्र (Sugar cane Breeding Station) की स्थापना की गई। इस विभाग ने अनेकों किस्म के सुधरे हुए गन्ने का आविष्कार किया। इन गन्नों को "को" गन्ना कहते हैं, जैसे "को २१३," "को ४२१" आदि। अब समूचे देश में इन्हीं सुधरे हुए किस्मों की खेती होती है। इस विषय की महत्ता को देखते हुए भारत सरकार ने इसे इस संस्था से अलग कर एक स्वतंत्र संस्था का रूप दे दिया है।

इसी प्रकार अलसी, अरहर (Cajanus cajan), तिल (Sesamum), टमाटर, तम्बाकू आदि पर अनुसंधान कार्य चल रहे हैं। इन अनुसंधानों के फलस्वरूप बहुत से सुधरे हुए किस्म निकाले जा चुके हैं जो अच्छी उपज देते हैं तथा गुणयुक्त हैं।

वनस्पति विज्ञान उपकेन्द्र (Botanical Sub-Station, Pusa) - यह उपकेन्द्र स्थायी है। यहाँ पर वनस्पति विभाग के अनुसंधान कार्य चल रहे हैं। यहाँ पर रतुया निरोधक गेहूँ योजना (Wheat Rust-Control Scheme) भी चल रही है।

इस विभाग के विद्यार्थी इन्हीं विषयों में से किसी एक विषय पर अनुसंधान कार्य करके निबंध लिखते हैं।

(३) *मिट्टी तथा कृषि-रसायन विभाग* (Division of Soil Science and Agricultural Chemistry)—देश में कृषि की उन्नति के लिये यह आवश्यक है कि देश के विभिन्न भागों की मिट्टी का रासायनिक अध्ययन किया जाय। भूमि की रासायनिक बनावट मालूम करने के पश्चात ही यह निश्चय किया जा सकता है कि अमुक स्थान में अमुक फसल हो सकती है या नहीं।

इस विभाग में मिट्टी के विभिन्न तत्वों का अध्ययन किया जाता है। खादों में उचित तत्वों का पता लगाने के लिये उसका रासायनिक अध्ययन किया जाता है। भूमि में जो जीवाणु (Bacteria) होते हैं उनका अध्ययन किया जाता है। इस विभाग में देश के विभिन्न हिस्सों की मिट्टी की जाँच-पड़ताल की जाती है और उनका नक्शा तैयार किया जा रहा है।

इस विभाग में खेतों में उपजने वाले अन्नों तथा अन्य खाद्यों का रासायनिक विश्लेषण तथा अध्ययन किया जाता है। यह विभाग कीटनाशकों, फफूँद-नाशकों तथा पौधे की बीमारियों से संबंधित रसायन की ओर भी ध्यान देता है।

(४) *कीट विज्ञान विभाग* (Division of Entomology)—फसलों को खेतों में विभिन्न प्रकार के कीड़े हानि पहुँचाते हैं। इन कीड़ों में टिड्डी सबसे भयानक है। यही नहीं, भंडारों में हानि पहुँचाने वाले कीड़े भी बहुत अधिक हैं। इस विभाग में खेती को हानि पहुँचाने वाले विभिन्न प्रकार के कीड़ों का अध्ययन किया जाता है। उनकी आदतों और रहन-सहन

के ढंगों का अध्ययन किया जाता है और फिर उस ज्ञान के आधार पर उनके विनाश की विधियाँ निकाली जाती हैं। कुछ पराजीवी कीड़े भी होते हैं, जो दूसरे हानिकारक कीड़ों को अपना शिकार बनाते हैं। इस विभाग में इन पराजीवी कीड़ों Parasites) को पाला जाता है, उनकी तादाद बढ़ाई जाती है और जहाँ इसकी जरूरत होती है, भेजी जाती है। शुरू में मधुमक्खी पालन (Apiculture), रेशम के कीड़े का उद्योग (Sericulture) तथा लाख (Lac) का कार्य भी होता था, परन्तु इसके लिये दिल्ली उपयुक्त स्थान नहीं था। अब इन विषयों के लिये अलग संस्थायें हैं। मधुमक्खी का कार्य यहाँ फिर से शुरू किया जा रहा है।

इस विभाग का कीट-संग्रह भी बहुत महत्वपूर्ण है। यहाँ भाँति-भाँति के कीड़े सुरक्षित रक्खे हुए हैं और उसकी बराबर देखभाल की जाती है।

(५) फफूँद *तथा पौध रोग विज्ञान विभाग* (Division of Mycology and Plant pathology)—फसलों के रोग कई प्रकार से लगते हैं जिसमें फफूँदी, कीटाणु तथा विषाणु रोग प्रमुख हैं। देश में गन्ने का लाल रोग (Red Rot of Sugarcane), गेहूँ, जौ, ज्वार का कडुवा रोग, आलू को झुलसाने वाली आदि बीमारियाँ प्रसिद्ध हैं, इनसे हर साल लाखों रुपये की फसलों का नुकसान होता है। इन समस्याओं का अध्ययन तथा अनुसंधान इसी विभाग में होता है। गेरुया (Rust) रोग की रोकथाम के कार्य इसी विभाग में किये जा रहे हैं।

यह विभाग एक ओर फफूँदों और जीवाणुवों के जीवन के संबंध में अध्ययन करता है वहाँ दूसरी ओर नये पौधे तैयार करने में सहायता देता है जिनमें विभिन्न बीमारियों से बचे रहने की शक्ति होती है। इस विभाग के सहयोग से रतुआ-निरोधक गेहूँ योजना पर अनुसंधान कार्य चल रहा है।

कृषि-स्नातकों को इन्हीं में से एक विषय दिया जाता है जिस पर वे अनुसंधान कार्य करके निबंध लिखते हैं।

(६) *कृषि-यंत्र विज्ञान विभाग* (Division of Agricultural-Engineering)—भारतीय कृषि में औजारों का महत्वपूर्ण स्थान है। आज खेती में ज्यादा उन्नति न होने का कारण यह भी है कि हमारे देश में सुधरे हुए कृषि औजारों तथा यंत्रों का उचित प्रयोग नहीं किया जाता है। यह विभाग इन्हीं समस्याओं को सुलझाने के लिये स्थापित किया गया है। इस विभाग का मुख्य उद्देश्य भारतीय परिस्थिति के अनुसार कृषि के औजार तथा उपयोगी यंत्रों को तैयार करना है। इस विभाग में यह भी अध्ययन किया जाता है कि विदेशों में प्रयोग किये जाने वाले औजार तथा यंत्र कहाँ तक हमारे देश में लाभदायक सिद्ध हो सकते हैं। जो सुधरे हुए यंत्र निकाले जाते हैं उनका परीक्षण देश के विभिन्न परीक्षण केन्द्रों में किया जाता है। जब परीक्षण सफल सिद्ध हो जाता है तब उसे बनाने तथा प्रयोग करने की आज्ञा दे दी जाती है।

इस विभाग की देखरेख में कृषि औजारों के एक संग्रहालय का भी संगठन किया जा रहा है।

इस विभाग में तथा अर्थशास्त्र (Economics) और अंक विज्ञान विभाग में जब सब सुविधायें जुटा ली जायेंगी तब प्रशिक्षण के लिये विद्यार्थी लिये जा सकेंगे।

पुस्तकालय (Library)—संस्था का एक बड़ा पुस्तकालय है जो एशिया के कृषि सम्बन्धी पुस्तकालयों में से एक अच्छा पुस्तकालय समझा जाता है। इस पुस्तकालय में वनस्पति विज्ञान, रसायन-विज्ञान, कीट विज्ञान, अंक विज्ञान, पौध रोग विज्ञान तथा कृषि विज्ञान और इससे सम्बन्धित अन्य विषयों की विभिन्न भाषाओं की पुस्तकें तथा पत्रिकायें (Books and periodicals) मंगाई जाती हैं। इस पुस्तकालय से सारे देश के अनुसंधानकर्त्ता लाभ उठाते हैं। जो पुस्तकें काफी पुरानी हो चुकी हैं, टूट रही हैं उन्हें भी प्राप्त करने का साधन उपलब्ध कर दिया गया है। इसके लिये संस्था ने चित्र-प्रतिलिपि यन्त्र (Photo-stat-Machine) मंगाया

है। इस प्रकार अनुसंधानकर्त्ता अलभ्य लेखों की प्रतिलिपि मंगा कर अध्ययन करते हैं। अनुसंधान-कर्त्ता देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों तथा अनुसंधान शालाओं से आकर पुस्तकालय में अध्ययन भी करते हैं। पुस्तकालय विभाग अनुसंधान-कर्मियों के प्रार्थना पत्र आने पर वैज्ञानिक लेख तथा पुस्तकों की ग्रन्थ-सूची (Bibliography) बनाकर भी भेजता है।

संस्था के प्रकाशन (Publications)—संस्था का वार्षिक विवरण भी प्रकाशित किया जाता है। इस विवरण का नाम भारतीय कृषि अनुसंधान संस्था का 'वैज्ञानिक विवरण' (Scientific Reports) है जो अंग्रेजी में छपती है। इसके अतिरिक्त यहाँ के अनुसंधान-कर्मियों के वैज्ञानिक लेख भी देश विदेश की वैज्ञानिक पत्रिकाओं में छपते रहते हैं।

इस प्रकार यह संस्था ५० वर्षों से देश की सेवा कर रही है। यह इसी संस्था के अनुसंधानों का फल है जो देश में सुधरे हुए फसलों की खेती की जाती है। यह संस्था अनुसंधान तथा शिक्षण संबंधी मामलों में सरकार तथा प्रयोगशालाओं को परामर्श भी देती है। समय समय पर प्रसिद्ध वैदेशिक वैज्ञानिक भी इस संस्था को देखने के लिये आते रहे हैं। आजकल इस संस्था के अध्यक्ष (Director) विख्यात वनस्पति-उत्पत्ति विज्ञान विशेषज्ञ डा० बी० पी० पाल, Ph.D. (Cantab), F. L. S, F. N. I., F. B. S. हैं। स्वर्णजयंती पर यही कामना है कि यह संस्था शताब्दियों तक अधिक अन्नोत्पादन में सहयोग देकर बढ़ती हुई जनसंख्या की उदरपूर्ति करती रहे।

गंधविडाल वंश—[पृष्ठ १७९ का शेषांश]

से कुछ भिन्न होता है। उसके मुख पर दुर्गंधग्रन्थि-विज्ञापक रूप की रंगीन पट्टियाँ दबी सी रहती हैं, परन्तु माता पिता से पृथक स्वतंत्र जीवन व्यतीत करने निकलने पर उसमें यह रंगीन पट्टियाँ प्रमुख हो गई होती हैं। गंधविडालों की आयु १५ या २० वर्ष कही जाती है। बन्दी जीवन में इतनी आयु ज्ञात हुई है। स्वच्छन्द जीवन में ठीक आयु का ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सका है।

हिंसक जन्तुओं की उपयोविता उन शाकाहारी जन्तुओं का वध करने में है जो हमारे लिए अहितकर हों। चूहों को मार कर गंधविडाल हमारा कुछ हित करते हैं। ये बहुसंख्यक चूहों को नष्ट कर हमारी फसलों तथा बखारों में अन्न का संहार करने वाले शत्रुओं को दूर करते हैं। वर्मा में तनासरिम का ताल गंधविडाल तीन पट्टियों युक्त होता है। वह कलन्दक या रूपियों (गिलहरियों) का संहार करता है। अतएव नारियल के फलों का भक्षक न्यून होता है। इन क्रिया-कलापों के अतिरिक्त दुर्गंध ग्रन्थि से उत्पन्न गंध का कुछ सुगंधियों तथा औषधियों में प्रयोग किया जाता है। मलावार में इसकी माँग विशेष पाई जाती है। दस रुपये तोले तक बाजारों में वह बिकता है। आजकल अन्य जन्तुओं से प्राप्त गंध भी विदेशों से आती है। जावा में तम्बाकू में गंध डालने के लिए गंधविडाल की ग्रन्थि से उत्पन्न गंध का उपयोग होता है।

गंधविडाल वंश

गंध विडाल वंश के जंतु मांसभोजी गण में गिने जाते हैं। नकुल और गंधविडाल दो पृथक-पृथक वंश माने जाते हैं परन्तु इन्हें संयुक्त रूप में गंध-विडाल वंश भी नाम दिया जाता है। इस वंश के निकटवर्ती जन्तु विडाल ही कहे जा सकते हैं। इन्हें विडाल तथा जलविडाल (ऊदविलाव) के मध्य का जंतु मानना अधिक युक्तिसंगत हो सकता है। इनका थूथन नोकीला तथा दुम लंबी होती है। ये पादांगुलियों या पैरों की गद्दियों के बल चलते हैं। चंगुल विडालों की भांति त्वचा-आवरण में दबा सकने या न दबा सकने योग्य होते हैं। ये प्रायः रात्रिचारी वृत्ति रखते हैं तथा बड़े चपल जंतु होते हैं। इनकी कई जातियाँ हैं जिनका प्रसारक्षेत्र पूर्वी गोलार्द्ध के दक्षिण भूभागों में दक्षिणी-पश्चिमी योरप से लेकर अफ्रिका, मेडागास्कर तथा दक्षिणी एशिया में है। इनमें बिंटुरोंग, फोस्सा, जेनेट तथा नकुल (नेवले) और गंधविडाल (मछबंदर या गन्धौला) आदि की गिनती है।

यदि गंधविडालों के शरीर की तुलना विडाल के शरीर के आकार-प्रकार से की जाय तो स्पष्ट अंतर प्रतीत होगा। गंधविडाल का शरीर अपेक्षाकृत लम्बोतरा तथा पैर छोटे होते हैं। सिर भी लम्बोतरा तथा थूथन नोकीला होता है किन्तु विडालों का सिर गोल, थूथन चपटा तथा पैर लम्बे होते हैं। आकार-प्रकार के इन भेदों का कारण इनके रहन-सहन में अन्तर हो सकता है। विडाल तो पूर्णतः आखेटजीवी होते हैं, केवल घरेलू विडालों को कुछ अपवाद स्वरूप कहा जा सकता है किन्तु गंधविडाल पूर्णतः आखेटजीवी नहीं होते। उनमें कुछ को आंशिक या अधिकांश रूप में वनस्पतिभोजी पाया जाता है। अतएव शरीर-रचना में अंतर नितांत आवश्यक है। इस रूप में उनका शरीर पूर्णतः आखेट योग्य होने की आवश्यकता नहीं होती। विडाल के बलिष्ट तथा छोटे जबड़ों के स्थान पर गंधविडाल के जबड़े इस कारण लम्बे और दुबले होते हैं कि उन्हें विडाल की तरह सतत आखेट पर ही उदरपूर्ति के लिए निर्भर रहना आवश्यक नहीं हो सकता। उनके रदनक (कुकुरदन्ते) भी अपेक्षाकृत दुर्बल होते हैं। चंगुल भी इसी कारण छोटे और न्यून शक्ति के होते हैं। फिर भी गंधविडालों को अपने स्वभाव के अनुसार आहार ग्रहण करने के प्रयास में अंगों की दुर्बलता अनुभव करने का अवसर नहीं होता।

उपयुक्त आहार प्राप्त करने की शक्ति पैनी दृष्टि, तीव्र घ्राणेन्द्रिय तथा तीक्ष्ण श्रवणेन्द्रिय रूप में होती है। मुख पर मुच्छवत प्रलंब रोमगुच्छ होते हैं। वे स्पर्शेन्द्रिय की प्रतिमूर्ति कहे जा सकते हैं। वे बड़े गतिशील होते हैं। उन्हें आगे या पीछे मोड़ सकना संभव होता है। कदाचित उनसे भोजन स्पर्श कर वे उसका प्रकार अनुभव कर सकते हैं।

गंधविडालों में कुछ को आखेट वृत्ति रखते पाया जाता है किन्तु दूसरे गंधविडाल न्यून आखेट वृत्ति के ही हो सकते हैं। अधिक आखेट वृत्ति वाले गंधविडाल को विडालों के समान ही आखेट करते पाया जात है। कहीं शिकार की ओट में छिपे रहकर सहसा उस पर टूट पड़ने का अनुकरण ये भी विडालों की भाँति करते हैं। लिंसेंग (व्याघ्र-गंधविडाल) प्रायः पूर्ण आखेटजीवी होते हैं। शिकार मारकर उसे खाकर पेट भरते हैं। इनके पैरों की रचना विडालों के समान होती है। चंगुल म्यान में रखी तलवार की भाँति त्वचा-आवरण में विडाल की भाँति ही सुरक्षित रक्खे जा सकने योग्य होते हैं तथा बाहर की ओर होकर

नग्न तथा भीतर दब कर विडाल में चंगुलों समान सुरक्षित या चमड़े की थैली में बन्द हो सकते हैं।

जो गंधविडाल न्यून आखेटजीवी ही होते हैं उनमें भूजीवी गंधविडाल और वृक्षजीवी गंधविडाल होते हैं। इनके पैर आखेट कर सकने के लिए उतने उपयुक्त नहीं होते। कुछ जातियों में चंगुल नग्न ही होते हैं और कुछ जातियों में थोड़े बहुत त्वचा-आवरण की व्यवस्था युक्त होते हैं। इनका जीवन आंशिक रूप में आखेट तथा वानस्पतिक आहार पर निर्भर होता है। ऐसे जीवन का उनके शरीर की रचना पर यथेष्ट प्रभाव पड़ा है। भूजीवी विडाल वृक्ष पर चढ़ सकने की क्षमता रखने पर भी कदाचित ही कभी वृक्षारोहण करते हों। वे आहार की खोज में भूतल पर ही दौड़-धूप करते हैं। अतएव भूमि पर चल सकने योग्य ही पैरों की रचना उनमें पाई जाती है। वे पादांगुलियों के बल ही चलते हैं। चंगुल छोटे तथा गँठीले होते हैं। अगले तथा पिछले पैरों की पादांगुलि अन्य पादांगुलियों से यथेष्ट ऊपर तल पर होती है अतएव वह अव्यवहार्य होती है। पैर के नीचे की गद्दी नर्म मोटे तह युक्त होती है तथा तलवे बालों की बाढ़ से सुरक्षित होते हैं। ये गुण उसके पैरों को भूगमन के अधिक उपयुक्त बनाते हैं। वृक्षजीवी गंधविडालों के पैर की रचना बिल्कुल विभिन्न होती है। उनको वृक्ष से ही आहार मिलता है। उसी पर अधिक समय व्यतीत करना पड़ता है, अतएव उनके पैर वृक्ष पर चढ़ सकने के उपयुक्त बने होते हैं। उन्हें पादांगुलिगामी के स्थान पर पादतलगामी पाया जाता है क्योंकि चलते समय पादतल (पैरों के तलवे) भूमि को पूर्णतः स्पर्श करते हैं। पैर छोटे तथा चौड़े होते हैं। सभी पादांगुलियाँ समतलीय होती हैं, अतएव वे सभी व्यवहार्य होती हैं। तलवे की गद्दियाँ चौड़ी होती हैं तथा तलवे पर बाल नहीं उगे होते हैं। ये गुण उसके पैरों को वृक्ष पर चल सकने में सामर्थ बनाते हैं। वृक्ष-जीवन के लिए उनके शरीर की भी रचना दूसरी होती है। शरीर पतला और लंबोतरा होता है। पूँछ भी लम्बी होती है।

व्याघ्र-गंधविडाल (लिंगसैंग) के चबाने वाले दाँत (चर्वणक) विडालों की भाँति पैने फलकों समान शीर्ष युक्त होते हैं किन्तु जो गंधविडाल उभयभक्षी होते हैं उनके चर्वणक दूसरे रूप के होते हैं। उनका काम मांस-खंड काटना तथा वानस्पतिक पदार्थ चबाना होता है अतएव जिस अंश तक उनसे चर्वणक को ये दोनों कार्य करने पड़ सकते हैं उसी के अनुरूप उनके चर्वणक बने पाये जाते हैं। शुद्ध (भूजीवी) गंधविडालों के चर्वणक दाँत चौड़े शीर्ष तथा अनेक उभाड़ों युक्त होते हैं। इससे चलने तथा काटने, दोनों का काम निकल आता है परन्तु वृक्षजीवी गंधविडाल के चर्वणक के शीर्ष उससे भी चौड़े तथा उभाड़हीन से होते हैं अतएव मांस चबाने का काम उनसे नहीं निकल सकता। इस तरह के दाँतों को देखकर ही कहना संभव हो सकता है कि वृक्षजीवी गंधविडाल वनस्पतिभोजी होते होंगे तथा भूजीवी या शुद्ध गंधविडाल उभयभक्षी होते होंगे। जिन जीवों का जैसा आहार होता है उसी प्रकार उनकी दन्तावली रचित होती है। आहार के प्रकार का ही प्रभाव गंधविडाल की जिह्वा की रचना में पाया जाता है। गंधविडालों की जिह्वा चिकने तल की ही होती है। जीभों पर शंकुवत पैने उभाड़ों का अभाव होता है। अपनी जीभ को विडालों की तरह अर्बुदमय रखकर रेती का सा रूप देने की गंधविडालों को आवश्यकता नहीं होती। उन्हें हड्डी में बचे पड़े हुए मांस-अवशेष को चाट डालने की कोई आवश्यकता नहीं होती। वे तो श्वानों की तरह छोटे जन्तुओं को कुचल कर हड्डीयुक्त ही निगल जाते हैं। ऐसे रूप में तीव्र अस्त्रों से युक्त न होने पर भी गंधविडाल जंतु-जगत में अपना जो स्थान रखते हैं उसके अनुकूल उनको यथेष्ट उपकरण प्राप्त रहते हैं।

गंधविडाल वर्षाबहुल आर्द्र स्थलों में पाए जाते हैं। वर्षा की प्रचुरता के वन, यथेष्ठ हरियाली, वृक्ष तथा घासों से आच्छादित भूमि इनके प्रिय निवास-स्थल हैं। मैदानी भाग से लेकर ७००० फुट की

ऊँचाई तक ऐसे ही वातावरण में वे रहते हैं। हिमालय तथा दक्षिणी भारत की पहाड़ियों में इतनी ऊँचाई पर भारतीय गंधविडाल तथा साधारण लाल गंधविडाल की दो जातियाँ रह सकने की अभ्यस्त हो सकी हैं। मध्य भारत तथा राजपूताना के झाड़-झंखाड़ वाले सूखे प्रदेश तथा उनसे भी परे शुष्क भूभाग में गंधविडालों की पहुँच है। किन्तु गंधविडालों को ऋतु-प्रकोप सहन कर अपना प्रसार कर सकने में विडालों से कम समर्थ ही पाया जाता है। शीतऋतु के प्रकोप से बचने के लिए उनमें लम्बे बालों की ओढ़नी उत्पन्न हो जाती है तथा ग्रीष्म में उसके झड़ने पर हल्के छोटे बालों का आवरण ही रह जाता है किन्तु उनके निवासस्थान की ऊँचाई-निचाई के अनुसार शीत-कालीन रोमआवरण की न्यूनाधिकता नहीं होती। भिन्न-भिन्न अक्षांशों का उसकी वृद्धि पर अवश्य प्रभाव पड़ता है। दक्षिण भारत में जहाँ शीत तथा ग्रीष्म-काल में तापमान का अत्यधिक अन्तर नहीं होता वहाँ दोनों ऋतुओं के रोमीय आवरण में विशेष भेद नहीं होता। परन्तु हिमालय के निकट अपेक्षाकृत उत्तरी अक्षांश होने से दोनों ऋतुओं के रोमीय आच्छादन में विशेष अन्तर होता है। यह अवश्य है कि लगभग एक अक्षांश पर हिमालय के अंचल में शीत ऋतु के रोमीय आच्छादन की जितनी वृद्धि पाई जा सकती है वैसी ही रोमावली के ऊँचे भागों में भी उत्पन्न होती है।

गंधविडालों के रंग-रूप की यह विशेषता देखी जा सकती है कि एक ही क्षेत्र में किसी एक उपजाति के गंधविडालों में जहाँ अनेक रङ्ग पाए जा सकते हैं, वहाँ ऐसा भी देखा जाता है कि किसी एक ही स्थल पर दो उपजातियों के गंधविडाल एक रंग के ही हों। स्थान-भेद में इतनी विशेषता प्रायः सर्वत्र ही पाई जा सकती है कि शीतऋतु के बड़े तथा घने रोमीय आच्छादन का रंग धुँधला तथा बहुरंगीय प्रतीत होता हो परन्तु ग्रीष्म ऋतु के छोटे रोमीय आच्छादन के धब्बों का रंग अधिक गहरा रहता है उत्तरी गंध-विडालों में शीतऋतु में रोमीय चिह्नों का अस्थायी लोप अधिक स्पष्ट रहता है। किन्तु दक्षिणी गंधविडालों में रोमों की दीर्घता में दोनों ऋतुओं में भारी अन्तर न होने से चिह्नों का धुँधलापन तथा गहरापन ऐसे विभिन्न रूप में नहीं दिखाई पड़ सकता।

गंधविडालों का आहार छोटे स्तनपायी, पक्षी तथा सरीसृप होते हैं अतएव ऐसे जन्तुओं की संख्या न बढ़ने देने में ये सहायक माने जा सकते हैं। जो जन्तु रात्रिचारी होते हैं उनके आहार भी वे ही जन्तु हो सकते हैं जो रात को आहार की खोज में निकलते हैं। इसी प्रकार दिवाचारी हिंसकों के आहार दिन में आहार या चारा घास आदि खाने में संलग्न जन्तु होते हैं। जो हिंसक प्रातः संध्या शिकार करते हैं। उनके आहार दोनों रूप के शाकाहारी या अपेक्षा-कृत दुर्बल मांसाहारी हो सकते हैं। अधिकांश गंध-विडाल रात्रिचारी होते हैं। अतएव जो गंधविडाल दिवाचारी होते हैं, उनका अपने ही क्षेत्र के रात्रिचारी गंधविडालों से साक्षात्कार न होता होगा। उष्ण तथा उप-उष्ण कटिबन्धों में अधिकांश जन्तु रात्रिचारी होते हैं किन्तु शीतोष्ण कटिबन्ध में पहुँचने पर रात्रि-चारी जन्तुओं की संख्या न्यून होने लगती है। इस क्रम से ध्रुवीय देशों में रात्रिचारी जन्तुओं का सर्वथा अभाव ही होता है।

इन वृत्तियों का हिंसक तथा हिंस्य जीवों की रहन-सहन, पारस्परिक स्थिति तथा व्यवस्था पर प्रभाव पड़ता है। रात्रि तथा दिन में जीवन यापन करने वाले हिंस्य जन्तुओं तथा उनकी संख्या में संतुलन-स्थापक हिंसक जन्तुओं का पृथक-पृथक जोड़ या मेल सा होता है। इन सब के केवल दिन या केवल रात्रि में ही क्रियाशील रहने पर शरीर तथा जीवन-क्रम पर किस प्रकार तथा कैसे अन्तर उपस्थित होंगे, इन बातों का विशेष अध्ययन नहीं हो सका है।

गंधविडाल या अन्य कोई भी छोटा-बड़ा हिंसक किसी प्रबलतर हिंसक द्वारा स्वयं हिंस्य बन सकता है। अतएव उन्हें भी अपनी जीवन रक्षा की आव-श्यकता होती है। गंधविडाल भी अन्य छोटे जन्तुओं

को आखेट बनाते हैं। परन्तु स्वयं भी आखेट बनने के लिए प्रबल हिंसक पा सकते हैं। अतएव उनमें रक्षा की एक विचित्र विधि होती है। धूम्र-आवरण उत्पन्न कर शत्रु के प्रहार से बच निकलने के लिए जलयानों तथा वायुयानों में मनुष्यों ने युद्धकाल में यान्त्रिक उपाय करने की व्यवस्था की है। विषैले वायव्यों (गैसों) से भी शत्रु को मर्दित तथा ध्वस्त करने के उद्योग आज की देन हैं। जन्तु-जगत में भी विषाक्त या असह्य गंधयुक्त वायव्य उत्पन्न कर अपने आक्रामक से बच सकने की युक्ति पाई जाती है। गंधविडालों को ऐसे ही रक्षक-विधान युक्त पाया जाता है। इनकी गुह्येन्द्रिय के सन्निकट तीव्र गंधोत्पादक ग्रन्थि होती है। शत्रु को सम्मुख देख वे उससे इतनी तीव्र गंध उत्पन्न कर छोड़ते हैं कि आक्रामक सम्मुख ठहर नहीं सकता। यही नहीं अपनी ऐसी विलक्षण रक्षा-शक्ति को दूर से ही घोषित करते रहने के लिए ऐसे जन्तुओं में कुछ स्पष्ट मुखचिह्न भी होते हैं जिससे आक्रामक सहज ही जान सके कि उस पर आक्रमण करना निरापद कार्य नहीं। ऐसे चिह्न मोटे रूप में शरीर के अगले भाग में मुख या गर्दन पर रंगीन पट्टियाँ हो सकती हैं। गंधविडाल को दूर से देखने पर भी वे रंगीन पट्टियाँ प्रदर्शित हो जाती हैं। अतएव वैसे चिह्न को आखेट बनाने के प्रयत्न में एक बार धोखा खा लेने पर कोई भी हिंसक जन्तु आजीवन के लिए सचेत ही नहीं हो जाता, बल्कि अपनी संतान को उससे दूर रहने की शिक्षा भी दे सकता होगा। अधिकांश गंधविडालों में दुर्गंध-उत्पादक ग्रन्थि होती है। ऐसा ज्ञात होता है कि जिन जंतुओं को आक्रामकों से बचने की आवश्यकता है उनमें दुर्गंध-ग्रन्थि की उपस्थिति के द्योतक स्वरूप रंगीन पट्टियाँ अधिक होती हैं। चीन के ताल गंधविडाल को चीन तथा बर्मा के प्रसारक्षेत्र में अनेक शत्रुओं से भय रहता है। इसके विपक्ष ऐंडमन में रहने वाले गंधविडालों को शत्रुओं का कुछ भय नहीं रहता। हिंसकों का वहाँ अभाव-सा ही है। अतएव उनके मुख पर किसी प्रमुख चिह्न की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती।

जन्तुओं का निवास प्रायः आहार की सुलभता पर निर्भर करता है। गंधविडालों को जंगल के जन्तुओं की अपेक्षा मनुष्य की बस्तियों में रहने वाले चूहे तथा अन्य हानिकारक जन्तुओं रूप में आहार प्राप्त हो सकता है। अतएव बस्तियों के सन्निकट उन्हें भी अड्डा जमाते पाया जाता है। वे नालियों या मकान की छाजन में आश्रय पा जाते हैं। फलों का भी आहार करने वाले गंधविडाल होते हैं। अतएव कहवा के बगानों में फल लगने पर वहाँ फल पकने के दिनों में वृक्षजीवी गंधविडाल जाकर अपनी उदरपूर्ति कर मनुष्य को हानि पहुँचाते हैं किन्तु कहवे के बीज पच न सकने से पुनः प्राप्त हो जाते हैं।

अधिकांश गंधविडाल चुप्पा होते हैं। केवल ऋक्ष-विडाल (बिंटुरोंग) शब्द कर सकता है, परन्तु दुर्गन्ध-ग्रन्थि द्वारा दुर्गन्ध फैलाते जाने के कारण गंधविडाल अपने जाने के मार्ग का पता दे सकते हैं। केवल व्याघ्र-गंधविडाल ही ऐसा गंधविडाल होता है जिसमें दुर्गन्ध-ग्रन्थि का अभाव होता है। इन ग्रन्थियों की रचना विभिन्न जातियों में विभिन्न होती है। भूजीवी या शुद्ध गंधविडाल में यह ग्रन्थि गुह्येन्द्रिय से थैली रूप में लटकी-सी दिखाई पड़ती है। उसमें फूले हुए ओष्ठ से होते हैं जो खुल या बन्द हो सकते हैं। वृक्षजीवी या ताल गंधविडाल या अन्य गंधविडालों में दुर्गंध ग्रन्थि दूसरे रूप की तथा साधारण रचना की होती है। दुर्गंध का स्राव एक थैली में न होकर त्वचा की एक सिकुड़न में होता है।

गंधविडालों के सन्तानोत्पादन के विषय में अधिक जानकारी नहीं हो सकी है। वर्ष के किसी भी मास में उनके नवजात शिशु देखे जाते हैं। कोई मास उनके अधिक संतानोत्पादन का होता होगा। गंधविडाल किसी वृक्षकोटर या चट्टान की ओट में शिशु उत्पन्न करता है। बस्तियों में रहने वाले गंधविडाल नालियों या छाजन में ही शिशु उत्पन्न करते हैं। तीन मास में ही शिशु बढ़ कर वयस्क गंधविडालों के आकार के हो जाते हैं। शिशु का रङ्ग वयस्क

[शेष पृ० १७५ पर]

महासागरों के जीवजन्तु एवं पेड़-पौधे

[प्रो० जनार्दन प्रसाद श्रीवास्तव एम० ए०, एम० एस-सी०, एफ० जी० एस०, एम० एन० जी० एस०,
अध्यक्ष, भूगोल-विभाग, टी०डी० डिग्री कॉलेज, जौनपुर]

१—महासागरीय जीव

प्रकाश एवं अधःस्तर (Substratum) का विचार करते हुए हम महासागरों में रहने वाले जीवों को निम्नांकित तीन मुख्य विभागों में बाँट सकते हैं—

(१) वेला-प्रदेशीय (Littoral) इस विभाग के अन्तर्गत वे जीव आते हैं, जिन्हें प्रकाश एवं अधःस्तर दोनों उपलब्ध हैं।

(२) तलप्लावी (Pelagic) इस विभाग के जीव प्रकाश चाहते हैं, अधःस्तर नहीं।

(३) अथाहसागरीय (Abyssal) इस विभाग के जीव अधःस्तर चाहते हैं, प्रकाश नहीं।

(१) वेला प्रदेशीय जीव

(क) *वेला प्रदेशीय का विस्तार*—वेला-प्रदेश का विस्तार स्थल के तट से लेकर महाद्वीपीय निधाय (Continental shelf) के अन्त तक है अर्थात् वह लगभग ६०० फुट की गहराई तक फैला हुआ है। इसके नीचे प्रवण (Slope) एकदम प्रपाती (Steep) है और वहाँ वेला प्रदेशीय जीवों के स्थान पर तलप्लावी जीव पाये जाते हैं।

(ख) *वेला-प्रदेश में भोजन की प्राप्ति*—भोजन अथवा आहार की दृष्टि से वेला प्रदेश अत्यन्त महत्व पूर्ण है। इसमें पाये जाने वाले आहार के तीन साधन हैं:—(i) स्थल-क्षेप्य (Waste of land) (ii) तटीय शिलाओं की बद्ध आप्यकाः (Fixed algae) (iii) सूक्ष्म प्लावी आप्यका : (Minute floating algae) अथवा उद्भिद्-मन्द-प्लवक (Phyto-plankton)।

नदी मुख पर एकत्र पंक से आहार-ग्रहण करने वाले जीवों की संख्या से ही स्थल-क्षेप्य की महत्ता का अनुमान किया जा सकता है। यदि जल निर्मल होता है, तो उसमें शम्बुक (Mussels) तथा शुक्ति (Oysters) जैसे शंख-जीव (Shell fish) कठिनन : (Crustacea) एवं अन्य सामुद्रिक जीव, जो मछलियों को आहार प्रदान करते हैं, बहुत पाये जाते हैं। स्थल-क्षेप्य का विस्तार सागर में अधिक गहराई तक नहीं होता। अतएव, तलप्लावी (Pelagic) एवं अथाह सागरीय (Abyssal)-जीव इससे लाभ नहीं उठा सकते। बद्ध आप्यका : (fixed algae) की उत्पत्ति केवल ऐसे स्थानों में संभव है, जहाँ उसे आसंजन के लिये दृढ़ धरातल मिल सके और जहाँ तीव्र सूर्य प्रकाश भी पहुँच सके। अतएव ये केवल स्थल-तटों तक ही सीमित हैं, जहाँ ये बहुमूल्य प्राशन-भूमि की सृष्टि करती हैं। लघु-ज्वार चिह्न के ठीक नीचे के प्रदेश को कपिशाप्यक प्रदेश (Laminarian zone) कहते हैं। यह कठिननः (Crustacea) चूर्ण-प्रवारा (Mollusca) प्रवालादयः (Coelenterate) जैसे लघु जीवों के लिये सदैव से प्रसिद्ध रहा है। उच्च-ज्वार के समय यह प्रदेश काफी गहराई तक जल से ढक जाता है, जिससे यहाँ विशालकाय मछलियाँ आ जाती हैं और इस प्रकार मछुओं के लिये यह प्रदेश बहुमूल्य हो जाता है। तटीय जल में सूक्ष्म आप्यकाः बहुत पायी जाती है। यद्यपि इनकी प्रकृति, गुण एवं लक्षणों का अधःस्तर की उपस्थिति से कोई

लेखक की रचना 'उदधि' (The Oceans) से उद्धृत।

प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है, तथापि अप्रत्यक्ष रूप से सागर-नितल तथा स्थल-क्षेप्य उन्हें प्रभावित करते हैं। तटीय जल में युक्ताप्यतिः (Diatom) का विशेष बाहुल्य है। वास्तव में, यहाँ पर विवृत-सागर से भी अधिक इनकी जातियाँ पाई जाती हैं।

(ग) वेला-प्रदेश की प्राकृतिक विशेषताएँ—वेला-प्रदेश में जल सदैव गतिवान रहता है। धारायें एवं ज्वार-भाटा उसे गति प्रदान करते हैं, उसे मीठा बनाये रखते हैं तथा उसे सतत् रूप से भोजन एवं ऑक्सीजन प्रदान करते हैं। यही कारण है कि विवृत सागरों (Open seas) के तट पर बहुमूल्य जीव-जन्तु पाये जाते हैं, किन्तु समावृत सागरों में (Enclosed seas) और झीलों के तट पर नहीं। यद्यपि तटीय जीवों में अनेक तैरने में कुशल होते हैं, जो संकट-काट में तैर कर अपनी रक्षा कर सकते हैं, तथापि अनेक तटीय मछलियाँ जैसे ह्वेल (Whale) एवं शिंशुमार (Dolphin) जीवन-रक्षा के प्रयास में असफल होती हैं और किनारों पर मृतावस्था में पाई जाती हैं। दूसरी ओर बेचारे निर्बल जीव तब तक नितल से चिपके रहते हैं, जब तक संकट-काल समाप्त नहीं हो जाता।

तटीय जीवों को एक अन्य संकट से भी अपनी रक्षा करनी पड़ती है। वह है—सागर जल के तापक्रम एवं लवणता में अविरल परिवर्तन। उष्ण प्रदेशीय सागरों (Tropical seas) में तापक्रम का गोचर (Range) कम अर्थात् लगभग १०° फ० होता है और औसत तापक्रम अधिक अर्थात् लगभग ८०° फ० होता है। ध्रुवीय सागरों में तापक्रम भी कम ही अर्थात् लगभग २८° फ० है। शीतोष्ण प्रदेशों (Temperate Regions) में तापक्रम का गोचर अधिक है और औसत तापक्रम न बहुत अधिक ही है और न बहुत कम। जल का आपेक्षित ताप (Specific Heat) अधिक होने के कारण सागर के किसी भी भाग के तापक्रम-गोचर की तुलना स्थल के साथ नहीं की जा सकती। बहुत से स्थलीय जीवों के शरीर में जैसे उष्ण रक्त वालों में ताप-नियंत्रण (Heat regulating) की व्यवस्था रहती है, जिससे वे तापक्रम के विभेदन के अनुसार अपने को समयोजित कर लेते हैं। यद्यपि सागरों के जीवों में यह गुण नहीं हैं, तथापि ह्वेल आदि में जिनके पूर्वज स्थल निवासी थे, यह विशेषता है। इस भाँति तापान्तर सहने की क्षमता के अनुसार हम सागरीय जीवों को दो प्रमुख विभागों में बाँट सकते हैं।

(१) महातापान्तर जीवी (Euthermal)—जो तापक्रम के महान् अन्तरों को सह सकते हैं।

(२) अल्पतापान्तर जीवी (Stenothermal)-जिनके लिये तापक्रम के महान् अन्तर प्राण-घातक हैं।

सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि शीतोष्ण प्रदेश के वेला-प्रदेशीय जीव महातापान्तर जीवी हैं और उष्ण प्रदेशीय तथा ध्रुवीय सागरों के जीव अल्पतापान्तर जीवी हैं। लवणता के अन्तर से भी इस प्रकार निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

प्रत्येक सागरीय जीव के क्रिया-कलाप के क्षेत्र भी भिन्न हैं। डा० जोर्ट (Hjort) का कथन है, कि उत्तरी सागर तथा नारवे सागर में पाई जाने वाली कौड (Cod) मछली की सत्रह जातियों में से प्रत्येक अपने अनुकूल गहराई, तापक्रम एवं लवणता के अनुसार पृथक् अण्डजनन क्षेत्र (Spawning ground) चुनती है।

(घ) वेला-प्रदेशीय जीव—वेला प्रदेश में जीवों की निम्नांकित जातियाँ पाई जाती हैं:—

(१) वेला-पक्षी (Littoral birds) जैसे उड़ न सकने वाली पेनगुइन (flightless penguins') समुद्रचिल्ली (Sea gulls) आदि।

(२) सरीसृपा (Reptiles) जैसे चर्म-कश्यप (Leathering turtle), हरित कश्यप (Green-turtle), सामुद्रिक सर्प (Sea snake), सामुद्रिक गोधिका (Sea lizard) आदि।

(३) स्तनिन : (Mammals) जैसे ह्वेल, सील, सामुद्रिक गौ (Sea cow) आदि।

(४) मीन (Fish) जैसे सागरीय अश्व (Sea horse),

(५) उदरपादा : (Gastropod) जैसे पुटिक प्रजाति (Mya)

(६) वलयिन : (Annelid) जैसे सागरीय मूस (Sea mouse)

(७) कठिनन : (Crustacea) जैसे अरित्र पाद (Copepod)

(८) शल्यपृष्ठा (Echinodermata) जैसे शल्य तारक (Star fish)

(९) प्रवालादय : (Coelentera)

(१०) छिद्रिष्ठाति (Sponges) आदि आदि।

(२) तलप्लावी जीव

(क) *तलप्लावी प्रदेश की प्राकृतिक विशेषताएँ*—इस प्रदेश के जीवों को यद्यपि अधःस्तर प्राप्त नहीं है, तथापि उन्हें सूर्य प्रकाश मिलता है। जहाँ तक जल की गति का सम्बन्ध है ज्वार-भाटा यहाँ महत्त्वहीन है। इसके विपरीत धाराओं की यहाँ विशेष महत्ता है। ऐसे क्षेत्र जहाँ उष्ण एवं शीतल धारायें मिलती हैं, तलप्लावी जीवों के लिये बहुत खतरनाक और प्राणघातक हैं। अल्पतापान्तर जीव तो तापक्रम में आकस्मिक परिवर्तन होते ही मर जाते हैं। सागर-जल को दो स्तरों में बाँटा जा सकता है। ऊपरी स्तर का जल उष्ण एवं हल्का होता है। तथा निचले स्तर का जल अपेक्षाकृत शीतल एवं भारी। सागर के कोमलांगी जीव इन दोनों विभागों को पृथक करने वाले सन्धि-स्तर (Junction Layer) को पार नहीं कर पाते। डा० जोर्ट (Hjort) ने इस सन्धि स्तर को जहाँ जीवित एवं मृत प्लवक एकत्र होते रहते हैं, कूट-नितल (False bottom) की संज्ञा दी है। जीव-जन्तुओं की संख्या की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण है।

जहाँ तक जल के तापक्रम का सम्बन्ध है, जो कुछ वेला-प्रदेश के विषय में कहा गया, वह तलप्लावन प्रदेश में भी लागू होता है। हाँ, इतना अवश्य है कि १००० फैदम के नीचे तापक्रम प्रायः स्थिर है।

जहाँ तक प्रकाश का सम्बन्ध है, प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि जल में ५० फैदम की गहराई तक प्रायः प्रत्येक प्रकार की रश्मियाँ प्रविष्ट हो जाती हैं। ३०० फैदम की गहराई पर लाल और हरी रश्मियों का लोप हो जाता है, किन्तु नीली और बैंगनी रश्मियाँ रहती हैं। ३०० फैदम के उपरान्त अंधकार है।

उपर्युक्त कथन मध्य अक्षांशों के लिए है। अन्य प्रदेशों में सूर्य की किरणों द्वारा निर्मित कोण के अनुसार अन्तर हैं।

तलप्लावी जीवों का मुख्य आहार उद्भिद-प्लवक (Phyto-plankton) है, जो जलपृष्ठ पर तैरने वाली सूक्ष्म आप्यकाः है। जल में ५० फैदम की गहराई तक ये बहुलता से पाई जाती हैं।

तलप्लावी जीवों का वर्गीकरण—वितरण के विचार से तलप्लावी जीवों को तीन विभागों में बाँटा जा सकता है :—

(१) पृष्ठ के जीव (Surface forms)—ऊपर के १०० फैदम जल में ये बहुत पाए जाते हैं। इनमें प्लवक (plankton) एवं तलप्लावी डिम्भ (pelagic larva) प्रमुख है।

(२) मध्य तलप्लावी (Meso-pelagic) अथवा मध्यान्तर के जीव—ये प्रकाश की निम्नतम सीमा (जो अक्षांश के अनुसार बदलती रहती हैं) के निकट पाये जाते हैं। रजत-मीन (Silvery fish) आदि इसी विभाग के अन्तर्गत हैं।

(३) गम्भीर तलप्लावी जीव (Bathy-pelagic forms) ये प्रकाश-सीमा के नीचे पाये जाते हैं, यद्यपि सागर नितल पर ये अनुपस्थित हैं। इनके उदाहरण दीप्त रक्त चिंगट (Bright-red prawn) कृष्णमीन (Black-fish) आदि हैं।

पृष्ठ के जीव मणिभ सदृश उज्ज्वल, नीले अथवा हल्के बैंगनी वर्ण के होते हैं। ऐसे प्रदेशों के जीव जहाँ केवल नीली अथवा बैंगनी रश्मियाँ पहुँचती हैं, रजत वर्ण के हैं। अधिक नीचे रहने वाले जीव लाल अथवा काले हैं।

(३) अथाह सागरीय जीव

अथाह सागर में एक ऐसी विशेषता पाई जाती है, जो अन्य भागों में नहीं पाई जाती। वह यह है—कि यहाँ का जल स्थायी रूप से शान्त रहता है। यह प्रदेश छिद्रिष्ठाति (Sponge) के विकास के लिए अत्यन्त अनुकूल है, अतएव यहाँ पर उनका बाहुल्य है। अधःस्तर (Substratum) पर ये आबद्ध रूप से पड़े रहते हैं। इन जीवों के ऊपर जल का मीलों ऊँचा स्तर रहने से दबाव भी बहुत रहता है। यद्यपि इस प्रदेश में पेड़-पौधे नहीं हैं, तो भी आक्सीजन का प्राचुर्य है। इसका कारण विवृत्त महासागरों में होने वाला जल का संचार (Circulation) है। इसके विपरीत समावृत सागरों में आक्सीजन का अभाव है। उदाहरण के लिए काले सागर (Black sea) में इतनी गहराई पर हाइड्रोजन सल्फाइड (H_2S) की अधिकता और आक्सीजन की न्यूनता के कारण जीवजन्तु नहीं पाये जाते। भूमध्य सागर की दशा इतनी परम (Extreme) नहीं है, तो भी इतनी गहराई में जीवों का वहाँ भी अभाव है, प्रकाश तो यहाँ तक पहुँचता नहीं, जल भी स्थायी रूप से शीतल है। ऐसी दशा में जो जीव-जन्तु ऊपरी प्रदेशों से मृत्यु प्राप्तकर नीचे गिर जाते हैं, वही यहाँ भोजन के मुख्य साधन हैं। इस प्रदेश के बहुत से जीव पंकभक्षी हैं। सागर-नितल में रहने वाले जीवों की संख्या विवादास्पद विषय है। इस सम्बन्ध में अभी तक कोई सन्तोषप्रद निर्णय नहीं हो सका है। यह निर्विवाद है, कि इस प्रदेश में अपृष्ठवंशी (Invertebrate) जीव बहुत पाये जाते हैं। विशेषकर खटीगोल निश्याव (Globigerina ooze) से ढके क्षेत्रों में। इन अपृष्ठवंशी जीवों से छिद्रिष्ठाति (Sponge) और शल्यपृष्ठा (Echinoderms) प्रमुख हैं। कठिननः (Crustacea) प्रजाति में चूर्णप्रावारा (Molluscs) एवं कर्कट (Crabs) कम पाये जाते हैं। छिद्रिष्ठाति में सैकतीय जीव (Siliceous forms) अधिक पाये जाते हैं, चूर्णीय (Calcareous) कम। शल्यपृष्ठा (Ecinoderms) की प्रायः सभी जातियाँ पाई जाती हैं। सागरीय कण्ठमूषों (Sea urchins) में अनियमित आकृति के जीव बहुत पाये जाते हैं विशेषकर अवशेष (Fossil) के रूप में। लाल रंग की चिकनी मिट्टी (Red clay) के प्रदेश में वलियनः (Annelids) बहुत पाई जाती हैं। विस्तृत क्षेत्र में समान दशायें विद्यमान होने के के कारण अथाह सागरीय जीवों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। यहाँ के जीव बहुत कुछ ध्रुवीय जीवों से मिलते-जुलते हैं, क्योंकि दोनों के तापक्रम में साम्य है।

(२) महासागरीय पेड़-पौधे

महासागरीय वनस्पति का महत्व इसी कथन से स्पष्ट है कि उस पर ही वहाँ के जीव जन्तुओं का जीवन निर्भर है।

जिस प्रकार भौम-पादपों में अनेक प्रकारें पाई जाती हैं उस प्रकार महासागरीय वनस्पति में प्रकारें नहीं पाई जातीं। उसकी महत्वपूर्ण विशेषता है। इसका कारण महासागर के वातावरण की मौलिक विभिन्नता है। प्रकाश एवं अधःस्तर केवल सुवेला-प्रदेश (Eulittoral zone) में पाए जाते हैं, जो सागर-नितल का केवल २% अंश है।

समस्त उद्भिज-जगत को हम चार विभागों में बाँट सकते हैं:—

(१) सूत्रोद्भिदः (Thallophyta)
(२) हरितोद्भिदः (Bryophyta)
(३) पर्णांगादिकाः (Pteridophyta)
(४) बीजोद्भिदः (Spermatophyta)

इनमें से केवल पहली और चौथी प्रकार की वनस्पति सागर में मिलती है। इन विभागों को उप-विभागों को पुनः अन्तर्विभागों में बाँटा जा सकता है, किन्तु यह कार्य औद्भिदी विशेषज्ञों का है, हमारा अभिप्राय तो निम्नांकित संक्षिप्त वर्गीकरण द्वारा सिद्ध हो जाता है।

(१) सूत्रोद्भिदः (Thallophyta)

प्रायः समस्त सागरीय वनस्पति इस विभाग के

अन्तर्गत हैं। इसमें ऐसे आद्य पादप आते हैं, जिनके शरीर में वर्धिअंग का भिन्नन (Differenciation of vegetative organ) नागण्य होता है अर्थात् इनमें यथार्थ मूल, वृन्त, पत्र, कुछ भी नहीं होते। इन पादपों में महासागरीय आप्यकाः (Marine algae) एवं महासागरीय कवलानि (Marine fungi) विशेष कर शाकाणवः (Bacteria) प्रमुख हैं। लाक्षणिक वर्ण के अनुसार इन्हें पुनः पाँच श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है:—

(क) नील-हरिआप्यकाः (Blue green algae)

(ख) हरित आप्यकाः (Green algae)

(ग) वभ्रु आप्यकाः (Brown algae)

(घ) रक्त आप्यकः (Red algae)

(ङ) पीत हरित आप्यकाः (Yellow green algae)

इनमें से प्रथम चार (नील-हरि आप्यकाः के कुछ प्रकारों को छोड़कर) आसक्त-पाद्य Attached plants) हैं। और पीत-हरित आप्यकाः प्लावी-पादप (Floating plant) हैं।

(क) नील-हरि आप्यकाः—यह सबसे कम महत्व-पूर्ण है। अलवण (Fresh) एवं आलवण (Brakish) जल में यह बहुत पाई जाती है। उष्ण-जल में यह अधिक मिलती है।

(ख) हरित आप्यकाः—यह वेला-प्रदेश के ऊपरी भाग में लगभग १० मीटर की गहराई तक पाई जाती है। उष्ण-सागरों में उसका बाहुल्य है।

(ग) वभ्रु आप्यकाः—इसके विकास के लिये जल का लवणमय एवं शीतल होना आवश्यक है अतएव उच्च अक्षांशों के समुद्र-तट में ही यह पाई जाती है।

(घ) रक्त आप्यकाः—रंग की दृष्टि से सागरीय आप्यकाओं में यह सबसे अधिक सुन्दर एवं आकर्षक है। इसका भौगोलिक विस्तार बहुत है, किंतु शीतोष्ण सागरों में यह प्रचुरता से पाई जाती है। इसके लम्बवत् वितरण के अध्ययन से ज्ञात होता है, कि इसके विकास के लिये अवमन्दित प्रकाश (Subdued light) आवश्यक है।

(ङ) पीतहरि आप्यकाः—पूर्वोक्त आप्यकाओं के असमान इस श्रेणी के पादप मुख्यतः प्लावी हैं। प्रमुख जातियों में अधिक महत्वपूर्ण ये हैं:—

(१) युक्ताप्यति (Diatom)—यह सामान्यतया वेला प्रदेश के नितल में पाई जाती है।

(२) घूर्णकशाः (Dinoflagellata)—यह प्रायः सभी सागरों में पाई जाती है, किन्तु इसका सर्वाधिक विकास उष्णजल में ही पाया जाता है।

(२) महासागर के उच्चतर पादप अथवा बीजोद्भिदः

यद्यपि महासागरों में पादप-जगत की दो प्रसृष्टियों अर्थात् हरितोद्भिदः (Bryophyta) और पर्णगादिकाः (Pteridophyta) का अभाव है, तथापि सर्वोच्च पादप बीजोद्भिदः (Spermatophyta) के पुष्पी पादपों (सवृंत वीज Angiosperms) की तीस जातियाँ पाई जाती हैं।

शून्य का आविष्कार

[अध्यापक दयालसिंह कोठारी, बी० एस-सी०, बी० एड० उदयपुर]

ईसा की आठवीं शताब्दी से पूर्व भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न सांख्यिक प्रणालियाँ प्रचलित थीं परन्तु इसके पश्चात ये प्रणालियाँ इस प्रकार लुप्त हो गईं जिस प्रकार सूर्योदय पर वृक्ष से लगाए मोम के फल वृक्ष से लुप्त हो जाते हैं। गणित या मानव संस्कृति के इतिहास में यह सूर्य '0' है जिसके उदय होने पर स्थानीय मान व दशमलवीय सिद्धान्त पर आधारित प्रणालियाँ सशक्त बन सकीं व पूर्व प्रचलित पद्धतियाँ केवल इतिहास की सामग्री मात्र रह गईं। शून्य के आविष्कार से संसार की विभिन्न सांख्यिक पद्धतियाँ कितनी प्रभावित हैं इसका अनुमान केवल इसी से लगाया जा सकता है कि जहाँ नव अंकों के लिए भिन्न-भिन्न प्रणालियों में भिन्न-भिन्न संकेत हैं वहाँ शून्य के लिए केवल एक ही संकेत है।

भारतवर्ष में शून्य का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से मिलता है। जर्मन विद्वान अर्नेष्ट लायमेन के कथनानुसार महात्मा महावीर ने आज ढाई हजार वर्ष पूर्व यह ज्ञात किया था कि किसी वृत की परिधि उसके व्यास व दश के वर्गमूल का गुणनफल है। ईसा की छठी शताब्दी में यही सूत्र सिद्धसेन गणी ने प्रयुक्त किया है। दश का वर्गमूल ज्ञात करने के लिए शून्य का ज्ञात होना परमावश्यक है। इस प्रकार ढाई हजार वर्ष पूर्व हमें शून्य ही नहीं वरन उसका परिगणनीय उपयोग भी ज्ञात था। सूर्य सिद्धान्त में प्रयुक्त शब्द पद्धति में अंक शब्द का प्रयोग नौ के लिए हुआ है (वसुद्वयष्टाद्रिरूपाङ्क सप्ताद्रि तिथयो युगे)। इससे प्रकट होता है सूर्य सिद्धान्त के लेखन काल से पूर्व, जो कम से कम ईसा की तीसरी शताब्दी से पूर्व का अवश्य है, हम आज की तरह नौ अंकों द्वारा संख्याओं को व्यक्त कर सकते थे जो शून्य के ज्ञात होने पर ही सम्भव था। विविध शब्द पद्धतियों में शून्य के लिए अभ्र, नभ, व्योम, गगन, अंतरिक्ष, शून्य, ख आदि वर्ण व शब्द शून्य के लिए प्रयुक्त हुए हैं। बिना शून्य की उपादेयता ज्ञात हुए काव्य ग्रन्थों में उसके लिए शब्द कैसे प्रयुक्त हो सकते हैं। इससे प्रकट होता है कि शब्द पद्धतियों से पूर्व (स्मरण रहे भारत से पूर्व शब्द पद्धति का प्रयोग अन्यत्र कहीं नहीं मिलता है), शून्य आविष्कृत हो चुका था। कश्यपादि पद्धति में भी शून्य को न ञ, व और स्वरों से व्यक्त किया गया है। आठवीं शताब्दी के अयवर्द्धन द्वितीय के काल की राधोली से प्राप्त ताम्रपत्र में उत्कीर्ण संवत ३० में शून्य का प्रयोग हुआ है। संसार में अन्यत्र कहीं शून्य का प्रयोग इससे पूर्व का नहीं मिलता है।

भारत के बाहर शून्य का प्रयोग उसके वास्तविक रूप में नहीं पाया जाता है। ईसा की चौथी व पाँचवीं शताब्दी में अमेरिका की अष्टदशीय विंशमय प्रणाली में अर्द्ध मुकुलित नेत्र सदृश शून्य स्थानीय मान को प्रकट करता था न कि रिक्त स्थान को। टालेमी (१३० ई०) ओमिक्रोम (Omicrom) द्वारा व २०० ई० पू० के बेबिलोनिया वासी (∠∠) दो चिन्हों द्वारा केवल अंक की उपस्थिति ही प्रकट कर सके और उसे परिगणनीय शक्ति प्रदान न कर सके।

इस प्रकार निर्विवाद सिद्ध है कि शून्य का आविष्कारक भारतवर्ष ही है। भारत से शून्य का प्रयोग उसके पड़ोसी देश अरब ने सीखा। भारत की शस्य श्यामली भूमि में उत्पन्न मंडलाकार शून्य का उन्नतो-

दर अरब की निर्जल मरु भूमि में पिचक कर बिन्दु मात्र रह गया। शून्य या रिक्त के लिए अरबी भाषा में सिफ्र (Sifr) जो आजकल Cipher लिखा जाता है। अरब से इसका प्रवेश युरोप में हुआ। यही कारण है कि कहीं-कहीं इसे भूल से अरबी प्रणाली का संकेत कहा गया है। युरोप में सबसे पूर्व यही शून्य या सिफ्र जिपिरो (Zepiro) शब्द के रूप में अनुदित हुआ। कालान्तर में यही Zepiro शब्द Zero में परिणत हो गया।

अब प्रश्न यह उठता है कि शून्य का आविष्कार कैसे हुआ होगा? पदार्थों को परम शून्य (Absolute Zero) तक शीतल करने या उन्हें प्रकाश की गति प्रदान शून्यवत करने की कल्पना भले ही आज हम कर सकें परन्तु गणितीय शून्य की कल्पना करना उतना सहज नहीं था जितनी सरलता से आज हम उसका परिगणन में प्रयोग करते हैं। लाप्लास (Laplace) नेपोलियन को लिखते हैं, "भारत की नवीन प्रतिभाशाली दस संकेतों वाली अंक प्रणाली की अत्यन्त सरलता से हम उसका वास्तविक मूल्यांकन करना भूल जाते हैं। इस अविष्कार की गरिमा का वास्तविक मूल्यांकन तो हम तभी कर सकते हैं जब कि हम यह स्मरण रखें कि आर्कमिडीज व अपोलोनियस सी इतिहास की दो महानतम प्रतिभाएँ तक इसकी कल्पना न कर सकीं।" थार्नडिक के अनुसार अबेकस (Abacus) का रिक्त स्थान ही शून्य के आविष्कार का जन्मदाता है। उदाहरणार्थ अबेकस के तीन हजार दो |: | | |: | को पट्टिका पर पहले ३∩ ∩२ लिखा गया होगा फिर शीघ्र व सुन्दर लेखन की दृष्टि से रिक्त स्थान को प्रकट करने वाला संकेत ∩ आधुनिक 'O' में परिणित हो गया होगा। थार्नडिक (Thorndyke) की यह सूक्ति यद्यपि युक्तिपूर्ण है फिर भी वास्तविकता से परे है। क्योंकि जिस काल में शून्य का आविष्कार हुआ वह काल गणित में यन्त्रप्रयोग के सर्वथा प्रतिकूल था। फिर भारत में अबेकस प्रयोग का उल्लेख कहीं नहीं मिलता है। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि अबेकस ही दूसरे देशों को शून्य को आविष्कृत करने में बाधक रहा क्योंकि अबेकस से गणना करने वालों को शून्य की आवश्यकता ही न थी। इस रिक्त स्थान के संकेत के आविष्कार की सूझ का कारण या तो पृथ्वी के चारों ओर गोलाकार फैला हुआ वायु-रहित रिक्त स्थान है या भारत की वह दार्शनिक विचार-धारा है जिसने संसार को क्षणभंगुर, माया, असार या शून्यवत कहा है। सम्भव है कि रिक्त स्थान को प्रकट करने के लिए शून्य का चुनाव पहले हुआ हो व उसका परिगणनीय उपयोग बाद में या शून्य परिगणना में समर्थ होने से ही संकेत का चुनाव किया गया हो या रिक्त स्थान की पूर्ति व परिगणना दोनों का समाधान साथ ही हुआ हो।

शून्य का आविष्कार जितना आश्चर्यजनक रहा है उसका परिगणनीय उपयोग भी उतना ही आश्चर्यजनक व समस्यापूर्ण है। समीकरण के दोनों पक्षों में यदि किसी संख्या को जोड़ें, घटाएँ, गुणा करें या विभाजित करें तो समीकरण अपरिवर्तनशील रहता है, शून्य से विभाजित करने पर उक्त नियम असत्य हो जाता है। कल्पना कीजिए आपके पास एक रुपया है व आप 'शून्य रुपए' प्रत्येक व्यक्ति को देना चाहते हैं तो आप कितने व्यक्तियों में अपना धन वितरण कर सकेंगे? उत्तर में कहेंगे कि हम लाखों करोड़ों लोगों में ही नहीं वरन असंख्य, अनन्त व्यक्तियों में अपना धन वितरण कर सकेंगे। इस प्रकार किसी संख्या को शून्य से विभाजित किया जाए तो भजनफल संख्या भिन्न या शून्य नहीं वरन अनन्त होगा जिसका कोई पार नहीं है।

इस अनन्त में यदि आप कुछ जोड़ें या घटावें तो अनन्त में कोई परिवर्तन नहीं होगा। इसकी थोड़ी-सी कल्पनायें की जा सकती हैं कि समुद्र की अपार जलराशि अनन्त बून्दों से बनी है यदि हम उसमें कुछ बूँदे और मिला दें तो जल की अनन्त राशि में नगण्य परिवर्तन होगा। भास्कराचार्य (११ वीं शताब्दी) इसी अनन्त की तुलना ईश्वर

से करते हुए लिखते हैं "जिस प्रकार अनन्त में कुछ जोड़ने या घटाने से वह अपरिवर्तनशील रहता है इसी प्रकार जगत में जीवों की उत्पत्ति या पतन का अपरिवर्तनशील ईश्वर पर कोई परिवर्तन नहीं होता है। किसी संख्या को शून्य से विभाजित न कर शून्य को संख्या से विभाजित करें तो क्या परिणाम होगा ? यदि आपके पास शून्य रुपए हैं और आप कुछ रुपया प्रत्येक व्यक्ति को देना चाहते हैं तो आप अपना धन कितने व्यक्तियों में विभाजित कर सकेंगे ? उत्तर में आप कहेंगे कि शून्य व्यक्तियों को। जिस प्रकार विषधर नाग को दूध पिलाने से परिणाम विष ही रहता है इसी प्रकार शून्य की संख्या से विभाजित करने पर परिणाम शून्य ही रहता है। किसी संख्या को उसी से विभाजित करने पर परिणाम एक होता है परन्तु शून्य को शून्य से विभाजित करने पर परिणाम अगणित होता है न कि एक। इसी प्रकार किसी संख्या या भिन्न का घात शून्य हो तो परिणाम प्रत्येक दशा में एक ही रहता है। इस प्रकार शून्य के परिगणनीय उपयोग में अपार कुतूहल व उलझन भरी हुई है।

शून्य के आविष्कार से गणित के इतिहास में जबरदस्त क्रान्ति होगई। लान्सिलोट होगवन अपनी "मेथेमेटिक्स फार मिलियन्स" में लिखते हैं, "गणित के समूचे इतिहास में गणिका के रिक्त स्थान को प्रकट करने के लिए हिन्दुओं के संकेत '0' शून्य से बढ़कर कोई क्रान्तिकारी कदम अभी तक नहीं उठाया गया है। शून्य के आविष्कार ने मानव प्रतिभा को सदैव के लिए गणिका की दासता से मुक्त कर दिया।" शून्य के आविष्कार से ४२,४०२,४२० आदि के लेखन भेद की जो समस्या थी वह सदैव के लिए समाप्त हो गई। साथ ही शून्य के आविष्कार से संकेतों में आश्चर्यजनक कमी होगई। अब दस, बीस, तीस आदि के लिए अलग-अलग संकेतों की आवश्यकता न रही। रिक्त स्थान की पूर्ति व संकेतों में कमी करने पर भी शून्य अपूर्ण रहता यदि वह परिगणन में अशक्त होता। प्रोफेसर हान्सटेड के अनुसार "इस आकाशीय काल्पनिक शून्य को स्थानीय मान, नाम, चित्राकृति या संकेत ही नहीं वरन उपयोगी शक्ति प्रदान करना उस हिन्दू जाति की विशेषता है जहाँ से इसका उदय हुआ। कोई अकेला गणिनीय आविष्कार मानव प्रतिभा व शक्ति के विकास में इतना अधिक सशक्त प्रमाणित नहीं हुआ जितना कि यह आविष्कार।" शून्य भारतवर्ष की महान देन है।

इतने महान आविष्कार का आविष्कारक कौन है ? कौन है वह महान प्रतिभा जिसने संसार को शून्य का महान गुप्त दान दिया ? सृष्टि के निर्माता की तरह शून्य का महान आविष्कारक भी अज्ञात है। शून्य के महान आविष्कारक ने नाम व ख्याति को क्षणिक मानकर अपने नाम को शून्यवत संसार में लय कर दिया। वह महान आविष्कारक गणित के इतिहास में ही नहीं वरन डानजिंग के शब्दों में "संस्कृति के इतिहास में सदैव के लिए अजर अमर रहेगा।"

अणु विज्ञान के चमत्कार

अणुशक्ति चालित छोटे से बिजलीघर का निर्माण

वाशिंगटन के निकट फोर्ट वैल्वायेर में एक ऐसा छोटा सा अणुशक्ति चालित बिजलीघर तैयार किया जा रहा है, जिसके कल एवं पुर्जों को हवाई जहाज द्वारा आसानी से एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाया जा सकेगा।

नमूने के तौर पर बने इस बिजलीघर से १७०० की आबादी वाले एक छोटे से कस्बे को बिजली मिल सकती है। इसे उन जगहों में इस्तेमाल किया जा सकेगा, जहाँ कोयले और तेल जैसा ईंधन आसानी से नहीं पहुंच पाता।

इस बिजलीघर के लिए आणविक भट्टी का निर्माण किसी प्राइवेट कम्पनी से कराया जायेगा। आशा है कि यह छोटा सा आणविक बिजलीघर दो या तीन वर्षों में चालू हो सकेगा।

अमेरिकी अणुशक्ति कमीशन के आणविक भट्ठी निर्माण विभाग के निर्देशक डा० लारेन्स ने बताया कि परीक्षण के उद्देश्य से बनी आणविक भट्ठी से एक तो कम दाम में बिजली मिल सकेगी और दूसरे वैज्ञानिकों के लिए भी यह अनुभव उपयोगी सिद्ध होगा।

डा० लारेन्स ने बताया कि अमेरिकी अणुशक्ति कमीशन को यह आशा है कि उक्त भट्ठी की उपयोगिता को देखने के बाद तेल और कोयले की सहायता से चलने वाली भट्ठियों के स्थान पर इसे प्रयुक्त किया जायेगा। इस तरह अणुशक्ति के "शान्ति-कालीन कार्यों में उपयोग" की शृंखला में एक और कड़ी की वृद्धि हो जाएगी।

अणुशक्ति द्वारा पशु-आहार सम्बन्धी अनुसन्धान

अमेरिकी कृषि विभाग आणविक भट्ठी में तैयार हुए रेडियो सक्रिय आइसोटोप्स को पशु-आहार तथा रोगों सम्बन्धी नये तथ्यों की खोज करने के सम्बन्ध में व्यापक रूप से इस्तेमाल कर रहा है।

अमेरिकी कृषि विभाग के डाक्टर वायरन टी० शा के कथनानुसार इस अध्ययन का उद्देश्य पशु-रोगों की रोकथाम में किसानों की सहायता करना तथा अधिक अच्छे पशु और अधिक अच्छी पशु आहार सामग्री का विकास करना है।

आपने यह भी बताया कि यह पता लगाने के लिए कि गाय का दूध किस तरह बनता है, वैज्ञानिक रेडियो आइसोटोप्स की सहायता से महत्वपूर्ण अध्ययन कर रहे हैं।

'रेडियो कार्बन' की सहायता से (जो कार्बन रेडियो आइसोटोप्स का ही दूसरा नाम है) वैज्ञानिक गाय के थनों में प्रवाहित होने वाले एसीटेड और दूसरे पदार्थों का पता लगा रहे हैं। गाय की नसों में ग्लूकोज को इंजेक्शन के जरिये पहुंचा कर भी परीक्षण किये जा रहे हैं। रेडियो सक्रिय नाइट्रोजन की सहायता से वैज्ञानिक 'यूरिया' के सम्बन्ध में पता लगा रहे हैं, ताकि नाइट्रोजन युक्त खुराक पशुओं को मुहैया करने के लिए एक अतिरिक्त श्रोत की खोज की जा सके।

भेड़ों और मुर्गियों के लिए विटामिन बी-१२ की क्या उपयोगिता है, इस बात की जांच के लिए रेडियो सक्रिय कोबाल्ट का प्रयोग किया जा रहा है तथा हड्डियों के निर्माण के बारे में अनुसन्धान करने के लिए रेडियो सक्रिय केल्सीयम और फास-फोरस उपयुक्त किये जा रहे हैं। मुर्गियों और पशुओं को कुछ परेशान कर देने वाली भीषण बीमारियों की खोज के लिए भी रेडियो आइसोटोप्स का प्रयोग किया जा रहा है।

विज्ञान-समाचार

नमी और भूमि संरक्षण पर गवेषणा कार्य

[*श्री जे० के० बसु०, भारत सरकार के भूमि-संरक्षण-निर्देशक*]

भूमि संरक्षण और सूखे खेतों में कृषि करने के नये तरीकों ने भूमि के क्षरण और वर्षा की कमी की कठिनाई को हल करने में बड़ी मदद दी है।

भारत के विभिन्न राज्यों, विशेषकर बम्बई, हैदराबाद, पंजाब और पश्चिमी बंगाल में पिछले २५ वर्षों से भूमि संरक्षण और सूखी खेती के विषय में गवेषणा हो रहा है। कई अन्य राज्यों में, गवेषणा करके निकाले गये तरीकों से खेत, वन तथा चरभूमि से जल और भूमि का संरक्षण किया गया है और खेती का सुधार किया गया है।

डा० शा के कथनानुसार "चूँकि सभी पशुओं के मूल आहार में कार्बन मिला रहता है, इसलिए रेडियो सक्रिय-कार्बन—१४ पशुओं सम्बन्धी खोज के लिए विशेष रूप से उपयोगी है। इसकी सहायता से दूध बनने से लेकर अंडों और ऊन आदि तक के निर्माण के सम्बन्ध में अन्वेषण कार्य चालू हैं।"

अणुशक्ति द्वारा पौधों का रोग से बचाव

अमेरिका में पौधों को फफून्दी लगने के रोग से बचाने के लिए रेडियो सक्रिय अणुओं से जो परीक्षण किये गये हैं, उनमें काफी सफलता मिली है और इससे अणुशक्ति के शान्तिकालीन उपयोगों में एक और की वृद्धि हुई है।

जिन पौधों को कुछ समय के लिए आणविक किरणों के प्रभाव-क्षेत्र में रखा जाता है, उनमें ५० प्रतिशत तक रोग प्रतिरोध की क्षमता बढ़ जाती है। पौधों के विशेषज्ञ डा० पौल वागनर ने कनैटीकट स्थित न्यूहैवन की कृषि प्रयोगशाला में इस तरफ के परीक्षण किये हैं।

इस तरह भविष्य में पौधों को कई तरह के अन्य ऐसे रोगों से बचाया जा सकेगा, जिनकी रोकथाम की विधियों के बारे में अबतक कुछ भी जानकारी नहीं है।

अणुशक्ति द्वारा खाद्य को सुरक्षित रखने में सहायता

आणविक विकिरण द्वारा खाद्य पदार्थों को सुरक्षित रखने के क्षेत्र में अमेरिकी अणुशक्ति कमीशन ने काफी प्रगति की है। अमेरिकी अणुशक्ति कमीशन की बुकहैवन स्थित प्रयोगशाला में, ताजी सब्जियों, गोश्त तथा रोटी के जीवाणुओं (बैक्टीरिया) को आणविक किरणों द्वारा नष्ट करके कई महीनों तक सुरक्षित रखा गया है। इस नई खोज के परिणाम-स्वरूप संसार के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक ताजे खाद्य-पदार्थों को आसानी से भारी मात्रा में भेजा जा सकेगा। अमेरिकी सेना, अमेरिकी मांस संस्था, जनरल इलैक्ट्रिक कम्पनी तथा मिशिगन यूनिवर्सिटी में इसी तरह का अनुसन्धान कार्य हो रहा है।

अणुशक्ति द्वारा उद्योगों की सहायता

अमेरिकी अणुशक्ति कमीशन की रिपोर्ट के अनुसार अमेरिका की ८६० औद्योगिक कम्पनियाँ निर्माण सम्बन्धी सुधार कार्यों के लिए अणुशक्ति को प्रयुक्त कर रही हैं। उद्योगों में धातुओं की शुद्धता और सरल धातु के प्रवाह मार्ग का पता लगाने के लिए रेडियो आइसोटोप्स को प्रयुक्त किया जाता है।

अमेरिकी अणुशक्ति कमीशन की इस रिपोर्ट से यह भी पता चलता है कि अमेरिकी उद्योगों को रेडियो आइसोटोप्स के प्रयोग से १० करोड़ डालर की वार्षिक बचत आजकल हो रही है।

[—पी० पी० आई० के सौजन्य से]

मद्रास के 'हगारी' गवेषणा केन्द्र ने पता लगाया है कि ज्वार बोते समय मेंड़ बाँधने से खेत में लगभग २५ प्र० श० नमी बढ़ जाती है। मेंड़ बाँधने के लिए यहाँ के किसान एक नया औजार काम में ला रहे हैं। खोज से यह भी पता चला है कि पौदों के बीच में अधिक स्थान छोड़ने और कपास तथा ज्वार की फसलों को लगातार बोने के बजाय एक फसल के बाद परती छोड़ देने से अच्छी पैदावार होती है। 'हगारी' गवेषणा केन्द्र ने ज्वार की एक नयी किस्म 'एच० आई०' तैयार की है जो अधिक पैदावार देती है। किसानों को इसी किस्म का प्रयोग करने की सलाह दी जा रही है।

सूखे खेतों में अधिक पैदावार (जारी)

हैदराबाद में १० साल की गवेषणा के बाद ज्वार की एक नयी किस्म 'एम० ३५ आई०' तैयार की गई है जो अधिक अच्छी पैदावार देती है। यहाँ भी ज्वार को लगातार बोने के बजाय एक फसल के बाद परती छोड़ देने से लाभ हुआ है। इससे लगभग ८५ प्र० श० अधिक अच्छी फसल हुई। हैदराबाद में भी खेत में नमी बनाये रखने और पैदावार बढ़ाने के लिए मेंड़ बाँधना लाभदायक सिद्ध हुआ है।

पंजाब के रोहतक गवेषणा केन्द्र ने अनेक प्रयोग करके पता लगाया है कि देशी हल से मिट्टी को पलटने से चने की फसल लगभग ६५ प्र० श० बढ़ जाती है। सूखी खेती के तरीकों से ५० प्र० श० खेत की नमी सुरक्षित की जा सकती है।

पश्चिमी बंगाल में शान्ति निकेतन विश्वभारती में पिछले ८ वर्षों से गवेषणा कार्य हो रहा है। पता चला है कि जमीन को बिना घास-पात लगाये छोड़ देना हानिकारक होता है। नमी बनाये रखने और जमीन के क्षरण को रोकने के लिए घास बड़ी अच्छी होती है। पश्चिमी बंगाल में भूमि-क्षरण रोकने के लिए मूँगफली की फसल सबसे अच्छी साबित हुई है।

बम्बई में १९२६ में ही सूखे खेतों की समस्या सुलझाने के लिए वैज्ञानिक तरीके से काम शुरू किया गया था। तब किसानों के लाभ के अनेक काम किए जा चुके हैं। बम्बई के सूखे भागों में सूखी खेती के नये तरीकों से ज्वार की लगभग ढाई गुनी अधिक पैदावार की गयी है।

रेडियो-सक्रिय संखिये का उपयोग

रेडियो-सक्रिय संखिया के प्रयोग से मस्तिष्क की रसोलियों का प्रारम्भिक अवस्था में ही पता लग जाता है। ये रसोलियाँ कैन्सर फोड़ों ही की एक किस्म हैं तथा कैन्सर से पीड़ित कुल व्यक्तियों में से पांच प्रतिशत व्यक्ति इन रसोलियों से पीड़ित पाये गये हैं। यह औषधि उन नयी आणविक औषधियों में से एक है, जो अणुशक्ति के कल्याणकारी कार्यों में वृद्धि करती हैं। ये आणविक औषधियाँ चिकित्सकों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हो रही हैं।

अभी हाल में अमेरिकी चिकित्सा संघ की एक बैठक हुई थी। इस बैठक में भौतिक विज्ञान-शास्त्री डा० गोर्डन एल० ब्रौनेल तथा बोस्टन स्थित मैसाच्यूसेट्स जनरल अस्पताल में मस्तिष्क की चीर-फाड़ कला के विशेषज्ञ डा० विलियम एच० स्वीट ने रेडियो-सक्रिय संखिया का प्रयोग करने की यह विधि संघ के सदस्यों को बतायी।

रसोलियों का पता लगाने की विधि

रेडियो-सक्रिय संखिया रोगी की नस में सुई लगा कर खून में पहुँचाया जाता है। संखिये की मात्रा इतनी कम होती है कि उससे रोगी को जहर चढ़ने का खतरा उत्पन्न नहीं होता। इसके बाद रोगी एक घण्टे तक लेटा रहता है। उसका सिर प्लास्टिक के बने हुए दो बाजुओं के बीच आराम से टिका दिया जाता है। ये बाजू उस मशीन से जुड़े रहते हैं, जो रेडियो-सक्रिय संखिया से निकलने वाली किरणों को रेकार्ड करती है।

रेडियो-सक्रिय संखिया उन रासायनिक पदार्थों में से एक है, जो मस्तिष्क की रसोलियों में संचित

हो सकते हैं। मशीन निरन्तर रोगी के सिर के हर भाग की पूर्व निश्चित गति से सूक्ष्म रूप से जाँच करती रहती है और मस्तिष्क के जिस भाग में संखिया संचित हो उसका पता लगाती रहती है। यह कागज पर बने मस्तिष्क के एक खाके में सीधी और आड़ी रेखायें अंकित करती जाती है।

रसोली होने की स्थिति में

यदि मस्तिष्क में किसी स्थान पर रसोली होती है, तब जिस स्थान में यह रसोली हो वहाँ रेखायें बहुत घनी हो जाती हैं। यदि रेखायें आड़ी हों, तो इसका अभिप्राय यह है कि रसोली दाहिनी ओर है। यदि रेखायें सीधी हों, तब रसोली बाईं ओर होगी।

रसोली का पता लगाने का यह नया उपाय बिल्कुल सरल है और रोगी को इसमें किसी प्रकार की पीड़ा भी नहीं होती। इससे पहले इस बीमारी का पता लगाने के लिए जो उपाय बरते जाते थे, उनमें शल्यक्रिया द्वारा रोगी के मस्तिष्क में हवा या रंग भर जाते थे। अब ऐसा कठिन उपाय बरतने की कोई आवश्यकता शेष नहीं रह गयी।

७५ प्रतिशत सफलता

यह उपाय अब तक ३०० रोगियों की जाँच में बरता जा चुका है। इसके फलस्वरूप मस्तिष्क की रसोली का ठीक ठीक पता चलने में लगभग ७५ प्रतिशत सफलता मिली है। मस्तिष्क में पाये जाने वाले अन्य फोड़ों की जानकारी में इससे भी कहीं अधिक सफलता इस उपाय से प्राप्त हुई है।

डा० स्वीट इस उपाय को इतना अधिक सही मानते हैं कि यदि रोगी के लक्षणों से यह प्रकट हो कि उसके मस्तिष्क में रसोली है और इस बात की पुष्टि नई मशीन से भी हो जाए, तो वे रसोली के स्थान का किसी अन्य उपाय से पता लगाने की कोशिश न कर फौरन ही मस्तिष्क का आपरेशन कर देते हैं।

नयी मशीन बनायी जा रही है

इसके साथ ही साथ डा० स्वीट और डा० ब्रोनैल एक नयी मशीन का भी निर्माण कर रहे हैं। उन्हें आशा है कि इस नयी मशीन से मस्तिष्क की रसोलियों का और भी अधिक सही ज्ञान हो सकेगा।

एक और महत्वपूर्ण लाभ

इस नये उपाय का एक महत्वपूर्ण लाभ यह भी है कि इससे मस्तिष्क की रसोली, मस्तिष्क में खून के प्रवाह और जमाव इत्यादि सब बातों का पता चल जाता है। मस्तिष्क में ऐसा भी विकार होने पर यह उपाय रसोली और इन विकारों के अन्तर को स्पष्ट बतला देता है। रक्त का अभाव या प्रवाह होने की दशा में रेडियो-सक्रिय संखिया मस्तिष्क के ऐसे भाग में संचित नहीं होता। यह बात उन रोगियों की दृष्टि से उपयोगी है, जिनके सम्बन्ध में अस्पष्ट लक्षणों के कारण यह पता चलना कठिन है कि वे मस्तिष्क में रसोली होने के कारण रोगी हैं अथवा मस्तिष्क में खून जम जाने या खून के बह निकलने के कारण इससे पीड़ित हैं।

ऐसे रोगियों की बीमारी में थोड़ा बहुत सुधार हो जाने से प्रायः यह भ्रम हो जाता है कि उनके मस्तिष्क में रसोली की शुरू में उपेक्षा हो जाती है। बाद में नये लक्षणों के प्रकट होने पर जब इस बात का पता चलता है कि रोगी रसोली से पीड़ित है, तब तक मर्ज इतना बढ़ चुका होता है कि उसे बचाना कठिन हो जाता है।

समुद्र से अधिक और अच्छा भोजन

भारत में लंका के स्थल मार्ग पर अंतिम भारतीय चौकी धनुष कोटि से बीस मील दूर मंडपम नामक छोटा-सा गाँव है। दूसरे महायुद्ध के समय यहाँ एक नौसैनिक अस्पताल बनाया गया था पर आजकल यहाँ उष्ण प्रधान क्षेत्रों की समुद्री मछलियों का संसार का सबसे बड़ा गवेषणा केन्द्र है। इसकी ख्याति पूर्व में ही नहीं बल्कि सब तरफ फैल चुकी है। यह केन्द्र १९४९ में स्थापित किया गया था और अभी तक इसकी आशातीत प्रगति हुई है।

समुद्र में मछली पकड़ना एक उद्योग है और

दूसरे उद्योगों की भाँति इसकी उन्नति के लिए भी गवेषणा की आवश्यकता है। पर मत्स्य विज्ञान बड़ा दुस्साध्य विषय है। क्योंकि मछलियों का रहने का कोई ठिकाना नहीं होता इसलिए उनके बारे में जानकारी प्राप्त करने के लिए विशेष तरीके काम में लाने पड़ते हैं।

मछलियों सम्बन्धी जानकारी

कोई भी नीति निर्धारित करने से पहले इस बात के आवश्यक आंकड़ों का होना जरूरी है कि साल में कुल कितनी मछली पकड़ी जाती है, इसमें वृद्धि या कमी हो रही है ? यदि कमी हो रही है तो क्यों ? स्पष्ट है कि ये सब काम एक गवेषणा केन्द्र पर ही नहीं हो सकते। इसलिए कई स्थान पर सहायक केन्द्र काम कर रहे हैं। कालीकट में मछलियों के, विशेषकर सार्डीन किस्म के तेल वाली मछलियों के, घटने बढ़ने के सम्बन्ध में खोज की जाती है। बम्बई राज्य के करवाड केन्द्र में भारतीय समुद्र की सबसे उपयोगी मछली 'मैकेरेल' की जानकारी एकत्र की जाती है। इसी प्रकार कोचीन के निकट नारक्कल में 'प्रौन' और मद्रास में 'क्लैम' 'आयस्टरी' तथा 'स्क्विड्स' किस्म की छोटी और घटिया किस्म की मछलियों के बारे में खोज की जाती है।

काठियावाड़ को छोड़कर भारत ३,००० मील लम्बे तटप्रदेश में १६५२ में लगभग ५ लाख २ हजार टन, १६५१ में ५ लाख ४ हजार टन और १६५० में ५ लाख ५१ हजार टन मछलियाँ पकड़ी गयीं। मंडपम केन्द्र के कार्यकर्ता इस घट-बढ़ का कारण खोजने का यत्नकर रहे हैं, पर यह काम काफी टेढ़ा है।

कहाँ कितनी मात्रा में मछलियाँ मिलती हैं इसकी पड़ताल के अतिरिक्त विभिन्न किस्म की मछलियों के स्वभाव और उनके जीवन सम्बन्धी दूसरी बातों का भी अध्ययन करना होता है। इससे यह पता लग सकता है कि 'सारडीन', 'मैकेरेल' और 'शार्क' जैसी बढ़िया मछलियाँ किस प्रकार बहुतायात से पैदा हो सकती हैं।

सब वैज्ञानिक यह मानते हैं कि मछलियाँ वहीं अधिक होती हैं जहाँ उनके खाने के लिये जीवाणु बहुतायत से हों। वनस्पति और जीवों के ये अणु 'प्लैंकटौन' कहलाते हैं। प्लैंकटौन समुद्र जल के पोषक नमक खाकर जीते हैं। मंडपम में पता लगाया गया है कि 'प्लैंकटौन घटने-बढ़ने का मछलियों की तादाद पर असर पड़ता है।

मछलियों के बारे में भविष्यवाणी

मौसम की तरह मछलियों के बारे में भी भविष्यवाणी की जाती है। वह समय दूर नहीं जब यह बताया जा सकेगा कि किस किस्म की मछलियों का शिकार किस मौसम में और कहाँ करना चाहिए। इस प्रकार मछली पकड़ने का उद्योग खूब चमक सकता है और विदेशी मुद्रा के रूप में इससे लाखों रु० कमाया जा सकता है।

नये तरीके

मंडपम के गवेषणा केन्द्र में मछलियाँ पकड़ने की केवल बुनियादी समस्याओं के सम्बन्ध में ही काम नहीं होता बल्कि इसके विकास के नये तरीके भी निकालने की कोशिश की जा रही है। ४० एकड़ बंजर और निचली जमीन में समुद्र का पानी भरकर नियंत्रित पर साथ ही प्राकृतिक हालतों में किन्हीं खास किस्म की मछलियों के पालने का परीक्षण करने की योजन शीघ्र ही शुरू होने वाली है।

पिछले कुछ सालों में शार्क के तेल का उद्योग हमारे देश में काफी बना है। इसलिए मंडपम केन्द्र में शार्क की नस्ल बढ़ाने वाले कारणों और इससे दूसरी किस्म की मछलियों पर होने वाले प्रभाव की खोज की जा रही है यह गवेषणाकार्य यहाँ की एक महिला अफसर के हाथ में है।

सुदूर पूर्व के देश में भारतीय प्रौन मछली की काफी माँग है। पिछले साल कोचीन से ८५ लाख रु० की मछलियाँ इन देशों को भेजी गयीं। व्यापारिक पैमाने पर 'प्रौन' के पालने और इसके पकड़ने के काम को और बढ़ाने के लिए भी यह केन्द्र काफी काम कर रहा है।

सरल विज्ञान ग्रंथावली

लेखक—जगपति चतुर्वेदी, सहा० सम्पा०, 'विज्ञान'

सरल विज्ञान ग्रन्थावली हिन्दी में लोकप्रिय वैज्ञानिक साहित्य सरल रूप में प्रस्तुत करने का एक नवीन तथा अभूतपूर्व प्रयास है। सभी पुस्तकें केवल एक लेखक द्वारा लिखी हुई हैं। लगभग १५० या २०० पृष्ठों तथा बहु-संख्यक चित्रों के साथ प्रत्येक का मूल्य २) है।

भौतिक विज्ञान

बिजली की लीला—बिजली के वैज्ञानिक मर्म, तार टेलीफोन, विद्युत्प्रकाश, एसरे रेडियो आदि की कहानी।

परमाणु के चमत्कार—परमाणु सम्बन्धी वैज्ञानिक खोजों तथा परमाणु बम, उदजन बम आदि के मर्म की कहानी।

भूगर्भ वि०, पुरा-जीवविज्ञान, पुरा-वनस्पति विज्ञान

विलुप्त जन्तु—प्रस्तरावशेषों के आधार पर पचास करोड़ वर्षों तक पुराने जन्तुओं के वंश लोप होने की कहानी।

भूगर्भ विज्ञान—धरती के निर्माण तथा अंतः और वाह्य अंगों के रूप परिवर्तन की विलक्षण कहानी।

विलुप्त वनस्पति—प्राचीन काल के प्रस्तरावशेषों के आधार पर पचास कोटि वर्षों तक पुराने वनस्पति वंशों की कहानी।

कोयले की कहानी—पत्थर कोयले की उत्पत्ति तथा वैज्ञानिक शोध और उपयोग की कहानी।

ज्वालामुखी—धरती के आंतरिक भाग में ज्वाला उत्पन्न होने के कारण तथा संसार के ज्वालामुखियों की कहानी।

रसायन

तत्वों की खोज में—रासायनिक तत्वों के अनुसंधान तथा उनके अन्वेषक वैज्ञानिकों की मनोरंजक कहानी।

साधारण

वैज्ञानिक आविष्कार—भाग १, २—पुरानी तथा नई वैज्ञानिक खोजों की विशद कहानियाँ।

आविष्कारकों की कहानी—युगान्तरकारी आविष्कारकों तथा वैज्ञानिकों की कथा।

वनस्पति विज्ञान

वनस्पति की कहानी—वनस्पति के जन्म, वृद्धि क्रियाकलाप, तथा भेद प्रभेदों की कहानी।

चिकित्सा विज्ञान, कीटाणु विज्ञान

जीने के लिए—रोगों और कीटाणुओं का मर्म ज्ञात करने वाले वैज्ञानिकों की मार्मिक कहानी।

कीटाणुओं की कहानी—रोग उत्पन्न करने वाले तथा अन्य सूक्ष्मदर्शकीय कीटाणुओं और परम कीटाणुओं की कहानी।

पेनिसिलिन की कहानी—रसायन चिकित्सा तथा पेनिसिलिन के अविष्कार, की कहानी।

शल्य विज्ञान की कहानी—शरीर में चीरफाड़ करने के प्राचीन तथा नवीन ज्ञान की कहानी।

जीव-जन्तु विज्ञान

समुद्री जीव-जन्तु—समुद्र के अन्दर रहने वाले अद्भुत रंग-रूपों के जंतुओं का वर्णन।

अद्भुत जन्तु—अद्भुत रङ्ग रूप के जन्तुओं की कहानी।

विलक्षण जन्तु—विचित्र आकार प्रकार के जन्तुओं का वर्णन।

पक्षी ग्रन्थावली—पक्षियों के रङ्ग रूप, जीवनक्रम, निवास सन्तानोत्पादन, स्वभाव भेद तथा पहचान का वर्णन।

१—शिकारी पक्षी	२)
२—जलचर पक्षी	२)
३—वन वाटिका के पक्षी	२)
४—वन उपवन के पक्षी	२)
५—उथले जल के पक्षी	२)

विज्ञान परिषद्, प्रयाग

Reg. NO 372

Approved by the Directors of Education, Uttar Pradesh
and Madhya Pradesh for use in Schools:
Colleges and Libraries

विज्ञान परिषद् के मुख्य नियम

परिषद् का उद्देश्य

१—१९७० वि० या १९१३ ई० में विज्ञान परिषद् की इस उद्देश्य से स्थापना हुई कि भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य का प्रचार हो तथा विज्ञान के अध्ययन को और साधारणतः वैज्ञानिक खोज के काम को प्रोत्साहन दिया जाय।

परिषद् का संगठन

२—परिषद् में सभ्य होंगे। निम्न निर्दिष्ट नियमों के अनुसार सभ्यगण सभ्यों में से ही एक सभापति, दो उप-सभापति, एक कोषाध्यक्ष, एक प्रधानमन्त्री, दो मन्त्री, एक सम्पादक और एक अंतरंग सभा निर्वाचित करेंगे जिनके द्वारा परिषद् की कार्यवाही होगी।

सभ्य

२२—प्रत्येक सभ्य को ६) वार्षिक चन्दा देना होगा। प्रवेश शुल्क ३) होगा जो सभ्य बनते समय केवल एक बार देना होगा।

२३—एक साथ १०० रु० की रकम दे देने से कोई भी सभ्य सदा के लिए वार्षिक चन्दे से मुक्त हो सकता है।

२६—सभ्यों को परिषद् के सब अधिवेशन में उपस्थित रहने का तथा अपना मत देने का, उनके चुनाव के पश्चात् प्रकाशित, परिषद् की सब पुस्तकों, पत्रों, तथा विवरणों इत्यादि को विना मूल्य पाने का—यदि परिषद् के साधारण धन के अतिरिक्त किसी विशेष धन से उनका प्रकाशन न हुआ—अधिकार होगा। पूर्व प्रकाशित पुस्तकें उनको तीन चौथाई मूल्य में मिलेंगी।

२७—परिषद् के सम्पूर्ण स्वत्व के अधिकारी सभ्य वृन्द समझे जायेंगे।

प्रधान संपादक—डा० हीरालाल निगम
सहायक संपादक—श्री जगपति चतुर्वेदी

नागरी प्रेस, दारागंज, प्रयाग

प्रकाशक—विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ० ।३।५।

भाग ८१ | मेष २०१२; अप्रैल १९५५ | संख्या १

चींटी-चींटों की दुनिया

चींटी-चींटों का संसार हमसे बहुत अधिक अपरिचित नहीं है। छोटे आकार होने के कारण चींटी तथा बड़े आकार होने के कारण चींटे नाम से इसकी जातियाँ प्रसिद्ध हैं परन्तु वैज्ञानिक इन सबको कुछ व्यापक गुणों के कारण एक वंश के अंतर्गत मानते हैं जिसका नाम पिपीलिका वंश (फार्मिसाइडी) रखा गया है। हम चींटों की चर्चा उतनी अधिक नहीं पाते, परन्तु नन्हीं-सी चींटी के सतत अध्यवसाय एवं विचित्र सामाजिक व्यवस्था के संबंध में साधारण पाठ्य-ग्रन्थों में भी लेख और कविताएँ संगृहीत पाते हैं। ये लेख कुछ वैज्ञानिकों के प्रारंभिक कार्यों के कुछ आधार लेकर तथा साधारण रूप में उनकी बाह्य गतिविधि देखकर हमारी पूर्व पीढ़ी के कुछ लेखकों द्वारा लिखे होते हैं। जहाँ तक हमारे देश की प्राचीन साहित्य-परम्परा या वैज्ञानिकता का प्रश्न है, इस विषय को हम अछूता ही कह सकते हैं।

आधुनिक काल में चींटे-चींटी जगत के आन्तरिक जीवन की गवेषणा करने में संसार के शोधकों ने आश्चर्यजनक कार्य किया है। हम लोग आज भी ऐसे शोधकार्यों में अन्य उन्नत देशों के प्रयत्नों के सामने निष्क्रिय से ही हैं। अतएव पिपीलिका-जगत के आन्तरिक जीवन, स्वभाव कौशल, बुद्धि तथा सामाजिकता के सम्बन्ध में संसार के शोधकों के जो प्रयत्न हुए हैं, उनके फलस्वरूप हमें आज इन छोटे जन्तुओं की यथार्थ जीवन-कथा बहुत कुछ सत्य रूप में ज्ञात हो सकी है। किन्तु आज भी जितनी पिपीलिका जातियों का ज्ञान हो सका है, उनमें से थोड़ी जातियों के जीवन का ही पर्यवेक्षण तथा ज्ञान प्राप्त करना सम्भव हो सकता है। संसार के शोधकर्ता जितने मनोयोग तथा कष्टसहिष्णुता के साथ इन क्षुद्रकाय जीवों की जीवन-कथा जानने में संलग्न हो सके हैं, उनके ज्ञात तथ्य भी बड़े ही विस्मयजनक हैं। उनके द्वारा ज्ञात तथ्यों से हमें कितनी ही पुरानी भ्रान्तियों को दूर करने तथा नवीन सत्य ज्ञात करने में सफलता प्राप्त हो सकी है। अतएव जिस सूक्ष्म जीव-जगत की कथा हम स्वयं अपने पर्यवेक्षणों तथा शोधों द्वारा

आगे बढ़ाने में संलग्न नहीं होते, अन्य देशीय विज्ञान-शोधकों द्वारा उसके सम्बन्ध की ज्ञात की हुई कथा को जानना तो हमारे लिए अत्यन्त आवश्यक ही है। अतएव हम इस सम्बन्ध में कौतूहलवृद्धि के लिए इन जन्तुओं की वैज्ञानिकों द्वारा ज्ञात जीवन-कथा का इस पुस्तक में वर्णन करेंगे

हम लोगों को प्रायः यह पढ़ने का अवसर मिलता है कि पिपीलिकाएँ कितनी अधिक परिश्रमी होती हैं। उनके जीवन में अधिकांशतः अध्यवसाय ही पाया जाता है। वे विलक्षण सामाजिकता भी रखती हैं जिनकी तुलना मानव-समाज नहीं कर सकता। परन्तु आज के नवीन शोधों द्वारा हमारी ये मान्यताएँ असत्य ही सिद्ध हो सकी हैं। हम चींटे-चीटियों को दृष्टि के सम्मुख धरातल पर सतत चलते-फिरते सा ही देखते हैं किन्तु वैज्ञानिक शोधक हमें निरीक्षणों द्वारा स्पष्ट बतलाते हैं कि पिपीलिकाएँ इतनी अध्यवसायी कभी नहीं होतीं कि हमारी श्रद्धा की कोई महान वस्तु हों। उनका तो अधिकांश समय बिलों में कहीं एकाकी और कहीं सामूहिक रूप में ऊँघते, अपने शरीर का स्वयं खरहरा या कंघा द्वारा चिकना और स्वच्छ रूप बनाने या दूसरों का शरीर स्वच्छ करते रहने में व्यतीत होते देखा जा सकता है। सामाजिकता की जहाँ तक बात है, वह एक रूप में उत्तम तो कही जा सकती है, परन्तु एक तो सभी पिपीलिकाएँ उत्कृष्ट सामाजिकता की व्यवस्था ही रखते नहीं कही जा सकतीं, दूसरे उनकी जो कुछ भी सामाजिकता है, वह एक दर्जे तक पहुँच कर आज आगे विकास करने में अक्षम ही है, परन्तु मनुष्य जो भी सामाजिकता का स्तर रखता है, वह सतत विकासशील है।

आज चींटी-चींटों (पिपीलिकाओं) की पन्द्रह हजार से भी अधिक जातियाँ ज्ञात हैं। प्रतिवर्ष ३०० नवीन जातियों की खोज होती जा रही है। इन सब भेद-विभेदों से पिपीलिकाओं का जितना अधिक ज्ञान प्राप्त किया जा रहा है, वह जीव-जगत की विचित्र कथा में यथेष्ट वृद्धि करने में समर्थ होता है। पक्षी और मनुष्य को छोड़कर पिपीलिकाएँ समस्त जीवजगत् में अपनी सामाजिकता के कारण बहुत ही उच्च स्थान रखती हैं। इनके साथ ही कुछ अन्य सामाजिक जीवों को भी ऊँचा स्थान प्राप्त करते पाया जाता है।

वैज्ञानिक शोधकर्ताओं ने मधुमक्खियों, बर्रे तथा मक्खियों आदि के पृथक्-पृथक् वंशों की गणना की है। इन्हीं की तरह एक पृथक् वंश पिपीलिकाओं का भी होता है। मधुमक्षिका वंश, बर्रे या वरट वंश, मक्षिका वंश तथा पिपीलिका वंश को उन जन्तुओं में गिना जाता है जो झिल्ली के पङ्ख रखने वाले (झिल्ली पङ्खीय) कहलाते हैं। हमें इन जन्तुओं में चींटे-चींटी में साधारणतया झिल्ली-पङ्ख देखने का अवसर नहीं मिलता, परन्तु यथार्थतः इनके जनक नर-मादा, को जिन्हें राजा और रानी पिपीलिका कहा जाता है, प्रायः आजीवन या सन्तानोत्पादन की तैयारी या सुहाग उड़ान के समय झिल्ली-पङ्खमय पाया जाता है। कुछ जातियों की पिपीलिकाओं में नर और मादा दोनों ही झिल्ली-पङ्खीय होते हैं। कुछ में नर या मादा में से कोई एक ही झिल्ली-पङ्खमय होता है, किन्तु सभी पिपीलिकाओं में रानी ही सब से महत्वपूर्ण स्थान रखती है। नई बस्ती स्थापित करना उसी का जीवन-व्यापार होता है। एक बार ही नर के संयोग से यथेष्ट शुक्र या वीर्यकोष की राशि प्राप्त कर वह अपने शेष दो-चार या दस बारह वर्ष तक के जीवन तक अंडे दे देकर उनका इस संचित शुक्र भंडार से ही सेचन कर सन्तान-वृद्धि का व्यापार चला पाती है। इस कारण वह अपने पङ्ख प्रथम सुहाग-उड़ान के पश्चात् गिरा कर निष्पङ्ख ही जीवन बिताती है।

इनकी विचित्र कथाओं को सुनने के पूर्व हमें पिपीलिकाओं के मुख्य अनुवंशों का कुछ उल्लेख करना उचित जान पड़ाता है। पिपीलिकाओं के प्राचीन अवशेष हमें चीड़ के राल (गंधाबिरोजा) या उसके प्राचीन दृढ़ीकृत रूप अम्बर में दबे पड़े प्राप्त होते हैं। प्राचीन काल में कहीं घूमते रहने पर इनके दल के ऊपर चीड़ के वृक्षों से स्रवित इन रालों

(गोंदों) के गिरने से इनका शरीर उसी में दबा पड़ा रह गया। अतएव आज लाखों, करोड़ों वर्ष पूर्व से इनके अवशेष हमें रक्षित मिलते हैं। उन्हें देख कर आज यह कह सकना सम्भव हो सका है कि आज से कितने अधिक दिनों पूर्व इनकी सर्वप्रथम जाति धरातल पर विद्यमान रही होगी। कालान्तर के स्तरों में इनके प्रस्तरावशेषों (रक्षित अवशेषों) द्वारा अन्य विकसित जातियों का भी पता लगता है। अतएव आज इनकी विकास-कथा भी हमें ज्ञात हो जाती है।

पिपीलिकाओं के विकास की कथा एक स्वतन्त्र कथा ही है। नवीनतम जातियों की जो पिपीलिकाएँ पाई जाती हैं उनमें एक अद्भुत गुण पाया जाता है। वे अपने विशेष उदर में रक्षित खाद्य-रस का पान अन्य दलगत सदस्यों को कराकर अपनी उदारता और सामाजिकता का सुन्दर परिचय देती हैं। इस क्रिया को खाद्यरस-वमनक्रिया कहा जा सकता है। यह क्रिया केवल इन पिपीलिकाओं की ही विशेषता है।

प्राचीन प्रस्तरावशेषों में पिपीलिकाओं के विभिन्न अनुवंशों के क्रमिक विकास के प्रमाण मिलते हैं। उनके जो वर्तमान रूप मिलते हैं उनमें यह देखकर आश्चर्य होता है कि प्राचीनतम अनुवंशों की वर्तमान जातियाँ खाद्यरस-वमनक्रिया नहीं करतीं। इस कृत्य के लिए हम सभी पिपीलिकाओं में निजी उदर से पृथक रूप का उदर विद्यमान पाते हैं। इसे पिपीलिका संघ के लिए खाद्यरस संचित करने का भंडार कह सकते हैं। अतएव इसे संघोदर (क्राप) नाम दिया जाता है। इस विशेष उदर से निजी उदर का सम्बन्ध अवश्य रहता है, परन्तु संघोदर का रक्षित खाद्य-रस एक प्रकार से सङ्घ की थाती समझा जाता है। बहुत ही अधिक आवश्यकता होने पर बुभुक्षा-निवारण के लिए ही सङ्घोदर का संचित खाद्य-रस निजी उदर में पहुँचाया जा सकता है किन्तु किसी भी सजातीय पिपीलिका या सङ्घपोषित जन्तु के लिए इस सङ्घोदर खाद्य-रस का बड़ी उदारतापूर्वक प्रदान किया जाता है। अतएव खाद्यरस-वमनक्रिया को सङ्घोदर-पोषण या सङ्घोदर-खाद्य-रस-पान नाम देना अधिक उपयुक्त हो सकता है। प्राचीनतम अनुवंशों की वर्तमान पिपीलिकाएँ सङ्घोदर की व्यवस्था तो अवश्य रखती हैं, परन्तु वे उसका रसपान अन्य सजातीयों को नहीं करातीं। इसके विपरीत अपेक्षाकृत नवीन अनुवंशों की पिपीलिकाएँ ऐसी क्रिया अनिवार्यतः करती हैं। इस कारण उन्हें थोड़े शब्दों में सङ्घोदरपोषी नाम से व्यक्त किया जाता है।

पिपीलिकाओं के अनुवंशों पर कुछ विहंगम दृष्टि डालने के लिए उनकी भिन्न-भिन्न समयों में उत्पत्ति का उल्लेख उचित हो सकता है। यहाँ पर हम केवल थोड़ी चर्चा कर ही सन्तोष करेंगे। पृथ्वी की कथा जानने वाले विद्वान शिलाओं के स्तर, उनकी आयु, प्रस्तरावशेषों के प्रमाण से विभिन्न जीवों की विकास-कथा का अध्ययन कर पृथ्वी की पपड़ी के बनने के काल निर्धारित कर सके हैं। आज से २२ करोड़ वर्षों पूर्व के समय को प्राचीन जन्तुओं का युग कहकर पुराजन्तुक युग नाम देते हैं। उस समय तक संसार में प्रायः जलचरों और उभयचरों का ही प्रसार हो चुका था। पुराजन्तुक युग के अन्त के बाद जिन युगों और कालों का प्रसार माना जाता है उनके नाम निम्न प्रकार हैं :—

	नाम	समय
	मानव युग (प्लीस्टोसीनी)—[आधुनिक काल]	दस लाख वर्षों पूर्व तक
नवजन्तुक या स्तनपायी युग (कैनोजोइक या टर्टियरी)	प्लायोसीनी काल—[द्वितीय उत्तर नवजंतुक]	डेढ़ करोड़ वर्षों पूर्व तक
	मायोसीनी काल —[प्रथम उत्तर नवजंतुक]	साढ़े तीन करोड़ वर्षों पूर्व तक
	ओलिगोसीनी काल—[द्वितीय पूर्व नवजंतुक]	पाँच करोड़ वर्षों पर्व तक
	इओसीनी काल—[प्रथम पूर्व नवजंतुक]	सात करोड़ वर्षों पूर्व तक

सरीसृप या मध्य-जंतुक युग (मेसोज़ोइक	क्रिटेशश काल—[उत्तर मध्यजंतुक]		बारह करोड़ वर्षों पूर्व तक
	जुरासिक काल—[मध्यवर्ती मध्यजंतुक]		पंद्रह करोड़ वर्षों पूर्व तक
	ट्रयासिक काल—[पूर्व मध्यजंतुक]		उन्नीस करोड़ वर्षों पूर्व तक

पिपीलिकाओं की आधुनिक जातियाँ आठ अनुवंशों में विभाजित की गई हैं। विज्ञान की प्रगति से इन अनुवंशों तथा अन्य नवीन ज्ञात जातियों के वर्गीकरण, नामकरण आदि में परिवर्तन हो सकता है। आज तक अनुसंधान करने के परिणामस्वरूप जो अनुवंश माने गए हैं उनके नाम इस प्रकार हैं:—

(१) आद्य या कंदरा पिपीलिका अनुवंश (पोनेराइनी)

(२) मध्य पिपीलिका अनुवंश (सेरापेचाइनी)

(३) सैन्य पिपीलिका अनुवंश (डोरिलाइनी)

(४) भीम पिपीलिका अनुवंश (मिरमिसाइनी)

(५) कृश सैन्य पिपीलिका अनुवंश (लेप्टानिल्लाइनी)

(६) दिव्य पिपीलिका अनुवंश (स्यूडोमिरमाइनी)

(७) सैनिक भंगी पिपीलिका अनुवंश (डोलिचोडेराइनी)

(८) श्रेष्ठ पिपीलिका अनुवंश (फोर्मिसाइनी)

पिपीलिका-जीवन के सम्बन्ध में जहाँ बहुत-सी भ्रांतियाँ हैं वहाँ बहुत-सी विचित्रताएँ भी हैं। कीट-जगत में सामाजिकता की भावना का अध्ययन करने वाले विद्वानों का मत है कि अनु-सामाजिकता के तो विकास के अनेक अवसर कीट-जगत में आते रहे हैं परन्तु यथेष्ठ सामाजिकता के स्तर तक कुछ ही कीट वर्गों को अवसर मिला है। अमेरिका के हारवर्ड विश्वविद्यालय के कीट विज्ञान के आचार्य श्री विलियम मार्टन ह्वीलर के मत के अनुसार झिल्लीपंखीय कीट वर्ग (हाइमोनोप्टेरा) तथा श्वेत पिपीलिका (दीमक) वर्ग (आइसोप्टेरा) में यथार्थ सामाजिकता के स्तर को प्राप्त करने की दस पृथक सफलताएँ पाई जाती हैं। इनमें भी झिल्लीपंखीय वर्ग में बरट वंश के कीटों ने पाँच पृथक समयों में पूर्ण सामाजिक स्थिति प्राप्त की, मधुमक्षिकाओं को तीन बार सामाजिकता के स्तर तक पहुँचने में सफलता मिली। पिपीलिकाओं ने केवल एक बार ही सामाजिकता का स्तर प्राप्त किया। इन कीटों में सामाजिकता और श्रम-विभाग के विचित्र ही उदाहरण मिलते हैं। श्रम-विभाग का अर्थ तो स्पष्ट ही है। एक विशेष कार्य को एक जाति के कीटों का एक गुट्ट ही करता है। वह दूसरे काम में हाथ नहीं लगाता, जैसे चारा लेने बाहर जाना, अंडों की सेवा करना, बिल की रक्षा करना आदि पृथक-पृथक प्रकार के कार्य हैं। इनको पृथक-पृथक दल या गुट्ट के सजातीय कीट ही करते हैं। यह उनकी पृथक-पृथक श्रेणियाँ कही जाती हैं। यह श्रेणी-विभाग या वर्ण-व्यवस्था बर्रे में कदाचित दो-तीन बार, मधुमक्खी में निस्सन्देह ही दो बार स्वतन्त्र रूप में उत्पन्न हो चुकी है। दीमकों ने इन सबसे पथक रूप में ही अपनी वर्ण-व्यवस्था स्वतन्त्र रूप में स्थापित करने में सफलता प्राप्त की।

वैज्ञानिकों के मत से मनुष्य का विकास प्लायोसीनी (आज से डेढ़ करोड़ वर्षों पूर्व) या मायोसीनी (आज से साढ़े तीन करोड़ वर्षों पूर्व) काल में हुआ। इन कालों को द्वितीय उत्तर नवजन्तुक तथा प्रथम नवजन्तुक काल नाम से भी पुकार सकते हैं। किन्तु सामाजिक पिपीलिका, मधुमक्षिका, तथा बर्रे और दीमक को बाल्टिक के अंबरों में पाया जाता है जो स्वीडेन नाम से आज पुकारे जानेवाले देश में पाँच करोड़ वर्षों पूर्व ओलिओसीनी (द्वितीय पूर्व नवजन्तुक) काल में चीड़ की गोंद चूते रहने का परिणाम ही है। श्री विलियम मार्टन ह्वीलर के विचार से

उस समय ही इसके शरीर का विकास हो गया था। तब से अब तक इनके शरीर की रचना में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। उस समय इनमें सामाजिकता का प्रचार हो गया था तथा वर्णव्यवस्था प्रचलित हो गई थी। आज की बहुत-सी जातियों का उसी समय श्रीगणेश हो चुका था तथा उस समय की कुछ जातियों का तो आज की विद्यमान जाति से विभिन्नता बता सकना कठिन ही हो सकता है। अनुमान है कि बहुत-सी झिल्लीपंखीय जातियाँ कम से कम क्रिटेशश काल (आज से बारह करोड़ वर्षों पूर्व तक) में ही पूर्ण सामाजिक बन गई थीं।

इस प्रकार मनुष्य के सामाजिक बनने का जो समय माना जा सकता है उससे पाँच गुना अधिक पुराना समय झिल्लीपंखीय कीटों का सामाजिक रूप बनने का मिलता है।

चींटी-चींटों की सामाजिकता पर एक दृष्टि डाल कर हम आज के समाजवाद की झाँकी पाकर बड़े आश्चर्य में पड़ते हैं। इनका ऐसा समाज है जिसमें कोई छोटे-बड़े पद पर आसीन नहीं। सब दलों या वर्णों के काम बटे हुए हैं। किसी की भी कोई व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं। जो कुछ भी है वह उनके सङ्घ के प्रत्येक सदस्य का ही है इस तथ्य का निरीक्षण कुछ पूर्व समय के विद्वानों ने भी किया था, परन्तु उस समय कलों का युग प्रचारित न होने से वे मनुष्य समाज में समाजवाद की चलन का कुछ स्वप्न भी न देख सकते थे।

आदिम पिपालिकाओं का समाज हमें सीमित संख्या के दस-पन्द्रह सदस्यों का ही मिलता है। यथार्थ में दो विभागों में पिपीलिका-जगत को बटा कहा जा सकता है। एक विभाग 'समाजप्रिय' होता है और दूसरा विभाग असामाजिक या आंशिक सामाजिक होता है ; इस कारण सभी पिपीलिकाओं को अत्यन्त उत्कृष्ट समाजप्रिय या समाजबद्ध कहना एक मिथ्या कल्पना ही है। वस्तुतः इनकी सामाजिकता के बहुत अधिक विभिन्न स्तर होते हैं।

आदिम पिपीलिकाओं को दूसरे विभाग (आंशिक समाजप्रिय) का ही कहा जा सकता। आद्य पिपीलिका या कन्दरा पिपीलिका अनुवंश (पोलेराइनी) तथा मध्य पिपालिका अनुवंश (सेरापेचाइनी) इसी विभाग के अन्तर्गत हैं। मध्यपिपीलिका अनुवंश आद्य पिपीलिका अनुवंश तथा सैन्य पिपीलिका अनुवंश (डोरिलाइनी) के मध्यस्थान का माना जाता है। सैन्य पिपीलिका का प्रसार भारत, अफ्रीका तथा दक्षिणी अमेरिका में पाया जाता है। श्रेष्ठ पिपीलिका अनुवंश (फोर्मिसाइनी) सबसे बड़ा तथा विभिन्न रूप रखने वाला अनुवंश है। कृश सैन्य-पिपीलिका अनुवंश सूक्ष्मदर्शकीय या क्षुद्र पिपीलिकाओं का ही एक छोटा अनुवंश है। दिव्य पिपीलिका अनुवंश (स्यूडोमिरमाइनी) अपने सुन्दर कृश आकार के लिए ही प्रसिद्ध है। यह वृक्षों के तने तथा छाल के मध्य जीवनयापन करता है। सैनिक पिपीलिका अनुवंश (डोलिचोडराइनी) हल्के आयुधधारी, अत्यन्त तीव्रगामी पिपीलिकाओं का अनुवंश है। यह स्वच्छता का कार्य करने से सैनिक भंगी नाम भी पाता है। इसका प्रसार सारे संसार में पाया जाता है। पिपीलिकाओं के मुख्य अनुवंशों का यह साधारण परिचय है।

पिपीलिकाओं को धरातल के ऊपरी भाग तथा कुछ इञ्चों की गहराई तक के भाग का अधीश्वर कहना चाहिए। ये संसार में सबसे अधिक प्रसारित तथा सफल कीट हैं। इनका सामाजिक तथा बौद्धिक रूप में यथेष्ट विकास पाया जाता है। इनके निवास के लिए प्रायः यथेष्ट स्थान न मिलने से जीवन-संघर्ष या अधिकार प्रसार के लिए विभिन्न दलों में युद्ध छिड़ा पाया जाता है।

पिपीलिकाओं के विभिन्न रूप तथा स्वभाव पाए जाते हैं। कुछ जातियाँ खेतिहर कहलाती हैं। कुछ दास बनाने वाली जातियाँ होती हैं। कुछ योद्धा जातियाँ होती हैं। कुछ जातियों को कुकुरमुत्ते या फफूँद (कवक) उत्पन्न कर उसका ही आहार करते पाया जाता है। कुछ पिपीलिकाओं को दूसरी जति

की पिपीलिकाओं का परोपजीवी बना पाया जाता है। कुछ जातियाँ ऐसी होती हैं जो चोरी कर ही अपना निर्वाह करती हैं। कुछ पिपीलिकाओं की जातियाँ दीमकों को अपना आहार बनाती हैं, परन्तु कुछ अन्य पिपीलिका की जातियाँ इसके विपक्ष ऐसी भी होती हैं जो दीमकों के विवर में आश्रय लेकर उनकी रक्षा के लिये अन्य पिपीलिका जातियों से मुठभेड़ करती हैं। भाड़े के सैनिक समान रहकर वे दीमकों द्वारा आहार प्राप्त करती हैं।

आकार की दृष्टि से पिपीलिकाओं में इतनी अधिक बहुरूपता है कि आश्चर्य होता है। कुछ चींटियाँ १/१५ इञ्च लम्बी ही होती हैं किन्तु कुछ बड़े आकार की पिपीलिकाएँ (चींटे) डेढ़ इञ्च लम्बी होती हैं। कुछ को इतने अधिक आयुधों से सम्पन्न पाया जाता है कि उन्हें कछुवों का सा भारी रूप मिला होता है परन्तु कुछ ऐसी हल्की होती हैं कि तीव्र गति से दौड़ने पर भूतल से उठ सी जाती हैं।

पिपीलिकाओं की विभिन्न श्रेणी एक जाति में ही होने से हम श्रेणीविभाग या वर्णव्यवस्था का जो रूप पाते हैं उसमें एक श्रेणी श्रमिकों की होती है। वे प्रायः शिखंडी या नपुंसक मादा पिपीलिकाएँ होती हैं। उनका कार्य केवल जन्म धारण कर जीवन भर सेवा-व्रत धारण किए रहना है। दूसरी श्रेणी मादा की होती है जो अण्डे देकर सन्तान उत्पन्न कर सकती है। इसे 'रानी' नाम से प्रसिद्ध पाया जाता है। तीसरी श्रेणी नर पिपीलिकाओं की होती है। ये तीनों ही श्रेणियाँ अधिकांश जातियों की पिपीलिकाओं में होती हैं।

रानी पिपीलिका के सम्बन्ध में एक मिथ्या धारणा पाई जाती है कि प्रत्येक विवर के पिपीलिका-समाज में केवल एक रानी होती है. किन्तु यह खोजों द्वारा असत्य सिद्ध हुआ है। मधुमक्खिकाओं में एक ही रानी पाई जाती है। उड़ाकू जीवन व्यतीत करने के कारण मधुमक्खिकाओं का निर्वाह एक रानी से हो सकता है। उनका निवास ऊँचे स्थलों, वृक्षों आदि पर होने से छत्ते के नष्ट होने का उतना अधिक भय नहीं रहता। परन्तु पिपीलिकाएँ तो भू-जीवी हैं। आँधी-पानी से उनके विवर की रक्षा हो भी जाय तो कहीं जानवरों या मनुष्यों के पैर तले विवर के रौंद जाने का भी भय कम नहीं होता। अन्य कितनी ही विपत्तियाँ उनके विवर का नाश कर उनके वंश-क्षय का अवसर ला सकती हैं। अतएव कुछ अपवादों को छोड़कर उनके प्रत्येक विवर में एक से अधिक रानी पिपीलिकाओं या अंडा दे सकने वाली मादाओं की व्यवस्था होती है।

कुछ पिपीलिकाओं में एक बड़े विवर में एक सौ रानी पिपीलिकाएँ तक होती हैं। मैदानी काले चींटे में चार या पाँच रानी पिपीलिकाएँ होती हैं। कुछ पिपीलिकाओं की जातियों में एक ही रानी की व्यवस्था होती है। किसी नए स्थापित उपनिवेश या उजड़ने की स्थिति के विवर या अन्य जातियों के विवर में एक ही रानी हो सकती है किन्तु नवस्थापित में शीघ्र ही नई रानियाँ सुहाग-उड़ान के पश्चात् ग्रहण कर ली जाती हैं या विवर में ही क्वारी रानियाँ नर संयोग द्वारा शिशु-उत्पादक रानी बना ली जाती हैं।

आद्य पिपीलिका अनुवंश (पोनेराइनी) की चींटियाँ धरती के अन्दर विवरों में ही रहती हैं। वे अपने बिल के ऊपर बाँबी नहीं बनातीं। सीधे मिट्टी में ही बिल खुदा होता है। उसमें प्रायः दो या तीन छेद होते हैं। इसकी सब जातियों की यह विशेषता है कि योद्धा या सैन्य अनुवंश (मिरमिसाइनी) पिपीलिकाओं में पाई जाने वाली योद्धा श्रेणी की भाँति कोई पृथक श्रेणी उनमें नहीं होती। वस्तुतः सभी आद्य पिपीलिका (पोनेराइनी) जातियों में श्रमिक, नर तथा रानियाँ एक रूप की होती हैं। किन्तु एक रूप होने का प्रश्न तो उन्हीं में उठता है जिनमें तीन श्रेणियाँ हैं भारतीय तथा आस्ट्रेलिया की बड़ी आद्य पिपीलिका की डाय-

कम्मा प्रजाति में रानी होती ही नहीं। अंडा देने का कार्य एक या अधिक श्रमिक पिपीलिका ही करती है। यथार्थ में सभी श्रमिक पिपीलिकाएँ अवनत मादाएँ ही होती हैं। वे अंडा दे सकने में समर्थ हो सकती है। केवल यह विशेषता अवश्य है कि किसी भी अन्य अनुवंश में उनके दिए अंडे नर द्वारा सेचित (शुक्र कण से संयुक्त) नहीं किए जा सकते किन्तु डायकम्मा में यह बाधा नहीं खड़ी होती।

जिन अनुवंशों में श्रमिक पिपीलिका द्वारा अंडे दिए जाने के उदाहरण मिलते हैं उनमें नर द्वारा उन अंडों का सेचन न हो सकने से केवल नर की उत्पत्ति ही उन अंडों से होती है। केवल रानी द्वारा दिए अंडे ही सेचित हो सकते हैं। रानी भी जब नर उत्पन्न करने की इच्छा रखती है तो अपने दिए अंडे को सेचित न होने देकर नर उत्पन्न करती है। यह लिंग के स्वेच्छा-निर्णय का अवसर जीव-जन्तु जगत में कहीं अन्यत्र नहीं पाया जाता। पता नहीं, पिपीलिका किस अद्भुत शक्ति से ऐसा कर सकने में समर्थ होती है।

डायकम्मा पिपीलिका के उपनिवेश में दो या तीन सौ सदस्य होते हैं जो स्वतंत्र रूप में चारा संचय करने निकलते हैं। ये काले भद्दे रङ्ग के भारी आयुधों युक्त चींटे दो-तिहाई इन्च लम्बे होते हैं। इनका आहार किसी भी प्रकार के कीट का मांस होता है। आस्ट्रेलिया की ऐंब्लियोपोनी और भी आदिम होती है। डायकम्मा की तरह उसमें भी रानी नहीं होती। नर को भी श्रमिक की तरह कार्य करना पड़ता है। उन्हें स्वयं जाकर अपना आहार प्राप्त करना पड़ता है। वे कुछ आहार विवर में भी लाते हैं जिसका कुछ अंश इल्लियाँ हड़प लेती है और अपनी उदरपूर्ति करती हैं।

आद्य पिपीलिका उपवंश (पोनेराइनी) की इन पिपीलिकाओं में सामाजिकता की मात्रा बहुत ही न्यून होती है। पिपीलिका की सामाजिकता सबसे प्रमुख गुण संघीय उदर से खाद्य-रस निष्कासित कर दूसरे को उसका पान कराना है। परन्तु यह संघोदर रसपान-क्रिया भी इन एकाकी आद्य पिपीलिकाओं की एम्ब्लियोपोनी तथा डायकम्मा जातियों में नहीं पाई जाती। अन्य अधिकांश आद्य-पिपीलिकाओं में एक दूसरे को खाद्य-रस पान कराने की क्रिया नहीं पाई जाती। एक पिपीलिका द्वारा दूसरी किसी पिपीलिका को अपने संघीय या सामाजिक उदर खंड से खाद्य रस निर्गत कर दूसरे को पान कराने की क्रिया एक प्रगाढ़ स्नेह-सूत्र का बंधन है। अपनी संवेदनशील मूछों से सजातीयता की गंध का प्रारंभ में अनुभव कर उन पिपीलिओं को खाद्यरस पान कराने के लिए तुरन्त उद्यत पाया जाता है जो समाजप्रिय जातियों की होती है। बाहर से आहार संग्रह कर आती हुई पिपीलिका विवर से निकली किसी पिपीलिका की याचना होते ही ऐसे खाद्यरस का पान कराने को उद्यत होती है। दोनों ही इसके लिए पैरों पर उठ खड़ी हो जाती हैं और दाता पिपीलिका खाद्यरस की एक चमकीली बूँद संघीय उदर से बाहर कर अपने मुख में लाती है। उधर दूसरी पिपीलिका उसे तुरन्त ही ग्रहण कर लेती है।

संघीय उदर से खाद्यामृत या खाद्यमधुपान कराने की इतनी शीघ्र पुनरावृत्ति होती पाई जाती है कि आश्चर्य होता है। पीली मैदानी पिपीलिका में इसके प्रयोग कर विचित्र फल देखे गए हैं। परीक्षण में मधु को लाल या नीले रंग में रंग कर रक्खा गया। यदि एक दर्जन पिपीलिकाओं को ही यह रंगीन मधुपान कराया जाय तो चौबीस घंटे में ही उनके सारे ही उपनिवेश की पिपीलिकाओं के पतले पारदर्शी उदर में रंगीन मधु पहुँचा पाया जा सकता है।

आद्य पिपीलिकाएँ ऐसी कोई पारस्परिक रसपान क्रिया नहीं कर दिखातीं। उनके समाज में केवल एकाकी आखेटक पिपीलिकाओं का केवल इस कारण साथ होता है कि संयोगवश इल्ली अवस्था के बाद खोल के अन्दर पोषित प्यूपा रूप से उनका एक साथ ही उदय हुआ। इसके अतिरिक्त कोई भी अन्य

सामाजिक बंधन उनमें नहीं पाया जाता। उनके शिशु उनके साथ ही वर्द्धित तथा पोषित होते हैं, प्रौढ़ होने पर उनके साथ ही रहते हैं। पुराने बिल में ही कोई नया छेद या द्वार खोदने में भी योग देते हैं। परन्तु इसके अतिरिक्त सामाजिकता की कोई अन्य बात उनमें नहीं देखी जा सकती।

आद्य पिपीलिका या पोनेराइनी को कंदरा पिपीलिका भी कहते हैं। वे बड़ी तथा दृढ़, मोटी त्वचा से आवेष्टित होती है जिसका भेदन अन्य क्रीट कठिनाई से ही कर सकते हैं। अपने भारी आयुधों के कारण वह मंद गति से ही चल सकती है। सबसे बड़ी पिपीलिका आमेजन की डिनोपोनेरा ग्रैंडिस नाम की आद्य पिपीलिका है। उसकी लम्बाई लगभग दो इंच होती है। यह अपने पग ऐसे भारी प्रयास से उठाती है मानों कोई भारी कल घरघराती चल रही हो।

आस्ट्रेलिया की बुलडाग पिपीलिका (मिरमीसिया) भी इसी अनुवंश (आद्य पिपीलिका) की है। ये एक इन्च से लम्बी होती है। उनका जबड़ा आरे की भाँति रहता है। इन्हें आद्य पिपीलिकाओं में सबसे अधिक संख्या में पाया जाता है। ५०० से २००० तक पिपीलिकाएँ एक बिल में रहती पाई जाती हैं। इसकी कुछ जातियाँ कूदने में कुशल होती हैं। दौड़ते हुए ७ या ८ इन्च तक कूद जाती हैं। अधिकांश बुलडाग (मिरमीसिया) पिपीलिकाएँ जल में भी सहज उतर सकती हैं। वे कुछ दूर तक तैर सकने में समर्थ होती हैं। इन वृत्तियों के कारण ये प्रायः समुद्र-तटवर्ती भागों में ही पाई जाती हैं।

आद्य पिपीलिका में मिरमीसिया या बुलडाग पिपीलिकाएँ अधिकांश आद्य पिपीलिकाओं की अपेक्षा अधिक समाजप्रिय होती हैं। उनमें रानी भी होती हैं किन्तु उसकी उतनी प्रतिष्ठित स्थिति नहीं। उसे अपने आहार की खोज में स्वयं बाहर जाना पड़ता है। परन्तु अंडा देने की क्रिया मन्द गति की ही होने के कारण आहार की खोज में उसके बाहर जाने से कोई विशेष हानि नहीं होती।*

—जगपति चतुर्वेदी

---

*[" चींटी चींटों की दुनिया " प्रकाशक—किताब महल, इलाहाबाद]

प्रसिद्ध भौतिक विज्ञानवेत्ता डा० एनरिको फेर्मी

"संसार में अणु-युग के प्रवर्तक का देहावसान", "अमेरिका ने अपना सर्वश्रेष्ठ अणु-वैज्ञानिक खो दिया" आदि शीर्षक दे कर समाचार-पत्रों ने नोबेल पुरस्कार-विजेता प्रसिद्ध वैज्ञानिक डा० एनरिको फेर्मी की मृत्यु पर अपनी श्रद्धांजलियाँ अर्पित की हैं।। (उनकी मृत्यु २८ नवम्बर १९५४ को शिकागो में हुई।)

सचमुच डा० एनरिको फेर्मी की मृत्यु से विज्ञान-जगत् की जो महान् क्षति हुई है उसकी आसानी से

डा० एनरिको फेर्मी

पूर्ति नहीं हो सकती। उनकी आयु अभी सिर्फ ५३ वर्ष की थी और कुछ ही दिन पहले उन्हें अणुशक्ति के क्षेत्र में विशेष योग देने के लिए अमेरिका की ओर से २५००० डालर का पहला विशेष पुरस्कार दिये जाने की घोषणा की गयी थी।

इटली में उत्पन्न इस प्रसिद्ध भौतिक विज्ञान-शास्त्री की असाधारण प्रतिभा का कुछ आभास ब्रिटेन के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री श्री विन्स्टन चर्चिल के उन शब्दों से हो सकता है जो उन्होंने अगस्त १९४५ में हीरोशीमा (जापान) पर मित्रराष्ट्रों की ओर से अणु-बम गिराने की घोषणा के बाद व्यक्त किये थे। तब उन्होंने ब्रिटेन की लोक-सभा में कहा था—"मैं धुरी राष्ट्रों को इस बात के लिए धन्यवाद देता हूँ कि उन्होंने बहुत से लोगों के साथ-साथ इटली के प्रसिद्ध भौतिकशास्त्री एनरिको फेर्मी को भी निर्वासित कर दिया। मुझे यह कहने में संकोच नहीं कि श्री फेर्मी ने १९३४ से १९३८ तक जो अनुसन्धान-कार्य किये थे उन्हीं के फलस्वरूप अणु-बम बनाने में सफलता हुई है। इसके अलावा अणु-बम के निर्माण में भी उन्होंने हाथ बटाया है।" सचमुच मित्रराष्ट्रों की विजय में डा० फेर्मी जैसे प्रतिभाशाली वैज्ञानिकों का बहुत अधिक हाथ था और संसार की भावी सुख-शान्ति की आशाएं भी आज उन्हीं पर केन्द्रित हैं।

डा० एनरिको फेर्मी अणु-विज्ञान के आधारभूत सिद्धान्त को समझने और अणु-विखण्डन की प्रक्रिया को प्रत्यक्ष सिद्ध कर दिखाने में कैसे सफल हुए, वे इटली से भाग कर अमेरिका क्यों पहुँचे और अमेरिका में प्रथम आणविक भट्ठी का नमूना तैयार करके उस का निर्माण करने में उन्हें कैसे सफलता मिली—इन बातों की जानकारी पाने के लिए उनके जीवन पर संक्षेप में दृष्टिपात करना होगा।

जीवन-परिचय

एनरिको फेर्मी का जन्म रोम में २९ सितम्बर १९०१ को हुआ था। उन के पिता का नाम अल्बर्टो

फेर्मी था और माँ का आइडा (द गाटिस)। उनका स्थान संसार के कुछ इने-गिने भौतिक विज्ञान शास्त्रियों में कैसे पहुंच गया और विज्ञान के सिद्धान्तों व परीक्षणात्मक अनुसन्धान-कार्यों में उनकी क्षमता समान रूप से असाधारण कैसे हो गई, इसका मूल कारण कोलम्बिया विश्वविद्यालय के भौतिक विज्ञान शास्त्री जौर्ज वी० पेग्राम के शब्दों में यह था कि फेर्मी ने बचपन से ही भौतिक विज्ञान और गणित में गहरी दिलचस्पी लेनी शुरू कर दी थी। रोम के एक स्कूल में पढ़ने के समय से ही फेर्मी प्रयोगात्मक भौतिक विज्ञान की पुस्तकों की ओर आकृष्ट हो गये। १३ साल की उम्र में उन्होंने गणित विषय पर ध्यान देना शुरू किया और अपने एक इंजीनियर मित्र से ४ साल तक हिसाब सीखते रहे। १७ साल में वे गणित में इतने पारंगत हो गये थे कि भौतिक विज्ञान के उच्चतम अध्ययन के लिए आवश्यक गणित को अच्छी तरह समझने लगे।

१९१८ में फेर्मी पीसा विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुए और ४ साल बाद वहाँ से स्नातक बन कर निकले। फिर वे गौटिंगेन विश्वविद्यालय में गये और वहाँ ७ माह के अध्ययन-काल में मैक्स वोर्न नामक प्रसिद्ध गणितज्ञ की उपस्थिति के कारण ऊर्जाणुवाद (क्वान्टम थ्योरी) पर उनका विशेष ध्यान गया। १९२३ में फेर्मी ने रोम विश्वविद्यालय में और बाद में कुछ समय लीडन विश्वविद्यालय में अध्ययन किया।

१९२४ में फेर्मी को फ्लोरेन्स विश्वविद्यालय में शिक्षक नियुक्त किया गया, वे वहाँ २ वर्ष रहे। इस अरसे में उन्होंने भौतिक विज्ञान के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में नये विचार रखने शुरू किये, जो आगे चल कर धातुओं में इलैक्ट्रोन गैस के सम्बन्ध में वर्तमान अनुसन्धान-कार्य की दृष्टि से बहुत उपयोगी सिद्ध हुए। १९२६ में श्री फेर्मी रोम विश्वविद्यालय में भौतिक विज्ञान के प्रोफेसर नियुक्त हुए और १९३४ तक वे मुख्य रूप से सिद्धान्तों के अध्ययन और अनुसन्धान में लगे रहे।

१९३४ में श्री फेर्मी ने भौतिक विज्ञान के सिद्धान्तों को प्रयोगात्मक रूप में सिद्ध करने का काम शुरू किया और अगले १० वर्षों में की गई नई कोशिशों के फलस्वरूप ही अन्ततोगत्वा अणु-बम का आविष्कार सम्भव हुआ। १९३८ तक डा० फेर्मी रोम विश्वविद्यालय में भौतिक विज्ञान के प्रोफेसर रहे। पिछले ४ वर्षों में वहाँ रहते हुए आपने ६० में से ४० से अधिक तत्वों में कृत्रिम रेडियो-सक्रियता उत्पन्न करके दिखा दी।

अणु-विखण्डन के भावी विकास की दृष्टि से उन्होंने एक उपयोगी खोज यह की कि न्यूट्रोन की गति को पैराफीन या पानी के जरिये मन्द किया जा सकता है। १९३५ में जब श्री फेर्मी तथा कुछ अन्य इटालियन वैज्ञानिकों ने इस प्रक्रिया को अमेरिका में पेटेण्ट कराने के लिए आवेदनपत्र दिया तो यह बात बिल्कुल असम्भव-सी समझी जाती थी। उन वैज्ञानिकों का मत था कि इस प्रकार न्यूट्रोनों के मन्द हो जाने पर अन्य तत्व उन के सम्पर्क में आने पर रेडियो-सक्रिय हो जायेंगे। उनका वह मत आज सत्य माना जा चुका है।

इटली छोड़ने का निश्चय

१९३५ के बाद यूरोप में यहूदियों के खिलाफ हिटलर का दमनचक्र पूरे जोरों पर था। १९३८ में इटली ने भी उस की नीति का अनुसरण शुरू किया। डा० एनरिको फेर्मी के पिता को यहूदी होने के कारण इटालियन जलसेना से बर्खास्त करके सुरक्षित सैनिक बना दिया गया। तब फेर्मी ने अपनी पत्नी और बच्चों के साथ इटली छोड़ कर चले जाने का निश्चय कर लिया। उन का पहला ध्यान अमेरिका की ओर ही गया क्योंकि वे १९ जुलाई १९२८ को अपना विवाह होने के बाद पहली बार १९३० में और फिर १९३३, १९३५, १९३६, और १९३७ की गर्मियों में विभिन्न विश्वविद्यालयों में वैज्ञानिक विषयों पर व्याख्यान देने के लिये अमेरिका जाते रहे थे।

डा० एनरिको फेर्मी को पहले अँग्रेजी तो बहुत अच्छी नहीं आती थी, पर अमेरिका जाने के कारण धीरे-धीरे उस में सुधार होता गया। उन्होंने इटली को छोड़ कर चले जाने के उद्देश्य से एक साथ ५ अमेरिकी विश्वविद्यालयों से अपनी अल्पकालिक नियुक्ति के सम्बन्ध में लिखा-पढ़ी की और अन्ततः कोलम्बिया विश्वविद्यालय का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

नोबेल पुरस्कार

इसी बीच १० नवम्बर १९३८ को स्टाकहोम से टेलिफोन द्वारा सूचना मिली कि एनरिको फेर्मी को न्यूट्रोन के विखण्डन द्वारा नये रेडियो-सक्रिय तत्वों का पता लगाने और इस सम्बन्ध में न्यूट्रोन की मन्द गति से नयी आणविक क्रियाओं की खोज करने पर ३८,००० डालर का नोबेल पुरस्कार देना निश्चित हुआ है।

नोबेल पुरस्कार लेने के लिये स्वीडन जाने के प्रकट उद्देश्य से श्री एनरिको फेर्मी अपनी यहूदी पत्नी और दोनों बच्चों के साथ ६ दिसम्बर १९३८ को अपनी मातृभूमि से विदा हो गये। ४ दिन बाद स्टाकहोम में राजा गुस्टव के हाथों नोबेल पुरस्कार ले कर डा० फेर्मी अमेरिका पहुँच गये और कोलम्बिया विश्वविद्यालय में अध्यापन-कार्य करने लगे।

१९३९ के प्रारम्भ में, जब हिटलर के आक्रमणों के कारण सारा संसार भविष्य के सम्बन्ध में चिन्तित था, जर्मनी से यह समाचार प्राप्त हुआ कि अनुसन्धान-कार्य में संलग्न दो रसायनशास्त्रियों—ओटो हान और फ्रिट्ज स्टासमैन ने युरेनियम पर मन्द गति वाले न्यूट्रोनों का प्रहार करके बिल्कुल भिन्न तत्वों वाले अणु तैयार करने में सफलता प्राप्त कर ली है। यह भी पता चला कि इन में से एक अणु बेरियम का रेडियोसक्रिय आइसोटोप था। रासायनिक दृष्टि से उक्त दोनों वैज्ञानिकों को प्राप्त परिणामों की निश्चितता के सम्बन्ध में पूरा विश्वास था, परन्तु भौतिक विज्ञान की दृष्टि से वे यह नहीं समझ पाये कि यह क्या क्रिया हुई। स्वीडन में जर्मन वैज्ञानिक डा० लीस मीटलर ने इसे यूरेनियम के अणु का विखण्डन बतलाया। डा० बोर फेर्मी के एक सम्मेलन में भाग लेने के लिए वाशिंगटन जाने पर कोलम्बिया विश्वविद्यालय में जौन आर० डनिंग और जौर्ज वी० पेग्राम ने यूरेनियम अणु के विखण्डन का परीक्षण किया। परीक्षण बिल्कुल सफल रहा। अमेरिका में यह सब से पहला परीक्षण था।

अणु-बम का निर्माण

मार्च १९३९ में फेर्मी को कोलम्बिया विश्वविद्यालय ने अणु-बम बनाने की सम्भावनाओं की पड़ताल करने के लिए वाशिंगटन में सरकार के पास भेजा, क्योंकि वैज्ञानिक इस बात से चिन्तित हो उठे थे कि जर्मनी शीघ्र ही इस नयी शक्ति की सैनिक उपयोगिता से परिचित हो जायेगा और अणु-बम बनाने का प्रयत्न करेगा। अमेरिकी सरकार ने १९४१ के प्रारम्भ से इस विषय पर ध्यान दिया और श्री फेर्मी के नेतृत्व में युरेनियन विखण्डन के सैद्धान्तिक पहलू की छानबीन करने वाली एक कमेटी नियुक्त कर दी। तब यह कार्य कोलम्बिया विश्वविद्यालय (न्यूयार्क) से हटकर शिकागो विश्वविद्यालय के तत्वावधान में होने लगा। वहाँ इस अनुसंधान-कार्य को "मैटालर्जिकल लैबोरेटरी" के नाम से किया जाने लगा और २ दिसम्बर १९४२ को अणु-विखण्डन की शृंखला का पहला परीक्षण पूरा हुआ।

इसके बाद लौस एलामोस (न्यू मैक्सिको) में प्लूटोनियम के परीक्षण किये जाने लगे और डा० फेर्मी वहाँ चले गये। श्री राबर्ट ओपनहाइमर के तत्वावधान में वहीं पर पहले पहल वे अणु-बम बनाये गये जिन का जापान पर प्रयोग किया गया।

१९४५ में युद्ध समाप्त होने पर डा० फेर्मी ने अमेरिका का नागरिक बनने का निश्चय किया और १९४६ में उन्हें शिकागो की 'इन्स्टिट्यूट औव् न्यूक्लियर स्टडीज' का प्रोफेसर नियुक्त किया गया। उन्हें नोबेल

[शेष पृष्ठ २५ पर]

प्रतिभास-परीक्षण तथा विश्लेषण का एक प्रसाधन

श्री० हरिमोहन, भौतिकशास्त्र विभाग, विश्वविद्यालय, प्रयाग

विज्ञान की प्रगति वर्तमान युग का आह्वान है। इसी के सहारे नवीनतम प्रसाधकों का अनुसंधान करते हुए मानव ने प्रकृति पर विजय पाई है। प्रकृति की प्रतिलिपि करने में भी वह पर्याप्त सफल रहा है। ऐसी ऐसी वस्तुओं का निर्माण हुआ है जिनमें कृत्रिमता एवं निसर्ग का भेद दृष्टिगोचर होना सर्वथा असम्भव है। परन्तु यदि सत्य को छिपाने तथा आडम्बर के अनेकानेक नवीनतम रूप उसकी चमत्कारिक बुद्धि की देन है तो दूसरी ओर इसी विलक्षण बुद्धि ने ऐसे भी वैज्ञानिक प्रसाधनों का आविष्कार कर दिया है जिसके द्वारा सत्य की परख क्षण भर का कार्य है। ज्यों ज्यों अपराध (Crimes) करने के अनेकानेक विलक्षण साधन एवं प्रतिरूप बढ़ते जाते हैं, असत्य-निर्देशक प्रसाधनों की प्रगति भी उतनी ही जागरूक है, आज यदि कोई किसी को धोखा देने की भावना से किसी प्रपत्र (Document) इत्यादि पर 'इन्क रिमूवर" से सत्य अङ्कों को मिटा कर जाली अङ्क लिख देता है तो सत्यता की परख में "डिटेक्टोलाइट" की सहायता से एक मिनट से अधिक नहीं लगता

"प्रतिभास-परीक्षण" तथा "एक्सरे परीक्षण" इन प्रसाधनों में विशेष उल्लेखनीय हैं। एक्सरे-परीक्षण के लिए हमें लम्बे चौड़े उपकरण की आवश्यकता पड़ती है तथा कार्य-विधि भी यद्यपि उपयोगी है परन्तु लम्बी है। वस्तुओं की आन्तरिक परीक्षा में ही यह विधि सर्वोपयोगी सिद्ध होती है। परन्तु बाह्य-असत्यता (Surface fraud) के दिग्दर्शन के लिए "प्रतिभास-परीक्षण" ही अत्यन्त सुलभ एवं उपयोगी है। खाद्य-पदार्थ, टैक्सटाइल्स, कागज, वारनिश तथा रसायन इत्यादि उद्योगों में एवं राजकीय-सीमान्त-विभाग (Customs department) में प्रतिभास-परीक्षण की विशेष उपयोगिता है। प्रतिभास-परीक्षण तथा विश्लेषण (Fluorescence testing and Analysis), उसके लिए आवश्यक उपकरणों का विवरण तथा अन्यान्य विभागों तथा उद्योगों में इस विधि की बहुमुखी उपयोगिता का परिचय ही प्रस्तुत लेख का प्रमुख उद्देश्य है।

वैज्ञानिक सिद्धान्त की दृष्टि से "प्रतिभास-परीक्षण" अत्यन्त सरल है। प्रतिभास उत्तेजन (Excitation) के लिए पदार्थ द्वारा प्रकाश-शक्ति का शोषण अनिवार्य है। किसी अवदीप्यशील (Fluorescent) वस्तु द्वारा प्रकाश-रश्मि के शोषित होने के फलस्वरूप पदार्थ के अणु उच्च तेज अवस्थाओं (Energy states) को उन्नत हो जाते हैं तथा पुनः जब वे पूर्व शान्त अवस्थाओं पर लौटते हैं, प्रकाश का निस्सरण होता है इस विधि से प्रकाश-निस्सरण (Fluorescence) कहा जाता है। इस प्रकाश में उत्तेजक-प्रकाश (Exciting light) से उच्चतर तरङ्ग-दैर्घ्य वाली प्रकाश-रश्मियाँ ही उपस्थित रहती हैं। भिन्न-भिन्न अवदीप्यशील पदार्थ अपने गुणों के अनुरूप ही प्रतिभास का निस्सरण करते हैं यदि एक अतिबैंजनी-रश्मिपुञ्ज (Ultraviolet beam) को कई एक अवदीप्यशील पदार्थों पर केन्द्रित किया जाय तो पृथक पृथक प्रकार का प्रतिभास उपलब्ध होता है। यदि दो वस्तुओं द्वारा निस्सरित प्रतिभास-प्रकाश दृष्टिगत

रूप में समान हो तो प्रकाश की वर्ण-क्रम-परीक्षा (Spectral analysis) से उनके वर्णक्रमों के वर्णपट्टों (Bands) की तुलनात्मक स्थिति भिन्न मिलती है। क्योंकि अवदीप्यशील वस्तु द्वारा निस्सृत प्रतिभास-प्रकाश उस वस्तु के गुणों के अनुरूप होता है अतः वह उस वस्तु के परीक्षण का सुलभ साधन है। साधारणतः प्रतिभास के वर्ण तथा उसकी तीव्रता का परीक्षण ही विश्लेषण के लिए पर्याप्त होता है परन्तु जब निस्सृत प्रकाश समरूप ही हो तब "प्रतिभास-विश्लेषण" प्रतिभासदर्शक (Fluoroscope) अथवा वर्णक्रम मापक Spectrometer) की सहायता से किया जाता है। तथा तब इस विधि की परिधि तथा उपयोगिता और भी बढ़ जाती है। वास्तव में प्रतिभास का वर्ण, उसकी तीव्रता, उसके वर्ण-क्रम (Spectrum) के पट्टों (Bands) का तरङ्ग दैर्घ्य उस अमुक वस्तु के गुणों के परिचायक हैं प्रतिभास की तीव्रता साधारणतया क्रियाशील पदार्थ की मात्रा पर निर्भर होती है तथा प्रतिभास द्वारा परिमाणिक-विश्लेषण का यही सिद्धान्त है।

प्रतिभास-परीक्षण को साधारणतः हम निम्न-विभागों में बाँट सकते हैं।

अ—गुणात्मक (Qualitative)

१. ऋजु-उत्तेजन (Direct excitation) परीक्षण-वस्तु को अतिबैंजनी प्रकाश रश्मिपुञ्ज के पथ में रख दिया जाता है तथा वस्तु द्वारा निस्सृत प्रतिभास के वर्ण तथा प्रकाश-तीव्रता (Spectral intensity) का निरीक्षण किया जाता है तथा उसी वस्तु के एक अन्य परिशुद्ध आदर्श (genuine Sample) द्वारा निस्सृत प्रतिभास से उपरोक्त प्रतिभास की तुलना की जाती है। वह प्रक्रिया किसी भी आम्लिक (Acidic), क्षारीय Alkaline) अथवा उदासीन (Neutral) विलयन (Solution) में विभिन्न सांद्रणों (Concentration) पर, विभिन्न द्रवों के साथ की जाती है।

(२) वस्तु द्वारा निस्सृत प्रतिभास यदि अत्यन्त क्षीण (Feeble) हो, तो उस दशा में प्रतिभास परीक्षण "अवदीप्ति अणुवीक्षण यंत्र" (Fluorescence-microscope) की सहायता से किया जाता है तथा उसके वर्णक्रमिक गुणों (Spectral Characteristics) का समुचित विवेचन किया जाता है।

(३) रासायनिक परिवर्तन- संदिग्ध वस्तु को किसी ऐसे रसायन से प्रतिक्रिया की जाती है जिसके फलस्वरूप कोई अवदीप्यशील यौगिक (Fluorescent Compound) बनें तथा इस भाँति निर्मित यौगिक का अवलोकन एवं परीक्षण किया जाता है। इसके विपरीत यदि संदिग्ध वस्तु स्वयं अवदीप्यशील है तो किसी विशेष रसायन द्वारा उसका अवदीप्ति-गुण (Luminiscence-characteristic) विनष्ट कर दिया जाता है तथा यौगिक का परीक्षण किया जाता है।

(४.) केशिका-विश्लेषण (Capillary-analysis) इस विधि से विशेषतया द्रवों की परिशुद्धि की परीक्षा की जाती है इसके प्रथम द्रष्टा थे, डा० पी० डब्ल्यू डैन्कवर्थ तथा ई० पाफ़न। इस विधि के द्वारा विभिन्न दवाओं के विलयनों तथा वनस्पतिक पदार्थ, प्रोटीन इत्यादि का परीक्षण बड़ी सुगमता से हो जाता है। फिल्टर-पेपर का एक सिरा ऊर्ध्वरूप से द्रव में डुबा दिया जाता है। केशिका सिद्धान्त(Capillary principle से द्रव धीरे धीरे फिल्टर-पेपर पर चढ़ता है। भीगे हुए स्तम्भ को अतिबैंजनी रश्मि पुञ्ज के पथ में देखा जाता है। विभिन्न अवद्रव्य (Imparities) फिल्टर पेपर पर विभिन्न ऊँचाई तक पहुँचती हैं तथा खंड रूप (Colemn) में एकत्रित हो जाती हैं। अतिबैंजनी किरणों से प्रभावित हो कर विभिन्न स्तम्भ पृथक पृथक वर्ण का प्रतिभास का निस्सरण Cmission) करते हैं। इससे परीक्षण-वस्तु की शुद्धता का समुचित ज्ञान हो जाता है।

ब—परिमाणात्मक (Quantitative)

(१.) कई एक मिश्रणों को जिनमें पृथक पृथक अवदीप्यशील पदार्थों की ज्ञात मात्रा मिश्रित हो, अतिबैंजनी प्रकाश के सम्मुख रखा जाता है। संदिग्ध वस्तु के समान ही प्रतिभास निस्सरण करने वाले मिश्रण को ज्ञात करके संदिग्ध-वस्तु में उपस्थित अव-

दीप्यशील पदार्थों की मात्रा का तुलनात्मक ज्ञान हो जाता है। उपरोक्त विधि अधिक उपयोगी नहीं है।

(२) आभास-मापन (Photometry) प्रतिभास की तीव्रता (जब अन्य परिस्थितियाँ समान हों) उपस्थित अवदीप्यशील पदार्थ की मात्रा के ही अनुपात में होती है। प्रतिभास की तीव्रता आभास-मापक Photometry द्वारा बड़ी सरलता एवं सुगमता से नापी जा सकती हैं। इस प्रकार दी हुई वस्तु में अवदीप्यशील वस्तु की मात्रा का अनुमान लगाया जा सकता है। परन्तु यह विधि सर्वत्र उपयोगी सिद्ध नहीं होती।

(३) केशिका विधि (Capillary Method) यदि भिन्न भिन्न स्तम्भों द्वारा निस्सृत प्रतिभास की तीव्रता एक अच्छे दीप्तिमापक (Phofometer) द्वारा मापी जावे तो मिश्रण में प्रस्तुत विभिन्न वस्तुओं की मात्रा का तुलनात्मक ज्ञान सम्भव है तथा इससे परिणाम भी सुन्दर मिलते हैं।

(४) प्रतिभासिक-निर्देशक (Fluorescent indicators) अधिकांश वस्तुओं के प्रतिभास की तीव्रता तथा वर्णविलयन (Solution) के आम्लिक मान (Ph. Value) के साथ ही साथ परिवर्तित हो जाते हैं। इसी आधार पर कुनैन के विलयन का बिना किसी रासायनिक निर्देशक (Chemical indicator) की सहायता से ही अतिबैंजनी प्रकाश में अत्यन्त ही सरलता पूर्वक अनुमापन (Titration) किया जा सकता है प्रतिभास परिवर्तन ही अन्तिम विन्दु (End point) का निर्देश करता है।

प्रतिभासिक-परीक्षण के लिए उपयुक्त प्रतिभास उत्तेजक प्रकाश-किरणों का चयन (Selection) भी अत्यन्त आवश्यक तथा महत्वपूर्ण है दृश्यमान् प्रकाश (Visible light) द्वारा पूर्णतया उत्तेजित होने वाले अवदीप्यशील पदार्थों की संख्या अधिक नहीं हैं परन्तु अतिबैंजनी प्रकाश-पुञ्ज द्वारा अधिकांश वस्तुओं में प्रतिभास-उत्तेजन सम्भव है। अतः प्रतिभास-परीक्षण में अतिबैंजनी प्रकाश-रश्मियों का ही उपयोग किया जाता जाता है। प्रतिभासिक-परीक्षण की प्रगतिशील उपयोगिता के फलस्वरूप तथा इन रश्मियों की अन्यान्य उपयोगिताओं जिनमें विशेषरूप से (अतिबैंजनी रश्मि उपचार) (Ultraviolet therapy) के कारण आज विविध प्रकार के तथा विभिन्न वर्णक्रमिक गुणों (Spectral characteristics) वाले अतिबैंजनी-प्रकाश-दीप (Ultraviolet lamps) उपलब्ध हैं।

अतिबैंजनी प्रकाशरश्मियों की तरङ्ग-दैर्घ्य परिधि सामान्यतः १३६A° से ४०००A° तक सीमित है परन्तु प्रतिभासिक उत्तेजन की दृष्टि से मुख्यतः २५००A° से ३७००A° तक तरंगदैर्घ्य वाली प्रकाश-रश्मियाँ विशेष प्रभावशाली होती हैं इनमें से भी पारद-वाष्प-निवाधन (Mercury Vapour discharge) द्वारा निःसृत २५३७A° तथा ३६५० A° तरङ्गदैर्घ्य वाली रश्मियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। अतिबैंजनी-रश्मि-उपचार (Ultraviolet therapy) तथा प्रकाश-रासायनिक प्रक्रियाओं (Photo-Chemical Reactions) में भी ये ही रश्मियाँ विशेष प्रभावशाली सिद्ध होती हैं।

जहाँ तक इन रश्मियों के उत्पादन का सम्बन्ध है, सूर्य उपरोक्त किरण पुञ्ज का महान स्रोत है। प्रयोग शाला में अतिबैंजनी रश्मिपुञ्ज का सर्व-प्रारम्भिक उत्पादक "गैसदीप" था। इसमें कार्बन-डाइ-सल्फाइड तथा आक्सीजन जलते हैं। इससे निःसृत प्रकाश में अतिबैंजनी प्रकाश की पर्याप्त प्रचुरता होती है। स्फुलिङ्ग विधि (Spark) से दो धातुवीय विद्युद्ग्रों के मध्य उच्च विभव (High Voltage) की विद्युतधारा प्रवाहित करने के फलस्वरूप जो प्रकाश उपलब्ध होता है उसमें भी अतिबैंजनी प्रकाश किरणों की प्रचुरता रहती है तथा इनमें भी अल्यूमीनियम के स्फुलिङ्ग (Spark) द्वारा निस्सृत प्रकाश में इन रश्मियों की मात्रा आधिकतम होती है।

निम्नाङ्कित तालिका में विभिन्न धातुओं के स्फुलिंग (Spark) से उत्पन्न प्रकाश के वर्णक्रमिक गुण (Spectral Characteristics) दर्शित किए गए हैं।

धातुएँ	प्रकाश-तीव्रता		पूर्ण प्रकाश तीव्रता का प्रतिशत ३०००A° से ४०००A° तक	वर्ण-रेखाओं की संख्या	
	२००० A° तथा ८००० A° के मध्य (रोलैंड इकाई में)	३००० A° तथा ४००० A° के मध्य (रोलैंड इकाई में)		२००० A°– ४००० A°	३००० A°– ४००० A°
१. अल्यूमीनियम	२७३०	२६११	९५	२८	८
२. ताँबा	३८८८	२७००	६९	१३६८	१८७
३. लोहा	७५५४	३००१	४०	२३६०	८६८
४. पारद	२६०५	८७५	३१	७८	२५
५. निकिल	३०३६	१२३८	४०	९७६	३०९
६. सीसा	३६७८	२०१०	५५	४६	१०

परन्तु उपरोक्त प्रकार के प्रकाश-स्रोत प्रतिभास-विश्लेषण एवं परीक्षण में उपयोगी सिद्ध नहीं होते। प्रतिभास-परीक्षण में विद्युत-निवाधन दीप (Electric discharge lamps) ही अत्यधिक उपयोगी सिद्ध होते हैं। इनमें स्फटिक पारद वाष्प-निवाधन-दीप (Quartz Mercury vapour discharge tubes) विशेष उल्लेखनीय हैं। ये दो प्रकार के होते हैं।

१—उच्च वाष्प-दाब वाले (High pressure units)

२—निम्न वाष्प-दाब वाले (Low pressure units)

तथा यथास्थान प्रयुक्त किए जाते हैं। उच्च-दाब वाले दीपों द्वारा निस्सृत प्रकाश में ३६५० A° के रश्मिपुञ्ज अधिक तीव्र होते हैं। प्रकाश पथ पर "वुड फिल्टर" लगाकर अन्य रश्मियाँ शोषित हो जाती हैं तथा केवल ३६५० A° तरङ्गदैर्घ्य वाली रश्मियों का पारगमन हो पाता है। निम्नवाष्प दाब वाले दीपों के प्रकाश में २५३७ A° के रश्मि-पुञ्ज अधिक तीव्र होते हैं यहाँ तक कि दीप द्वारा सम्पूर्ण उपलब्ध प्रकाश का ९०% लगभग २५३७A° तरङ्ग-दैर्घ्य की वर्ण-धारी (Spectral linl) में ही निहित रहता है। निम्न-वाष्प-दाब के दीपों द्वारा निस्सृत प्रकाश में इसी कारण वायु के बैक्टीरिया (सूक्ष्म कीटाणुओं) को विनष्ट करने की अपूर्व शक्ति रहती है तथा ऐसे दीपों का प्रयोग विशेष रूप से इन्हीं सूक्ष्म कीटाणुओं को विनष्ट करने के लिए किया जाता है। ऑपरेशन तथा पोस्टमार्टम के कमरों में ऐसे दीप बहुधा प्रयुक्त होते हैं। प्रतिभास-परीक्षण में ऐसे दीप वहीं प्रयोग में लाए जाते हैं जहाँ ३६५० A° तरङ्गदैर्घ्य वाली रश्मियाँ प्रतिभास-उत्तेजन में निष्क्रिय सिद्ध होती हैं जैसे टंगस्टन के यौगिक इत्यादि। अन्यथा साधारणतया प्रतिभास-परीक्षण में "वुड फिल्टर" से युक्त उच्च-वाष्प-दाब वाले स्फटिक-पारद-वाष्प दीप ही प्रयुक्त होते हैं। इंग्लैण्ड की हनोविया कं० उपरोक्त प्रकार के दीपों के निर्माण के लिए सर्वविख्यात है।

प्रतिभासिक-विश्लेषण के लिए किसी विशेष उपकरण तथा विशिष्ट कार्यपद्धति की आवश्यकता नहीं होती। प्रतिभास-उत्तेजन के लिए एक स्फटिक-

पारद-वाष्प दीप (Quartz Mercury lamp) तथा एक स्पेक्ट्रोग्राफ साधारण परीक्षण के लिए पर्याप्त होते हैं। परीक्षण के पूर्व दीप को कुछ समय पहले सक्रिय कर दिया जाता है जिससे वह अपने चरम-निस्सरण तक पहुँच जाय। इसके उपरान्त दीप के सामने उपयुक्त फिल्टर रखकर अतिबैंजनी रश्मि-पुञ्ज द्वारा पदार्थ में प्रतिभास-उत्तेजन किया जाता है। द्रवों के परीक्षण के लिए उन्हें किसी स्फटिक नालिका (Quartz-tube) में भरकर रश्मि-पथ पर रख दिया जाता है तथा उत्तेजित प्रतिभास का परीक्षण स्पेक्ट्रोग्राफ की सहायता से किया जाता है।

प्रतिभासिक परीक्षण तथा विश्लेषण का जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, विभिन्न उद्योगों में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। पग-पग पर निर्मित पदार्थों की परिशुद्धि परखने के लिए तथा दोषों का पता लगाने के लिए हमें प्रतिभास-परीक्षण की शरण लेनी पड़ती है। उदाहरणतः खाद्य-पदार्थ उद्योग में बटर तथा मैरगैरीन, शुद्ध क्रीम तथा अशुद्ध तथा बनावटी क्रीम, वैजीटेबिल तथा अन्य खाद्य तेल, गेहूँ का आटा तथा अन्य आटा, तथा ताजे, बासी खाद्य का अन्तर-विवेचन प्रतिभास-परीक्षण से क्षण भर में हो जाता है। कपड़ा उद्योग (Textiles) में अनेक प्रकार की कृत्रिम सिल्कों (Rayons) में अन्तर ज्ञात करने के लिए, कागज उद्योग में विभिन्न जालसाजियों को पकड़ने के लिए प्रतिभास-परीक्षण अनिवार्य है। कृषि-शास्त्र में अन्यान्य विविध प्रकार की खादों के आशु-परीक्षण (Immediate testing) के लिए भी यह विधि अत्यन्त सुगम है।

प्रतिभास-परीक्षण तथा विश्लेषण की अन्यान्य उपयोगिताओं तथा उनकी विवेचनात्मक कार्यविधियों का समुचित दिग्दर्शन पृथक-पृथक शीर्षकों में आगामी लेखों में किया जायगा।

धन्यवाद

उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा "विज्ञान" परिवार के दो सदस्यों को उनकी कृतियों के लिए इस वर्ष पुरस्कार मिला है। इसके लिए हम सरकार को धन्यवाद तथा लेखकों को बधाई देना उचित समझते हैं। पुरस्कृत पुस्तकों तथा उनके लेखकों और पुरस्कार राशि का ब्यौरा निम्न है—

लेखक	पुरस्कृत पुस्तक—	
डा० सत्य प्रकाश—	भारत की वैज्ञानिक परम्परा ६००)	
जगपति चतुर्वेदी (सहा० सम्पादक विज्ञान)	१—जलचर पक्षी	५००)
	२—बनबाटिका के पक्षी	
	३—बन उपवन के पक्षी	
	४—उथले जल के पक्षी	

—प्रधान मंत्री

मनोविज्ञान शब्दावली (*Psychology General*)

Ability योग्यता, सामर्थ्य (बं), क्षमता
Abnormal असामान्य, असाधारण
Abnormal-Psychology विकृत-मनोविज्ञान
Absolute परम (बं), निरपेक्ष, केवल
Absoluteness कैवल्य
Abstract विमूर्त (बं), अमूर्त
Abstract idea विमूर्त भाव (बं), विमूर्त प्रत्यय
Abstruse निगूढ़ (बं), दुर्बोध
Accessory आनुषंगिक
Accidental आकस्मिक, आपत्तिक (बं)
Accretion उपलेप
Accuracy शुद्धता, यथार्थता
Acquired——अर्जित
Action क्रिया (बं), कर्म
Action, automatic स्वतः क्रिया (बं)
— , ideomotor भावज क्रिया (बं), प्रत्ययात्मक क्रिया
— , impulsive आवेगज क्रिया (बं), उचंगी क्रिया
— , instinctive सहज क्रिया (बं)
— , involuntary अनैच्छिक क्रिया (बं)
— , muscular पैषिक क्रिया (बं)
— , reflex प्रतिवर्ती क्रिया (बं)
— , selective वृत क्रिया (बं), उद्धृत क्रिया
— , sensori-motor संवेदज क्रिया (बं)
— , volitional ऐच्छिक क्रिया (बं)
— , theory of क्रियावाद (बं)
Activity सक्रियता (बं) क्रियाशीलता
Activity. implicit निहित सक्रियता, निहित कर्मवृत्ति (बं)
— , explicit व्यक्त सक्रियता, व्यक्त कर्म वृत्ति (बं)
Actuality याथातथ्य (बं), यथार्थता
Adaptation प्रतियोजन (बं), अभियोजन (बं), अनुकूलन
Adequate stimulus समर्थ उत्तेजन, यथेष्ट प्रोत्साहन
Adjustable समायोज्य
Adjustment समायोजन उपयोजन
Adolescence नवयौवन (बं), तारुण्य
Aesthetic रस संबंधी, सौन्दर्य संबंधी कांत (बं), रसील
— , emotion सौन्दर्य प्रक्षोभ, कांत प्रक्षोभ (बं)
— , sentiment भावुकता, कांतरस (बं)
Affection स्नेह, राग, आधान (बं)
Affective भावोत्पादक, भावनात्मक
Afferent अंतर्वाही, अंतर्गामी अंतर्मुखी
After image उत्तर प्रतिमा, अनुवेदन (बं)
After image negative उत्तर प्रतिमा-ऋणात्मक, असवर्ण अनुवेदन (बं)
— — , positive उत्तर प्रतिमा-धनात्मक, सवर्ण अनुवेदन (बं)
Alternate एकान्तर (बं)
Alternative वैकल्पिक
Altruism परार्थवाद (बं) परार्थता (बं)
Ambiguous संशयार्थक, अस्पष्ट
Ambition महत्वाकांक्षा
Amplitude दोलन
Ampullar sensation दिग्वेदन (बं)
Analysis विश्लेषण
Anatomy शरीर-शास्त्र, शरीर-स्थान (बं)
Anger क्रोध
Animal प्राणी, जीव

Animal magnetism प्राणी चुम्बकता, जीवचुम्बकता (बं)
— psychology प्राणि-मनोविज्ञान (बं)
— spirit सजीवता
Anomalous व्यतिक्रान्त
Anterior सम्मुख (बं)
Anthropomorphism नरधर्मी (बं, नरत्वारोप (बं)
Anticipation अग्रज्ञान (बं)
Anti-Clock wise वामवर्त
Antipathy असहानुभूति, द्वेष (बं)
Anlithesis प्रतिवाद, उल्टा
Anxiety उत्कंठा (बं), चिंता
— dream उत्कंठा-स्वप्न, चिंता-स्वप्न
— equivalent उत्कंठानुकल्प (बं, चिंतानुकल्प
— hysteria उत्कंठोन्माद, चिंतोन्माद
— neurosis उत्कंठा-उद्वायु बं) चिन्तोद्वायु
— neurotic उत्कंठा-उद्वायुज (बं) चिन्तोद्वायुज
— implicit निहित उत्कंठा, निहित चिन्ता
Apathy उदासीनता, अनीहा बं)
Aphasia वागरोध (बं), वाग्भ्रंश
Apparatus यंत्र (बं)
Apparent व्यक्त (बं), स्पष्ट (बं) आपात
Appearance रूप, आभास, विवर्त्त
Apperception अंतर्बोध, संप्रत्यक्ष
Applied Psychology व्यावहारिक मनोविज्ञान
Application प्रयोग बं), व्यवहार
Apriori अनुभव-निरपेक्ष, प्रागनुभविक
Argument तर्क
Arrangement विन्यास (बं), क्रम (बं) व्यवस्था (बं
Aspect पार्श्व, पहलू
Aspiration उत्कांक्षा
Assertion दृढ़ उक्ति
Assimilation आत्मीकरण, एकीकरण
Assimilative Thinking आत्मीकर-विचार

Association सहचार, साहचर्य्य, अनुषंग
— controlled संयत-सहचार, संयतानुषंग
— free अबाध-सहचार, अबाधानुषंग
— of ideas प्रत्यय-सहचार भावानुषंग ०बं०, प्रत्यायनुषंग
— law of सहचार-नियम, आनुषंगिक नियम
— remote दूरानुषंग
Attention अवधान, ध्यान, मनोयोग (बं०)
Attitude प्रतिन्यास (बं०), दृष्टिकोण, रुख
Attribute लक्षण, गुण, धर्म (बं०
— special विशेष लक्षण
Audition श्रवण (बं०)
Auditory image श्रावण प्रतिमा
Auto-erotic स्वतःकामी (बं०)
Automatic स्वतःक्रियमाण, स्वतः संचालित
Automatism स्वतःसंचालित यंत्र, स्वतः क्रियमाण यंत्र
Autonomic nervous system स्वतःप्रवृत्त स्नायुमंडल
Auto-suggestion आत्म सूचना
Average औसत, मध्यमान, समक (बं०)
Axiom स्वतः सिद्ध
Axon-स्नायु-कोष का शाखारहित छोर
Background पृष्ठभूमि
Balance तुला, संतुलन
Beats स्पन्दन, धड़कन, अधिकम्प (बं०)
Behaviour व्यवहार, आचार
Behaviourism व्यवहारवाद
Behaviouristic psychology व्यवहारवादी मनोविज्ञान
Bestiality पाशविकता, पशुता
Binocular द्विदृक् (बं०)
Biology जीव-विज्ञान
Black-board श्याम-पट

Blindspot अंध-बिंदु
Blue नीला (बं०)
Brain मस्तिष्क
Breadth चौड़ाई
Capacity क्षमता, सामर्थ्य, धारकत्व (बं०)
Causal relation कारण-सम्बन्ध (बं०)
Causa sui स्वयंभू
Causality कारणता (बं०), कारणकता
Celibacy ब्रह्मचर्य्य (बं०)
Cell कोष, घटक
Censor प्रहरी (बं०), प्रतिबंधक
Censorship प्राहरिता, प्रतिबंधकता
Central केंद्रीय
Centrifugal केंद्र-विमुखी, केन्द्रोपसारी, केन्द्रातिग (बं०) अपकेंद्र (बं०)
Centripetal केंद्रमुखी, केन्द्रानुसारी, केन्द्रभिग(बं०)
Cephalic idex कपालांक
Cerebellum लघुमस्तिष्क
Cerebral hemisphere लघुमस्तिष्क गोलार्द्ध
Cerebrospinal system केन्द्रीय मस्तिष्क स्नायु-मंडल
Cerebrum बृहत् मस्तिष्क
Chained reflex शृङ्खल-प्रत्यावर्त्तन, क्रमिक प्रतिवर्त्त (बं०)
Character चरित्र
Characteristic विशेषता, स्वाभाविक
Charge आधान
Charged अवशिष्ट
Chart चार्ट चित्र (बं०)
Chief प्रधान, मुख्य, प्रमुख
Child psychology बाल-मनोविज्ञान
Circuit वर्तनी (बं०) परिक्रमा
Clairvoyance दिव्य-दृष्टि
Classification वर्गीकरण, श्रेणीकरण
Clinic रोगि परीक्षागार बं०), चिकित्सालय
Clinical method रोगि-परीक्षा-पद्धति (बं०)
Clockwise दक्षिणावर्त्त
Clue कुंजी, संकेत
Co-conscious सह संज्ञात, सहचेतन
Coefficient गुणक
Co-efficient of reliability निर्भरांक (बं०, निर्भरता-गुणक
Co-extensive सह-व्यापी (बं०)
Co-extension सह- व्याप्ति (बं०)
Cognition प्रज्ञान, पहिचान
Cognitive प्रज्ञानात्मक, पहिचानात्मक
Cognitive faculty प्रज्ञान-शक्ति, पहिचान-शक्ति
Coherence संगति
Cohesion संसक्ति, स्नेहाकर्षण
Coil कुंडली (बं०), वेष्टन
Co-incidence समापतन (बं०)
Colour Blind वर्णांध (बं०), रंगांध
— complementary पूरक वर्ण, पूरक-रंग
— primary मूल-वर्ण, मूल रंग
— theory वर्ण-सिद्धांत
Combination एकीकरण, संयोग
Common Sense व्यवहार-बुद्धि, साधारण बुद्धि, सहजबुद्धि
Comparision तुलना
Compensation क्षतिपूरण (बं०)
Complemental अनुपूरक
Complementary पूरक
Complex ग्रंथि, भाव-ग्रंथि, विचार-ग्रंथि
Complicated जटिल
Component अवयव, उपादान (बं०)
Composite संयुत (बं०), मिश्रित
Composition संयुति
Compulsion psycho-neurosis अनुकर्षी स्नायु रोग, अनुकर्षी-वायु (बं.)
Conation चेष्टना
Conative चेष्टनात्मक
Concept सामान्य प्रत्यय, सामान्य चिंतन, धारणा

Conception धारणा (बं०)
Conclusion निष्कर्षक, निगमन
Conclusive निष्कर्षक, चूड़ांत
Concord ऐक्य (बं०), स्वासाम्य, अनुरूपता
Concrete मूर्त्त (बं०)
— idea मूर्त्त प्रत्यय
— memory image मूर्त्त स्मृति प्रतिमा, मूर्त्त प्रतिरूप (बं०)

Concentration एकाग्रता
Conditional संबद्ध, उपाधियुक्त
Conduction परिचाल, परिवहन (बं०), चालन
Conductor परिचालक, परिवाही (बं०), चालक
Conflict संघर्ष, द्वन्द्व (बं०)
Conscience सद्सद्बुद्धि
Conscious संज्ञान (बं०), चेतन
Sub-Conscious अवचेतन, उपचेतन
Consciousness चेतना
Conservation अविनाशत्व, सुरक्षण
Constituent अङ्ग
Contemplation समाधान
Contempt अवहेलना
Constructive विधायक, रचनात्मक
Contiguity सन्निधि, व्यवधान रहित, अविच्छिन्नत्व
Continuity धारावत्व, अव्यवहित
Contour बाह्यरेख, परिणाई (बं०)
Contradiction विपरीतता, विरोध
Contrary विपरीत, विरुद्ध
Contrast वैलक्षण, प्रबल-भेद
Control hammer नियामक ध्वज (बं०)
Controlling magnet नियामक चुम्बक, नियंत्रक चुम्बक

Convention प्रचल (बं०), रूढ़ि, प्रथा
Conversion परिवर्त्तन, विपरिणाम
Co-ordination समन्वय (बं०)
Cornea कनीनिका
Correlation पारस्पर्य (बं०), अनुबंध (बं०)
Cortex बहिः स्तर
Cramming रटन
Cranial nerves शीर्षणी-स्नायु
Creation सृजन, सर्ग
Cretinism बौनापन
Crucial विनिश्चायक
Crude असंस्कृत, अपक्व
Cumative गति-सम्बन्धी
Curiosity कौतूहल, मनोजिज्ञासा
Curve वक्र
Data सामग्री, प्रदत्त, उपात्त (बं०)
Day-dream जागर-स्वप्न (बं०), दिवा-स्वप्न
Deaf बहरा
Decomposition विपाटन, वियोजन (बं०)
Deduction निगमन
Deliberation मनन
Deliberative मननात्मक
Deformity कुनिर्माण, वैरूप्य
Degree मात्रा (बं०) अंश, दर्जा
Delayed reaction विलम्बित प्रतिक्रिया (बं०)
Delusion भ्रान्ति (बं०)
-- , of grandeur वैभव-भ्रान्ति
— , of persecution पीड़न भ्रान्ति
Demonstraton उपपत्ति, प्रदर्शन
Denotation व्यक्तार्थ
Derivative प्रसूत, उत्पन्न (बं०)
Desire कामना
Desire for mastery विजय कामना
Desire for social consideration कीर्त्ति-कामना, यश-ऐषण
Desire for praise प्रशंसा कामना
Desire for comfort आराम-कामना, सुख-कामना
Desire for social consideration कीर्त्ति-कामना

Determining tendency निर्धारक मनोवृत्ति
Determinism नियतिवाद
Development प्रचय (बं०) सम्वर्द्धन
— psychology प्रचय-मनोविज्ञान, संवर्द्धन-मनोविज्ञान

Deviatian व्यत्यय (बं०), व्यतिक्रम, विमार्ग-गमन, विचलन

Device युक्ति, उपाय, साधन
Diagnosis निदान (बं०)
Diagram परिलेख, रेखा-चित्र
Dialectic द्वन्द्व नियम, तर्क विद्या, द्वन्द्व न्याय
Diaphragm छद (बं०) श्वास-पटल
Difference अंतर, भेद
Difference-just noticeable माद्यांतर
Dimension परिमाण, मात्रा (बं०)
Direct साक्षात (बं०), ऋजु
Direct method साक्षात विधि, ऋजु-विधि
Disassociation विसर्जन, पृथक्‌चार
Disc चक्र फलक (बं०)
Discharge मोक्षण (बं०)
Discipline अनुशासन, नियम-निष्ठा
Discrmination विवेक
Discriminative विवेकी
— reaction विवेकी प्रतिक्रिया
Disease रोग (बं०), व्याधि (बं०)
Disorder अव्यवस्था, वैकल्य (बं०)
Dispersion विच्छुरन (बं०)
Displacement पद-च्युति, स्थान-भ्रंश अभिक्रांति (बं०)

Disposition स्वभाव
Disruption संभेद (बं०), भंजन
Dissociation पृथक् चार
Distinguish भेद करना
Distortion विकृति (बं०)
Distracting stimulus विक्षेपक उत्तेजन, विक्षेप (बं०)
Distribution वितरण
Doctrine वाद (बं), सिद्धान्त
Double image द्वि-प्रतिमा (बं०, द्वि-प्रतिरूप (बं०)
Doubt संदेह
Doubting maina संदेह उन्मत्तता
Dramatization नाट्यन (बं०)
Drawing अंकन (बं०)
Dream स्वप्न
Drive नोदना (बं०)
Dualism द्वैतवाद (बं०)
Ductless glands नलिकाविहीन-ग्रंथि
Dynamic गतीय (बं०), गत्यात्मक
Dynamonater गति-मापक, शक्ति-मापक (बं०)
Ebullition स्फुटन (बं०), उफान
Education शिक्षा
Educational psychology शिक्षा मनोविज्ञान
Efferent बहिर्वाही, निर्गामी
Efficiency दक्षता, निपुणता
Effort प्रयास, प्रयत्न
Ego अहंकार, स्व, जीव
Ego-centric अहं-केंद्रिक, स्वकेंद्रिक
Ego-ideal स्वादर्श
Ego-instinct आहमिका प्रवृति, स्वप्रवृत्ति
Egoism स्ववाद, अहंवाद, अहमिका (बं०)
Ego-libido स्वकाम, आहमिक काम
Ego-dystonic असात्म्य
Ego-Syntonic सात्म्य
Elaboration विस्तार
Elanvital प्राणात्मा
Elation उल्लास (बं०)
Electric battery वैद्युतिक बैटरी (बं०)
— spark विद्युत-स्फुलिङ्ग (बं०)
Electrode तड़ित-द्वार, विद्युत-द्वार
Electro-magnetic विद्युत-चुम्बकीय

Element तत्व, महाभूत, मौल (बं०)
Elementary आरंभिक, प्राथमिक (बं०)
Elimination लुप्तीकरण, विलीनीकरण
Emotion भावावेग, संवेग, प्रक्षोभ (बं०)
Empirical प्रायोगिक, प्रयोगज (बं०)
Empiricism प्रयोगवाद (बं०), प्रत्यक्षवाद
Emulation स्पर्श, प्रतिद्वन्द्वता
Encephalitis मस्तिष्क प्रदाह
Endocrine नलिकाहीन
End organ प्रांतांग
Energy शक्ति
Enthusiasm उत्साह
Environment परिस्थिति, वातावरण
Envy ईर्ष्या
Epistemology ज्ञान-मीमांसा, परिज्ञानिक सिद्धांत सम्वित विज्ञान
Equation समीकरण (बं०)
Equilibrium साम्य, सुस्थिति (बं०), समतुल्यता
— , forces in सुस्थिति-शक्ति (बं०) शक्ति-साम्य
Equivalent तुल्य (बं०)
Erotic कामुक (बं०)
Error त्रुटि, भूल, गल्ती
Estimate मूल्यानुमान, कूतना
Ethics कर्त्तव्य-शास्त्र, कर्त्तव्य विज्ञान, नीति विज्ञान, व्यवहार-शास्त्र
Evolution क्रम-विकास, अभिव्यक्ति (बं०), उत्क्रान्ति, विकास
Exact यथार्थ
Exaltation उल्लास, उमंग, उत्कर्ष
Examination परीक्षा, परीक्षण
Exception अपवाद, व्यतिक्रम
Excitation उकसाव, उद्दीपन, उत्तेजन
Excitement उत्तेजना (बं०)
Existence अस्तित्व (बं०)
Expansion प्रसरण (बं०), प्रसार
Expectation प्रत्याशा (बं०)
— , error प्रत्याशा-त्रुटि
Experience अनुभूति, अनुभव
Experiencer अनुभवकर्त्ता
Experiment प्रयोग, अभिक्रिया (बं०)
Extension वर्द्धन, व्याप्ति (बं०)
Extensive व्यापक (बं०), वर्द्धित्त, वार्द्धिक
Extent (attribute) पहुंच, व्याप्ति
External बाह्य (बं०)
Extraction निष्कासन (बं०)
Extreme चरम, अंतिम, प्रांत
Extrovert बाह्य मुखी, बहिर्वृत
Eye नेत्र, आँख, चक्षु
Eye-movement चक्षु-चलन
Facial expression मुखभाव (बं०)
Fact तथ्य, वस्तु
Factor अंश, अंग
Faculty क्षमता
Fallacy हेत्वाभास तर्कदोष
Familiarity परिचय (बं०) परिचयाधिक्य, अति-परिचय
Fantastic ऊट-पटांग
Fatigue क्लान्ति (बं०), तकान, थकावट
Fatigue index क्लान्ति-अंक, क्लान्ति अनुक्रमणिका
Fear भय
Feeble-minded ऊन मानस (बं०), दुर्बलमस्तिष्कीय
Feeling अनुभूति (बं०) भावना, संवेदन, व्यापार, सुख-दुखभाव
Fetish भ्रान्त-भक्ति, भक्ति-वस्तु (बं०)
Fissure दरार, विदार, फाट (बं०)
Fixed ideas बद्ध-प्रत्यय स्थिर-विचार
Flagellant कशा-कामी (बं०)
Flicker क्षणिक कंपन, झिलमिला

[क्रमशः]

नैनी एग्रिकल्चरल इन्स्टिट्यूट

हितेन्द्रनाथ मुखर्जी

इलाहाबादः वैल्स माता-पिता से उत्पन्न, डा० सैम हिगिन-बौटम नामक एक अमेरिकी ने इस प्राचीन नगर से हो कर बहने वाली यमुना नदी के दक्षिणी तट के ऊबड़-खाबड़ और कांस युक्त मैदान पर दृष्टि डाली। उसकी अन्दर को धंसी हुई आंखों में प्रसन्नता छा गई। आखिर उसकी खोज का काम पूरा हो चुका था। उसे वह स्थान मिल गया था, जहाँ उसके स्वप्नों को साकार रूप दिया जा सकता था।
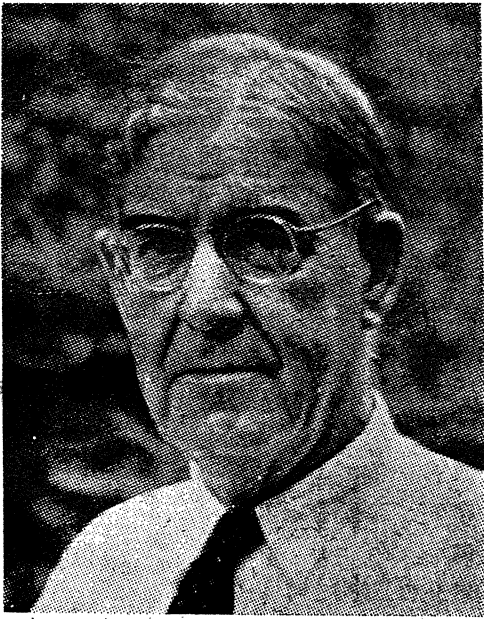
हिगिन बौटम

डा० हिगिनबौटम यह जानते थे कि भारतीय किसान बड़े परिश्रमी और बुद्धिमान् होते हैं; उन्हें जो जानकारी और उपकरण उपलब्ध कराये जाते हैं, उन में से अधिकांश का वे उपयोग करते हैं। डा० हिगिनबौटम का विश्वास था कि भारतीय किसानों को यदि किसी चीज की आवश्यकता है तो वह है केवल और अधिक जानकारी की। उन्हें आशा थी कि यदि यहाँ यमुना के तट पर एक कृषि-संस्था की स्थापना की जाय तो नवीनतम वैज्ञानिक जानकारी प्रदान करके इन किसानों की सहायता की जा सकती है।

वे वापस अमेरिका लौट गये और अपने चिर-आकांक्षित स्वप्न को मूर्त रूप देने के लिए धन जुटाने में लग गये। सहायता प्राप्त करने में उन्हें अधिक समय नहीं लगा। रौकफेलर परिवार ने २७५ एकड़ भूमि खरीदने के लिए आवश्यक धन दे दिया तथा अन्य अमेरिकियों ने भी इमारत और अन्य सामग्री के लिए उदारतापूर्वक दान दिया।

इस प्रकार, १९१० में इलाहाबाद से ३ मील दूर नैनी की उस कांसयुक्त भूमि में इलाहाबाद एग्रिकल्चरल इन्स्टिट्यूट की स्थापना हुई। उसकी स्थापना भारत के कृषि-शिक्षण क्षेत्र में हुई नई प्रगति की सूचक थी। डा० हिगिनबौटम की दूरदर्शिता और श्रम ने बाद के वर्षों में बड़ा भारी लाभ पहुँचाया। पहले छात्रों की संख्या गिनी-चुनी ही होती थी, किन्तु बाद में बढ़ कर अनगिनत हो गई। इस संस्था ने भारत में खेती-बाड़ी के उद्योग को अधिक लाभदायक बनाने के लिए कुछ नई, विशिष्ट और उपयोगी व्यवस्थाएँ कीं।

इस संस्था की स्थापना अमेरिका के अनेक चर्चों तथा मिशनों द्वारा सम्मिलित रूप से की गई है। संस्था ऐसे छात्र तैयार करने का प्रयत्न करती है, जो

अपनी निजी भूमि पर खेतिहर के रूप में काम कर सकें, दूसरों के लिए फार्म-प्रबन्धक का काम दे सकें, कृषि सम्बन्धी वैज्ञानिक उपायों का प्रचार करने के लिए अध्यापकों के रूप में तथा कृषि अनुसन्धान-कर्त्ताओं एवं कृषि-प्रशासकों के तौर पर कार्य कर सकें। इस संस्था से शिक्षा पाये हुए अनेक छात्र इस समय के क्षेत्रों में सफलता पूर्वक कार्य कर रहे हैं।

संस्था अपने संस्थापक के इस विश्वास को पवित्र मानती है कि भारतीय कृषि-व्यवस्था में सुधार भौतिक और आध्यत्मिक उन्नति के साथ-साथ होगा। अतएव, संस्था अपने छात्रों में सत्यशीलता, नैतिक ऊर्जस्विता निःस्वार्थ आदर्शप्रियता के विकास पर समान रूप से बल देती है

संस्था के पास ६०० एकड़ भूमि है। इस भूमि में विभिन्न प्रकार की मिट्टी और मैदान होने से तरह-तरह की फसलें उगाना तथा ऐसा परीक्षण करना सम्भव हो गया है जिन्हें देख कर संशयशील लोगों को भी अक्सर विश्वास करना पड़ जाता है। उदाहरण के तौर पर, ईंटों के छोटे-छोटे बांधों का निर्माण करके बंजर भूमि की जिस सफलता के साथ सिंचाई की गई है, उसे देख कर न केवल आसपास के किसानों में, बल्कि सरकारी अधिकारियों में भी दिलचस्पी पैदा हो उठी है।

संस्था की सफलता केवल इस तथ्य से आंकी जा सकती है कि भारत के सभी भागों से आये छात्र उसमें पढ़ते हैं। कुछ छात्र पड़ोसी देशों से भी पढ़ने आये हैं। इस समय उसके छात्रों की कुल संख्या ३३० है, जिनमें से प्रायः आधे देहाती क्षेत्रों के हैं। संस्था में दो पाठ्यक्रमों की विशेष रूप से व्यवस्था है—एक पाठ्यक्रम चार वर्ष का है और दूसरा पांच वर्ष का। इनके द्वारा क्रमशः कृषि और कृषि-अभियन्त्रण (एग्रिकल्चरल इंजीनियरिंग) में बी० एस-सी० कराया जाता है। इसके अलावा, दुग्धशाला के सम्बन्ध में तथा स्त्रियों के लिए गार्हस्थ्य-विज्ञान की शिक्षा की भी व्यवस्था है।

संस्था की स्थापना त्रिपदी शिक्षा-पद्धति--अनुसन्धान, अध्यापन और व्यावहारिक कार्य (सुधार कार्य)—के आधार पर की गई है। इस त्रिमुखी कार्रवाई द्वारा कृषि सम्बन्धी समस्याओं को हल करने में अनेक देशों के ४८ योग्य कर्मचारी (यद्यपि ९ को छोड़ कर शेष सभी भारतीय हैं) योग दे रहे हैं।

भारत स्थित अमेरिकी टैकिनकल सहयोग मिशन के प्रयत्नों से उपयुक्त संस्था और इलिनौय यूनिवर्सिटी के मध्य एक समझौते पर हस्ताक्षर हुए हैं, जिस के अन्तर्गत दोनों संस्थाओं द्वारा एक दूसर को शिक्षा सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान की जायेंगी। इलिनौय से अनेक अध्यापक शिक्षण कार्य के लिए यहाँ पहुँच चुके हैं, जब कि इलाहाबाद की संस्था के वह अध्यापक भी उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए या तो इलिनौय जा चुके हैं अथवा जाने वाले हैं।

यहाँ का छात्र-जीवन बड़ा कठोर है। छात्र को प्रति दिन ८ घण्टे कक्षा-भवन में तथा व्यावहारिक प्रशिक्षण प्राप्त करने में बिताने पड़ते हैं। इस के अलावा कई घण्टे स्वाध्याय भी करना पड़ता है। छात्र कक्षा-भवनों में जो कुछ सीखते हैं, उसके बारे में वे क्रियात्मक अनुभव भी हासिल करते हैं। उन्हें हल अथवा ट्रैक्टर चलाना तथा पौधों के सम्बन्ध में परीक्षण करना भी सिखाया जाता है।

संस्था में कृषि-सुधार का कार्य १९४५ में चालू किया गया था और तब से यह संस्था का एक प्रधान कार्य हो गया है। १९५२ में, फोर्ड प्रतिष्ठान ने इलाहाबाद की कृषि-संस्था के सहयोग से परीक्षण के लिए ४ ४०,००० डालर (२१ लाख रुपये से अधिक) की लागत से ३–वर्षीय कृषि-सुधार योजना प्रारम्भ की थी।

संस्था की सम्पूर्ण शिक्षा-पद्धति का उद्देश्य छात्रों के दृष्टि-कोण को विस्तृत बनाना है। वे केवल कृषि-शिल्पी ही नहीं बनते, बल्कि कृषि सम्बन्धी समस्याओं के भी जानकार बन जाते हैं। और देश की कृषि विषयक नीति पर अपना प्रभाव भी डाल

सकते हैं।

संस्था की राय में, इस शिक्षा का सब से महत्वपूर्ण अंग वह कार्य है जो कि वैज्ञानिक अनुसन्धान के सम्बन्ध में किया जाता है। यह अनुसन्धान-कार्य किसानों को अपनी महत्वपूर्ण समस्याओं को हल करने में मदद देता है। संस्था में सब से अधिक महत्व इस विषय को ही दिया जाता है, क्योंकि इससे शिक्षकों और शिक्षार्थियों दोनों को कृषि सम्बन्धी वास्तविक समस्याओं के सीधे सम्पर्क में आने का अवसर मिलता है

संस्था के आचार्य अजरिया का कथन है—"इसके बिना तो इस संस्था का उद्देश्य ही पूरा नहीं हो सकता।"

कृषि-शिक्षा पर अधिक ध्यान देने के बावजूद, ग्राम गार्हस्थ्य विज्ञान की उपेक्षा नहीं की जाती। गार्हस्थ्य विज्ञान सम्बन्धी पाठ्य-क्रम के दो उद्देश्य हैं। ग्रामीण स्त्रियों और उनके परिवारों में से गंदगी, अज्ञान और बीमारियों को दूर करना, ग्रामीण महिलाओं से अधिक अच्छी स्थिति में रहने वाली नगर-निवासिनी महिलाओं को बताना कि वे स्वयं अपनी तथा गाँवों के जरूरतमन्द लोगों की मदद किस प्रकार कर सकती हैं। इस प्रकार, इलाहाबाद की संस्था कृषि की दृष्टि से अपने संस्थापक के स्वप्नों के भारत का निर्माण करने तथा देहातों के गार्हस्थ्य-जीवन को उन्नत बनाने में लगी हुई हैं।

[डा० एनिरिको फेर्मी - पृष्ठ ११ का शेषांश]

पुरस्कार के अतिरिक्त रौयल सोसायटी की ओर से १६४३ का ह्यूज पदक और अनेक संस्थाओं की सम्मान-उपाधियाँ प्राप्त हुईं। यद्यपि डा० फेर्मी के अनुसंधान-कार्यों के फलस्वरूप संसार के महाविनाशक अस्त्र अणु-बम का आविष्कार हुआ, पर उन का यह दृढ़ विश्वास रहा कि विज्ञान की खोजों और आविष्कारों की जानकारी पाने का अधिकार सभी को समान रूप से होना चाहिए और उस पर सैनिक नियन्त्रण रखना लोकतन्त्री आदर्शों के प्रतिकूल है। अपनी उन्हीं भावनाओं के कारण वे फासिस्ट इटली से भाग कर एक दिन 'स्वाधीनता देवी' (न्यूयार्क बन्दरगाह में स्थित मूर्ति) की शरण में आये थे और आणविक भट्ठी के निर्माण में हाथ बटा कर उन्होंने अणु-शक्ति के व्यापक शान्ति कालीन प्रयोगों के युग का द्वार खोलने में अपनी प्रतिभा का सदुपयोग भी किया।

सकते हैं।

संस्था की राय में, इस शिक्षा का सब से महत्वपूर्ण अंग वह कार्य है जो कि वैज्ञानिक अनुसन्धान के सम्बन्ध में किया जाता है। यह अनुसन्धान-कार्य किसानों को अपनी महत्वपूर्ण समस्याओं को हल करने में मदद देता है। संस्था में सब से अधिक महत्व इस विषय को ही दिया जाता है, क्योंकि इससे शिक्षकों और शिक्षार्थियों दोनों को कृषि सम्बन्धी वास्तविक समस्याओं के सीधे सम्पर्क में आने का अवसर मिलता है

संस्था के आचार्य अजरिया का कथन है—"इसके बिना तो इस संस्था का उद्देश्य ही पूरा नहीं हो सकता।"

कृषि-शिक्षा पर अधिक ध्यान देने के बावजूद, ग्राम गार्हस्थ्य विज्ञान की उपेक्षा नहीं की जाती। गार्हस्थ्य विज्ञान सम्बन्धी पाठ्य-क्रम के दो उद्देश्य हैं। ग्रामीण स्त्रियों और उनके परिवारों में से गंदगी, अज्ञान और बीमारियों को दूर करना, ग्रामीण महिलाओं से अधिक अच्छी स्थिति में रहने वाली नगर-निवासिनी महिलाओं को बताना कि वे स्वयं अपनी तथा गाँवों के जरूरतमन्द लोगों की मदद किस प्रकार कर सकती हैं। इस प्रकार, इलाहाबाद की संस्था कृषि की दृष्टि से अपने संस्थापक के स्वप्नों के भारत का निर्माण करने तथा देहातों के गार्हस्थ्य-जीवन को उन्नत बनाने में लगी हुई है।

[डा० एनिरिको फेर्मी - पृष्ठ ११ का शेषांश]

पुरस्कार के अतिरिक्त रौयल सोसायटी की ओर से १९४३ का ह्यूज पदक और अनेक संस्थाओं की सम्मान-उपाधियाँ प्राप्त हुई। यद्यपि डा० फेर्मी के अनुसंधान-कार्यों के फलस्वरूप संसार के महाविनाशक अस्त्र अणु-बम का आविष्कार हुआ, पर उन का यह दृढ़ विश्वास रहा कि विज्ञान की खोजों और आविष्कारों की जानकारी पाने का अधिकार सभी को समान रूप से होना चाहिए और उस पर सैनिक नियन्त्रण रखना लोकतन्त्री आदर्शों के प्रतिकूल है। अपनी उन्हीं भावनाओं के कारण वे फासिस्ट इटली से भाग कर एक दिन 'स्वाधीनता देवी' (न्यूयार्क बन्दरगाह में स्थित मूर्ति) की शरण में आये थे और आणविक भट्ठी के निर्माण में हाथ बटा कर उन्होंने अणु-शक्ति के व्यापक शान्ति कालीन प्रयोगों के युग का द्वार खोलने में अपनी प्रतिभा का सदुपयोग भी किया।

महासागर के प्रकाश-स्तम्भ

लगभग १,००० इंजीनियर, कारीगर और प्रकाशकार आदि भारत के ४,००० मील लम्बे समुद्रतट पर, नौचालनमें सहायता देने वाली लगभग १,७०० प्रकार की वस्तुओं पर रात-दिन कार्य करते हैं।

विभाजन से पहले भारत का समुद्रतट ३,६८० मील लम्बा था। इसमें से ५६० मील पाकिस्तान में चला गया। परन्तु भूतपूर्व देशी राज्यों और अंडमान द्वीपसमूह के भारत में मिल जाने से भारत के प्रकाश-स्तम्भ-विभाग को अब ४,४४० मील लम्बे समुद्रतट पर प्रकाश की व्यवस्था करनी पड़ती है।

इस लम्बे समुद्रतट पर जहाजों को चट्टानों और रेत से बचा कर बंदरगाह पर लाने के लिए, १६५ प्रकाश-गृह, ६ प्रकाश-यान, ४५ प्रकाश देने वाले पीपे, २५२ मार्ग-दर्शक पीपे, १६० आकाश दीप, २६६ स्थल-चिन्ह और ७१३ दूसरे प्रकार के चिन्ह बनाये गये हैं।

भारत में प्रकाश-गृहों का इतिहास बहुत पुराना है। यह तब से आरम्भ होता है जब भारत नौ-विद्या में प्रमुख था और दूर दूर के देशों के साथ सामुद्रिक व्यापार किया करता था। इसका लिखित प्रमाण मिलता है कि दक्षिण भारत में चोल राजाओं के शासनकाल में समुद्र तट पर ईंट के पक्के प्रकाश-गृह बने हुए थे। "रात में बंदरगाहों की ओर आने वाले जहाजों का पथ-प्रदर्शन करने के लिये ये प्रकाश-गृह तीव्र प्रकाश छोड़ा करते थे।" महाबलीपुरम में आठवीं शताब्दी के एक प्रकाश-गृह के अवशेष अब भी देखे जा सकते हैं। इस प्रकाश-गृह का नाम "महासागर का प्रकाश-स्तम्भ" है, और समुद्र की लहरों के थपेड़े खाता हुआ यह बराबर अविचल खड़ा हुआ है।

आधुनिक प्रकाश-गृह-सेवा

१६२७ में भारतीय प्रकाश-गृह अधिनियम लागू हो जाने से १६२६ में एक प्रकार की समन्वित भारतीय प्रकाश-गृह-सेवा का आरम्भ हुआ। इस अधिनियम के अनुसार प्रकाश-गृह दो श्रेणियों में बाँटे गये हैं—सामान्य और स्थानीय। सामान्य प्रकाश-गृह केंद्रीय प्रकाश-विभाग के अधीन और स्थानीय प्रकाश-गृह राज्य सरकारों, बंदरगाहन्यासों तथा अन्य स्थानीय प्राधिकारों के अधीन काम करते हैं।

प्रकाश-गृह-सेवा स्वावलम्बी है। विभाग का अपना निजी सुरक्षित कोष है। १ अप्रैल १६५४ को इस कोष में ८६ लाख रु० थे। विकास-योजनाओं का व्यय इसी कोष से दिया जाता है। इसकी मुख्य आय उस प्रकाश-शुल्क से होती है जो बंदरगाहों में प्रवेश करने वाले जहाजों से ३ आना प्रति टन के हिसाब से लिया जाता है।

वैज्ञानिक प्रणालियों के विकास के साथ साथ नौचालनमें सहायता देने वाले साधनों का भी काफी विकास हुआ है और प्रकाशगृहों के अलावा ध्वनि-संकेत, मध्यम और तीव्रगति के रेडियो बीकन, डेक्का, लोरन, गी आदि तीव्र रेडियो नौचालन-सहायक, रेडियो टेलीफोन जलान्तः संकेत, राडार आदि तैयार हो गये हैं। लेकिन इन्हें अभी भी प्रकाश-गृह ही कहते हैं।

स्वतंत्रता के पश्चात प्रगति

भारत इस दिशा में अभी आगे ही बढ़ रहा है। स्वतन्त्रता के पश्चात उसने भारतीय प्रकाश गृह सेवा में काफी उन्नति की है। पंचवर्षीय योजना के अनुसार, नौचालन में सहायता देने वाले सभी साधनों का अधिक संख्यामें निर्माण किया जा रहा है और पुराने सुधारे जा रहे हैं। प्रथम पंचवर्षीय योजना की अवधि में इस कार्य पर १.२ करोड़ रु० व्यय होगा।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में शामिल किये जाने के लिए एक और योजना तैयार को हुई है, जिस पर लगभग ५ करोड़ रुपया व्यय होगा।

पूर्वी तट पर कोयलथट्टम में, सौराष्ट्र तट पर चंक्रा में, अंडमान द्वीप समूह में रास द्वीप में, और विशाखापत्तनम के समीप डाल्फिन्स नोज में चार नये प्रकाश-गृह बन कर तैयार हो चुके हैं। बीस प्रकाश-गृहों को आधुनिक रूप दिया गया है और कच्छ की खाड़ी में कांडला से आगे रानवारा के छिछले समुद्र तथा गोदावरी के डेल्टा में सेक्रामेंटो के छिछले समुद्र में प्रकाश देने वाले पीपों की व्यवस्था की गई है। १२ नये प्रकाश-गृह बनाये जा रहे हैं, जिनमें से कुछ लगभग तैयार हो चुके हैं। दो नये प्रकाश-गृह इस ढंग के बनाये गये हैं जो डूबते हुए जहाज से भी यात्रियों को हटा सकेंगे। फिलहाल ये नौकायें 'जीवन-नौका सेवा' का काम करेंगी।

प्रकाश-गृहों की विकास-योजना में आधुनिक नौचालन उपकरणों के विकास को मुख्य रूप से ध्यान में रखा गया है। बन्दरगाह की व्यवस्था के लिये शीघ्र ही राडार की सहायता ली जायगी। कांदला बन्दरगाह में राडार लगाने की व्यवस्था पूरी हो चुकी है और बम्बई तथा कलकत्ता के बन्दरगाहों के समीप दो राडार यन्त्र लगाने की योजना शीघ्र ही क्रियान्वित होने वाली है।

एक बहुत ही महत्वपूर्ण योजना ओखा बन्दर से आगे २५ मील की दूरी पर, लशिंगटन के छिछले समुद्र में, पृथ्वीतल पर एक प्रकाशगृह बनाने की है। इस प्रकाश-गृह पर ५० लाख रु० व्यय होगा और यह संसार में नहीं तो कम से कम एशिया में बेजोड़ होगा। यहाँ समुद्र की लहरें ५० फुट तक ऊँची उठ जाती हैं और तूफान भी बहुत आते हैं।

प्रकाश-गृह का जीवन

प्रकाश गृह में काम करने वालों का जीवन बड़ा कष्टकर और सूना-सूना होता है। वे संसार से बिल्कुल अलग हो जाते हैं और तूफानों के समय में तो उन्हें भूखा प्यासा भी रहना पड़ता है, क्योंकि वहाँ आवश्यक चीजें नहीं पहुंचाई जा सकतीं। प्रकाश-गृह में सामान पहुँचाने वाली और जीवन-नौकाओं के तैयार हो जाने से यह कठिनाई दूर हो जायगी। इन लोगों के जीवन के सूनेपन को दूर करने के लिए भारत सरकार और भी उपाय कर रही है।

विज्ञान-समाचार

खाद्य-पदार्थों को डिब्बों में बन्द करके सुरक्षित रखने का अमेरिकी गृह-उद्योग

एक समय था कि जब लोगों को विशेष रूप से देहात के लोगों को वही वस्तुएँ खानी पड़ती थीं जो उस ऋतु में वहाँ पैदा होती थीं या उपलब्ध की जा सकती थीं। उदाहरण के तौर पर, आज से ५० वष से लेकर १०० वर्ष पहले तक शीतकाल में जिन क्षेत्रों में कम तापमान रहता है, उन क्षेत्रों के लोग गर्मी तथा पतझड़ के मौसम में प्रचुर मात्रा में ताजे फलों का उपयोग कर सकते थे, किन्तु शीतकाल के अन्त में और वसंत ऋतु के आरम्भ में उनको भूमि के अन्दर उत्पन्न होने वाली सब्जियों सेबों, दालों आदि पर निर्वाह करना पड़ता था।

इस बात के होते हुए भी, आज यातायात की व्यवस्था तथा कृषिजन्य वस्तुओं को सुरक्षित रखने के तरीकों में सुधार हो जाने के कारण समस्त अमेरिका के बाजारों में हर मौसम में ताजे फल एवं ताजी सब्जियाँ उपलब्ध हैं। आज गृहणियाँ अधिकाधिक मात्रा में डिब्बों में बन्द खाद्य-पदार्थों को उपयोग में ला रही हैं। हाल के कुछ वर्षों में विविध किस्मों के डिब्बों में बन्द और ठण्डे गोदामों में सुरक्षित रखे जाने वाले खाद्य-पदार्थ सस्ते दामों पर बाजारों में बिकने लगे हैं। ये अधिकतर ऐसे खाद्य-पदार्थ हैं, जो बहुत जल्दी सड़ या गल जाते हैं। इन्हें खेत से लाने के कुछ ही घंटों बाद या तो डिब्बों में बन्द कर दिया जाता है या शीतकारी यन्त्रों द्वारा ठंडा करके सुरक्षित रखा जाता है।

व्यापार के लिए डिब्बों में बन्द किये जाने वाले और ठण्डे रखे जाने वाले खाद्य-पदार्थों के अलावा, लोग अपने घरों में भी खाद्य-पदार्थों को डिब्बों में बन्द कर या उन्हें ठण्डा रख कर सुरक्षित रखते हैं। अनुमान लगाया गया है कि १६४६ में घरों में खाद्य पदार्थों को सुरक्षित रखने का यह तरीका अमेरिका में अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया था। उस समय २ करोड़ से भी अधिक परिवार खाद्य-पदार्थों को डिब्बों में बन्द कर या उनको ठण्डा रख सुरक्षित रख रहे थे। ये पदार्थ या तो उन्होंने ताजे बाजार से खरीदे थे अथवा अपने खेत या बागीचों में पैदा किये थे। इसके परिणामस्वरूप अब हर ऋतु में पर्याप्त पौष्टिक भोजन उपलब्ध हो सकता है।

डिब्बों में खाद्य पदार्थ बन्द रखने की लोकप्रियता

यद्यपि हाल के कुछ वर्षों में बहुत से देहाती तथा शहरी परिवारों ने फलों, सब्जियों तथा मांस को ठण्डा रखने वाले यन्त्रों की सहायता से अपने घरों में खाद्य-पदार्थों को सुरक्षित रखने की विधि को प्रोत्साहन दिया है, तथापि अमेरिका में खाद्य-पदार्थों को डिब्बों में बन्द करके सुरक्षित रखने का तरीका सबसे अधिक प्रचलित और लोकप्रिय है। १६५२ में, अमेरिकी कृषि विभाग की सुधार-सेवा ने यह सूचना दी थी कि हमारी 'होम केनिंग औव् फ्रूट्स एण्ड वेजिटेबल' नामक पुस्तिका की मांग के सम्बन्ध में जो प्रार्थनापत्र आये हैं, उनकी संख्या 'नेशनल फूड गाइड' के सम्बन्ध में आये १ करोड़ २५ लाख प्रार्थनापत्रों के बाद दूसरे नम्बर पर आती है।

अमेरिकी गृहणियों ने इस पुस्तिका की १ करोड़ साढ़े ७ लाख अधिक प्रतियाँ मंगाईं। इसके अतिरिक्त

'ग्रोइंग वैजिटेबुल्स इन टाउन सिटी' की ७३ लाख ५० हजार प्रतियाँ, "होम मेड जेलीज, जाम्स एन्ड प्रिजर्वस" की ३५ लाख ५० हजार प्रतियाँ और "होम फ्रीजिंग औव् फ्रूट्स एण्ड वेजिटेबल्स" की २२ लाख ५० हजार प्रतियाँ भी उन्होंने मंगाईं। हाल के कुछ वर्षों में प्रतिवर्ष केनिंग सम्बन्धी पुस्तिका की लगभग २ लाख प्रतियों की मांग होती रही है। ये पुस्तिकाएँ अमेरिकी कृषि विभाग द्वारा सीधे वाशिंगटन से भेजी जाती हैं या कृषि सुधार कर्मचारियों के जरिये कृषि कालेजों अथवा गृह व्यवस्था के सम्बन्ध में प्रदर्शन करने वाले एजेन्टों की मार्फत हासिल की जा सकती हैं।

पदार्थों को डिब्बों में बन्द करने के सामूहिक केन्द्र

यद्यपि अमेरिका की अधिकांश महिलाएँ फलों आदि को डिब्बों में बन्द करने का अपना कार्य अपने रसोईघरों में करती हैं, किन्तु ६००० से अधिक सामूहिक केन्द्रों में फैक्टरियों के समान बढ़िया एवं कुशल तरीकों से कार्यकर सकने की सुविधाएँ भी उन्हें प्राप्त हैं।

लगभग ३० वर्ष पूर्व ऐसे प्रथम सामूहिक केन्द्र को जार्जिया के दक्षिणी राज्य में स्थापना की गयी थी। भोजन पैदा करने तथा उसको सुरक्षित रखने के राष्ट्रव्यापी प्रयत्नों में सहायता प्रदान करने के लिए द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान में स्कूलों में ऐसे हजारों केन्द्रों की स्थापना की गयी। इन्हें जो सुविधाएं प्राप्त थीं, युद्धकाल के बाद से उनमें और भी विस्तार हो गया है।

बहुत से केन्द्रों को आवश्यक बुनियादी सामग्री संघीय सरकार की ओर से दी जाती है। बच्चों के लिए सस्ते दोपहर के गर्म भोजन की व्यवस्था करने के निमित्त सरकारी स्कूलों को सरकार उपकरण प्रदान करती है। जिस समय ये स्कूल इन यंत्रों का उपयोग नहीं करते, उस समय वे खाद्य पदार्थों को सामूहिक रूप में डिब्बों में बन्द करने के लिए लोगों के इस्तेमाल में आते हैं। ऐसे केन्द्रों को बहुत से राज्यों से सहायता भी मिलती है। उदाहरण के तौर पर लुइजियाना राज्य ने केन्द्रों की स्थापना करने, निरीक्षकों को प्रशिक्षण देने तथा प्रत्येक स्कूल में खाद्य पदार्थों को सुरक्षित रखने की व्यवस्था करने के लिए १९४८-५० की अवधि में १० लाख डालर की राशि देनी निश्चित की थी। नफा कमाने की दृष्टि से इन केन्द्रों का संचालन नहीं किया जाता है। डिब्बों में खाद्य पदार्थों को बन्द करके सुरक्षित रखने और पौष्टिक भोजन तैयार करने के आधुनिकतम तरीकों की शिक्षा देने के लिये स्कूल गृह अर्थ-व्यवस्था एवं व्यावसायिक कृषि से सम्बन्धित अपने अध्यापकों को घरों में भेज देते हैं।

स्त्रियां अपने बागीचों में पैदा होने वाली हर प्रकार की वस्तुएं, जैसे मक्का, मटर, दालें, पालक का शाक, ककड़ी, फलों के शरबत, तथा सभी प्रकार के फल, जिनमें टमाटर भी शामिल हैं, इन केन्द्रों में लाती हैं। वहाँ उनको ऐसी मशीनें मिल जाती हैं जिनसे बहुत जल्दी फलों का छिलका उतारा जा सकता है और डिब्बों को बन्द किया जा सकता है। अन्य उपलब्ध साधनों से वे मुरब्बे और जेली आदि तैयार करती हैं। इस प्रकार वे दो-तीन घन्टों में ही इतना खाद्य पदार्थ डिब्बों में बन्द कर लेती हैं, जो सारी सर्दी के लिए काफी होता है।

अमेरिका के खाद्य पदार्थों को डिब्बों में सुरक्षित रखने के उद्योग को १९५४ में १५०० किस्म के खाद्य-पदार्थों के ३५ अरब डिब्बे वह तैयार कर सकने में सफलता मिली होगी।

कुष्ठ रोग के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण जानकारी

डा० फ्रेडरिक ए० जौनसन

अमेरिका के लुइजिआना राज्य में बस्ती से दूर कार्विल नामक स्थान है। वहाँ मिसिसिपी नदी के मोड़ पर खेतों से घिरा एक बहुत बड़ा हस्पताल है। यह हस्पताल अमेरिका के सार्वजनिक विभाग की देखरेख में स्थापित है। समूचे राष्ट्र में यही एक-मात्र हस्पताल है, जहां कुष्ठ रोग की चिकित्सा होती है। यह स्थान हजारों अमेरिकियों के लिए बन्दीगृह अथवा शरण-स्थल है। हजारों की आशा अथवा निराशा का द्योतक है।

कुछ ही मास पूर्व तक, यह मेरा घर था। इसी स्थान पर मैंने वह कार्य सम्पन्न किया है, जिसे मैंने अपने जीवन के लिए चुना था। यह वह चुनौती थी, जिसे मैंने स्वीकार किया। यह वह जीवन-यात्रा थी, जो प्रेम एवं आशा के साथ मैंने शुरू की थी। मैंने वहाँ लगभग १० वर्ष तक हस्पताल के अधिकारी के रूप में कार्य किया है। ६४ वर्ष की आयु हो जाने के कारण मुझे अवकाश ग्रहण करना पड़ा। मेरी कामना थी कि मैं कुछ दिन और कार्य करता। कार्विल से प्रस्थान करते समय मुझे बड़ा दुख अनुभव हो रहा था।

४०० रोगी

कार्विल में लगभग ४०० रोगी रहते हैं। इनमें सभी वर्गों के पुरुष, स्त्रियां तथा बच्चे सम्मिलित हैं। वे अन्य लोगों के समान ही हैं तथा अधिकांश अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक साहसी हैं। कुछ वर्ष बीत जाने पर मैं उनकी उस वेदना, अविश्वास तथा विभीषिका को समझने लगा था, जो उन्हें डाक्टर के मुख से यह बात सुनकर होती थी "तुम्हें कोढ़ है।"

रूथ की हृदयद्रावक कहानी

एक युवती, जिसको मैं रूथ के नाम से पुकारूँगा, उस समय केवल २८ वर्ष की थी जब उसने १९२५ में अपने डाक्टर से सर्वप्रथम यह वाक्य सुना था। वह एक सुन्दर लड़की थी। वह एक सफल तेल-व्यवसायी की पत्नी थी। एक ही क्षण में उसके सुखद जीवन की समस्त आशाओं--घर, पति और बच्चे उत्पन्न करने की अभिलाषाओं, सब पर पानी फिर गया। उसने एक ऐसा विचित्र एवं कष्टपूर्ण संघर्ष शुरू किया जो लगभग २५ वर्ष तक चलता रहा। किन्तु अन्ततोगत्वा एक नया जीवन आरम्भ करने के लिए उसने कार्विल से विदाई ली। उस समय वह कुष्ठ रोग से बिल्कुल मुक्त हो गयी थी।

हस्पताल में आने के अगले दिन, वह मेरे पास आई और उसने मुझ से बातें कीं—"क्या यह सच है ?" उसने धीरे से पूछा। "मैं सत्य जानना चाहती हूँ। मुझे यह रोग कैसे लगा ? मैं यहां कितने दिन रहूँगी ?"

मैं अनेक बार ऐसे प्रश्न सुन चुका था। और बहुत बार मैंने चाहा कि काश मैं इन प्रश्नों का ठीक से उत्तर दे सकता। मैं इस सम्बन्ध में रूथ को जो कुछ बता सकता था वह मैंने उसे बता दिया। मैंने उसे बताया कि शायद तुम्हें यह रोग कई वर्ष पूर्व लगा है। मैंने उसे बताया कि सम्भवतः उसे यह रोग बचपन में लगा होगा। इस रोग का वर्षों तक पता नहीं चलता। निश्चित रूप से चिरकाल तक किसी ऐसे व्यक्ति से तुम्हारा निकट सम्बन्ध रहा है, जिसको कुष्ठ रोग है। हमारे ज्ञान के अनुसार संसर्ग द्वारा ही यह रोग किसी को लगता है। यह सुनकर रूथ शिथिल पड़ने लगी। मैंने कहा—"अब तुम्हें किसी बात की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। तुम्हारा लक्ष्य तो निरोग होना है। अच्छा होने का सब से उत्तम उपाय यह है कि तुम अधिक से अधिक विश्राम करो। ऐसा करने से तुम में रोग का मुका-बला करने की शक्ति आ जायेगी। तुम बालमूत्रा

नामक उस तेल का सेवन करती रहो, जो तुम्हारे लिए बताया जायेगा।"

चालमूग्रा तेल एकमात्र औषधि

चालमूग्रा तेल एक बर्मी वृक्ष के बीजों से निकाला जाता है। सदियों से इस तेल से कुष्ठ रोग का उपचार किया जाता है। बहुत से डाक्टरों का यही अनुभव है कि इस तेल में कुष्ठ को ठीक करने के पर्याप्त गुण नहीं हैं।

ऐसी स्थिति में रूथ का दूसरा प्रश्न "मैं यहाँ कब तक रहूँगी ?" कितना टेढ़ा था, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। कोई भी इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकता था। कुष्ठ का कोई निश्चित उपचार हमारे पास नहीं था। चालमूग्रा तेल कभी भी पूर्णतया प्रभावशाली सिद्ध नहीं हुआ। हमारे पास केवल यही एक औषधि थी। कुछ रोगी इससे शीघ्रता से अच्छे होने लगते थे और कुछ रोगियों में वर्षों तक कोई परिवर्तन दिखाई नहीं पड़ता था।

मनहूस रोग तथा उसके बारे में प्रचलित अन्धविश्वास

सदियों से इस मनहूस रोग के सम्बन्ध में अनेक अन्ध-विश्वास तथा गलत धारणाएं चली आ रही हैं। जिन लोगों को कुष्ठ हो जाता है, वे अक्सर इसको हेन्सेन रोग कहते हैं। हेन्सेन नार्वे में एक डाक्टर हुए हैं, जिन्होंने यह मालूम किया था कि यह रोग कीटाणुओं से पैदा होता है।

डा० हेन्सेन ने जिस बात का उल्लेख किया है, उसके सम्बन्ध में अभी तक बहुत अज्ञान है। कोई भी निश्चित रूप से यह नहीं बता सकता कि यह रोग किस प्रकार लगता है। हाँ, यह बात जरूर है कि कुष्ट रोग आसानी से नहीं लगता है। थोड़ी सी सावधानी बरतने पर इससे बचा जा सकता है। रोगी को देखने के बाद साबुन से हाथ साफ कर लेना भर काफी होता है। कार्विल अस्पताल के ५६ वर्ष के इतिहास में किसी भी कर्मचारी को कुष्ठ नहीं हुआ। किसी को यह पता नहीं कि यह रोग क्यों मुख्य रूप से अमेरिका के केवल ४ राज्यों—कैलिफोर्निया, टैक्साज, लुइजियाना तथा फ्लोरिडा में पाया जाता है। यह कोई नहीं बता सकता कि अमेरिका में कुल मिलाकर लगभग १५०० कुष्ठ रोगी क्यों हैं, जब भारत, चीन में से प्रत्येक देश में लगभग २० लाख व्यक्ति कुष्ठ से पीड़ित हैं।

मृत्युदण्ड की पीड़ा

रूथ के समान बहुत से रोगियों को यह रोग मृत्युदण्ड के समान प्रतीत होता है। वास्तव में यह मृत्युदण्ड से भी अधिक भयानक है, क्योंकि शायद ही कोई व्यक्ति इस रोग के कारण कभी मरता हो। कुष्ठ रोगी अन्य रोगों अथवा वृद्धावस्था के कारण ही मरते हैं।

मैं इस बात के विरुद्ध हूँ कि कुष्ठ रोगियों को अन्य लोगों से पृथक रखा जाये। कार्विल के बहुत से रोगियों की अपने घरों पर ही उनके पारिवारिक चिकित्सक देखभाल कर सकते हैं। ऐसा करने पर अन्य लोगों के लिए किसी प्रकार का खतरा उपस्थित नहीं हो सकता। ऐसे रोगियों को बच्चों से दूर रखा जाना चाहिए। केवल उन्हीं लोगों को कुष्ठ आश्रम में भेजा जाना चाहिए, जो बच्चों से दूर नहीं रह सकते।

उपचार सम्बन्धी कुछ अनुभव

१९४१ में कार्विल के नये चिकित्सा अधिकारी बनकर स्वर्गीय डा० जी० एच० फेगट वहाँ आये। हमें 'प्रोमिन' नामी एक नयी गन्धकयुक्त औषधि का समाचार मिला। यह औषधि क्षयरोग के उपचार के लिए आंशिक रूप में सफल सिद्ध हो रही थी। यह बात बहुत पहले ही मालूम हो चुकी थी कि क्षयरोग के कीटाणु बहुत अंशों में कुष्ठ रोग के कीटाणुओं से मिलते-जुलते हैं। हमने सोचा कि जो औषधि क्षयरोग का उपचार कर सकती है, वह कुष्ठ रोग के लिए भी उपयोगी हो सकती है। डा० फेगट कार्विल में आने से पूर्व कई वर्षों तक क्षयरोग के सम्बन्ध में

कार्य कर चुके थे। उन्होंने औषधि-निर्माताओं को 'प्रोमिन' भेजने तथा उसके उपयोग के सम्बन्ध में जानकारी प्रदान करने को लिखा। 'प्रोमिन' से रोगियों का उपचार शुरू करने के कई महीने बाद तक इसका कोई परिणाम दृष्टिगत नहीं हुआ। केवल रोगी कहते रहे कि हमें पहले से आराम है। किन्तु धीरे-धीरे कुछ महीनों के बाद खुले घाव ठीक होने लगे, छोटी-छोटी ग्रन्थियाँ लुप्त हो गयीं और रोगी यह अनुभव करने लगे कि मानों वे बिल्कुल अच्छे हो गये हैं। इससे पूर्व कई बार असफलता मिलने के कारण हस्पताल के अधिकारी कुछ निर्णय देने के लिए तैयार नहीं थे, किन्तु रोगियों ने यह समझ लिया कि हमने कुष्ठ का ठीक उपचार ढूँढ़ लिया है।

इसके बाद डायासोन तथा प्रोमिजोल नामी दो अन्य गन्धकयुक्त औषधियों का प्रयोग किया गया। इनके भी अच्छे परिणाम निकले। इनके प्रयोग से रोगियों की दशा में कुछ सुधार हुआ। ये औषधियाँ कुष्ठ रोग का उपचार तो नहीं थीं, किन्तु उनके उपयोग से बहुत से रोगियों को रोग की भीषणता कम हो गयी।

तीन-चार वर्षों के भीतर बहुत से रोगियों का रोग दब गया। बहुत से ऐसे रोगियों को हस्पताल से छुट्टी मिलने लगी, जो कुष्ठ रोग से मुक्त हो गये थे। फिर भी यह चिर-प्रत्याशित वस्तु इन लोगों के लिए वरदान सिद्ध नहीं हुई। कुष्ठ के सम्बन्ध में लोगों की धारणाएँ वैसी ही बनी रहीं। जनता उन लोगों को लेने को तैयार नहीं हुई, जो कुष्ठ रोग से मुक्त होकर लौटे थे। रोगियों ने फिर कार्विल में वापस आना शुरू कर दिया।

मेरा विश्वास है कि मेरे जीवनकाल में ही कुष्ठ रोग का अचूक उपचार मालूम हो जायेगा। उस समय तक गन्धकयुक्त औषधियों से रोगियों की व्याधि का हम शमन कर सकते हैं। आज सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि लोगों के हृदयों से वह पुरानी घृणा दूर कर दी जाये, जो कुष्ठ रोग तथा इसके पीड़ितों के प्रति लोगों के हृदय में है।

विषय-सूची

नागरी प्रेस, दारागंज, प्रयाग।

सरल विज्ञान ग्रंथावली

लेखक—जगपति चतुर्वेदी, सहा० सम्पा०, 'विज्ञान'

सरल विज्ञान ग्रन्थावली हिन्दी में लोकप्रिय वैज्ञानिक साहित्य सरल रूप में प्रस्तुत करने का एक नवीन तथा अभूतपूर्व प्रयास है। सभी पुस्तकें केवल एक लेखक द्वारा लिखी हुई हैं। लगभग १५० या २०० पृष्ठों तथा बहु-संख्यक चित्रों के साथ प्रत्येक का मूल्य २) है।

भौतिक विज्ञान

बिजली की लीला—बिजली के वैज्ञानिक मर्म, तार टेलीफोन, विद्युत्प्रकाश, एक्सरे रेडियो आदि की कहानी।

परमाणु के चमत्कार—परमाणु सम्बन्धी वैज्ञानिक खोजों तथा परमाणु बम, उदजन बम आदि के मर्म की कहानी।

भूगर्भ वि०, पुरा-जीवविज्ञान, पुरा-वनस्पति विज्ञान

विलुप्त जन्तु—प्रस्तरावशेषों के आधार पर पचास करोड़ वर्षों तक पुराने जन्तुओं के वंश लोप होने की कहानी।

भूगर्भ विज्ञान—धरती के निर्माण तथा अंतः और वाह्य अंगों के रूप परिवर्तन की विलक्षण कहानी।

विलुप्त वनस्पति—प्राचीन काल के प्रस्तरावशेषों के आधार पर पचास कोटि वर्षों तक पुराने वनस्पति वंशों की कहानी।

कोयले की कहानी—पत्थर कोयले की उत्पत्ति तथा वैज्ञानिक शोध और उपयोग की कहानी।

ज्वालामुखी—धरती के आंतरिक भाग में ज्वाला उत्पन्न होने के कारण तथा संसार के ज्वालामुखियों की कहानी।

रसायन

तत्वों की खोज में—रासायनिक तत्वों के अनुसंधान तथा उनके अन्वेषक वैज्ञानिकों की मनोरंजक कहानी।

साधारण

वैज्ञानिक आविष्कार—भाग १, २—पुरानी तथा नई वैज्ञानिक खोजों की विशद कहानियाँ।

आविष्कारकों की कहानी—युगान्तरकारी आविष्कारकों तथा वैज्ञानिकों की कथा।

वनस्पति विज्ञान

वनस्पति की कहानी—वनस्पति के जन्म, वृद्धि क्रियाकलाप, तथा भेद प्रभेदों की कहानी।

चिकित्सा विज्ञान, कीटाणु विज्ञान

जीने के लिए—रोगों और कीटाणुओं का मर्म ज्ञात करने वाले वैज्ञानिकों की मार्मिक कहानी।

कीटाणुओं की कहानी—रोग उत्पन्न करने वाले तथा अन्य सूक्ष्मदर्शकीय कीटाणुओं और परम कीटाणुओं की कहानी।

पेनिसिलिन की कहानी—रसायन चिकित्सा तथा पेनिसिलिन के अविष्कार, की कहानी।

शल्य विज्ञान की कहानी—शरीर में चीरफाड़ करने के प्राचीन तथा नवीन ज्ञान की कहानी।

जीव-जन्तु विज्ञान

समुद्री जीव-जन्तु—समुद्र के अन्दर रहने वाले अद्भुत रंग-रूपों के जंतुओं का वर्णन।

अद्भुत जन्तु—अद्भुत रङ्ग रूप के जन्तुओं की कहानी।

विलक्षण जन्तु—विचित्र आकार प्रकार के जन्तुओं का वर्णन।

पक्षी ग्रन्थावली—पक्षियों के रङ्ग रूप, जीवन-क्रम, निवास सन्तानोत्पादन, स्वभाव भेद तथा पहचान का वर्णन।

१—शिकारी पक्षी	२)
२—जलचर पक्षी	२)
३—वन वाटिका के पक्षी	२)
४—वन उपवन के पक्षी	२)
५—उथले जल के पक्षी	२)

विज्ञान परिषद्, प्रयाग

Reg. NO 372

Approved by the Directors of Education, Uttar Pradesh
and Madhya Pradesh for use in Schools;
Colleges and Libraries

विज्ञान परिषद् के मुख्य नियम

परिषद् का उद्देश्य

१—१९७० वि० या १९१३ ई० में विज्ञान परिषद् की इस उद्देश्य से स्थापना हुई कि भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य का प्रचार हो तथा विज्ञान के अध्ययन को और साधारणतः वैज्ञानिक खोज के काम को प्रोत्साहन दिया जाय।

परिषद् का संगठन

२—परिषद् में सभ्य होंगे। निम्न निर्दिष्ट नियमों के अनुसार सभ्यगण सभ्यों में से ही एक सभापति, दो उप-सभापति, एक कोषाध्यक्ष, एक प्रधानमन्त्री, दो मन्त्री, एक सम्पादक और एक अंतरंग सभा निर्वाचित करेंगे जिनके द्वारा परिषद् की कार्यवाही होगी।

सभ्य

२२—प्रत्येक सभ्य को ६) वार्षिक चन्दा देना होगा। प्रवेश शुल्क ३) होगा जो सभ्य बनते समय केवल एक बार देना होगा।

२३—एक साथ १०० रु० की रकम दे देने से कोई भी सभ्य सदा के लिए वार्षिक चन्दे से मुक्त हो सकता है।

२६—सभ्यों को परिषद् के सब अधिवेशन में उपस्थित रहने का तथा अपना मत देने का, उनके चुनाव के पश्चात् प्रकाशित, परिषद् की सब पुस्तकों, पत्रों, तथा विवरणों इत्यादि को बिना मूल्य पाने का—यदि परिषद् के साधारण धन के अतिरिक्त किसी विशेष धन से उनका प्रकाशन न हुआ—अधिकार होगा। पूर्व प्रकाशित पुस्तकें उनको तीन चौथाई मूल्य में मिलेंगी।

२७—परिषद् के सम्पूर्ण स्वत्व के अधिकारी सभ्य वृन्द समझे जायेंगे।

प्रधान संपादक—डा० हीरालाल निगम
सहायक संपादक—श्री जगपति चतुर्वेदी

नागरी प्रेस, दारागंज, प्रयाग

प्रकाशक—विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद

मई १९५५
वृष २०१२

भाग ८१
अंक २

वार्षिक मूल्य
चार रुपए

प्रति अंक
छः आने

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

१—विज्ञान प्रवेशिका, भाग १—श्रीरामदास गौड़ और प्रो० सालिगराम भार्गव ।≈)
२—चुम्बक—प्रो० सालिगराम भार्गव ।।।≈)
३—मनोरञ्जन रसायन—प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव २)
४—सूर्य सिद्धान्त—श्री महावीरप्रसाद श्रीवास्तव छः भाग मूल्य ८) । इस लेखक को १२००) का मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला है ।
५—वैज्ञानिक परिमाण—डा० निहालकरण सेठी १)
६—समीकरण मीमांसा—पं० सुधाकर द्विवेदी; प्रथम भाग १।।) द्वितीय भाग ।।≈)
७—निर्णायक (डिटमिनैंट्स) प्रो० गोपाल कृष्ण गर्दे और गोमती प्रसाद अग्निहोत्री ।।।)
८—बीज ज्योमिति या भुजयुग्म रेखागणित—डाक्टर सत्यप्रकाश डी० एस-सी०, १।)
९—वर्षा और वनस्पति—श्री शंकरराव जोशी ; ।≈)
१०—सुवर्णकारी—ले० श्री० गङ्गाशंकर पचौली; ।≈)
११—व्यङ्ग-चित्रण—ले० एल० ए० डाउस्ट; अनुवादिका श्री रत्नकुमारी एम० ए०; २)
१२—मिट्टी के बरतन—प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा; (अप्राप्य)
१३—वायुमंडल—डाक्टर के० बी० माथुर, २)
१४—लकड़ी पर पालिश—डा० गोरखप्रसाद और श्री रामरतन भटनागर, एम० ए०, २) (अप्राप्य)
१५—कलम पेवंद—ले० श्री शंकरराव जोशी; २)
१६—जिल्दसाजी—श्री सत्यजीवन वर्मा, एम० ए० २)
१७—तैरना—डा० गोरखप्रसाद १)
१८—सरल विज्ञान-सागर प्रथम भाग—सम्पादक डाक्ट गोरख प्रसाद मूल्य ६) (अप्राप्य)
१९—वायुमण्डल की सूक्ष्म हवाएं—डा० सन्तप्रसाद टंडन, डी० फिल० ।।)
२०—खाद्य और स्वास्थ्य—डा० ओंकारनाथ परती, मूल्य ।।।)
२१—फोटोग्राफी—लेखक श्री डा० गोरख प्रसाद डी० एस-सी० (एडिन) ४),
२२—फल संरक्षण—डा० गोरखप्रसाद डी० एस-सी० और श्री वीरेन्द्रनारायण सिंह २।।)
२३—शिशु पालन—लेखक श्री मुरलीधर बौड़ाई । मूल्य ४)
२४—मधुमक्खी पालन—दयाराम जुगड़ान; ३)
२५—घरेलू डाक्टर—डाक्टर जी० घोष, डा० उमाशङ्कर प्रसाद, डा० गोरखप्रसाद, ४)
२६—उपयोगी नुसखे, तरकीबें और हुनर—डा० गोरखप्रसाद और डा० सत्यप्रकाश, ३।।)
२७—फसल के शत्रु—श्री शङ्कर राव जोशी ३।।)
२८—साँपों की दुनिया—श्री रमेश वेदी ४)
२९—पोर्सलीन उद्योग—प्रो० हीरेन्द्र नाथ बोस ।।।)
३०—राष्ट्रीय अनुसंधानशालाएँ—२)
३१—गर्भस्थ शिशु की कहानी—प्रो० नरेन्द्र २।।)

अन्य पुस्तकें

१—साबुन-विज्ञान	६)
२—भारतीय वैज्ञानिक	३)
३—वैक्युमब्रेक	२)
४—यांत्रिक चित्रकारी	२।।)
५—विज्ञान के महारथी (जगपति चतुर्वेदी)	२)
६—पृथ्वी के अन्वेषण की कथाएँ (,,)	१।।)
७—विज्ञान जगत की झाँकी (प्रो० नारायण सिंह परिहार)	२)
८—खोज के पथपर (शुकदेव दुबे)	।।)

पता—विज्ञान परिषद् (म्योर सेन्ट्रल कालेज भवन) प्रयाग

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ० ।३।५।

भाग ८१ | वृष २०१२; मई १९५५ | संख्या २

उच्चतर विमायें (ख) *(Higher dimensions) (b)*

डा० ब्रजमोहन, का० हि० वि०

३. द्वैविम संसार (Two dimensional world)

मान लीजिये कि शतरंज के खेल में से चारों घोड़े निकाल दिये जायँ। शेष सब मोहरे शतरंज की बिसात के समतल में चलते हैं। इन मोहरों से हम द्वैविम संसार की कल्पना कर सकते हैं। घोड़ा ही एक ऐसा मोहरा है जो और मोहरों पर छलांग मार जाता है। अतएव घोड़ा त्रैविम संसार का प्राणी हुआ। शेष मोहरों में से कोई ऐसा नहीं है जो किसी अन्य मोहरे को छलांग मारकर पार कर सके। यह शेष मोहरे एक दूसरे को अपने स्थान से हटाकर ही मारते हैं। अर्थात् कभी बिसात के समतल से बाहर नहीं जाते।

द्वैविम संसार की दूसरी कल्पना इस प्रकार हो सकती है कि शीशे का एक आयताकार डिब्बा है जिसकी लम्बाई और चौड़ाई पर्याप्त हैं किन्तु ऊँचाई नगण्य है। मान लीजिये इस डिब्बे में चींटे बन्द हैं जिनकी ऊँचाई लगभग डिब्बे की ऊँचाई के बराबर ही है। ये चींटे आगे पीछे चल सकते हैं, दाहिने बायें चल सकते हैं, टेढ़े मेढ़े भी चल सकते हैं किन्तु इन्हें ऊपर और नीचे का कोई ज्ञान नहीं है। इनका संसार डिब्बे की भूमि के समतल तक सीमित है। समतल के अन्दर इनके चलने के लिये अनन्त दिशायें हैं किन्तु समतल के बाहर का इन्हें कोई बोध ही नहीं है।

अब मान लीजिये कोई मनुष्य अर्थात् त्रैविम संसार का एक प्राणी डिब्बे के बाहर कहीं पर खड़ा हुआ है। यदि वह कोई बात करता है तो उसकी ध्वनि इन चींटों को सुनाई देगी किन्तु वे नहीं समझ पायेंगे कि यह ध्वनि कहाँ से आई। हमने केवल उपमा देने के लिये बन्द डिब्बे की कल्पना की है यह दिखाने के लिये कि चींटों को ऊपर की दिशा का कोई ज्ञान नहीं है। किन्तु थोड़ी देर के लिये मान लीजिये कि डिब्बा ऊपर से खुला हुआ है अर्थात् उसमें छत नहीं है।

यदि मनुष्य को मा मान लिया जाय तो मा और चींटों में निम्नलिखित वार्तालाप होगा।

मा—क्या तुम मुझे देख सकते हो?

एक चींटा—नहीं, किन्तु तुम्हारी आवाज सुनाई देती है।

मा—यदि तुम दाहिनी ओर ५ इंच चलो। तब उसके ठीक १२ इंच ऊपर मैं खड़ा हूँ।

चीं०—दाहिने तो मैं समझता हूँ किन्तु 'ऊपर' और 'खड़े' का क्या अर्थ है।

मा—जिस प्रकार आगे पीछे की दिशायें हैं, दाहिने और बायें की दिशायें हैं, उसी प्रकार ऊपर और नीचे की भी दिशायें होती हैं।

चीं०—तुम्हारी बात समझ में नहीं आती।

मा—अच्छा यह बताओ कि दाहिनी अथवा बायीं ओर तुम कितनी दूर तक देख सकते हो।

चीं०—दो दो इंच तक।

मा—और आगे और पीछे कितनी दूर तक देख सकते हो?

चीं०—वही दो दो इंच तक।

मा—इन दोनों दिशाओं को छोड़कर यदि किसी अन्य दिशा में देखो तो कितनी दूर तक देख सकते हो?

चीं०—वही दो इंच तक।

मा—मैं तुम्हारे डिब्बे के समस्त स्थान कोने-कोने तक देख सकता हूँ।

चीं०—तुम्हारी दृष्टि हमारी दृष्टि से अधिक पैनी होगी।

मा—यह बात नहीं है। कारण यह है कि मैं ऊपर से देखा रहा हूँ।

चीं०—यह सब बकवास है।

मा—अच्छा यह बताओ तुम्हें अपने जैसे कितने चींटे दिखाई दे रहे हैं।

चीं०—ठहरो, तनिक हिसाब लगा लूँ। ४ दाहिनी ओर, ३ बायीं ओर, कुछ आगे, कुछ पीछे सब मिलाकर मैं १६ चींटें देख रहा हूँ।

मा—किन्तु इस डिब्बे में सब मिलाकर ७५ चींटे हैं। मैं सबको देख रहा हूँ

चीं०—आश्चर्य है।

मा—अच्छा यह बताओ इन १६ चींटों के शरीर का कौन-कौन-सा भाग तुम्हें दिखाई दे रहा है।

चीं०—जो चींटे मेरे ठीक सामने हैं उनके तो केवल मुँह अथवा पूँछ दिखाई दे रहे हैं। जो चींटे बेड़े लेटे हुए हैं उनके लगभग सारे शरीर दिखाई दे रहे हैं और जो भिन्न-भिन्न कोणों पर लेटे हुए हैं उनके शरीर के थोड़े-थोड़े अंग दिखाई दे रहे हैं।

मा—किन्तु मैं समस्त चींटों के शरीरों के सारे अंग देख रहा हूँ।

चीं०—देख रहे होगे, हमें क्या पता।

मा—अच्छा देखो, यह क्या गिरा।

इतना कहकर मा ने एक चाकू डिब्बे में गिरा दिया। चींटे ने कहा, एक चाकू कहीं से आकर हमारे संसार में गिर गया।" फिर मा ने चाकू उठा लिया। तब चींटे ने कहा "अब चाकू हमारे संसार से लुप्त हो गया। क्या तुम कोई जादूगर हो?"

मा—मैं कोई जादूगर नहीं हूँ। त्रैविम संसार का एक सामान्य प्राणी हूँ।

तब मा ने एक गोला लिया। मान लीजिये कि वह गोला चन्द्रमा के आकार का है जिसमें एक हिरन बना हुआ है। मा ने इस गोले को डिब्बे की भूमि के समतल के नीचे इस प्रकार रखा कि चन्द्रमा का ऊपरी भाग समतल को छूने लगा।
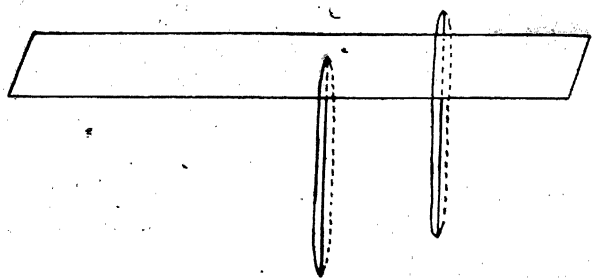
चित्र ३

मा—क्या दिखाई देता है।

चीं०—एक बिन्दु।

मा चन्द्रमा को धीरे धीरे ऊपर खिसकाने लगा। ची को अब एक छोटी रेखा दिखाई देनी लगी। फिर रेखा बड़ी होने लगी। रेखा और बड़ी होती गई और अन्त में चन्द्रमा के व्यास के बराबर हो गई। फिर रेखा छोटी

होने लगी। छोटी होते होते एक बिन्दु में परिणत हो गई और अन्त में लुप्त हो गई। जो दृश्य चींटे को दिखाई दिया उसकी ज्यामितीय आकृत इस ढंग की होगी।

चित्र ४

मा—क्या तुमको हिरन दिखाई दिया।

चीं—कैसा हिरन। मुझे तो पहिले बिन्दु दिखाई दिया फिर एक छोटी रेखा।

फिर रेखा बढ़ती गई। बढ़ने के बाद फिर घटने लगी और अन्त में बिन्दु बनकर लुप्त हो गई।

मा—मैंने तुम्हें चन्द्रमा दिखाया है, जिसमें एक हिरन बैठा हुआ है।

ची—न मैं चन्द्रमा का अर्थ समझता हूँ न हिरन का। जो कुछ मैंने देखा तुम्हें बता दिया।

मा—देखो जो चन्द्रमा मैंने तुम्हें दिखाया मैं उसे पूरा का पूरा एक साथ देख रहा हूँ। तुम्हें केवल उसके समतल काट (Plane Section) दिखाई दे रहे हैं। अच्छा एक बार फिर देखो।

मा ने एक शंकु (Cone) हाथ में लिया और उसे ची के दृश्य समतल से छुआया। ची को एक बिन्दु दिखने लगा। मा ने शंकु को थोड़ा ऊपर उठाया तो एक छोटी सी रेखा दीखने लगी। मा ने ज्यों शंकु को ऊंचा किया रेखा बड़ी होती गई। जब पूरा शंकु समतल के ऊपर पहुँच गया तब रेखा ओझल हो गई। ची को एक समय में केवल एक ही रेखा दिखी। मा ने पूछा कि "तुमने क्या देखा?" ची ने कहा "पहले एक बिन्दु, फिर एक छोटी रेखा, फिर उससे बड़ी रेखा। फिर अन्त में एक बहुत बड़ी रेखा दिखी और ओझल हो गई।" मा ने कहा "—यह सब रेखायें भिन्न भिन्न वस्तुयें नहीं हैं। एक ही ठोस के समतल काट हैं।"

अब मान लीजिये कि पुस्तक का एक पृष्ठ एक द्वैविम संसार को निरूपित करता है। इस पर दो समकोणीय त्रिभुज बनाइये जो सर्वांगसम हों।
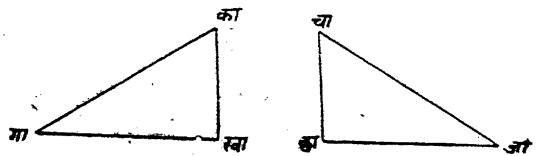
चित्र ५

समस्या यह है कि इस द्वैविम संसार का एक प्राणी दोनों त्रिभुजों को किस प्रकार सर्वांगसम सिद्ध करेगा। ज्यामिति में हम लोग इस साध्य की उपपत्ति आच्छादन क्रिया द्वारा देते हैं। किन्तु उक्त क्रिया में एक त्रिभुज को उठाकर दूसरे त्रिभुज पर रखना होता है। यह तभी संभव है जब हम उक्त त्रिभुज को इस कागज के समतल से उठा लें। अर्थात् तीसरी विमा का भी प्रयोग करें। एक द्वैविम प्राणी के लिये त्रिभुजों को सर्वांगसम सिद्ध कर देना असम्भव है। वह त्रिभुज चा छा जा को कितना ही उलटे-पलटे त्रिभुज का खा गा की स्थिति में नहीं ला सकता। त्रिभुज चा छा जा को उलटने में उस प्रकार की स्थितियाँ प्राप्त हो सकती हैं, जैसी चित्र ६ में दी हैं। अधिक से अधिक वह त्रिभुज को का खा टा की स्थिति में ला सकता है। किन्तु बिना तीसरी विमा में जाये त्रिभुज का खा गा पर आच्छादित नहीं कर सकता।
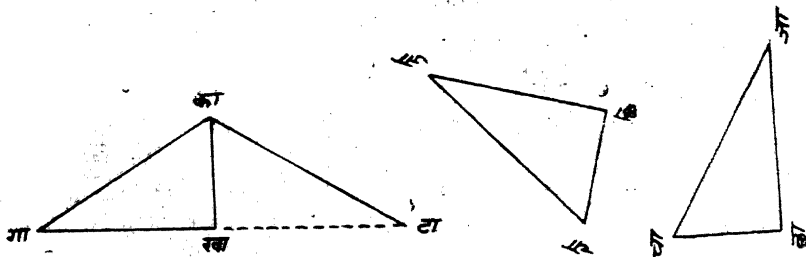
चित्र ६

एक समस्या और लीजिये। निम्नलिखित चित्र में एक व्यक्ति दिखाया गया है जिसके हाथ में एक आम है।

चित्र ७

यह मनुष्य और आम दोनों द्वैविम संसार के हैं। यह व्यक्ति कितना भी चाहे आम को नहीं खा सकता। क्योंकि उसे मुंह तक ले जाने में तीसरी विमा का प्रयोग आवश्यक है।

एक प्रश्न और लीजिये। निम्नलिखित चित्र में एक घोड़ा दिखाया गया है जिसके आगे घास रखी है और पीछे चने के दाने।
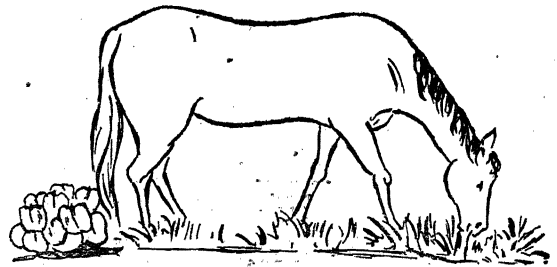
चित्र ८

यह घोड़ा घास तो खा सकता है। किन्तु चने खाने के लिये मुंह फेरकर खड़ा नहीं हो सकता। यदि थोड़ी देर के लिये मान लें कि उस पर गुरुत्वाकर्षण का कोई प्रभाव नहीं है तो घोड़ा उल्टा खड़ा होकर चने खा सकता है। अन्यथा उसके लिये और कोई उपाय नहीं हैं।

(क्रमशः)

[पृष्ठ ४० का शेषांश]

तम रूप में वृक्षजीवी स्लाथ में पाई जाती है जो भूमि पर कछुए समान धीमी गति से ही रेंग सकता है, उसके विपक्ष घोड़े, शिकारी कुत्ते, हरिण तथा चीते में अद्भुत वेग की गति पाई जाती है। एशिया तथा अफ्रिका में एक बिल्ली के समान मांसाहारी जन्तु होता है जो हरिण को भी दौड़ में पीछा दिखा सकता है।

नीचे कुछ जानवरों की चाल दी जाती है :—

नाम	प्रति घंटे चाल	नाम	प्रति घंटे चाल
चीता	७० मील	एल्क	४५ मील
मंगोलियन गज़ेली	६० ,,	घुड़दौड़ का घोड़ा	४३ ,,
प्रोंगवक	५० ,,	एशियाई जंगली गधा	४० ,,
मृग	४५ ,,	शिकारी कुत्ता (ग्रेहाउंड)	३७ ,,
जैक शश	४५ ,,		
मंगोलियन भेड़िया	३६ ,,		
शशक	३५ ,,	लोमड़ी	२० ,,
कंगारू	३० ,,	विविध कुत्ते	२० ,,
श्वेतपुच्छ मृग	३० ,,	आदमी (एक मील दौड़)	१५ ,,
महिष	३० ,,	सूअर	११ ,,
हरिण	२५ ,,	साही	२ ,,
शश	२५ ,,	स्लाथ	१/२ ,,
भगाया जानेवाला हाथी	२४ १/२ ,,	कछुआ	१/४ ,,
आदमी (चौथाई मील दौड़)	२२ ,,		

स्तनपोषी जन्तु क्या हैं ?

जगपति चतुर्वेदी

स्तनपोषी का अर्थ माता का दुग्धपान कर जीवन प्रारम्भ करने वाला है। सभी स्तनपायी तो 'जन्तु' होते हैं, परन्तु सभी जन्तुओं को स्तनपायी नहीं कहा जा सकता। हमारी प्राचीन जन्तु-श्रेणियों में अंडज और पिंडज दो वर्ग माने जाते हैं। ऊष्मज, स्वेदज आदि भी पृथक वर्ग बनाते कहे जाते हैं, परन्तु उन वर्गों की अपेक्षा कर हम दो विशेष नामों को ही लेते हैं जो वैज्ञानिक श्रेणी-विभाग के निकट के नाम हैं। हम यहाँ पर इनकी भी विशेष मीमांसा न कर यही कह देना चाहते हैं कि आधुनिक जन्तु-श्रेणी विभाजन में अंडज और पिंडज दो श्रेणी विभाग स्पष्ट रूप से किए नहीं मिल सकते परन्तु विज्ञान के विशेषज्ञों ने जो भेद-प्रभेद किये हैं उनमें एक को पिंडज का लगभग समानार्थक कहा जा सकता है। पिंडज का अर्थ पिंड या सदेह रूप में माता की कोख से जन्म धारण करना है। स्तनपायी जन्तु सदेह रूप में ही प्रायः जन्म धारण करते हैं अतएव इन्हें पिंडज कहा जा सकता है।

सृष्टि में जो अनेक विचित्रताएँ हैं उनका जैसे-जैसे अध्ययन किया जाता है, हमारे कौतूहल की सीमा बढ़ती जाती है। जन्तु जगत के सम्बन्ध में भी ऐसी ही बात कही जा सकती है। वैज्ञानिक कुछ मूलभूत आधारों पर जन्तुओं के भेद-प्रभेद करते हैं। कभी उनके बनाए विभाजनों में अन्य शोधकों को भूल ज्ञात होती है। जन्तुओं के श्रेणी-विभाजन के कुछ अन्य मूलभूत आधार मिल जाते हैं अतएव पूर्व श्रेणी-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन करना पड़ जाता है अथवा छोटे भेद-प्रभेदों में कुछ थोड़ा बहुत परिवर्तन कर लेना ही यथेष्ट होता है। इन परिस्थितियों में एक अटल विभाजन नहीं पाया जा सकता। फिर भी विद्वानों के अधिकांश मत के विभाजन मान्यता पाकर अधिक समय तक प्रचलित रहते हैं। यहाँ पर हम स्तनपायी जन्तुओं का श्रेणी-विभाजन तथा जन्तु-जगत में उनके पूर्ण वर्ग के आपेक्षिक स्थान की कुछ चर्चा करेंगे।

जन्तु जगत में कीड़े-मकोड़े या बहुसंख्यक रूप के छोटे-मोटे आकार के जो जन्तु दिखाई पड़ते हैं उनके विभाग जो होंगे उनकी यहाँ पर चर्चा करना युक्तिसंगत नहीं है। उनको अस्थिकंकाल तथा पृष्ठवंश विहीन शरीर रखने से अपृष्ठवंशी कहा जाता है। जब कोई कंकाल या हड्डी का ढाँचा न हो तो शरीर के अन्य तन्तुओं, रक्त मांस आदि का अधिक वृद्धि कर एकत्र रहने का अवसर नहीं हो सकता। अतएव उनका बहुत बड़ा आकार नहीं हो पाता। वास्तव में वे हीन कोटि के ही जन्तु होते हैं। यदि वास्तव में बड़े आकार का शरीर रखना है तो पृष्ठवंश या रीढ़ की हड्डी रखना ही होगा जो शरीर के अस्थिकंकाल को सँभाल सकने के लिए आधार-स्तंभ का काम करती है। अतएव ऐसी व्यवस्था रखने वाले जन्तु पृष्ठवंशी कहलाते हैं। उनके शरीर में पृष्ठवंश या रीढ़ की हड्डी की रचना कशेरुका या छोटे-छोटे अस्थिखंडों से हुई रहती है जिनमें पारस्परिक जोड़ होता है, परन्तु उन सब में ऐसा छिद्र भी होता है जो मस्तिष्क से लेकर अन्तिम कशेरुका तक लम्बी नली रूप में रहता है। उसी नली में मेरु या सुषुम्ना-दंड होता है जिसमें शाखा समान स्नायु निकलकर शरीर के सब अंगों तक फैलते हैं और मस्तिष्क तथा अंगों के मध्य संवाद या संवेदन वहन करते रहते हैं। अतएव पृष्ठवंशी या रीढ़ वाले जन्तुओं को मेरुमान या सुषुम्ना-दंडीय कहने की इच्छा हो सकती है। इसमें केवल इतनी आपत्ति है कि कुछ ऐसे जन्तु भी पाए जाते हैं जो कंकाल तथा पृष्ठवंश का प्रबन्ध न रखने पर भी संवादवाहिनी मेरु का प्रबन्ध रखते हैं, इस कारण जन्तुविज्ञान-शास्त्री एक विशेष विभाजन को 'मेरुमान' नाम देते हैं। किन्तु मेरुमान या मेरुमन्त जन्तुओं में ही पृष्ठवंशी प्रमुख स्थान रखते हैं।

किन्तु मेरुमन्तों की अधिक चर्चा न कर हम आगे के पृष्ठों में पृष्ठवंशी जन्तुओं के ही कुछ स्थूल विभागों का नाम लेंगे।

पृष्ठवंशी जन्तुओं के विविध रूप हैं। कोई जल में रहता है तो कोई स्थल या आकाशचारी होता है। परन्तु जलचारी, स्थलचारी या गगनचारी कहने से उनका विज्ञानसम्मत विभाजन नहीं ज्ञात हो सकता। यों तो आप यह भी कह सकते हैं कि पक्षी आकाश में उड़ सकने पर भी बसेरा लेने या सन्तानोत्पादन के लिए भूमि का ही सहारा लेते हैं इसलिए अन्य स्थलचारी जन्तुओं के साथ इन्हें भी स्थलजीवी कहना चाहिए तथा जल में जीवन व्यतीत करते रहने वाले जन्तुओं को जलजीवी पृष्ठवंशी कहना चाहिए। परन्तु विज्ञान ने पृष्ठवंशियों के विभाजन का कुछ अधिक युक्तिसंगत आधार रखा है। जो जन्तु गलफड़ों से श्वास लेकर जल में रह सकते हैं वे मत्स्यवर्ग कहलाते हैं। मंडूक की भांति कुछ जन्तु शैशव काल में या अस्थायी रूप से ही गलफड़े रखते हैं, किंतु कालांतर में जल के अन्दर रहने की वृत्ति छोड़कर खुली वायु में रह सकने का उपक्रम कर लेते हैं। उन्हें उभयजीवी पृष्ठवंशी वर्ग कहा जाता है। इस वर्ग के जन्तु खुली वायु में रह सकने के लिए फुफ्फुस का निर्माण अपने शरीर में कर लेते हैं। किन्तु ऐसे भी उभयजीवी पृष्ठवंशी होते हैं जो गलफड़े का ही स्थायी प्रबन्ध रखते हैं और जल में रहते हैं या गलफड़ों का उनमें सर्वथा अभाव रहता है और आजीवन फेफड़े की ही व्यवस्था रखते हैं। इनमें जोड़ों युक्त पैर होते हैं जिनमें प्रत्येक पाँच अंगुलियों युक्त होता है। छिपकली, सर्प, गिरगिट आदि सरीसृप वर्ग के हैं जिनके शरीर पर छिछड़े रूप में बाहरी कठोर शुष्क आवरण होता है। ये स्थल पर अंडे देकर संतान बृद्धि करते हैं। इन सबसे विशेषता पक्षियों में पाई जाती है शरीर का बाहरी आवरण छिछड़े या शल्क के स्थान पर ऐसे रूप का होता है जिसे पर या पतत्र कहा जाता है। उनका परों युक्त शरीर पृष्ठवंशी जन्तुओं में उनका रूप स्पष्ट पृथक प्रकट करता है किन्तु उनसे भी अधिक स्पष्ट रूप में विभिन्नता प्रकट करने वाला स्तनपायी वर्ग होता है जिसके शरीर पर प्रायः रोममय त्वचा होती है और दुग्ध-ग्रंथियों का प्रबन्ध होता है।

इन साधारण पृष्ठवंशी जन्तु-वर्गों का ही विशेष अध्ययन कर जन्तु-विज्ञान-वेत्ताओं ने ज्ञात किया कि जल-जीवी कहे जाने वाले जन्तुओं में एक ऐसे रूप के ईल या मत्स्य होते हैं जिनके मुख में जबड़े नहीं होते, केवल गोले रूप का एक छिद्र ही मुख का स्थान ग्रहण करता है। उस वर्तुलाकार मुख-छिद्र से वे चूसकर ही आहार ग्रहण करते हैं। अन्य सभी पृष्ठवंशियों में दो जबड़ों वाले मुख होते हैं अतएव उन जन्तुओं को एक पृथक नाम देकर वर्तुलाकारमुखी पृष्ठवंशी वर्ग कहा जाता है।

जब हम स्तनपायी वर्ग के पुनः भेदों की ओर ध्यान देते हैं तो एक भारी आश्चर्य की बात उसके निम्नतम भेद में मिलती है। वर्ग के भेदों को गण नाम दिया जाता है। वैज्ञानिक भाषा में वर्ग को क्लास और उसके भेद गण को आर्डर कहते हैं। इसके भी पुनः प्रभेद को प्रजाति (जीनस) और प्रजाति के भी छोटे विभाग या भेद को जाति (स्पीशी) कहते हैं। अन्तिम रूप में जाति के भी उपभेद हैं जो सब-स्पीशी या उपजाति कहलाते हैं।

जाति की स्पष्ट परिभाषा यह कही जा सकती है कि उसके जन्तु परस्पर सन्तानोत्पादन के लिए जोड़े बन सकते या सहयोग स्थापित कर सकते हैं। उनमें कुछ रंग-रूप का गौण अन्तर होने से ही उपजातियाँ पाई जाती हैं। जातियों में यह समान गुण एक प्रमुख कसौटी ही है किन्तु इसके अनेक अपवाद भी अवश्य पाए जाते हैं। उन अपवादों के होने पर भी इन जन्तुभेदों को विज्ञान-जगत स्वीकार करता है।

स्तनपायी वर्ग की सभी जातियाँ माता के दूध से शिशु का पोषण करने की व्यवस्था रखती हैं, परन्तु कुछ जातियों में हम एक विशेषता यह भी देखते हैं कि वे अण्डे देती हैं। यह देखकर घोर आश्चर्य होता है कि एक ओर तो ये जन्तु अण्डे देकर अंडजों का अनुकरण करते हैं, दूसरी ओर अण्डे से उत्पन्न होते ही शिशु को दूध पिलाकर पोषण का उपक्रम करते हैं। यह सृष्टि का विचित्र ही विधान है। कदाचित किसी भौगर्भिक पूर्व काल में केवल अंडज सृष्टि की ही व्यवस्था थी। जब दुग्धपान कराकर

माता ने शिशु के पोषण का विधान सृष्टि में पहले-पहल प्राप्त किया तो उस प्रारम्भिक क्रम में इसी रूप की दुग्ध-दायी जाति उत्पन्न हुई जिनका जन्म सृष्टि के अन्य सभी जन्तुओं के सन्तानोत्पादन विधान के अनुकूल अंडज रूप का ही था। कालान्तर में अन्य जातियों के विकास होते जाने पर माता की कोख से संदेह रूप में उत्पन्न शिशु का विधान प्रचारित हुआ परन्तु उस प्रारम्भिक अवस्था का स्मरण दिलाने के लिए आज के जीवित दुग्धपायी जन्तुओं में आज भी अंडज प्रथा को जारी रखने वाले जन्तु दिखाई पड़ते हैं जिन्हें हम चाहें तो अंडज-पिंडज कह सकते हैं। ऐसे जन्तुओं में आस्ट्रेलिया के बत्तखमुखी या हंसकमुखी (डक-बिल) जन्तु होते हैं। यह बात अवश्य है कि इन जन्तुओं की मादा में दुग्ध-ग्रन्थियों से दूध निकल कर स्तन में पहुँचने की व्यवस्था नहीं होती। स्तन रूप की कोई वस्तु होती ही नहीं। केवल रोमों के क्षुद्र चिक्कन स्थल से दुग्ध-ग्रन्थियों का दूध स्वतः स्रवित होता रहता शिशु है जिसे पान कर लेते हैं। शिशु प्रारम्भ काल में उन ग्रन्थियों के क्षेत्र में माता के उदर से चिपके रहते हैं।

स्तनपायी जन्तुओं में एक और भी विशेषता यह होती है कि शरीर में स्थिर तापमान का रक्त प्रवाहित रहता है। अतः उन्हें स्थिरतापमानी कहा जाता है। जल के अंदर जीवनयापन करने वाले तिमि (ह्वेल), सील आदि जन्तु स्तनपायी होते हैं अतएव ये उक्त विधान के कारण स्थिर तापमानी ही होते हैं। इसी प्रकार वायु में विहरण करने वाले चमगीदड़ भी दुग्धपायी होते हैं। इन विविध रूप के जन्तु माता के दूध का पान कर शिशुकाल में पोषित होने के कारण स्तनपायी वर्ग के माने जाते हैं।

स्तनपायी जन्तुओं के शरीर की त्वचा पर न्यून या अधिक रोम या बाल का होना उनकी विशेषता अवश्य है किन्तु थोड़े से अपवाद हमें अन्य पृष्ठवंशी जन्तुओं में शरीर पर कहीं रोम उत्पन्न करने में दिखाई पड़ सकते हैं। पक्षियों के हनु या चंचु के आधार स्थल के निकट कुछ रोम उत्पन्न दिखाई पड़ते हैं। एक जाति के मंडूक अफ्रीका में पाए जाते हैं जिनके पार्श्व भाग में रोमवत् त्वचा की झालर होती है। किन्तु इन अपवादों को छोड़ दें तो हमें स्तनपायी जन्तुओं में तिमि (ह्वल) तक के शरीर में कुछ रोम (बाल) दिखाई पड़ते हैं। शिशुमार (सूंस) के मुख में मूँछ की रचना केवल दो बालों से होती है।

इस विविध रूप के स्तनपायी जन्तुओं के आकार में महान् विषमता पाई जाती है। छोटे से छोटा स्तनपायी जन्तु जहाँ चवन्नी भर तौल की बौना छछून्दर होती है, वहाँ संसार के प्रत्येक युगों के सभी जन्तुओं से बृहद् आकार रखने वाला नील तिमि सवा सौ टन (लगभग साढ़े तीन सहस्र मन) का हो सकता है। तिमि के इतने बृहद् रूप का अनुमान हम इसी से कर सकते हैं कि उसके शरीर का तोल दस करोड़ क्षुद्रतम स्तनपायी, बौना छछून्दर के तोल के बराबर होता है।

संसार में स्तनपायी जन्तुओं की लगभग १०,००० जातियाँ पाई जाती हैं। उनको प्रायः सारे संसार में फैला कहा जा सकता है। ध्रुवीय प्रदेश तक भी वे विद्यमान ही नहीं पाए जाते बल्कि कुछ तो कभी-कभी हिमखंड के निम्न तल में भी रह सकते हैं। उनका सभी सागरों तथा महासागरों में प्रसार है। निर्जल मरुप्रदेश भी उनसे शून्य नहीं। अरण्यों, विरल झाड़ियों के प्रदेशों, बागों, खेतों, ग्रामों नगरों आदि में सर्वत्र ही उनका प्रसार पाया जाता है। नदी, तालाब, वृक्ष, गिरि-गुहाओं, दलदल या घास-विहीन निर्जन शीत प्रदेशों में भी वे देखे जा सकते हैं। यही नहीं, जहाँ कहीं भी मनुष्य की दृष्टि जा सकती है, उसे स्तनपायी जन्तु दिखाई ही नहीं पड़ सकते, बल्कि स्वयं मनुष्य भी अपनी गणना स्तनपायी जन्तुओं में ही पाता है।

हमारे इस कथन का यह अभिप्राय कदापि नहीं कि सभी प्रकार के स्तनपायी सभी स्थलों में पाए जाते हैं। बल्कि यह अभिप्राय ही समझना चाहिए कि प्रत्येक स्थल में उस स्थल के जलवायु के अनुकूल कोई न कोई स्तनपायी दिखाई पड़ते हैं। किन्तु एक वातावरण या स्थान में रहने वाले जंतु को अन्य वातावरणों में भी रहने में समर्थ होना आवश्यक नहीं। यह बात दूसरी है कि एक ही स्तनपायी जन्तु अनेक स्थानों या वातावरणों में रह सकता हो। यदि मनुष्य की बात लेते हैं तो वह तो अपनी रक्षा तथा सुविधा के लिए कृत्रिम व्यवस्था कर कहीं भी पहुँच सकता तथा रहता पाया जा सकता है। अन्य स्तनपायी जन्तु इतने अधिक कुशल तथा साधनसम्पन्न न होने से सारे

संसार को अपना निवास-क्षेत्र कह सकने में असमर्थ ही होते हैं।

प्रस्तरावशेषों के आधार पर प्राचीन युगों के जन्तुओं का रूप तथा आकार-प्रकार का अध्ययन करने वाले विद्वानों का मत है कि पहले जलखंडों में ही जीव का उदय हुआ होगा। उनसे उन्नत रूप धारण करने पर उभयजीवी बने होंगे जिनमें हम मंडूक की गणना कर सकते हैं। सरीसृपों ने कालान्तर में स्थल पर ही सन्तानोत्पादन कर अपना वंश चलाया होगा। इनके पश्चात् दुग्धपायी जन्तु उत्पन्न हो सके होंगे। दुग्धपायी जन्तु पहले बहुत ही गौण तथा अज्ञात रूप में अपना कहीं उदय कर स्थलचारी जीवन व्यतीत करते दिखाई पड़ने लगे होंगे किन्तु उनके भेद-प्रभेदों ने विविध रूपों में इतनी वृद्धि की कि धरती उनसे पट गई। अधिकांश स्तनपायी भूजीवी बने, परन्तु कुछ ने विवर में निवास करने की वृत्ति धारण की, कुछ वृक्षजीवी बन गए। कुछ जलजीवी भी बने। कुछ उभयजीवी बनकर रहने लगे जिनमें सील का नाम लिया जा सकता है, किन्तु कुछ पूर्णतः जलजीवी बने। उनमें तिमि का प्रमुख नाम है। आकाशगामी दुग्धपायी का रूप चमगीदड़ रूप में दिखाई पड़ा।

सरीसृपों से जो काम नहीं बन सकता था वह दुग्धपायियों ने कर दिखाया। भूमध्यरेखा से लेकर ध्रुव तक फैलकर रहने का परिणाम दुग्धपायियों के विशेष गुणों के कारण सम्भव हो सका। यह ध्यान में रखने की बात है कि शीततर अक्षांशों के स्थल में बृहदाकार स्तनपायी ही सुविधा प्राप्त करते हैं किन्तु उष्णतर क्षेत्रों में बृहदाकार सरीसृपों को अधिक सुविधा होती है। इन दोनों की यह सुविधा शरीर की मात्रा और बाह्य तल के क्षेत्रफल के आपेक्षिक अनुपात के कारण प्राप्त होती है। शीत जलवायु में आन्तरिक उष्णता रक्षित रखने की आवश्यकता से बड़े दुग्धपायी जंतु को इस कारण सुविधा प्राप्त होती है कि उसके शरीर के बाह्य तल का क्षेत्रफल अपेक्षाकृत न्यून होता है। सरीसृप को सारी उष्णता बाहर से ही प्राप्त होनी चाहिए। न्यूनतर आकार के जन्तु का बाह्य तल अपेक्षाकृत अधिक होता है। यदि बाह्य उष्णता इतनी न्यून है कि पोषण के लिए आवश्यक उष्णता नहीं प्राप्त की जा सकती तो सरीसृप के लिए दो ही मार्ग होते हैं, या तो वह शीतकालीन दीर्घनिद्रा में मूर्छित पड़ा रहे या मृत्यु को प्राप्त हो। कुछ स्तनपायी भी शीतकालीन दीर्घनिद्रा में लिप्त होते हैं किन्तु यह कहना अनुचित नहीं हो सकता कि कदाचित शीत ऋतु व्यतीत कर ले जाने का उनका यह सुगम तथा आलसी ढङ्ग ही होता है। अधिक सक्रिय स्तनपायी अपनी आंतरिक वह्नि को प्रज्वलित ही रखते हैं तथा ध्रुवीय शीत में भी अपनी पूर्ण क्रियाशीलता संचालित रखते हैं।

बाह्य दबाव में समुद्रतल से लेकर पर्वतों की ऊँचाई तक रहने के अभ्यस्त स्तनपायी पाए जाते हैं। तिमि (ह्वेल) तो समुद्र की एक मील गहराई तक जा सकने में समर्थ होते हैं।

स्तनपायियों का भोजन भी विविध रूप का होता है। बहुत से तो शाकाहारी होते हैं। प्रत्येक किसी एक प्रकार या वनस्पति के विशेष भाग का प्रेमी होता है। घास, दाने, पौधे, पत्तियाँ, जड़, वल्कल, फल-फूल आदि को वे ग्रहण करते हैं। कुछ चींटी-चींटे और कीट का आहार करते हैं। कुछ अपने सहयोगी अन्य पृष्ठवंशी जन्तुओं को ही आहार बनाते हैं। इन आहारों का प्रकार उन जन्तुओं की विशेष रूप की दन्तावली तथा पोषण-संस्थान के अनुरूप होता है।

स्तनपायी जन्तु अपने पैरों का उपयोग विविध रूपों में करते हैं। वे पैरों से चलते, दौड़ते, उचकते, छलांग मारते, पर्वतों तथा वृक्षों पर आरोहण करते तथा एक वृक्ष या शाखा पर कुदान की छतरीनुमा उड़ान भरते, अगले पैरों द्वारा शाखाओं से अटककर चलते, पिछले पैरों पर खड़े होकर चलते तथा पैर के तलवे भूतल पर चपटे रूप में रखकर चलते या केवल अँगुलियों के बल खड़े होकर चलते हैं। कुछ अगले पैरों से भूमि खोद कर विवरों में रहते हैं, या जड़ों को खोद निकाल लेते हैं। गिलहरी तो अगले पैर के पञ्जों से फल पकड़ने तथा मुँह तक पहुँचाने का दृश्य उपस्थित करती है। कुछ द्विपदों को छुरी-कांटे से आहार की विविध व्यवस्था करते देखते हैं। कुछ दुग्ध-पायी तैरते, डुबकी लगाते या उड़ते हैं। उनकी गति मन्द-

[शेष पृष्ठ ३६ पर]

सर हंफ्री डेवी

श्री नन्दलाल जैन, महाराजा कालेज, छतरपुर, (वि० प्र०)

वर्तमान युग में मानव को विज्ञान की सहायता से विभिन्न सुख सामग्री व भौतिक आनन्द-विलास के साधन उपलब्ध होते जा रहे हैं। इसी कारण इस युग को वैज्ञानिक युग कहा जाता है। विज्ञान का यह विकास अठारहवीं सदी के मध्यकाल में ही प्रारम्भ हुआ है। उस समय न तो आज के समान सुसज्जित प्रयोगशालायें थीं, और न वैज्ञानिक साहित्य ही फिर भी विज्ञान के सैद्धान्तिक व प्रायोगिक क्षेत्र में विकास होने का कारण उन अद्वितीय प्रतिभाशाली, व बुद्धिमान् महापुरुषों की मानव हितकारिणी व प्रकृति-पुजारिणी जिज्ञासा-वृत्ति है, जिसके कारण साधनों के अभाव में भी अपनी मौलिक बुद्धि व प्रयोगों द्वारा उन्होंने मानव के निमित्त विभिन्न क्षेत्रों में सुख-साधन प्रस्तुत करने में कोई कसर नहीं उठा रखी है। सचमुच ही वैज्ञानिक की भावना और साधना धन्य है। ऐसे महापुरुषों में श्री बोयल, श्री शील, श्री हंफ्री डेवी, श्री माइकेल फॅराडे, श्री जेम्सवाट, श्री जोर्ज स्टीफेंसन, श्री जोसेफ एडीसन, श्री मार्कोनी व श्री राइट बन्धुओं के नाम उल्लेखनीय हैं।

एक बार प्रसिद्ध जर्मन वैज्ञानिक विलहम ओस्टवाल्ड से उसके एक जापानी सहायक ने पूछा, "किसी व्यक्ति की भावी प्रतिभा की क्या पहिचान है?" यह प्रश्न ओस्टवाल्ड के लिये बहुत जटिल प्रतीत हुआ और इसका उत्तर देने के लिये उसने अपनी संस्था के समस्त 'रिकार्ड' देखे और बताया, कि जो विद्यार्थी विद्यार्जन-काल में बहुत ही मंद होता है, वही भविष्य में प्रतिभावान् और मौलिक साबित होता है।" यह कथन श्री डेवी के विषय में अक्षरशः सत्य है। केवल अध्ययन ही प्रतिभा का द्योतक नहीं है, लगन, उत्साह एवं मौलिक प्रतिभा होने से मनुष्य के विकास के साधन प्रत्येक क्षेत्र में जुट ही जाते हैं। श्री डेवी को बुद्धि और प्रयत्नों की सूक्ष्मता के साथ भाग्य का भी अमोघ वरदान प्राप्त था। यही कारण है कि श्री डेवी ने पूर्ण रूप से अध्ययन न करने पर भी अपनी अभिरुचि के अनुकूल जहाँ भी साधन उपलब्ध हुए, उनका उपयोग किया, और रसायन विज्ञान के क्षेत्र में नाइट्रस ऑक्साइड के शल्यक्रिया में प्रयोग किये जाने की खोज के अतिरिक्त एक साथ पाँच नवीन तत्वों के अन्वेषण, क्लोरीन की तात्विकता का प्रतिस्थापन व उसके यौगिकों का निर्माण एवं सुरक्षा-दीप के आविष्कार द्वारा अपना नाम अमर बना लिया है। श्री डेवी का विशद ज्ञान, आकर्षक भाषण कला और सामान्य उपकरणों से भी बड़े बड़े प्रयोगों की भूमिका बाँधना आदि विशेषतायें उनकी अनुकरणीयता प्रस्तावित करती हैं।

श्री डेवी एक कलाकार बढ़ई के पुत्र थे, जो खेती और खनिज-विद्या में भी पर्याप्त अभिरुचि रखते थे। इनका जन्म इङ्गलैंड के कार्नवाल क्षेत्र में स्थित पैंजांस नामक गाँव में १७ दिसम्बर १७७८ में हुआ था। ये अपने पिता के ज्येष्ठतम पुत्र थे और इनके पाँच भाई-बहन थे। इनकी मां विवाह के पूर्व डा० टोंकन के घर में पली थीं, क्योंकि उनके पिता का बचपन में ही देहान्त हो गया था। इसी कारण डा० टोंकन ने आगे चलकर डेवी के जीवन-निर्माण में थोड़ा योग दिया था।

बचपन में श्री डेवी ने अपने गाँव के व ट्रूरो के 'ग्रामर स्कूल' में शिक्षा पाई थी, इनका मन स्कूल में बिलकुल नहीं लगता था और न स्कूल के जीवन में इनमें कोई विशेष योग्यता ही परिलक्षित होती थी। यही कारण है कि इन्हें कभी-कभी अपने गुरु श्री कॉयटन से दंड भी मिला करता था, जो इन्हें डंडा मारते-मारते यह कविता भी गाया करते थेः—

Now master Davy, Now Sir I have'e
No one shall save'e, Good master
Davy.

यद्यपि पढ़ाई में श्री डेवी चतुर न थे, फिर भी गप्पें मारने और कविता करने में वे पर्याप्त दक्ष थे। अपने इन गुणों के कारण वे काफी लोकप्रिय हो चले थे। पटाखेबाजी और मछलियों के शिकार करने में भी श्री डेवी काफी सिद्धहस्त थे।

इस कार्य में लग जाने पर श्री डेवी को अपने उत्तरदायित्व एवं अपूर्ण शिक्षण को समुचित दिशा देने का भी अनुभव हुआ। उसने अब डाक्टरी पास करने की सोची और अपने सामान्य ज्ञान को बढ़ाने के लिये एक अध्ययन की योजना बनाई जिसमें भूगोल, भौतिक शास्त्र, यंत्र शास्त्र, गणित, इतिहास, वक्तृ कला, धर्म, व चिकित्सा शास्त्र की विभिन्न शाखाओं के विशाल अध्ययन भी अंतर्गत था। केवल १७ वर्ष की अवस्था में अपने अध्ययन की इस विशद योजना से श्री डेवी के उत्तरदायित्व भरे मानसिक विकास की दिशा का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। इस योजना को कार्यान्वित करने के अतिरिक्त श्री डेवी ने इस समय कुछ कवितायें भी कीं, जिनकी प्रशंसा अंग्रेजी कविता के आचार्य विलियम वर्ड्सवर्थ व श्री कोलरिज ने भी की थी।

अपने अध्ययन की योजना में श्री डेवी की रुचि 'रसायन शास्त्र' के प्रति अधिक होने लगी क्योंकि वह एक रासायनिक डाक्टर के यहाँ नौकर था। इसी रुचि के कारण वह अपनी बहिन के साथ की शीशियों, शराब की बोतलों, चाय के कप, प्लेटों, चिलमों और मिट्टी के दीपक आदि उपकरणों से अपने मकान के रसोई घर में ही इधर उधर के प्रयोग किया करता था। प्रयोगों के फलस्वरूप कभी कभी विस्फोट भी हो जाता था : पर वह निडरतापूर्वक प्रतिदिन अपना काम किया करता था।

ऐसे ही समय में श्री डेवी का परिचय दो सज्जनों से हुआ, जिसके कारण उसे अपनी दिशा में आगे बढ़ने का समुचित अवसर प्राप्त हुआ। इनमें से एक सज्जन तो कार्नवाल के जमींदार श्री डेवीज गिड़ी हैं, जिन्होंने श्री डेवी के प्रयोगों की चर्चा सुन उनसे भेंट की और उसकी प्रतिभा का अनुमान लगाकर सहर्ष अपने कारखाने में स्थित पुस्तकालय के उपयोग का सुझाव दिया और एक दिन अपने तांबे के कारखाने की प्रयोगशाला में ले गया, जिसे देखकर श्री डेवी बहुत ही प्रसन्न हुए। दूसरे व्यक्ति हैं वाष्प-यंत्र के आविष्कर्ता श्री जेम्स वाट के सुपुत्र श्री ग्रेगरी वाट, जो स्वास्थ्य लाभ के निमित्त अपना अध्यापन व्यवसाय छोड़ कॉर्नवाल में आये हुए थे। श्री डेवी की श्री ग्रेगरी से काफी घनिष्टता हो गई और अपने कुछ ही समय के वाद-विवाद से वे फ्रांसीसी रसायनज्ञों द्वारा प्रस्थापित रासायनिक सिद्धान्तों के निरूपण में लग गये। इसी बीच श्री डेवी ने रसायनशास्त्र की 'तत्व' और 'शब्द कोष' नामक दो पुस्तकें पढ़ डालीं, जिसके आधार पर उसे विश्वास हो गया कि वह श्री लेवोजियर के नये जलने के सिद्धान्त को परिवर्धित कर सकता है। श्री वाट के साथ किये गये एतद्विषयक प्रयोगों से जो परिणाम निकले, उनकी सत्यता मापने के लिये उन्होंने ब्रिस्टल के प्रसिद्ध वैज्ञानिक डा० बेडोज से पत्रव्यवहार किया। यह सन् १७९८ की बात है। डा० बेडोज ने भी कुछ इसी प्रकार के प्रयोग किये थे, इसलिये आपने कार्य में उपयोगी जानकर उन्होंने श्री डेवी को अपनी ब्रिस्टल की संस्था में बुला लिया और विभिन्न औषधों के शरीर-प्रणाली पर होने वाले प्रभावों की जांच का काम उन्हें सौंप दिया।

श्री डेवी इस संस्था में लगभग दो वर्ष तक रहे और उन्होंने अपने काम के कारण इतने अल्प समय में ही पर्याप्त ख्याति प्राप्त करली। सन् १७९९ में उन्होंने डा० बेडोज द्वारा संपादित 'भौतिक व चिकित्सा विज्ञान के वरदान' नामक अंग्रेजी पुस्तक में अपने ताप व प्रकाश संबंधी प्रयोगों का लगभग २०० पृष्ठों में विवरण दिया। यह विवरण अपूर्ण एवं शीघ्रता का परिणाम था, अतएव इसके सत्य व तथ्य न होने के कारण श्री डेवी की चारों ओर से कटु आलोचना की गई। इससे श्री डेवी को कुछ दुख तो अवश्य हुआ, पर उन्हें यह शिक्षा तो मिली कि विज्ञान साधना का क्षेत्र है, इसमें शीघ्र निष्कर्ष प्राप्त नहीं हो पाता।

अपनी इस आलोचना से श्री डेवी निराश नहीं हुए, परन्तु ब्रिस्टल में श्री साउदी, श्री वर्ड्सवर्थ व श्री कोलरिज

के समान विश्वविख्यात साहित्यिकों के समागम से कुछ समय के लिये इन्होंने उपन्यास, लेख व कविता की ओर अपनी प्रतिभा को मुखरित कर दिया। अपने वैज्ञानिक कार्यों के बावजूद भी, सन् १७९९ में उन्होंने छः उपन्यास, एक वीर-रस का काव्य व अन्य छः कविता की पुस्तकें और कई भावात्मक निबंध लिखे, जिनमें उनका पर्याप्त मनोरंजन हुआ। साहित्य-सेवा के साथ उनके समक्ष मुख्य कार्य था औषधों का शरीर-प्रणाली पर प्रभाव। उन्होंने नाइट्रस ऑक्साइड, नाइट्रिक ऑक्साइड, जल-गैस, कार्बन-डाइ ऑक्साइड, आदि गैसों का प्रभाव स्वयं अपनी शरीर-प्रणाली पर प्रयोग कर ज्ञात किया, और विश्व में सर्व-प्रथम बताया कि नाइट्रस ऑक्साइड को शल्यक्रिया के समय बेहोशी लाने के काम में लिया जा सकता है। ये प्रयोग भी सन् १७९९ में ही किये गये थे।

इन प्रयोगों के कारण उनका स्वास्थ्य खराब हो गया, क्योंकि कई गैसें तो बहुत ही विषैली थीं। जल-गैस के प्रयोग के विषय में तो एक लेखक ने यहाँ तक लिखा है, "यह आश्चर्य है कि वह मरा नहीं।" इसीलिये उन्होंने क्षेत्र बदलने की सोची और तत्कालीन विद्युत्-रसायन विषय की ओर वे झुक गये। ब्रिस्टल में रहते-रहते उन्होंने इस विषय में अपनी दक्षता प्राप्त करली। इस सम्बन्ध में उन्होंने जो प्रयोग किये, उन्हें पूर्णता को प्राप्त करने के लिये उन्हें स्थान बदलना पड़ा। साथ ही अब वे डा० बेडोज के संकुचित विचारों व कार्यप्रणाली से भी क्षुब्ध हो गये थे। फलतः फरवरी १८०० में वे ब्रिस्टल छोड़ कर लंदन की श्री काउंट रंफोर्ड द्वारा स्थापित 'रोयल इंस्टीच्यूशन' में रसायन शास्त्र के व्याख्याता श्री गार्नेट के स्थान पर नियत किये गये। यहीं उन्होंने अपने प्रयोगों से रसायन-शास्त्र के भण्डार को नवीन तत्वों, नूतन विधियों व यौगिकों से भर दिया।

बाईस वर्ष की अवस्था का यह व्यक्ति लंदन की प्रसिद्ध संस्था में लोकप्रियता प्राप्त कर सकेगा, ऐसी आशा काउंट रम्फोर्ड को नहीं थी। अतएव अपने संदेह को मिटाने के लिये उन्होंने श्री डेवी को सार्वजनिक व्याख्यान देने की आज्ञा देने से पहले उसका एक 'ट्रायल' लिया था, जिसमें श्री डेवी को आश्चर्यजनक सफलता मिली और फलस्वरूप अप्रेल १८०१ में जब उनका सर्वप्रथम भाषण हुआ, तो सभी लोग चकित हो गये और श्री डेवी ने अपने व्याख्यान से ही लंदन में अपना सिक्का जमा लिया। इस व्याख्यान के उपरांत श्री डेवी को बहुत से बधाई-पत्र, निमंत्रण-पत्र व उपहार मिले थे। आगे चल कर तो श्री डेवी का व्याख्यान सुनने के लिये इतने श्रोता आते थे कि उन्हें बैठने को जगह ही नहीं मिलती थी। इस संस्था में श्री डेवी को अपनी स्थिति दृढ़ करने में दो-तीन वर्ष लगे और उन्होंने इस बीच रसायन-शास्त्र की सभी शाखाओं में निपुणता प्राप्त की और उसके अन्तर्गत विभिन्न विषयों पर भाषण दिये।

सन् १८०३ में उन्होंने वैद्युत-रसायन सम्बन्धी अपना कार्य पुनः प्रारम्भ किया और तीन वर्षों के अन्दर ही संसार के समक्ष श्री डेवी ने अम्ल व क्षार बनाने की वैद्युत विधि प्रस्तुत की और ६ अक्तूबर, सन् १८०७ के दिन प्रयोग करते हुए वैद्युत विधि द्वारा उन्होंने दो नवीन तत्व—सोडियम और पोटेशियम—खोज निकाले। इसी प्रकार अगले वर्षों में उन्होंने स्ट्रोंशियम, मेगनीशियम और बोरोन नामक तीन तत्व और खोज निकाले। विज्ञान के इतिहास में अब तक किसी व्यक्ति ने एक साथ पांच नवीन तत्वों को खोज नहीं की थी पर श्री डेवी की लगन, प्रतिभा और भाग्य ने उन्हें परम अन्वेषक सिद्ध कर दिया। श्री डेवी के समय तक क्लोरिन नामक गैस एक यौगिक-सा समझा जाता था, पर अपने विद्युद्विच्छेदन के सूक्ष्म प्रयोगों द्वारा उन्होंने सिद्ध किया कि क्लोरिन एक स्वतन्त्र तत्व है। उन्होंने क्लोरिन के अध्ययन के साथ कई नवीन यौगिक भी बनाये। सन् १८१० में श्री डेवी का सम्मान करने के लिये डबलिन-समिति ने उसे भाषण देने के लिये निमंत्रित किया। सात-आठ वर्षों के अथक परिश्रम के कारण श्री डेवी को अब आराम की आवश्यकता थी, अतएव उन्होंने 'रोयल इंस्टीटयूशन' का वैतनिक पद छोड़ने का निश्चय किया और सन् १८१२ में जब वह इस संस्था को छोड़ने के पहले अपने व्याख्यानों की अन्तिम प्रति प्रस्तुत कर रहे थे, उन्होंने अपना एक उत्तराधिकारी बालक—जो बाद में चलकर विश्वविख्यात वैज्ञानिक व इसी संस्था का निर्देशक बना, माइकेल फॅराडे-भी खोज निकाला, जिसने अन्तिम

दिनों में श्री डेवी के प्रयोगों व भ्रमणों में पर्याप्त सहायता दी जिसे श्री डेवी ने स्वयं अपने लेखों में स्वीकार किया है।

श्री डेवी ने सन् १८१२ में ३४ वर्ष की अवस्था में एक धनिक विधवा श्रीमती एप्रीस से प्रणय-परिणयन किया। इसके उपरांत ही उन्होंने रोयल-संस्था से वैतनिक अवकाश ले लिया, पर 'ऑनरेरी' कार्य करते रहे। आपकी खोजों से प्रभावित होकर फ्रांस की विज्ञान-समिति ने आपको 'नेपोलियन पुरस्कार' प्रदान किया, जिसे अपने फ्रांस व इंगलैण्ड के युद्धरत होने के बावजूद भी सहर्ष स्वीकार किया। सन् १८१३ में आपने नेपोलियन से विशेष आज्ञा पत्र पाकर फ्रांस का भ्रमण किया, जिसमें आपके साथ श्रीमती एप्रीस व श्री फराडे भी थे। उन्होंने फ्रांसीसी वैज्ञानिकों की समुद्री पौधों पर गंधकाम्ल के प्रभाव से निकलने वाली बैंगनी भापों की समस्या को भी हल किया और बताया कि ये भापें एक स्वतन्त्र तत्व 'आयोडिन' हैं। फ्रांस के अतिरिक्त उन्होंने १।। वर्ष तक इटली, स्विटज़रलैंड व जर्मनी आदि देशों का भी भ्रमण किया, और प्रत्येक देश में आपका उचित स्वागत व सम्मान किया गया।

सन् १८१५ में अपनी यात्रा से लौटने पर उनका ध्यान खदानों में होने वाले विस्फोटों से बचाव की समस्या की ओर आकृष्ट किया गया जिसके फलस्वरूप श्री फराडे की सहायता से १८१६ में उन्होंने 'सुरक्षादीप' का निर्माण कर अगणित श्रमिकों के जीवन-सुरक्षा का साधन प्रस्तुत किया। इस दीप से विस्फोट होने के पूर्व ही श्रमिकों को विस्फोटकारी गैसों की उपस्थिति का ज्ञान हो जाता था। अतएव वे निडर होकर खानों में काम करने लगे। सुरक्षा-दीप, जो आज भी थोड़े-बहुत परिवर्धनों के साथ खानों में प्रयुक्त किया जाता है, श्री डेवी का अन्तिम अनुसंधान था, जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण और मानवहिताय था। इसकी सफलता से प्रभावित होकर खान-मालिकों ने आप को २५०० पाउंड भेंट किये जो उन्होंने 'रोयल संस्था' को, रसायन शास्त्र विषयक खोज करने के लिये वार्षिक 'डेवी विजय चिन्ह' प्रदान करने के लिये समर्पित कर दिये। श्री डेवी के इस अनुसंधान के कारण अक्तूबर १८१८ में उन्हें 'बैरोनेट' की उपाधि प्रदान की गई एवं अब तो वे रोयल संस्था के अध्यक्ष भी थे।

ब्रिस्टल में विषैले गैसों के साथ किये प्रयोगों और तदुपरांत किये गये अथक परिश्रम और यात्राजन्य कष्टों का शारीरिक फल श्री डेवी के लिये अब असह्य प्रतीत होने लगा। अतएव सन् १८१८ के बाद वे अपनी विज्ञान सेवा से पुनः विरत हो गये। उनका स्वास्थ्य दिनों दिन गिरने लगा और वे अब सार्वजनिक सेवाओं से भी विरत होकर एकान्त जीवन बिताने लगे। इस समय काव्य-लेखन और मछली के शिकार में अधिक अभिरुचि रखने लगे। अन्तिम समय में उन्होंने (१) मछली-शिकार के दिन और (२) दार्शनिक के अन्तिम दिन नामक दो पुस्तकें लिखीं, जो पर्याप्त लोकप्रिय हुई। उनका देहान्त २९ मई १८२७ को, लगभग ५१ वर्ष की अवस्था में, जेनेवा में हुआ। असमय में ही उनकी मृत्यु से विज्ञान संसार उनकी अमूल्य सेवाओं से वंचित हो गया।

श्री डेवी के संक्षिप्त जीवन से हमें उनकी अद्वितीय एवं मौलिक प्रतिभा का स्पष्ट भान होता है। अपने अन्वेषणों के कारण निश्चय ही वे अपने युग के सर्वश्रेष्ठ रसायनवेत्ता थे। साधारणतः उनका स्वभाव मनोरंजक था, पर अपनी सफलताओं के कारण उनमें कुछ अभिमान का समावेश हो जाना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। इस तथ्य का ज्ञान हमें तब होता है जब अन्तिम समय में उन्होंने श्री फराडे के कार्यों की मौलिकता में संदेह उत्पन्न कराया था एवं उसे 'रोयल संस्था' में नौकरी न देने का प्रयत्न किया था। श्री डेवी विज्ञान को अन्तर्राष्ट्रिय और शान्ति का प्रतीक मानते थे। इसका प्रमाण है उनके द्वारा फ्रांस-प्रदत्त पुरस्कार की स्वीकृति, जिसके कारण उन्हें इंग्लैंड वासियों की आलोचना भी सुननी पड़ी थी। सचमुच ही श्री डेवी की खोजें और सेवायें उन्हें चिरकाल तक मावन मात्र का हितैषि घोषित करती रहेंगी।

प्रोफेसर वेस्ट

श्रीकृष्ण चन्द्र दुबे, एम० एस-सी०, एफ० पी० एस० भौमिक विज्ञान विभाग, सागर विश्वविद्यालय, (म० प्र०)

प्रोफेसर वेस्ट ने १६ जनवरी १६५५ से सागर विश्व-विद्यालय में भौमिक विज्ञान विभाग में प्रोफेसरशिप का आसन ग्रहण किया है। भौमिक विज्ञान विभाग का और विश्वविद्यालय का यह सौभाग्य है कि निर्माण की इस अवस्था में इन्हें प्रोफेसर वेस्ट का सहयोग प्राप्त होगा। प्रस्तुत लेख में प्राफेसर वेस्ट को 'विज्ञान' के पाठकों से परिचित कराने का प्रयास है। यों तो एक रूप से यह प्रयास हास्यास्पद है क्योंकि प्रोफेसर वेस्ट का भारतीय वैज्ञानिक जगत से इतना अभिन्न सम्बन्ध है कि वे हमारे देश के वैज्ञानिक ही हैं; परन्तु 'विज्ञान' के नये पाठकों को एक छोटा सा चित्र दिखाने के उद्देश्य से मैं इस लेख को लिखने का साहस कर सका हूँ।

प्रोफेसर वेस्ट का पूरा नाम है—विलियम डिक्सन वेस्ट। डब्लू० डी० वेस्ट का जन्म इंग्लैंड में सन् १६०१ में हुआ था। उनकी शिक्षा किंग्स स्कूल, कैंटरबरी और सेंट जॉन कालेज, कैंब्रिज में हुई थी। वेस्ट ने कैंब्रिज विश्वविद्यालय का 'नेचरल साइंस ट्राइपॉस'—भौमिक विज्ञान, खनिज विज्ञान और रसायन शास्त्र लेकर पास किया और प्रत्येक विषय में उन्हें प्रथम श्रेणी प्राप्त हुई। प्रथम भाग में उन्हें भौमिक विज्ञान में 'विल्टशायर पारितोषिक' (Wiltshire Prize) प्राप्त हुआ और द्वितीय भाग में उन्होंने हार्कनेस स्कालरशिप (Harkness Scholarship) प्राप्त की। श्री वेस्ट को कैंब्रिज विश्वविद्यालय में प्रोफेसर अलफ्रेड हारकर के निर्देशन में शिक्षा प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था और प्रोफेसर हारकर ने उस समय इन्हें बहुत प्रेरणा दी। भौमिक-विज्ञान के विद्यार्थी जानते हैं कि प्रोफेसर हारकर का हमारे विज्ञान में क्या स्थान है। श्री वेस्ट को उस विद्यार्थी-जीवन में हारकर की दो पुस्तकों—"नेचरल हिस्ट्री आफ इगनियस राक्स" और "टरशियरी इगनियस राक्स आफ स्काय" ने काफी प्रभावित किया और आज भी वे इस प्रभाव को अनुभव करते हैं और उस विभूति के प्रति कृतज्ञ हैं।

श्री वेस्ट कैंब्रिज से बी० ए० पास करने के बाद भारतीय-भू समीक्षा-विभाग (Geological Survey of India) में दिसम्बर १६२३ में असिस्टेंट सुपरिन्टेन्डेन्ट की हैसियत से आये। यहाँ भी भाग्यवश उन्हें डाक्टर एल० एल० फरमोर के साथ काम करने को मिला। डाक्टर फरमोर (बाद में सर हुए, मई सन् १६५४ में स्वर्गवासी हुए) का स्थान भारतीय भूवैज्ञानिकों में अग्रणी है और भारतीय शिलाओं से वेस्ट का परिचय कराने का श्रेय डाक्टर फरमोर को है। डाक्टर फरमोर का मुख्य आकर्षण मध्य-प्रदेश की शिलाएँ थीं और मध्य-प्रदेश में ही श्री वेस्ट के भौमिक-कार्य का श्री गणेश हुआ। इसके बाद मध्य-प्रदेश की शिलाओं के प्रति जो आकर्षण हुआ, वह उनके साथ हमेशा रहा और वही आकर्षण उन्हें सागर विश्वविद्यालय में भी ले आया। मध्य-प्रदेश में श्री वेस्ट ने १३ वर्ष तक कार्य किया और उनका सबसे महत्वपूर्ण अनुसंधान नागपुर के पास 'नैपी' की खोज थी। उनके अनुसंधान कार्य पर हम थोड़े बाद विचार करेंगे।

श्री वेस्ट भारतीय भू-तात्विक समीक्षा के २६ दिसम्बर १६४५ को डाइरेक्टर हो गये। इनकी डायरेक्टरशिप के काल में ही भारत को स्वतंत्रता मिली। श्री वेस्ट ने स्वतंत्र भारत की आवश्यकताओं को देखते हुए तथा एक स्वतंत्र देश में भू-तात्विक समीक्षा का क्या रूप होना चाहिये—इस आधार पर इस विभाग का पुनः निर्माण किया। उन्होंने ही सर्व-प्रथम नये विभागों की स्थापना भी की—जैसे कि—इंजीनियरिंग जियॉलाजी विभाग, ग्राउंड-वाटर जियॉलाजी विभाग आदि। भारत में इन विभागों की आवश्यकता थी—क्योंकि शीघ्र ही बृहद जल-योजनाओं की नींव पड़ी

और इन विभागों ने स्वतंत्र भारत के कार्य में पूर्ण सहयोग दिया।

जहाँ तक वेस्ट के अनुसंधानों और अन्वेषणों का प्रश्न है, वे बहुत ही उच्च स्तर के अन्वेषण हैं। उनके 'रिसर्च-पेपर' गणना में तो कम हैं पर उनका प्रकार और स्टैन्डर्ड बहुत ऊँचे दर्जे का है। इस समय भारत के नव-वैज्ञानिकों में रिसर्च-पेपर प्रकाशित करने की एक सनक सवार हुई है और कई ऐसे पेपर प्रकाशित हो रहे हैं जिन्हें कतई अनुसंधान-कार्य नहीं कहा जा सकता। फलस्वरूप आज जहाँ तक प्रकाशित पेपरों के नम्बर का सवाल है, हमारे कई मित्र २० और २५ के नीचे नहीं उतरते, किंतु उन पेपरों का स्टैन्डर्ड, उनका प्रकार (Quality) बहुत ही साधारण है। इस दिशा में नये और युवक वैज्ञानिकों को श्री वेस्ट की ओर देखना चाहिये जिन्होंने कभी भी इस नम्बर की ओर ध्यान न दिया, केवल अनुसंधान के उच्च स्तर की ओर ही लगे रहे। श्री वेस्ट के मुख्य अनुसंधानों में से प्रमुख हैं—(१) मध्य-प्रदेश की आर्कियन शिलाओं पर कार्य। इस कार्य के अंतर्गत सबसे बड़ा कार्य जो उन्होंने किया है वह है नागपुर के पास "देवलापार नैपी स्ट्रक्चर" (Deolapar Nappe) की खोज! भौमिक विज्ञान में यह 'नैपी' रचना शिलाओं की बड़ी ही क्लिष्ट रचना है और इसका विश्लेषण बहुत ही कठिन है। (२) इसी प्रकार एक और विश्लेषण और खोज इन्होंने की है हिमालय में [illegible] पर शाली पहाड़ में 'शाली विन्डो' (Shali window) रचना की खोज की। (३) बलूचिस्तान भू-कंप, १९३१ की जाँच के लिये श्री वेस्ट को भेजा गया था (४) उनके इस कार्य को देखकर फिर से सन् १९३५ में क्वेटा भू-कंप के कारण और परिणाम की जाँच के लिये भेजा। (५) नागपुर के पास की शिलाओं स्ट्रीकी नाइसेस (Streaky Gneisses) की उत्पत्ति पर श्री वेस्ट ने एक बहुत महत्वपूर्ण पेपर लिखा है। ६) काठियावार के ट्रैप (trap) लावा पर उनका कार्य चल रहा है।

उनके अनुसंधानों पर कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय ने उन्हें 'डाक्टर आफ साइंस' (Sc. D. की डिग्री से विभूषित किया है। सन् १९५१ में डाक्टर वेस्ट को जियालॉजिकल सोसाइटी आफ लंडन (Geological Society of London) ने 'लायेल मेडल' (Lyell Medal) प्रदान किया। इस मेडल को प्रदान करते हुए उक्त सोसाइटी के प्रेसीडेन्ट ने कहा था:—

"जियॉलाजिकल सोसाइटी की काउंसिल ने डाक्टर डब्लू० डी० वेस्ट को यह पदक उनके भारत की आर्कियन शिलाओं पर अनुसंधान के लिये तथा उनकी भारतीय भू-तात्विक समीक्षा के प्रति सेवाओं के लिये, प्रदान किया है।" प्रेसीडेन्ट ने आगे कहा—"हमारा विश्वास है कि डाक्टर वेस्ट भारतवर्ष से अपना सम्बन्ध रखना चाहते हैं जिससे वे हिमालय में अपना अनुसंधान जारी रखें—।" डाक्टर वेस्ट को अफगान सरकार ने 'अफगानिस्तान का सितारा' नामक पदक प्रदान किया। डाक्टर वेस्ट ने युद्ध काल में उत्तरी अफगानिस्तान के कोयला क्षेत्रों का पर्यवेक्षण किया था।

'विज्ञान' के बहुत से पाठक जानते होंगे कि भारत में विज्ञान की नींव और उसकी उन्नति के साथ डाक्टर वेस्ट का कितना अभिन्न सम्बन्ध है। भारत की प्रायः प्रत्येक वैज्ञानिक संस्था से उनका सहयोग रहा है। भारतीय विज्ञान कांग्रेस (Indian Science Congress) के सन् १९३८ तक वे ६ वर्ष जनरल सेक्रेटरी रहे और उसके भौमिक-विज्ञान सेक्शन के १९३६—३७ में प्रेसीडेन्ट रहे। नेशनल इंस्टीट्यूट आफ साइंसेज, इण्डिया—(National Institute ot Sciences of India) के वे आरम्भ से ही 'फेलो' हैं तथा दो बार उसके वाइस-प्रेसीडेन्ट भी हो चुके हैं। वे 'रायल एशियाटिक सोसाइटी आफ बेंगाल' (Royal Asiatic Society of Bengal) के भी फेलो हैं तथा जियालाजिकल माइनिंग और मेटालरजिकल सोसाइटी आफ इण्डिया के भी फेलो हैं इस संस्था (Geological Mining and Mettallurgical society of India) के १९५०—१९५१ के वे प्रेसीडेन्ट भी थे तथा तत्पश्चात् संस्था की कांउसिल के मेम्बर हैं। जियालाजिकल सोसायटी आफ लंडन के भी फेलो डाक्टर वेस्ट हैं। प्रेसीडेन्सी कालेज, कलकत्ता विश्वविद्यालय, में डाक्टर वेस्ट १९३२—३४ में प्रोफेसर आफ जियालाजी थे प्रोफेसरशिप के उस काल में तथा अभी जब वे सागर विश्वविद्यालय भौमिक-विज्ञान

विभाग के प्रोफेसर तथा अध्यक्ष हैं, प्रोफेसर वेस्ट विद्यार्थियों के बहुत प्रिय हैं। उन्हें विद्यार्थी बेहद चाहते हैं और वे भी उनसे उसी प्रकार का बर्ताव रखते हैं।

प्रोफेसर वेस्ट के मन में भारत के प्रति बड़ी श्रद्धा और आकर्षण है। भारतीय भूतात्विक समीक्षा से रिटायर्ड होने के बाद उनकी इच्छा यहाँ एक 'भौमिक-अनुसंधान केन्द्र' (Geological Research Institute) खोलने की थी, पर कुछ कारणों से वह फलीभूत न हो पायी। अभी वे कहते हैं कि एक 'आश्रम' खोलना चाहिये जहां भौमिक-विज्ञान के विद्यार्थी इस विज्ञान का गहरा अध्ययन कर सकें। 'लायेल पदक' की प्राप्ति के बाद उन्होंने कहा था—

"अध्यक्ष महोदय !"

जियालाजिकल सोसायटी के मंत्री ने कलकत्ता में मुझे उदारतापूर्वक तार द्वारा सूचित किया कि सोसायटी ने मुझे लायल-पदक से पुरस्कृत किया है। यह सूचना मुझे अर्धरात्रि के उस मुहूर्त में प्राप्त हुई जबकि 'भारतीय भूतात्विक समीक्षा' का शताब्दी महोत्सव मनाया जा रहा था।

यह एक सुखद संयोग था और यह मुझे गौरवपूर्ण स्मरण दिलाता है कि १८७५ से, जबकि इस पदक की स्थापना हुई, अब तक भारत में कार्य करने वाले ६ भौमिक वैज्ञानिकों को यह पदक पुरस्कृत किया जा चुका है—श्री वारोन, मेकमहान, लिडेकर, ओल्डहैम, मिडिलमिस और वाडिया—और इन वैज्ञानिकों के कार्यों का इस सुअवसर पर हम स्मरण कर रहे हैं।

महानुभाव, आपने कृपापूर्वक मेरे उस अल्पकार्य का विवरण दिया है जो मैंने भारतीय भूशास्त्र के प्रोत्साहन-हेतु किया है, किन्तु मुझे शंका है कि आपने यह भी अनुभव किया होगा कि मैं इसके लिये कितना भाग्यवान रहा हूँ।

प्रथम तो यह कि मुझे भारत में अनेकों मनोरंजक भौमिक समस्याओं के क्षेत्र में कार्य करने का अवसर मिला और दूसरे मुझे अनेकों भारतीय भौमिक-वैज्ञानिकों का सहयोग उपलब्ध रहा।"

वे आगे कहते हैं—"कुछ काल के शासकीय कार्य के पश्चात् अब मैं भारतीय भूशास्त्र के अन्वेषण-कार्य में पुनः संलग्न होऊँगा और इस स्वर्ण-पदक का पुरस्कार अपने भविष्य के कार्य में सतत प्रेरणा देगा।" १

भारतीय-भूतात्विक समीक्षा के शासकीय कार्यों के कारण श्री वेस्ट को स्वयं अन्वेषण के लिये कम समय मिलता था और उनकी यह इच्छा थी कि इस कार्य से अवकाश प्राप्त करने के पश्चात् वे अपना पूर्ण समय अन्वेषण में लगाएँ। उनकी यह इच्छा पूर्ण हो गई है और सागर विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों का सौभाग्य है कि प्रोफेसर वेस्ट का निर्देशन उन्हें प्राप्त होगा।

———

१ श्री वेस्ट के इस पत्र का अनुवाद लेखक ने किया है और त्रुटियों के लिये वह स्वयं उत्तरदायी है।

गुलाबी तामचीनी का निर्माण

गुलाबी रंग की तामचीनी (भारतीय पेटेन्ट, नं० ४६, ८३७, २—जुलाई, १६५३) साइनबोर्डों और सजावटों के लिये बहुत पसंद की जाती है। परन्तु पिछले दिनों में उसका बनाना महंगा पड़ने लगा और इसलिये उसका प्रचार कम होता जा रहा है। गुलाबी तामचीनी बनाने के लिये सेलेनियम या कैडमियम के लाल रंग, सोने के रंग और क्रोम-टिन के गुलाबी रंग इस्तेमाल किये जाते हैं। सेलेनियम या कैडमियम के रंग, अधिक देर तक गर्मी नहीं सह पाते और पकाने में जल जाते हैं। यदि से रंग हल्के लगाये जाते हैं तो यह कठिनाई विशेष रूप से सामने आती है। जिन तामचीनियों के मसाले से सीसा मिला होता है उसके साथ ये रंग भद्दे पड़ जाते हैं। इनके अतिरिक्त सेलेनियम एक महँगी वस्तु है और कभी भी अप्राप्य हो सकती है। सोने के रंग महंगे पड़ते हैं। और पकाने के तापमान के कम अधिक हो जाने से उनमें अंतर पड़ जाता है। क्रीम-टिन के गुलाबी रंगों पर क्षारों का असर पड़ता है। उससे बचाने के लि मसालों में कैलशियम के संयुक्त मिलाये जाते हैं। इन रंगों को बनाने के लिये मसाले को लगभग १२८०° से० पर भूनना होता है और तापमान का नियंत्रण बारीकी से करना होता है।

गुलाबी तामचीनी बनाने के सम्बन्ध में जो कठिनाइयाँ सामने आती हैं उनको हल करने के लिये कलकत्ते के केन्द्रीय काँच और मिट्टी-शिल्प अनुसंधान शाला में खोज-बीन की गयी है। यह पाया गया है कि गुलाबी रंग की तामचीनी बनाने के लिये मैंगनीज डाय आक्साइड का उपयोग किया जा सकता है। अब तक मैंगनीज डाय आक्साइड का उपयोग केवल कत्थई रंग पैदा करने के लिये किया जाता था। गुलाबी रंग बनाने के लिये उसका इस्तेमाल एक नवीन आविष्कार है। इस विज्ञान-शाला में जो काम किया गया है उसमें मैंगनीज डाय आक्साइड का इस्तेमाल करके हल्की गहरी कई प्रकार की गुलाबी तामचीनियाँ तैयार की गई हैं। इन तामचीनियों की विशेषतायें निम्नलिखित हैं।

(१) इन तामचीनियों में रंग देने वाला पदार्थ केवल मैंगनीज डाय आक्साइड होता है (२) तामचीनी को फफोलों, बुन्दकियों, छेदों और धब्बों से बचाने के लिये मैंगनीज डाय आक्साइड को टिन आक्साइड जैसे महंगे पदार्थ के साथ मिलाकर भूनना नहीं पड़ता। (३) कैल्शियम के संयुक्तों का इस्तेमाल नहीं करना पड़ता; इससे धब्बे पड़ने का खतरा जाता रहता है। इन मसालों को सीधा तामचीनी के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है। इनमें फ्लोराइड मिलाने की आवश्यकता नहीं होती। (४) इस तामचीनी के लिये आवश्यक सब कच्चा माल देश में आसानी से मिल जाता है। इस तामचीनी पर लागत पहले से बहुत कम आती है।

गुलाबी तामचीनी बनाने की क्रिया और मसाले के विवरण वैज्ञानिक और औद्योगिक गवेषणा परिषद की मुख पत्रिका 'विज्ञान प्रगति' के फरवरी ५५ के अंक में दिये गये हैं।

मनोविज्ञान शब्दावली

श्री पुत्तन लाल विद्यार्थी

(गत अंक से आगे)

Fluctuation विचलन (बं०), विलोलन
Focus रश्मिकेंद्र, नाभि
Folk-psychology लोक मनोविज्ञान
Force बल (बं०)
Forced बाध्य
Form आकार
Formal विधिवत (बं०)
Formation गठन (बं०), बनावट
Formula सूत्र, गुर
Free स्वतंत्र (बं०) स्वच्छन्द (बं०), मुक्त
Free nerve-ending मुक्त-स्नायु-छोर
Free-will संकल्प-स्वातंत्र्य
Frequency आवृत्ति
— curve आवृत्ति-वक्र रेखा
Fright भीति
Fulcrum आलंब (बं०
Function वृत्ति (बं०), व्यापार
Functional व्यापारीक, वार्त्तिक
Fundamental आधारित, मूल, मुख्य
Gait गति-भंगी (बं०)
Ganglia ग्रंथि-समूह
Gastitutary imagery जठररस-कल्पना
Generalization सामान्यीकरण, व्याप्ति
Genearl psychology सामान्य मनोविज्ञान
Generic जाति-सम्बन्धी
Genesis उत्पत्ति (बं०)
Genetic method जनन पद्धति
Genius प्रतिभा (बं०), प्रतिभावान्
Genus जाति, वर्ग
Gesture अंग भंगी (बं०), अंग-विक्षेप
Giddiness भ्रमि, घुमनी
Gland ग्रंथि (बं०), गिल्टी
Gravity गुरुत्व, गंभीरता
Gregariousness यूथचारिता, सहचारिता
Ground अधिष्ठान
Group गण, समूह, संहति (बं०)
Growth वृद्धि (बं०)
Goitre घेघा
Guardian of sleep निद्रारक्षक (बं०
Gum दतमांस; मसूढ़े
Gustatory स्वाद सम्बन्धी, रासन
Habit आदत, अभ्यास (बं०)
Habituation अभ्यासीकरण (बं०)
Hallucination अमूलप्रत्यक्ष (बं०) माया
Handwriting हस्तलेख
Hammer हथौड़ा
Harmony संगत, सुस्वनता, सुस्वरता, स्वरमेल
Hate द्वेष (बं०), घृणा
Heart हृदय
Heart muscle हृदय पिंड, हृदय पेशी
Hedonism प्रेयोवाद (बं०), सुखवाद, सौख्यवाद
Hereditary जन्मजात, वंशगत (बं०)
Heredity जन्म आनुवंश, वंश गति
Homogeneous सम्मिश्रीय, समावयवी
Hormic psychology इच्छावादी मनोविज्ञान
Hormone नालिकाविहीन ग्रन्थि रस

Hue रंग, वर्णमात्र
Human मानवीय (बं०), मानव (बं०)
Humanitarian मानव-प्रेमी, पर हितैषी
Humanity मानवता (बं०)
Hypnosis संवेशन (बं०), कृत्रिम निद्रा
Hypnotic कृत्रिम निद्राकारक (बं०), कृत्रिम निद्रित
Hypnotism सम्मोहन
Hypothesis प्रकल्प (बं०)
Hysteria मूर्च्छारोग विशेष
Id वासना, अदस् (बं०), मूलप्रवृत्तिज कामना
Idea प्रत्यय
Ideal आदर्श
Idealism आदर्शवाद
Ideation चिंतन, विचार
Ideational behaviour चिंतन व्यवहार
Identification अभेद, एकात्मता
Identify एकात्मीकरण, पहिचानना
Ideologist आदर्शवादी
Idiocy जड़ता, जड़धीता (बं०)
Idiot जड़धी (बं०), मूढ़
Illusion अध्यास (बं०), भ्रम
Illustration उदाहरण (बं०), दृष्टान्त (बं०)
Image प्रतिमा, प्रतिरूप (बं०), प्रतिबिंब
Imageless thought प्रतिमारहित विचार, अप्रतिरूप चिंता
Imagery कल्पना-सृष्टि
Imagination कल्पना
Imbecile अल्पमति
Imitation अनुकरण
Immediate अव्यवहित (बं०), तत्कालीन
Immorality दुर्नीति (बं०), दुराचार
Impersonal अवैयक्तिक, नैर्व्यक्तिक (बं०)
Impression धारणा (बं०), प्रभाव (बं०), छाप
Improvement उन्नति (बं०), सुधार
Impulse आवेग, उत्संग
Impulsive आवेगज (बं०)
Inactive निष्क्रिय, निरुपक्रम (बं०)
Inadequate stimulus असमर्थ उत्तेजन, असमर्थ उद्दीपक (बं०)
Inattention अमनोयोग (बं०), अनवधान
Incentive प्रयोजक (बं०)
Incidental memory प्रासंगिक स्मृति (बं०)
Incipient उपक्रान्त (बं०), आरंभिक
Incompatible असंगत
Inconsistency असंगति (बं०)
Independent स्वतंत्र (बं०)
Index निर्देशक, सूची, अनुक्रमणिका
Indicator सूचक
Indirect vision असाक्षात दृष्टि
Individualism व्यक्तिवाद (बं०)
Individual psychology वैयक्तिक मनोविज्ञान
Induction आगमन, उपगम (बं०) उपपादन
Induction coil आवेश-कुंडली (बं०), उपपादन वेष्टन
Industrial psychology औद्योगिक मनोविज्ञान, व्यापार मनोविज्ञान
Inertia जाड्य (बं०), जड़त्व
Infant शिशु (बं०)
Infantilism अपोगंडता (बं०)
Inference अनुमिति (बं०), अनुमान
Inferiority हीनता
Inferiority Complex हीनता-भाव ग्रंथि
Infinity आनंत्य, अमेयता (बं०)
— , regression to अनावस्था
Inherence अधिष्ठान
Inherit वंशानुगत प्राप्तीकरण, वंशानुगत मिलना
Inheritance उत्तर लब्धि
Inherited वंशानुसृत
Inhibition बाध (बं०), स्तम्भन
Inhibitory impulse बाधकावेग
Innate नैसर्गिक, सहजात
Innervation स्नायु-संस्थान

Insanity उन्माद, विक्षिप्तता
Insight परिज्ञान (बं०)
Inspection निरीक्षण
Inspiration आंतरिक प्रेरणा
Instinct सहज प्रवृत्ति (बं०), अन्ध प्रवृत्ति
— sexual सहज योनि प्रवृत्ति
Instinctive साहजिक (बं०)
Institute प्रतिष्ठान (बं०, संस्था
Instrument यंत्र (बं०) औज़ार
Insulator अंतरिक (बं०)
Integrated सम्पूरित (बं०), अनुकलित
Intellect बुद्धि; सम्वित्
Intellectual बौद्धिक
Intellectualism बुद्धिवाद
Intelligence मेधा
— quotient मेधांक
— test मेधा-परीक्षा
Intensity तीक्ष्णता (बं०), तीव्रता
Interaction पारस्परिक क्रिया
Interest रुचि, शौक
— keen अभिरुचि
Interference व्यतिचार (बं०)
Intermediate मध्यवर्ती (बं०)
Internal organ अंतरांग
Interpretation व्याख्या (बं०)
Interrupted line छिन्न रेखा (बं०)
Intricate गहन, जटिल
Introjection अंतः क्षेप (बं०)
Introspection अंतर्दर्शन (बं०)
Introversion अंतर्वृति
Introvert अंतर्मुखी, अंतर्वृत
Inversion विपर्यय बं०
Involuntary अनैच्छिक (बं०).
Intuition स्वज्ञा (बं०), अंतर्ज्ञान
Irradiataion उद्योतन
Irrelvant अप्रासंगिक (बं०)
Itch (sensation) कंडु (संवेदन) (बं०)
Jealous ईर्षी (बं०) ईर्ष्यी
Jealousy ईर्ष्या
Jerk झटका
Joint जोड़, संधि (बं०)
Joy आह्लाद (बं०)
Judgement निर्णय, सिद्धांत बं०)
— poor अल्प निर्णय शक्ति
Junction संयोग, सम्मिलन
Just न्यायसंगत, न्याय्य
Justice न्याय (बं०)
Justifiable समर्थनीय (बं०)
Justification प्रमाण (बं०), समर्थन
Juxtaposition सन्निधि बं०)
Kaleidoscope विचित्रदृक् (बं०), बहुरूपदर्शक
Katabolism अपचिति (बं०)
Kinaesthesis चेष्टावेदन (बं०)
Kindergarten किंडरगार्टन
Kindred स्वजातीय (बं०)
Knee-jerk जानु-क्षेप (बं०)
Knowledge ज्ञान (बं०), जानकारी
Laboratory प्रयोगशाला (बं०)
Lamina पत्र
Language भाषा
Latency लीनता (बं०), अस्फुटता बं०), गुप्तता
— period लीनता-काल
Latent लीन (बं०), अस्फुट
Lateral पार्श्वीय (बं०)
Laterally पार्श्वतः
Laughter हास, हँसी
Law नियम, विधि
Law of parsimony लाघव नियम
Layer स्तर (बं०)
Iearn सीखना
Learning विद्वत्ता, शिक्षा
Learning curve विद्वत्ता-चक्र-रेखा, शिक्षा-चक्र-रेखा

Learning method शिक्षा-पद्धति (बं०)
Lens ताल
Lethargy सुस्ती
Level समतल, अनुभूमिक
Libidinal कामज (बं०)
Libido काम-शक्ति (बं०)
Life जीवन (बं०)
Like पसंद
Limit सीमा, अवधि, हद
Limit lower निचली सीमा, निम्न सीमा (बं०)
Limit upper ऊर्ध्व सीमा
Limiting ratio सीमांत निष्पत्ति
Linguistics भाषा-विद्या (बं०)
Load भार (बं०)
Local स्थानीय (बं०)
Logic तर्क-शास्त्र, तर्क, आन्वीक्षिकी
Love प्रेम
Lust काम-लिप्सा
Machine कल
Magic जादू, इंद्रजाल (बं०)
Magnet चुम्बक
Magnet electro तड़ित चुम्बक
Magnetize चुम्बककरण
Magnetization चुम्बकीकरण, चुम्बकत्व (बं०)
Magnitude मात्रा, विस्तार
Major प्रधान, प्रमुख बालिग
Majority बहुपक्ष, बालिग होन
Make-up वेष-धारण
Mania एक विषयाशक्ति
Materialism जड़वाद (बं०)
Matter पुद्गल, पदार्थ
Maturation परिपाक (बं०), प्रौढ़ता
Mature परिपक्व प्रौढ़
Maturity परिपक्वता, प्रौढ़ता
Maximum चरम, बृहत्तम (बं०), महत्तम
Mean समक (बं०), औसत, मध्य
Mean deviation समक व्यत्यय
Mean error, the method of समक-त्रुटि पद्धति
Mean variation समक-विपर्यय, समक-भिन्नता
Meaning अर्थ (बं०)
Measurement मापन
Mechanical यांत्रिक (बं०)
Mechanics यंत्र विज्ञान
Mechanism यंत्र-रचना
Median मध्यक (बं०), माध्यक
Meditation ध्यान
Medulla oblongata सुषुम्ना शीर्षक (बं०)
Melancholia विषाद-रोग
Melancholy विषाद (बं०)
Melody स्वरमेल, पूर्वापर स्वर मेल, सुतान (बं०)
Membrane झिल्ली (बं०)
Memory स्मृति
Memory apparatus स्मृति-यंत्र
Memory image स्मृति-प्रतिमा
Memory residue स्मृति-शेष (बं०)
Memory note आवृत्तीय स्मृति (बं०), रटंत स्मृति
Memory span स्मृति-प्रसर (बं०)
Menopause ऋतुक्षय
Mental fatigue मानस क्लान्ति
Mentality मानसता (बं०)
Mental science मानस विज्ञान (बं०)
Mental second wind मानसिक शक्ति की पुनरावृत्ति
Mental work मानसिक क्रिया, मानस क्रिया (बं०)
Mesmerism सम्मोहन
Metabolism विपाक (बं०)
Metaphysical उद्वैज्ञानिक
Metaphysics उद्विज्ञान
Method पद्धति (बं०), रीति
Metronome मात्रामापक (बं०)
Microscope अनुवीक्षण यंत्र (बं०), सूक्ष्मदर्शक यंत्र
Migration अभिप्रयाण
Migratory अभिप्रयाणीय (बं०)

Mind चित्त, मन (बं०)
Minimum अल्पतम
Minor अप्रधान, अप्रमुख
Mirror दर्पण (बं०) शीशा
Misogynist स्त्री-द्वेषी (बं०)
Mixture मिश्रण (बं०)
Mob असंयत-जनसमूह
Model प्रकारीय (बं०)
Mode प्रकार
Modesty शालीनता
Monad ईश्वरांश, मूल जीव, चिद्बिन्दु
Monism अद्वैतवाद, एकवाद
Monogamy एक पत्नीत्व
Monoplane एक तल (बं०
Monotony एकान्वय (बं०)
Mood मानसिक वृत्ति, मिजाज (बं०)
Moral नैतिक (बं०), सदाचारी
Moron बुद्धू
Morality सदाचारिता, नैतिकता
Morbid व्याधित (बं०)
Motion गति (बं०)
Motivation प्रेषण (बं०), प्रोत्साहन, प्रयोजनीयता
Motive हेतु, प्रयोजन
Motor गतिवाही
Motor area गति क्षेत्र, चेष्टाधिष्ठान (बं०)
Motor nerve बहिर्मुखी स्नायु
Movement चलन, गति
Multiple बहु (बं० , नाना (बं०)
Muscle मांसपेशी
Muscle sense पेशीय वेदन (बं०)
Muscular reaction पेशीय प्रतिक्रिया
Mutation अचानक परिवर्त्तन
Mutual पारस्परिक, परस्पर (बं०)
Mystic अतीन्द्रिय ज्ञानी
Mysticism अतीन्द्रियवाद (बं०), अतीन्द्रिय ज्ञान
Myth अतिकथा (बं०), कल्पित कथा, पुराण
Narcissism स्वकाम (बं०), स्वरूप मोहित
Natural प्राकृतिक (बं०), नैसर्गिक (बं०), स्वाभाविक (बं०)
Natural selection-Law of प्राकृतिक चयन नियम
Natural reaction प्राकृतिक या स्वाभाविक प्रतिक्रिया
Natural sciences प्राकृतिक विज्ञान
Naturalism प्रकृतिवाद (बं०)
Nature प्रकृति (बं०), स्वभाव, निसर्ग (बं०)
Necrophilia शवकाम (बं०)
Negation अत्यंताभाव (बं०), निषेध
Negative उल्टा, नञर्थक (बं०) ऋणात्मक
Neglect उपेक्षा
Nerve स्नायु
Nerve cell स्नायु-कोष, स्नायुघटक
Nerve sympathetic स्वतंत्र स्नायु
Nervous system स्नायु-तंत्र, नाड़ी तंत्र
Neural स्नायवीय, स्नायुज
Neurasthenia स्नायविक अवसाद (बं०)
Neurology स्नायु-विज्ञान
Neurone स्नायु-कोष
Neurosis स्नायु रोग
Noise रव (बं०), शोर
Nominalism नामवाद
Nonsense प्रलाप (बं०)
Norm स्वमिति (बं०)
Normal स्वमित (बं०), स्वभावी (बं०)
Normality स्वभाविता (बं०), नैसर्गीय
Nesogenic रोग-जनक (बं०)
Noumenal तात्त्विक, पारमार्थिक
Nous प्रज्ञा, अन्तर्दृष्टि
Nursing रोगि-सेवा, उपचार
Nutrition पुष्टि (बं०)
Nutritive पौष्टिक, पुष्टिकर (बं०)
Nymphomania अप्सरासक्ति
Object उद्देश, पदार्थ (बं०), वस्तु (बं०)

Objective वस्तुगत, विषयात्मक, स्व-रहित, निःस्व
Objective attitude वस्तुगत दृष्टिकोण, विषय प्रतिन्यास (बं०)
Objective method वस्तुगत पद्धति,
Objectivisim वस्तुवाद
Observation अवेक्षण (बं०), पर्यवेक्षण (बं०)
Obsession आवेश (बं०)
Obsessional psychonourosis आवेशिक स्नायु-रोग
Obstruction बाधा
Occupational वृत्तीय (बं०)
Olfactory घ्राणज (बं०)
Ontology तत्व विद्या (बं०)
Operator चालक (बं०)
Opposite विरुद्ध (बं०), विपरीत
Optic nerve दृक् स्नायु
Organ अंग, अवयव (बं०)
Organic आंगिक, ऐंद्रीय अवयवीय
Organization संघटन (बं०), अवयवीकरण
Organism अंगी अवयवी
Orgasm रागमोचन
Outer बाह्य, वाह्य (बं०)
Outline रूपरेखा परिलेख (बं०)
Output उपज, उत्पत्ति
Over-determination अतिलक्ष्य (बं०), अति-निश्चय
Over-estimation अतिमान (बं०), अत्यनुमान
Overlapping अधिक्रमण (बं०)
Overtone उपस्वन (बं०)
Pain (as feeling) दुःख (बं०), व्यथा
Pain (as sensation) पीड़ा
Pain (spot) कष्ट-स्थान
Paired comparison युग्म तुलना
Palm हथेली. करतल (बं०)
Panpsychlism सर्व मनोवाद (बं०)
Pantheism सर्वेश्वरवाद
Paradox कूटाभास (बं०), कूट (बं०), विरोधाभास
Paraoesthesia अपवेदन (बं०)
Parallelism सहचारवाद (बं०) समानान्तरवाद
Parathyroid उपचुल्लिका
Parent जनिता, माता वा पिता (बं०)
Parental complex मातृ-पितृ-भाव ग्रंथि
Part भाग, खण्ड
Partial (tone) आंशिक स्वन बं०), खण्ड स्वन
Part-reaction आंशिक प्रतिक्रिया
Passion अतिराग
Passive निष्क्रिय (बं०, अकर्मण्य
Passivity निष्क्रियता, अकर्मण्यता
Passport आज्ञा-पत्र
Pathology रोग-विद्या (बं०), रोग विज्ञान
Patient (mental) मानसिक रोगी, मनोरोगी (बं०)
Pattern आदर्श बं०), प्रतिकृति (बं०)
Peculiar विचित्र, निजी
Pendulum दोलक (बं०) लटकन
Percept प्रत्यक्ष (बं०)
Perception प्रत्यक्ष (बं०)
Perceptual प्रत्यक्षज (बं०)
perceptional span ग्रहण-विस्तार, प्रत्यक्ष-विस्तार
Perfection परोत्कर्ष, संपूर्णता
Perforation छिद्री छिद्र-पंक्ति
Performance कृति (बं०)
Performance test कृति-परीक्षा
Period काल (बं०)
Period of incubation अंकुरावस्था
Periodic पर्यावृत्त (बं०)
Periphery परिधि
Peripheral परिधिक
Perseverance अध्यवसाय, धृति
Persistence दृढ़ता, अटलता
Personal equation वैयक्तिक समीकरण
Personality व्यक्तित्व, अस्मिता (बं०)

Personification व्यक्तित्वारोप
Perspective पर्यालोक्य
Perversion काम विकृति (बं०), उलटन
Pervert वैकृत काम (बं०), पथभ्रष्ट करना, बिगाड़ना
Pessimism दुःखवाद (बं
Phantasy मनः सृष्टि (बं०)
Phase दशा (बं०), अवस्था
Phenomenal अतात्विक
Phenomenology प्रपञ्चवाद (बं०), प्रपंच-विद्या
Phenomenon प्रपञ्च (बं०), व्यापार (बं०), घटना
Philology भाषा-विद्या (बं०), भाषा-विज्ञान
Philosophy दर्शन (बं०), तत्व-विज्ञान
Phobia आतंक (बं०)
Phonetics शब्द-विद्या (बं०), स्वर विज्ञान
Physical Sciences भौतिक विज्ञान
Physics भौतिक-शास्त्र
Physiological limit शरीर वृत्तीय सीमा (बं०), शारीरिक सीमा
Physiology शारीरिक क्रिया शास्त्र
Pineal gland पिनियल ग्रंथि (बं०)
Pitch स्वर उच्चता, स्वन-उच्चता, स्वन-क्रमाङ्क (बं०)
Pituitary gland पिटुईटरी ग्रंथि
Plan परिकल्पना, योजना
Plane तल (बं०), लोक
Plateau पठार
Pleasant प्रिय (बं०), सुखकर
Pleasure सुख (बं०)
Pleasure principle सुख-सिद्धांत
Pluralism नानात्ववाद (बं०), अनेकवाद
Pons ? सेतु ?
Positive सदर्थक (बं०), धनात्मक
Positivism दृष्ट वाद (बं०), भाववाद
Posterior पश्चात् (बं०)
Postulate स्वीकार्य (बं०), आवश्यक मान्यता
Potentiality अव्यक्तता (बं०), प्रच्छन्नता
Power शक्ति
Practice साधना, अभ्यास
Pragmatic व्यवहारसिद्ध
Pre-conscious पूर्व संज्ञात, पूर्व-चेतन
Predicate विधेय (बं०)
Premise पक्ष वाक्य
Premonition पूर्व-बोध (बं०)
Presumption अर्थापत्ति (बं०)
Prick बेध (बं०), चिभोना
Primacy मुख्यता (बं०), आदिता (बं०), प्राथम्य
Primal horde आदिम संघ
Primitive आदिम (बं०), प्राक् कालीन
Principal मुख्य, प्रमुख
Principle सिद्धांत, तत्व (बं०
Prism तिपहला शीशा, तिकोना शीशा
Privation अभाव (बं०), दारिद्र्य
Probable सम्भाव्य (बं०)
Probable error सम्भाव्य-त्रुटि, सम्भालव्य भूल
Problematic समस्यात्मक, संशयात्मक
Prognosis आरोग्य-संभावना (बं०), आरोग्य क्रम का पूर्वाभास
Projection प्रक्षेप (बं०), अभिक्षेप (बं०), प्रक्षेपण
Projection areas प्रक्षेपण-क्षेत्र (बं०)
Prompting method स्मारण पद्धति (बं०)
Propensity झुकाव, प्रवणता (बं०)
Proof प्रमाण (बं०), उपपत्ति
,,—direct—सीधा प्रमाण
Proposition प्रतिज्ञा (बं०), मसला, साध्यIst
Protective measure रक्षण (बं०)
Psyche अंतःकरण, जीव, मन (बं), चित्त
Psychiatry मनोरोग विद्या (बं०), मनःकार्य-मापन
Psychical मानसिक (बं०), अन्तःकरणीय, परलोक द्रष्टा, परलोक प्रभावित
Psycho-analysis मनः समीक्षण (बं०) मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, चित्त-विश्लेषण

(क्रमशः)

अल्बर्ट आइन्स्टीन का निधन

विश्वविख्यात वैज्ञानिक अल्बर्ट आइन्स्टीन का जन्म १४ मार्च १८७९ को उल्म, वुटेनबर्ग (आस्ट्रिया) में हुआ था। उनकी शिक्षा ज्यूरिच और म्यूनिच में हुई। वे बर्नी के पेटेंट दफ़्तर में परीक्षक के पद पर थे। उन्होंने कणिकावाद सिद्धान्त के आधार, प्रकाश-विद्युत सिद्धान्त तथा सापेक्षिवाद सिद्धान्त का अपना मसविदा प्रस्तुत किया जिससे उन्हें ज्यूरिच और बर्लिन में विज्ञान के आचार्य का पद मिला। १९३३ में यहूदियों की विपत्ति स्वरूप नाजीवाद का बोलबाला होने पर आइन्स्टीन ने अपने पद से त्यागपत्र दिया और जर्मनी की राष्ट्रीयता की भी तिलांजलि देकर पहले आक्सफोर्ड में तथा बाद में अमेरिका में शरण ली। १९४० में वे प्रिंस्टन में विज्ञान के आचार्य नियुक्त हुए।
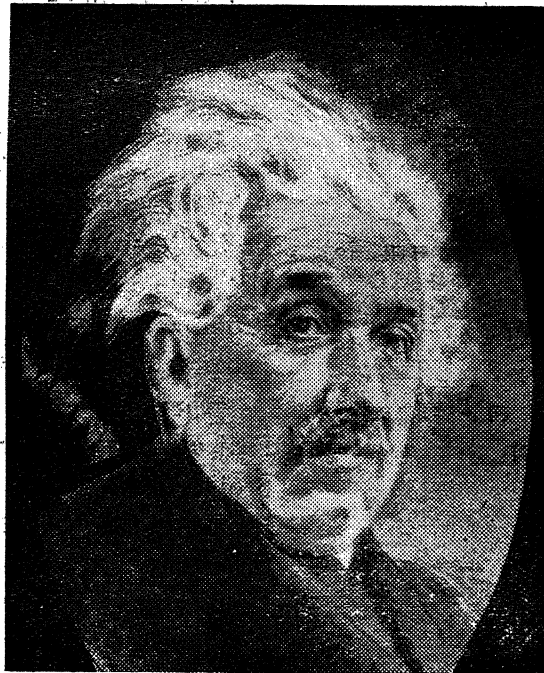
आइन्स्टीन सापेक्षिवाद सिद्धान्त के प्रवर्तक हैं जो एक युगान्तरकारी सिद्धान्त है। इसमें विद्युत् गति शास्त्र एवं दृष्टि विज्ञान का विवेचन १९०५ में पहले पहल किया गया तथा १९१५ में प्रमुख सिद्धान्त उपस्थित हुआ। उन्होंने कणिकावाद सिद्धान्त के व्यवहार के सम्बन्ध में भी महत्वपूर्ण कार्य किया। उन्हें १९२१ में भौतिक विज्ञान का नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ था तथा १९२५ में कापले पदक प्राप्त हुआ। कापर्निकस के बाद आइन्स्टीन के ही विचारों और कल्पनाओं ने वैज्ञानिक विचारधारा में सबसे अधिक प्रमुख युगान्तर उपस्थित किया है। इनका निधन १८ अप्रैल, १९५५ को हुआ।

सस्ती और असीम विद्युत् शक्ति

जगदीश आर० मलहोत्रा

जब से सृष्टि की रचना हुई है, तभी से अणु की रहस्यमयी शक्ति, अपने अज्ञात होने के कारण, इस प्रतीक्षा में रही है कि कब मनुष्य संकेत करे और वह उसका हुक्म बजा लाये। आज, मनुष्य आणुविक युग के उषाकाल के दर्शन कर रहा है।

क्योंकि वैज्ञानिकों को इस शक्ति का उपयोग करने का रहस्य मालूम हो गया है।

पेचीदे यन्त्रों की सहायता से, वे अणु का विस्फोट करते हैं, उन्हें विखण्डित करते हैं और इस प्रकार इतनी अधिक शक्ति प्राप्त करते हैं, जिससे संसार का कायापलट हो सकता है।
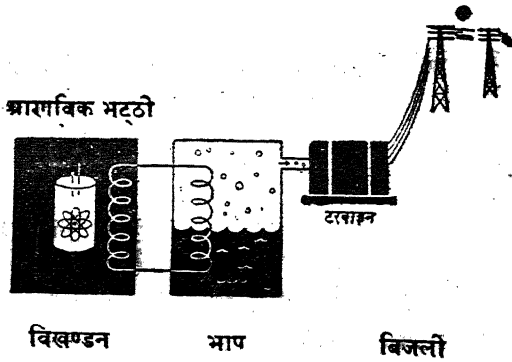
हम में से अधिकांश लोग जब "आणविक विस्फोट" शब्दों को सुनते हैं तो हमारे दिमागों में अपरिमित विनाश अथवा अपरिमित शक्ति का एक चित्र-सा घूम जाता है। किन्तु जहाँ तक वैज्ञानिकों का सम्बन्ध है, हमारे युग के कुछेक अत्यन्त महत्वपूर्ण आणविक विस्फोट प्रयोगशालाओं में ही हुए हैं और उन विस्फोटों को न तो देखा जा सकता था और न उनकी आवाज ही सुनी जा सकती थी।

अणु का भंजन करने वाले यन्त्रों की सहायता से, अणु-वैज्ञानिक अणुओं का विखण्डन कर रहे हैं और इस प्रकार पदार्थ के आधारभूत गुणों और उसकी शक्ति का पता लगाने का प्रयत्न कर रहे हैं।

इस अनुसंधान-कार्य के सम्भवतः महत्वपूर्ण परिणाम निकलेंगे और इससे सस्ती तथा असीम विद्युत् शक्ति के स्रोत का पता लगाया जा सकेगा।

आज, स्वतन्त्र संसार के अनेक राष्ट्रों के वैज्ञानिक अणुशक्ति को समूची मानव जाति के लाभार्थ प्रयुक्त करने के लिए सतत प्रयत्नशील हैं। आणविक बिजली के युग का सूत्रपात हो चुका है।

शान्ति युग

जैसा कि अमेरिकी अणुशक्ति कमीशन के अध्यक्ष ल्यूइस एल. स्ट्रौस ने हाल ही में न्यूयार्क में वैज्ञानिक विषयों के लेखकों की एक सभा में कहा था, "यह आशा करना अनुचित न होगा कि हमारे बच्चे अपने मकानों के लिए बहुत सस्ती बिजली हासिल कर सकेंगे, संसार में समय-समय पर जो भारी अकाल आये हैं वे उनके लिए केवल अतीत का विषय रह जायेंगे; वे समुद्र पर, समुद्र के अन्दर और आकाश में न्यूनतम खतरे और बहुत तेज रफ्तार के साथ बिना किसी कष्ट के यात्रा कर सकेंगे। बीमारियों पर विजय पाने और मनुष्य द्वारा बुढ़ापे के कारणों को जान लेने के फलस्वरूप उनकी आयु हमसे कहीं अधिक होगी। यह एक ऐसी भविष्यवाणी है, जो शान्ति-युग के सम्बन्ध में की जा सकती है।"

अणु बहुत सूक्ष्म है, किन्तु इसकी शक्ति अपरिमित है। जब कई करोड़ अणु एक साथ हों, तभी वे मनुष्य को आंख से दिखाई दे सकते हैं। किन्तु उदाहरण के तौर पर, ४ करोड़ पौंड कोयले समान शक्ति उत्पन्न करने के लिए

केवल १५ पौंड आणविक ईंधन की आवश्यकता होगी। जितनी शक्ति १,८०० टन कोयले अथवा लगभग ३ लाख गैलन पैट्रोल से प्राप्त होती है, उतनी केवल १ पौंड विखण्डनीय पदार्थ से ही प्राप्त हो सकती है। भारत तथा अन्य अल्पविकसित प्रदेशों की दृष्टि से यह बात बड़ी महत्वपूर्ण है।

आज, वैज्ञानिकों का विश्वास है कि संसार की बिजली सम्बन्धी अत्यधिक बढ़ी हुई आवश्यकता को आणविक बिजलीघरों द्वारा पूरा किया जा सकता है। ब्रिटेन और अमेरिका में इन दिनों जिन बिजलीघरों का निर्माण किया जा रहा है, उनसे अगले कुछ वर्षों में ही आणविक बिजली का प्रयोग करना सम्भव हो जायेगा, और उन के द्वारा अपेक्षाकृत सस्ती बिजली का भी उत्पादन किया जा सकेगा।

जनरल इलैक्ट्रिक के एक प्रमुख आणविक अधिकारी ने हाल में वाशिंगटन में यह भविष्यवाणी की थी कि गैरसरकारी तौर पर चालू किये जाने वाले आणविक बिजलीघर ५ से लेकर १० सालों के भीतर ही अन्य व्यावसायिक बिजलीघरों से सस्ती बिजली देने लगेंगे।

अमेरिकी कांग्रेस की अणुशक्ति समिति द्वारा हाल में दी गयी एक रिपोर्ट के अनुसार, अमेरिका में अगले १० वर्षों के भीतर सस्ती बिजली उपलब्ध होने लगेगी।

रिपोर्ट में बताया गया है कि अमेरिका के कारखानों और घरों में आणविक बिजली का प्रयोग आरम्भ होने से पहले ही संसार के उन दूसरे भागों के लोग जहाँ कोयला व अन्य सामान्य ईंधन सीमित परिमाण में ही उपलब्ध हैं सस्ती आणविक बिजली के प्रयोग की ओर झुक जायेंगे।

ये भविष्यवाणियां अमेरिकी अणुशक्ति कमीशन द्वारा हाल में घोषित कार्यक्रमों के सिलसिले में की गयी थीं। इन कार्यक्रमों के अन्तर्गत, अमेरिकी अणुशक्ति कमीशन संसार के सभी लोगों की भलाई के निमित्त अणुशक्ति के के शीघ्र शान्तिकालीन विकास के लिए पाँच नयी आणविक भट्ठियों का निर्माण करायेगा।

इनमें से सबसे बड़ा कारखाना पिट्सबर्ग (पेन्सिल्वेनिया) में शिपिंगपोर्ट नामक स्थान पर स्थापित किया जायेगा। यह आणविक बिजली पैदा करने वाला पूरे आकार का पहला बिजलीघर होगा। इस बिजलीघर के बारे में कहा गया है कि यह "अणु को शान्तिपूर्ण कार्यों में प्रयुक्त करने के सम्बन्ध में मनुष्य की सबसे महती आकांक्षा से भरा प्रयत्न है।" इस बिजलीघर में लगभग ६०,००० किलोवाट बिजली पैदा की जायेगी, जोकि १ लाख की आबादी वाले शहर के लिए काफी होगी।

सस्ती बिजली

अमेरिकी अणुशक्ति कमीशन को आशा है कि आणविक बिजली को इतना सस्ता किया जा सकता है कि वह कोयले से चलने वाले बिजलीघरों द्वारा उत्पादित बिजली से भी सस्ती बैठे। कई देशों में १ से १॥ सेंट (एक आना) प्रति किलोवाट-घंटा व्यय करके सामान्य ईंधनों द्वारा उत्पादित बिजली से सस्ती आणविक बिजली पैदा की जा सकती है अमेरिका में और अधिक सस्ती बिजली मुहैया करने के लिए आवश्यक होगा कि वहां बिजली की दर में तीन-चौथाई सेंट (७ पाई) प्रति किलोवाट घंटा की कमी की जाये।

भारत की दृष्टि से अमेरिकी अणुशक्ति कमीशन के अध्यक्ष श्री स्ट्रौस का वह वक्तव्य बड़ा महत्वपूर्ण है, जिसमें उन्होंने कहा था कि भविष्य में संसार भर के अणु विशेषज्ञों को शिपिंगपोर्ट में किये जाने वाले कार्यों का अध्ययन और निरीक्षण करने के लिए आमन्त्रित किया जायेगा जिससे वे अपने-अपने देशों को इस बात की जानकारी ले जा सकें कि अमेरिका में अणु को किन-किन शान्तिपूर्ण कार्यों में प्रयुक्त किया जा रहा है।

अमेरिका के अधिकारी ऐसा नहीं मानते कि पूरे आकार के इस पहले आणविक बिजलीघर के निर्माण का कार्य आरम्भ होने का अर्थ यह है कि तत्सम्बन्धी विकास का कार्य अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया है। उनका कहना है कि यह निर्माण-कार्य उस स्थिर स्फूर्ति का द्योतक है, जो अणु को शान्तिपूर्ण कार्यों में प्रयुक्त करने विषयक अमेरिकी कार्यक्रम की पृष्ठभूमि में काम कर रही है। इस बिजलीघर के निर्माण में जो क्रियात्मक अनुभव प्राप्त होगा, उससे अमेरिका उन देशों को और अधिक महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान कर सकेगा, जिनका इरादा स्वयं अपने यहाँ आणविक भट्ठियाँ लगाने का है।

अमेरिकी अधिकारियों के अनुसार, आणविक शिल्पकला विज्ञान की दूसरों को जानकारी प्रदान करने की योजना का आणविक शस्त्रास्त्रों से कोई सम्बन्ध नहीं है, यह केवल अणु के शान्तिपूर्ण प्रयोगों तक ही सीमित रहेगी।

प्रेसिडेंट आइजनहौवर ने ८ दिसम्बर १९५३ को संयुक्तराष्ट्रीय वृहत्सभा में भाषण देते हुए यह सुझाव रखा था कि समूची मानवजाति के लाभ के लिए आणविक पदार्थों का एक संग्रह स्थापित किया जाये। उन्होंने कहा था कि कृषि, चिकित्सा तथा अन्य शान्तिपूर्ण कार्यों में अणुशक्ति के लिए विशेषज्ञों की सेवाएं हासिल की जायेंगी।

साथ ही, उन्होंने यह भी कहा था कि इसका एक विशेष उद्देश्य यह भी होगा कि जो प्रदेश बिजली के भूखे हैं, वहाँ प्रचुर परिमाण में बिजली की व्यवस्था की जाये।"

(उस समय प्रेसिडेन्ट आइजनहौवर ने इस योजना में शामिल होने के लिए रूस को सीधे आमन्त्रित किया था। किन्तु, जैसा कि अमेरिकी विदेशमंत्री जौन फौस्टर डलेस ने हाल में संयुक्त-राष्ट्र-संघ को बताया था कि इस सम्बन्ध में रूस ने ९९ प्रतिशत इन्कारी ही प्रकट की है। 'टाइम्स औव इण्डिया न्यूज सर्विस' का कथन है कि भारत आणविक पदार्थों के संग्रह की अमेरिकी योजना के पक्ष में है।)

प्रत्येक राष्ट्र को अपने नगरों और कस्बों में रोशनी की व्यवस्था करने, कारखाने चलाने तथा वैज्ञानिक उपकरण तैयार करने के लिए अधिक बिजली की आवश्यकता है। मांग बढ़ती जा रही है। किन्तु ईंधन का प्रश्न बहुत से क्षेत्रों में एक प्रमुख समस्या बना हुआ है इटली, जापान और दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों में ईंधन की कमी है। बेल्जियम में खानों से कोयला निकालने पर बहुत अधिक खर्च बैठता है। ब्रिटेन में भी १९५६ तक ऐसी स्थिति आ जाने की आशंका है, जबकि वहाँ हर वर्ष ईंधन की काफी कमी रहने लगेगी।

इन सब समस्याओं का सबसे अच्छा उत्तर आणविक बिजली है, जिससे संसार में ईंधन की कमी का संकट लम्बे अरसे के लिए टल जायेगा। संसार में यूरेनियम का जितना भण्डार है, उससे इतना आणविक ईंधन प्राप्त किया जा सकता है, जिससे संसार के समस्त कोयले और तेल के भण्डारों की शक्ति से कई गुना अधिक शक्ति प्राप्त की जा सके।

बिजली उत्पादन के परीक्षण

अमेरिकी अणुशक्ति कमीशन पिछले कुछ समय से परीक्षण के तौर पर आणविक बिजली का उत्पादन कर रहा है। इसके लिए आणविक भट्ठियों के ताप से भाप तैयार की जाती है और उस भाप से टरबाइन चलाया जाता है। और फिर टरबाइन से बिजली पैदा होने लगती है। इस बिजली को मकानों में रोशनी करने, प्रयोगशाला की मशीनों को चलाने तथा एयर-कन्डीशन्ड यन्त्र का संचालन करने के लिए परीक्षण के तौर पर प्रयुक्त किया जाता है।

शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए आणविक बिजली के विकास का सर्वप्रथम प्रदर्शन ३ वर्ष पूर्व अमेरिका के पश्चिमवर्ती आइडाओ राज्य में अणु शक्ति कमीशन की परीक्षणशाला में किया गया था।

दिसम्बर, १९५१ में आर्को (आइडाओ) के एक छोटे से पाषाणगृह में वैज्ञानिकों का एक दल बिजली का एक बल्ब देखने के लिए एकत्र हुआ। उनमें से एक व्यक्ति ने एक डट्टे को धीरे-धीरे घुमाया। अन्य लोगों की आंखें बल्ब की ओर लगी हुई थीं।

अकस्मात ही वे जोरों से चिल्ला उठे। बिजली की बत्ती जगमगा रही थी। इतिहास में पहली बार अणु से बिजली तैयार की गई थी।

जिस प्रकार बिजली का पहले-पहल क्रियात्मक प्रयोग होने अथवा भाप के इंजन का आविष्कार होने पर नये युगों की शुरूआत हुई थी, इसी प्रकार बिजली की वह जगमगाती हुई बत्ती भी निश्चय ही एक नये युग के सूत्रपात की सूचक थी।

जब वैज्ञानिक और इंजीनियर आणविक बिजली के खर्च को कम करने में सफल हो जायेंगे, तब उन देशों की विद्युत-शक्ति सम्बन्धी समस्याएँ काफी हल हो जायेंगी, जिनके पास पृथ्वी से प्राप्त होने वाले ईंधन अथवा जलशक्ति के साधन बहुत सीमित हैं। तब संसार के वे क्षेत्र भी बिजली प्राप्त कर सकेंगे जो कोयला और पैट्रोल

के भंडारों अथवा बिजली पैदा करने वाली नदियों से बहुत दूर हैं। यदि संसार के लोग आणविक बिजलीघरों के निर्माण में सहयोग करें तो दूर-दूर की घाटियों में बसे गांवों में भी रोशनी और ताप की व्यवस्था हो सकती है, रेगिस्तानी इलाकों में पानी पहुंचाया जा सकता है और जहाँ भी उपयुक्त हो, वहाँ कारखाने खड़े किये जा सकते हैं।

यह शक्ति लहलहाते खेतों को रेगिस्तान बना सकती है......या इस शक्ति का उपयोग भूखे लोगों के लिए और अधिक अच्छी फसलें उगाने के लिए किया जा सकता है। यह शक्ति एक बड़े शहर को जलते खण्डहरों में बदल सकती है......या यह शक्ति नगर को रोशनी, ताप और बिजली प्रदान कर सकती है। यह एक बालक को शारीरिक दृष्टि से बिल्कुल बेकार बना सकती है......या इससे रोग को दूर करने का उपाय किया जा सकता है और इस प्रकार उस बालक को एक नया जीवन दिया जा सकता है।

अणु में यह आश्चर्यजनक शक्ति विद्यमान है। मनुष्य इस का प्रयोग अच्छे कामों में करेगा या बुरे कामों में?

प्रेसिडेन्ट आइजनहौवर ने यह प्रस्ताव रखा था कि संयुक्तराष्ट्र-संघ के तत्वावधान में एक अन्त-र्राष्ट्रीय संगठन स्थापित किया जाये। उनका विचार था कि सभी राष्ट्रों के वैज्ञानिक मिल कर अपने ज्ञान और प्रतिभा का उपयोग अणु की महान शक्ति को मनुष्य जाति के कल्याण के कामों में लगाने के लिए करेंगे। ऐसा होने पर पैगम्बर माइका का यह कथन सही हो उठेगा कि "एक दिन आयेगा जब तलवारों को ढाल कर उनसे हल तैयार किये जायेंगे।'

इस प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से, शान्तिपूर्ण कार्यों में अणुशक्ति के प्रयोग से होने वाले लाभ ऐसे हर देश की जनता को—यहाँ तक कि छोटे से छोटे अल्पविकसित देश की जनता को भी—प्राप्त हो सकेंगे, जोकि अणुशक्ति का शान्तिपूर्ण कार्यों में लगाने के उद्देश्य से प्रस्तावित संगठन में शामिल होगा।

यह प्रस्ताव तो केवल मामूली सी शुरूआत है, जैसे एक बीज पौधे की शुरूआत होता है। जिस प्रकार बीज के फलने-फूलने में समय लगता है, उसी प्रकार अणुशक्ति के लाभ एक ही दिन में प्राप्त नहीं किये जा सकते। यह कार्य शायद १ वर्ष में भी न हो और शायद १० वर्षों में भी न हो सके।

किन्तु मनुष्य सदैव अपने लिए ही पौधा नहीं लगाता। वह अपनी सन्तानों और उनकी भी सन्तानों के कल्याण के लिए योजना बनाता और कार्य करता है।

यदि संसार के राष्ट्र अभी से सहयोग करना आरम्भ कर दें, तो वे इस अत्यधिक विनाशकारी शक्ति को एक ऐसा कल्याणकारी साधन बना सकते हैं जिसकी संसार ने कभी कल्पना भी न की होगी।

पौधे किस प्रकार मिट्टी से पोषण तत्व लेते हैं

पौधे अपनी जड़ों के कोषों द्वारा मिट्टी में से कुछ पोषण तत्वों को ले लेते हैं और अन्य तत्वों को छोड़ देते हैं। वे किस प्रकार पोषण तत्वों को ग्रहण करते हैं, यह रहस्य प्रकृति के उन रहस्यों में से है जिनके विषय में किसी को कुछ भी ज्ञात नहीं है। किन्तु अमेरिकी कृषि-विभाग द्वारा इस सम्बन्ध में जो परीक्षण किये गये हैं, उनसे पौधों की इस मूलभूत क्रिया के सम्बन्ध में पर्दा उठता जा रहा है।

पौधों की जड़ों के कोषों द्वारा पोषण तत्व किस प्रकार पौधों में पहुंचते हैं, इस सम्बन्ध में हाल में जो खोजें की गयी हैं उनसे इस प्रक्रिया के सम्बन्ध में अच्छी जानकारी मिलती है।

इस क्रिया के सम्बन्ध में जानकारी हासिल करना क्यों आवश्यक है? मिट्टी में पाये जाने वाले खनिजों में से पौधों को किन खनिजों की आवश्यकता है इस बात को समझने के लिए हमें सबसे पहले यह समझना आवश्यक है कि पौधे किस प्रकार उनको हासिल करते हैं। पौधों का जीवन इन्हीं पोषण तत्वों पर निर्भर है। पौधे मिट्टी पर निर्भर करते हैं, और पशुओं का स्वास्थ्य पौधों पर निर्भर करता है।

खनिज-पोषण तत्व मिट्टी में अयनों अर्थात् विद्युत् शक्ति युक्त गतिमान अणुओं या अणु समूहों के रूप में पाए जाते हैं। ये रासायन तत्वों जैसे सोडियम और नाइट्रोजन आदि के विद्युत्शक्ति युक्त अणु होते हैं। उदाहरण के तौर पर, सोडियम नाइट्रेट मिट्टी में मिल कर दो भागों सोडियम अयनों तथा नाइट्रेट अयनों में विभक्त हो जाता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि कोष की झिल्ली के द्वारा पोषण तत्व ग्रहण किये जाते हैं। अर्थात् झिल्ली कुछ पोषण तत्वों को ग्रहण कर लेती है तथा कुछ को ग्रहण नहीं करती। किन्तु प्रश्न यह है कि कौन सी चीज अयनों को गति प्रदान करती है और वे किस प्रकार पौधे की झिल्ली में प्रविष्ट होते हैं? कुछ वर्ष पूर्व तक वैज्ञानिक यह समझते थे कि झिल्ली एक प्रकार की कोष युक्त चलनी है और उस में से कुछ अयन भीतर जा सकते हैं और दूसरे कुछ अयन भीतर नहीं जा सकते। अब हमें इस सम्बन्ध में अधिक ज्ञान है।

यदि झिल्ली चलनी होती और यदि अयन स्वयं संचालित होते, तो इसमें से कुछ अयन पौधे के सूख जाने या मुरझा जाने पर भी उसमें प्रविष्ट हो जाते। लेकिन जब पौधा शीत तथा विष अथवा आक्सीजन की कमी के कारण मुरझा जाता है, तो वह अयनों (पोषण तत्वों) को ग्रहण करना बन्द कर देता है। यदि उन दोषों को दूर कर दिया जाये, तो पौधा पुनः अयनों को ग्रहण करने लगता है।

नया सिद्धांत :—

ऐसी स्थिति में पोषण तत्वों को ग्रहण करने की प्रक्रिया के सम्बन्ध में पिछले सब सिद्धान्त हाल में मालूम किये गये। इस सिद्धांत के सम्मुख रद्द कर दिये गये हैं कि कोष युक्त झिल्ली ही साधन है जिसके द्वारा पौधा मिट्टी में से पोषण तत्व हासिल करता है।

संक्षेप में यह सिद्धांत यह है कि स्वचालित क्रिया झिल्ली में होती है और पोषक अयनों को ग्रहण करती रहती है। अथवा, वैज्ञानिकों की परिभाषा के अनुसार झिल्ली में विद्यमान कोष अपनी जीवन-प्रदायिनी शक्ति का एक भाग झिल्ली में रासायनिक पदार्थों के निर्माण और शक्ति-संचार के लिए खर्च करते हैं। ये रासायनिक पदार्थ कोष के बाहर के स्वतन्त्र अयनों को ग्रहण कर लेते हैं और झिल्ली के द्वारा ले जाकर इन्हें कोषों में जमा कर देते हैं।

इससे पोषण तत्वों को ग्रहण करने की प्रक्रिया का तो पता चल गया है, किन्तु प्रश्न यह है कि कोष अयनों का

चुनाव किस प्रकार करते हैं ? इस सम्बन्ध में पौधा-विशेषज्ञ श्री ई० एपस्टीन और उनके सहायकों ने इस बात के प्रमाण जुटाये हैं कि कोष में विद्यमान रासायनिक पदार्थ किन अयनों को ग्रहण करेंगे और किन्हें ग्रहण नहीं करेंगे, इस सम्बन्ध में उनमें अत्युच्च किस्म की विशिष्टता पायी जाती है। इन लोगों का विश्वास है कि प्रत्येक भारवाही रासायनिक पदार्थ ने विभिन्न किस्मों के खनिज अयनों के लिए एक निश्चित स्थान सुरक्षित कर रखा है। एक श्रेणी के सभी अयन उपलब्ध सीमित स्थान के लिए आपस में मुकाबला करते हैं, किन्तु वे दूसरी श्रेणी के अयनों का मुकाबला नहीं कर सकते। इसका प्रमाण निम्न है :—

प्रचूषण सम्बन्धी परीक्षण :—

श्री एपस्टीन ने जौ के पौधे की जड़ों को अयन के घोलों में डुबोया और प्रत्येक अयन के प्रचूषण की नाप की। अयनों का अध्ययन करते समय उनसे पहले एक-एक कर धन विद्युत युक्त अयन तथा बाद में जोड़ों में ये अयन पहुंचाए। ऋण विद्युतयुक्त अयनों के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार का प्रयोग किया। प्रत्येक परीक्षण में एक रेडियो-सक्रिय अयन का उपयोग किया गया, ताकि पौधे में पहुंचने के बाद गाइगर काउन्टर द्वारा इसका पता लगाया जा सके। जब दूसरे अयन के सम्बन्ध में परीक्षण किया गया, तब इसे रेडियो-सक्रिय नहीं रखा गया। प्रचूषण के कुछ समय बाद, श्री एपस्टीन ने पौधों की जड़ों में रेडियो-सक्रिय अयन की मात्रा को माप कर यह मालूम किया कि क्या रेडियो-सक्रियता विहीन अयन ने रेडियो-सक्रिय अयन का मुकाबला किया है। अर्थात् क्या उसने रेडियो-सक्रिय अयन के प्रचूषण पर असर डाला है ?

श्री एपस्टीन के परीक्षणों से इस बात की पुष्टि हो गयी कि प्रचूषण की दृष्टि से अयनों को विशेष वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। उदाहरण के तौर पर, पोटासियम, रुबिडियम तथा सेसियम एक श्रेणी में और सोडियम दूसरी श्रेणी में आये। ऐसी और बहुत सी श्रेणियाँ हैं। जब पोटासियम तथा रुबिडियम दोनों को जौ के पौधों की जड़ों में पहुंचाया गया, तब प्रत्येक अयन कम मात्रा में चूसा गया। जब उनको अलग-अलग पहुँचाया गया, तब वे अधिक मात्रा में चूसे गये। इससे यह स्पष्ट हो गया कि इन दोनों तत्वों ने सीमित स्थान के लिए एक दूसरे का मुकाबला किया। किन्तु जब पोटासियम तथा सोडियम को डाला गया तब उन दोनों को स्वतन्त्रता-पूर्वक चूसा गया, क्योंकि उन्होंने एक-दूसरे का मुकाबला नहीं किया। मुकाबला करने वाले तत्वों के सम्बन्ध में बहुत से विस्तृत परीक्षण भी किये गये।

२० वर्ष पूर्व का परीक्षण —

लगभग २० वर्ष पूर्व एक अन्य पौधा-विशेषज्ञ श्री ऐनी हर्ड कारेर ने गेहूँ तथा जौ के पौधों में जहरीले अयनों रुबिडियम और स्ट्रोन्टियम को प्रविष्ट किया था। इनके कारण पौधों का विकास रुक गया और उनकी जड़ें खास ढंग से मोटी हो गयीं। किन्तु रुबिडियम के साथ पोटासियम और स्ट्रोनियम के साथ चूना मिला देने पर जहर का प्रभाव नष्ट हो गया।

श्री हर्ड कारेर ने यह निष्कर्ष निकाला कि पौधों में विशिष्ट अयनों के मध्य चुनाव करने के गुण का अभाव है। दूसरे शब्दों में कोई पौधा इन में से किसी एक अयन की कितनी मात्रा चूसता है यह बात पौधे की प्रचूषण शक्ति पर निर्भर नहीं करती, बल्कि इस बात पर निर्भर करती है कि मुकाबला करने वाला अयन मौजूद है या नहीं।

फिर भी, कुछ अन्य अयनों के सम्बन्ध में श्री एपस्टीन ने पाया कि पौधों में चुनाव करने की योग्यता है। ऐसे अयन भिन्न-भिन्न श्रेणियों से सम्बन्ध रखते थे।

इन परीक्षणों के परिणामों से पता चला है कि मिट्टी के हानिकारक तत्वों के प्रभाव को नष्ट करने के लिए रासायनिक खादों का प्रयोग किया जा सकता है। कुछ भी हो, यह सोचना उचित ही है कि परीक्षणात्मक ट्यूबों में जौ के पौधों की जड़ों से जो रहस्य ज्ञात हुए हैं, वे एक दिन रासायनिक खाद के उत्पादन एवम् प्रयोग में महत्व-पूर्ण सिद्ध होंगे।

विज्ञान-समाचार

अमेरिका में पशुओं के रोगों की रोकथाम

अमेरिकी कृषि-विभाग के पशु-चिकित्सक पशुओं के रोगों पर विजय पाने के लिए निरन्तर संघर्ष कर रहे हैं। अमेरिकी कृषि-विभाग की पशु उद्योग शाखा ही ने सबसे पहले यह पता लगाया था कि कीटाणुओं द्वारा भी एक पशु से दूसरे पशु तक रोग फैलते हैं। पीत ज्वर मलेरिया, टाइफस, अफ्रीका का निद्रा-रोग, रौकी पर्वतों का विशिष्ट ज्वर, नैगाना (त्सेत्से मक्खी के काटने से होने वाला ज्वर) तथा ब्यूबोनिक प्लेग जैसे अन्य रोगों को फैलाने वाले कीटाणुओं का पता लग गया है। यह पता चलने से कि मच्छरों को नष्ट करने से पीत ज्वर और मलेरिया की प्रभावशाली ढंग से रोकथाम हो सकती है, मानव जाति को अपार लाभ पहुंचा है और इसी कारण पनामा नहर का निर्माण-कार्य बहुत जल्दी तथा बिना किसी विशेष जन हानि के सम्पन्न हुआ है। यह नहर बन जाने से संसार की यातायात एवं सम्वादवहन-व्यवस्थाओं में आशातीत सुधार हुआ है।

उक्त उदाहरण से यह स्पष्ट है कि जहाँ पशु-चिकित्सक मुख्यतः पशुओं को रोगों से मुक्त करने का काम करता है वहाँ उसका लाभ मनुष्यों के स्वास्थ्य की दशा में सुधार होने की दृष्टि से भी होता है। पशु-चिकित्सकों के इस अनुसन्धानकार्य से न केवल पशुओं के बहुत से रोगों से मनुष्यों का भय ही दूर हुआ है, अपितु वे मनुष्य के आहार के रूप में अधिक उपलब्ध होने लगे हैं।

संघीय सरकार की मुर्गी-निरीक्षण शाखा ने १९५० में कुल ३९ करोड़ ३० लाख पौंड वजन की मुर्गियों का का निरीक्षण किया और इनमें ३० लाख पौंड मुर्गियों को आहार की दृष्टि से बेकार पाया यह निरीक्षण-व्यवस्था अनिवार्य नहीं है। अनुमान है कि अमेरिका में जितनी मुर्गियों की खपत होती है उसके केवल १०' प्रतिशत भाग का ही निरीक्षण संघीय सरकार की ओर से किया जाता है।

अमेरिका में पशु-चिकित्सकों ने दुधारू पशुओं में क्षय रोग का प्रायः अन्त करके मनुष्यों में इस रोग का प्रसार रोकने में बहुत बड़ा काम किया है। गत १० वर्षों से अमेरिका में प्रतिवर्ष ८० लाख से १ करोड़ २० लाख तक पशुओं की क्षयरोग सम्बन्धी जाँच की जाती है। पशुओं में क्षयरोग का लगभग अन्त हो जाने से उन बच्चों और बालिग व्यक्तियों को यह रोग लगने का एक बड़ा कारण समाप्त हो गया है जो क्षयरोग-ग्रस्त पशुओं का दूध पीने या उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में जाने से रोगग्रस्त हो सकते थे।

पक्षियों को लगने वाले क्षयरोग का अभी तक कोई इलाज नहीं पता चल सका है। यह अनुमान लगाया गया है कि सुअरों में पक्षियों के कारण ही ९५ प्रतिशत क्षयरोग होता है। पशु-चिकित्सकों ने यह राय दी है कि सभी रोगी पक्षियों को मार डाला जाये, उत्तम विधियों से पक्षियों को पाला जाये और मुर्गियों को एक ही वर्ष तक रखा जाना चाहिए। एक वर्ष से कम आयु की मुर्गियों में क्षयरोग बहुत कम पाया जाता है।

इसी तरह पालतू जानवरों में "ब्रूसीलोसिस" नामी रोग पाया जाता है, जो मनुष्यों को भी आसानी से लग जाता है। यदि पशुओं के इस रोग को समाप्त कर दिया जाये तो मनुष्यों को अन्य किसी से रोग लगने का डर जाता रहेगा

घोड़ों से मनुष्यों को लगने वाले "ग्लेण्डर्स" नामी रोग का अब अमेरिका में लगभग लोप हो चुका है, क्योंकि घोड़ों में इस रोग का अन्त हो गया है। इसी तरह ऊन और चमड़े को कमाने वाले उद्योगों में काम करने वाले लोगों को "एन्थ्रैक्स" नामी रोग लग जाता है, लेकिन

अमेरिका के जिन क्षेत्रों में यह रोग पाया जाता है वहाँ के पशुओं को टीके लगाकर इस रोग की प्रभावशाली ढंग से रोकथाम कर ली गयी है।

अमेरिका में संक्रामक रोगों से ग्रस्त पशुओं को अलग रखने के कानून बन गये हैं ताकि इन रोगों को फैलने से रोका जा सके। एक राज्य से दूसरे राज्य में जाने वाले पशुओं की स्वास्थ्य सम्बन्धी जांच पड़ताल की जाती है। इसी तरह विदेशों से अमेरिका आने वाले पशुओं के स्वास्थ्य सम्बन्धी प्रमाणपत्रों को भी देखा जाता है और उनकी अच्छी तरह से जाँच की जाती है। कभी-कभी तो उन पशुओं को अलग भी रखा जाता है और यह देखा जाता है कि कहीं इनमें कोई पशु संक्रामक रोग से ग्रस्त तो नहीं है।

अमेरिका में १६०६ के 'मांस-परीक्षा कानून' के अन्तर्गत मांस और मांस से तैयार हुए सब सामान की सरकारी इन्स्पैक्टर अच्छी तरह परीक्षा करते हैं। इस कानून के अन्तर्गत अमेरिका के कृषिमन्त्री को यह अधिकार दिया गया है कि काटने से पहले और बाद में सभी पशुओं की जाँच-पड़ताल होनी चाहिए। उस कानून का उद्देश्य सिर्फ साफ-सुथरे, स्वास्थ्य और नीरोग मांस की बिक्री को प्रोत्साहन देना है। यदि पशु को काटने से पहले कोई रोग पाया जाता है तो उसे अलग कर दिया जाता है और उसका इलाज भी किया जाता है। पशुओं को काटते हुए उनके खुर, बाल और मल-मूत्र को मांस से बिलकुल अलग कर दिया जाता है ताकि मांस में कोई खराबी न आये।

पशुओं को रोग न लगने की जिम्मेदारी पशुचिकित्सकों पर तो है ही, किसानों पर भी है। यदि किसान के पशु बीमार होंगे तो उससे जन स्वास्थ्य को खतरा होने के साथ-साथ उसे स्वयं भी खतरा पहुंच सकता है और उसे आर्थिक लाभ भी नहीं होगा।

———

विषय-सूची

नागरी प्रेस, दारागंज, प्रयाग

सरल विज्ञान ग्रंथावली

लेखक—जगपति चतुर्वेदी, सहा॰ सम्पा॰, 'विज्ञान'

सरल विज्ञान ग्रन्थावली हिन्दी में लोकप्रिय वैज्ञानिक साहित्य सरल रूप में प्रस्तुत करने का एक नवीन तथा अभूतपूर्व प्रयास है। सभी पुस्तकें केवल एक लेखक द्वारा लिखी हुई हैं। लगभग १५० या २०० पृष्ठों तथा बहुसंख्यक चित्रों के साथ प्रत्येक का मूल्य २) है।

भौतिक विज्ञान

बिजली की लीला—बिजली के वैज्ञानिक मर्म, तार टेलीफोन, विद्युत्प्रकाश, एक्सरे रेडियो आदि की कहानी।

परमाणु के चमत्कार—परमाणु सम्बन्धी वैज्ञानिक खोजों तथा परमाणु बम, उदजन बम आदि के मर्म की कहानी।

भूगर्भ वि॰, पुरा-जीवविज्ञान, पुरा-वनस्पति विज्ञान

विलुप्त जन्तु—प्रस्तरावशेषों के आधार पर पचास करोड़ वर्षों तक पुराने जन्तुओं के वंश लोप होने की कहानी।

भूगर्भ विज्ञान—धरती के निर्माण तथा अंतः और वाह्य अंगों के रूप परिवर्तन की विलक्षण कहानी।

विलुप्त वनस्पति—प्राचीन काल के प्रस्तरावशेषों के आधार पर पचास कोटि वर्षों तक पुराने वनस्पति वंशों की कहानी।

कोयले की कहानी—पत्थर कोयले की उत्पत्ति तथा वैज्ञानिक शोध और उपयोग की कहानी।

ज्वालामुखी—धरती के आंतरिक भाग में ज्वाला उत्पन्न होने के कारण तथा संसार के ज्वालामुखियों की कहानी।

रसायन

तत्वों की खोज में—रासायनिक तत्वों के अनुसंधान तथा उनके अन्वेषक वैज्ञानिकों की मनोरंजक कहानी।

साधारण

वैज्ञानिक आविष्कार—भाग १, २—पुरानी तथा नई वैज्ञानिक खोजों की विशद कहानियाँ।

आविष्कारकों की कहानी—युगान्तरकारी आविष्कारकों तथा वैज्ञानिकों की कथा।

वनस्पति विज्ञान

वनस्पति की कहानी—वनस्पति के जन्म, वृद्धि क्रियाकलाप, तथा भेद प्रभेदों की कहानी।

चिकित्सा विज्ञान, कीटाणु विज्ञान

जीने के लिए—रोगों और कीटाणुओं का मर्म ज्ञात करने वाले वैज्ञानिकों की मार्मिक कहानी।

कीटाणुओं की कहानी—रोग उत्पन्न करने वाले तथा अन्य सूक्ष्मदर्शकीय कीटाणुओं और परम कीटाणुओं की कहानी।

पेनिसिलिन की कहानी—रसायन चिकित्सा तथा पेनिसिलिन के अविष्कार, की कहानी।

शल्य विज्ञान की कहानी—शरीर में चीरफाड़ करने के प्राचीन तथा नवीन ज्ञान की कहानी।

जीव-जन्तु विज्ञान

समुद्री जीव-जन्तु—समुद्र के अन्दर रहने वाले अद्भुत रंग-रूपों के जंतुओं का वर्णन।

अद्भुत जन्तु—अद्भुत रङ्ग रूप के जन्तुओं की कहानी।

विलक्षण जन्तु—विचित्र आकार प्रकार के जन्तुओं का वर्णन।

पक्षी ग्रन्थावली—पक्षियों के रङ्ग रूप, जीवन-क्रम, निवास सन्तानोत्पादन, स्वभाव भेद तथा पहचान का वर्णन।

१—शिकारी पक्षी	२)
२—जलचर पक्षी	२)
३—वन वाटिका के पक्षी	२)
४—वन उपवन के पक्षी	२)
५—उथले जल के पक्षी	२)

विज्ञान परिषद्, प्रयाग

Reg. NO 372

Approved by the Directors of Education, Uttar Pradesh
and Madhya Pradesh for use in Schools;
Colleges and Libraries

विज्ञान परिषद् के मुख्य नियम

परिषद् का उद्देश्य

१—१९७० वि० या १९१३ ई० में विज्ञान परिषद् की इस उद्देश्य से स्थापना हुई कि भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य का प्रचार हो तथा विज्ञान के अध्ययन को और साधारणतः वैज्ञानिक खोज के काम को प्रोत्साहन किया जाय।

परिषद् का संगठन

२—परिषद् में सभ्य होंगे। निम्न निर्दिष्ट नियमों के अनुसार सभ्यगण सभ्यों में से ही एक सभापति, दो उप-सभापति, एक कोषाध्यक्ष, एक प्रधानमन्त्री, दो मन्त्री, एक सम्पादक और एक अंतरंग सभा निर्वाचित करेंगे जिनके द्वारा परिषद् की कार्यवाही होगी।

सभ्य

२२—प्रत्येक सभ्य को ६) वार्षिक चन्दा देना होगा प्रवेश शुल्क ३) होगा जो सभ्य बनते समय केवल एक बार देना होगा।

२३—एक साथ १०० रु० की रकम दे देने से कोई भी सभ्य सदा के लिए वार्षिक चन्दे से मुक्त हो सकता है।

२६—सभ्यों को परिषद् के सब अधिवेशन में उपस्थित रहने का तथा अपना मत देने का, उनके चुनाव के पश्चात् प्रकाशित, परिषद् की सब पुस्तकों, पत्रों, तथा विवरणों इत्यादि को बिना मूल्य पाने का—यदि परिषद् के साधारण धन के अतिरिक्त किसी विशेष धन से उनका प्रकाशन न हुआ—अधिकार होगा। पूर्व प्रकाशित पुस्तकें उनको तीन चौथाई मूल्य में मिलेंगी।

२७—परिषद् के सम्पूर्ण स्वत्व के अधिकारी सभ्य वृन्द समझे जायँगे।

प्रधान संपादक डा० हीरालाल निगम
सहायक संपादक—श्री जगपति चतुर्वेदी

विज्ञान

जून १९५५
मिथुन २०१२

भाग ८१
अंक ३

वार्षिक मूल्य
चार रुपए

प्रति अंक
छः आने

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

१—विज्ञान प्रवेशिका, भाग १—श्रीरामदास गौड़ और प्रो० सालिगराम भार्गव ।=)
२—चुम्बक—प्रो० सालिगराम भार्गव ।।।=)
३—मनोरञ्जन रसायन—प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव २)
४—सूर्य सिद्धान्त—श्री महावीरप्रसाद श्रीवास्तव छः भाग मूल्य ८)। इस लेखक को १२००) का मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला है।
५—वैज्ञानिक परिमाण—डा० निहालकरण सेठी १)
६—समीकरण मीमांसा—पं० सुधाकर द्विवेदी; प्रथम भाग १।।) द्वितीय भाग ।।=)
७—निर्णायक (डिटर्मिनैंट्स) प्रो० गोपाल कृष्ण गर्दे और गोमती प्रसाद अग्निहोत्री ।।।)
८—बीज ज्योमिति या भुजयुग्म रेखागणित—डाक्टर सत्यप्रकाश डी० एस-सी०, १।)
९—वर्षा और वनस्पति—श्री शंकरराव जोशी ; ।=)
१०—सुवर्णकारी—ले० श्री० गङ्गाशंकर पचौली; ।=)
११—व्यङ्ग-चित्रण—ले० एल० ए० डाउस्ट; अनुवादिका श्री रत्नकुमारी एम० ए०; २)
१२—मिट्टी के बरतन—प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा; (अप्राप्य)
१३—वायुमंडल—डाक्टर के० बी० माथुर, २)
१४—लकड़ी पर पालिश—डा० गोरखप्रसाद और श्री रामरतन भटनागर, एम० ए०, २) (अप्राप्य)
१५—कलम पेवंद—ले० श्री शंकरराव जोशी; २)
१६—जिल्दसाजी—श्री सत्यजीवन वर्मा, एम० ए० २)
१७—तैरना—डा० गोरखप्रसाद १)
१८—सरल विज्ञान-सागर प्रथम भाग—सम्पादक डाक्ट गोरख प्रसाद मूल्य ६) (अप्राप्य)
१९—वायुमण्डल की सूक्ष्म हवाएं—डा० सन्तप्रसाद टंडन, डी० फिल० ।।)
२०—खाद्य और स्वास्थ्य—डा० ओंकारनाथ परती; मूल्य ।।।)
२१—फोटोग्राफी—लेखक श्री डा० गोरख प्रसाद डी० एस-सी० (एडिन) ४),
२२—फल संरक्षण—डा० गोरखप्रसाद डी० एस-सी० और श्री वीरेन्द्रनारायण सिंह २।।)
२३—शिशु पालन—लेखक श्री मुरलीधर बौड़ाई। मूल्य ४)
२४—मधुमक्खी पालन—दयाराम जुगड़ान; ३)
२५—घरेलू डाक्टर—डाक्टर जी० घोष, डा० उमाशङ्कर प्रसाद, डा० गोरखप्रसाद, ४)
२६—उपयोगी नुसखे, तरकीबें और हुनर—डा० गोरखप्रसाद और डा० सत्यप्रकाश, ३।।)
२७—फसल के शत्रु—श्री शङ्कर राव जोशी ३।।)
२८—साँपों की दुनिया—श्री रमेश वेदी ४)
२९—पोर्सलीन उद्योग—प्रो० हीरेन्द्र नाथ बोस ।।।)
३०—राष्ट्रीय अनुसंधानशालाएँ—२)
३१—गर्भस्थ शिशु की कहानी—प्रो० नरेन्द्र २।।)

अन्य पुस्तकें

१—साबुन-विज्ञान	६)
२—भारतीय वैज्ञानिक	३)
३—वैक्युमब्रेक	२)
४—यांत्रिक चित्रकारी	२।।)
५—विज्ञान के महारथी (जगपति चतुर्वेदी)	२)
६—पृथ्वी के अन्वेषण की कथाएँ (,,)	१।।)
७—विज्ञान जगत की झाँकी (प्रो० नारायण सिंह परिहार)	२)
८—खोज के पथपर (शुकदेव दुबे)	।।)

पता—विज्ञान परिषद् (म्योर सेन्ट्रल कालेज भवन) प्रयाग

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
विज्ञानेन जातानि जीवन्तिविज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तै० उ० ।३।५।

भाग ८१ | मिथुन २०१२; जून १९५५ | संख्या ३

स्तनपोषियों का श्रेणी-विभाजन

जगपति चतुर्वेदी

अण्डजस्तनिन

जन्तुओं के कुछ लक्षणों में अन्य लक्षणों की अपेक्षा अधिक द्रुतगति से विकासगत परिवर्तन होता है। जन्तुओं के अधिक प्राचीन वन्शानुगत सम्बन्धों को जानने के लिए ऐसे प्रमुख लक्षणों पर ध्यान देना उचित है जो स्थिर से जान पड़ें। जनन-विधि स्थिर लक्षण है। आज के अधिकांश स्थलजीवी उभयजीवी जन्तु, अधिक असुविधा होने पर भी अपने वंश की प्राचीन जलजीवी पीढ़ियों की सन्तानोत्पादक विधि का अनुसरण करते हैं। उभयजीवियों के शरीर का ऐसा विकास तो हो गया है कि स्थल पर जीवनयापन कर सकें परन्तु उनके अण्डे आज भी पूर्वजों की भाँति जल में ही दिये जाते हैं। इसी प्रकार जल में जीवन व्यतीत करने वाले सरीसृप जल में रहने के सर्वथा उपयुक्त शरीर बनाये होते हैं, परन्तु उनके अण्डों को स्थल तथा वायु का स्थान ही आवश्यक होता है। यदि स्तनिनों के आधुनिक जनन-साधनों पर विचार किया जाय तो उनमें तीन विभाग उनके शरीर की रचना के अनुकूल भी हैं।

अधिकांश स्तनिन गर्भपोषी हैं। माता की कोख में क्षुद्र अंड अधिक दिनों तक पोषित तथा विकसित होता रहता है। भ्रूण (गर्भस्थ शिशु) को गर्भाशय द्वारा ही पोषण प्राप्त होता रहता है। बहुत थोड़ी संख्या के स्तनिन शिशुधानी (मारसुपियल) उपवर्ग बनाते हैं। इनके अंडे प्रायः गर्भपोषी जन्तुओं के अंडे से बड़े होते हैं। वे अपेक्षाकृत थोड़े समय तक गर्भ में पोषित होते हैं। साधारणतया खेड़ी का उनमें अभाव ही होता है। कुछ शिशुधानियों में बहुत दुर्बल खेड़ी उत्पन्न होती है। शिशु उत्पादन के पश्चात् नवजात शिशु माता की एक उदरस्थ बाह्य थैली या शिशुधान में अधिक समय तक पड़े रह कर पोषित होते रहते हैं। उस शिशुधान में ही दुग्धदायी स्तन होता है। उससे शिशु दुग्धपान करते हैं।

शिशुधानी उपवर्ग के अतिरिक्त ओरनिथोरहिंचस

तथा एचिडना दो प्रजातियाँ ऐसी हैं जो गर्भपोषी उपवर्ग में नहीं आतीं। इनको शिशुधानी उपवर्ग का भी नहीं माना जा सकता। वन्शोत्पादन मुख्यतः सरीसृपवत होता है। ये यथेष्ट बड़े आकार के अंडे उत्पन्न करते हैं जिनमें प्रचुर मात्रा में श्वेत खाद्य द्रव (सफेदी) रहता है। वह एक कड़े छिलके के अन्दर बन्द रहता है। ये अंडे गर्भाशय से निकलते हैं और बाहर सेए जाते हैं। अंडे से कुछ समय बाद उत्पन्न शिशु माता के उदर की आदिम रूप की दुग्धग्रन्थि से दुग्धपान करते हैं जिसमें स्तन नहीं होता। उत्पन्न होने के पश्चात् शिशुओं को दुग्ध ग्रन्थि से दूध पिला कर पोषित करने का ही एक मात्र गुण स्तनपायी सदृश होता है। इन जन्तुओं को अंडज-स्तनिन कहते हैं।

अण्डज-स्तनिन की जातियाँ

अनेक शारीरिक रचनाओं में अंडज-स्तनिन जन्तुओं को सरीसृपों के समान देखा जाता है। इनका रक्त स्तनिनों के अन्य उपवर्गों की अपेक्षा न्यून उष्ण होता है तथा बाह्य वातावरण के तापमान से कुछ प्रभावित होकर न्यूनाधिक भी होता है। आदिम पक्षी वर्ग के जो उदाहरण आदिपक्षी (आर्चियोपटेरिस) प्रस्तरावशेष रूप में मिलते हैं उससे हमें ऐसे जन्तु का रूप मिलता है जो सरीसृप से कुछ रूपान्तर कर रहा हो, परन्तु निस्सन्देह रूप से पक्षी भी न बन गया हो अतएव स्वभावतया आदिपक्षी के प्रस्तरावशेषों के संबन्ध में प्रश्न उठता है कि उसे पर युक्त सरीसृप ही माना जाय या सरीसृप रूप पक्षी कहा जाय। यही अवस्था अंडज-स्तनिनों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। वे ऐसे सरीसृप हैं जिसके शरीर पर रोम है तथा दुग्धग्रन्थियाँ हैं। अतएव उन्हें रोम एवं दुग्धग्रन्थि-धारी सरीसृप कहें या बहुत आरम्भिक सरीसृपीय स्तनपायी नाम दें।

आदिपक्षी के सम्बन्ध में जन्तुविज्ञान-वेत्ताओं ने शरीर पर पर होने से पक्षी होने का मत निर्धारित किया। इसी प्रकार रोम और दुग्धपायी ग्रन्थि के कारण अंडजस्तनिन (स्तनपायी) वर्ग में ही गिना जाना निश्चित किया गया है।

हंसकमुखी या बत्तखमुखी का अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक नाम ओर्निथोरहिंचस है। अंग्रेजी में डकबिल नाम का अर्थ बत्तक (हंसक) के समान आड़ी चपटी चोंच का जन्तु है। आकार साधारण बिल्ली के बराबर होता है। इसका शरीर स्थूलकाय होता है किन्तु पूँछ छोटी तथा चपटी होती है। चोटा मुँह होता है, जिसमें अगल-बगल की ओर निर्देशक नेत्र होते हैं। कान के आच्छादक पटों का न होना आदिम सरीसृपीय गुण नहीं माना जा सकता। हो सकता है कि विवरवासी वृत्ति होने के कारण इसके कर्णाच्छादक लुप्त हो गए हों। जलजीवी वृत्ति भी उसके लोप करने में सहायक हुई हो। इसके जबड़े, विशेषकर ऊपरी, एक चौड़ी, चपटी चोंच के रूप में होते हैं जिन पर रोमहीन त्वचा मढ़ी होती है। यह उसके बत्तखमुखी या हंसकमुखी नाम पड़ने का कारण है। इसके पैर अत्यन्त क्षुद्राकार होते हैं। प्रत्येक पैर में पाँच अँगुलियाँ होती हैं। पादांगुलियों के मध्य अँगुलिजाल (नर्म चर्मीय झिल्ली) होता है तथा प्रत्येक पादांगुलि पर एक बलिष्ठ पंजा (नखर) होता है। इन व्यवस्थाओं से उनमें विवर खोदने तथा जल में तैर सकने की शक्ति होती है। शरीर पर छोटे-छोटे मोटे भूरे बाल होते हैं। शरीर की लम्बाई में मध्यभाग में उदर की ओर दो छोटे-छोटे रोमहीन त्वचा के हल्के गड्ढे या पिचके चिन्ह होते हैं। प्रत्येक धब्बे के तल पर नलिकानुमा दुग्ध-ग्रन्थियों के गुच्छ के अनेक मुखद्वार खुलते हैं। उन रंध्रों से जो दूध स्वतः स्रवित होता रहता है उसी को उसके शिशु चूसते रहते हैं।

हंसकमुखी अर्द्ध जलजीवी जन्तु है। किसी सोते या तालब के भीटे में विवर खोदता है। विवर का मुख पानी के अन्दर होता है, किन्तु भीतरी सिरा कई गजों दूरी पर ऊँचे तथा शुष्क स्थल में रहता है। इसका आहार क्षुद्र-काय जलजन्तु होते हैं। इसमें शैशव काल में ही केवल दूध के दाँत होते हैं, परन्तु

बाद में दांत नहीं रहते। इस कारण ऊपरी तथा निचले दोनों जबड़े में शृङ्गीय पट्टियां ही कठोर कवच के जन्तुओं को कुचल कर खाने में सहायता करती हैं।

शल्य चींटीभक्षक (वज्राद)

शल्य चींटीभक्षक को एचिडना कहा जाता है। इसका आकार हंसमुखी ही के बराबर होता है किन्तु यह उससे कई बातों में भिन्न होता है। इसमें केवल नाममात्र की दुम ही होती है। चोंच पतली और तीव्र नोंकीली होती है। दांतों का सर्वथा अभाव होता है। प्रत्येक पैर में पांच पादांगुलियां होती हैं। उनके मध्य नर्म चमड़े वाली झिल्ली (अंगुलिजाल) का अभाव होता है। पंजे बहुत दृढ़ विकसित होते हैं। इसकी पीठ पर लम्बे कड़े शल्य निकले होते हैं जो साही के कांटों समान दीखते हैं। वे बालों के ही रूपांतर होते हैं। इन शल्यों के बीच-बीच साधारण मोटे बाल भी निकले होते हैं। उदर की ओर केवल मोटे बाल ही होते हैं।

शल्य चींटीभक्षक में भी हंसकमुखी की भांति कर्ण-आच्छादक पटों (कर्ण शष्कुली) का अभाव होता है। यदि होते भी हैं तो अत्यन्त अविकसित रूप में। दुग्धपायी अंग हंसकमुखी समान होते हैं परन्तु अन्तर यह होता है कि प्रत्येक दुग्धग्रन्थि एक चिपका स्थल बनाती है, जिससे एक छिछला स्थल बन जाता है जिसके पेंदे में दुग्ध-नलिका का मुख खुलता है। छिछले स्थल से कुछ बाल निकले होते हैं। कदाचित इनसे शिशु के मुख में दूध जाने में सहायता मिलती है। शिशुओं की चोंच इस गड्ढे में प्रविष्ट रहती है।

नवजात शिशुओं के पोषण-काल में उदर की त्वचा का एक अंश दुग्ध-ग्रन्थियों के क्षेत्र के निकट मुड़ा होता है जो एक अस्थायी शिशुधान (शिशु-पालन की थैली) निर्मित करता है। उसी अस्थायी शिशुधान में अंडा सेया जाता है तथा अंडे से बाहर होने पर भी शिशु कुछ समय तक उसी में रहता है। इस जन्तु का मस्तिष्क हंसकमुखी से अधिक विकसित होता है। इसका मस्तिष्क अपेक्षाकृत बड़ा होता है। हंसकमुखी के वृहद् मस्तिष्क का तल सपाट-सा होता है परन्तु उसकी अपेक्षा शल्य चींटीभक्षक में वृहद् मस्तिष्क का तल लहरियादार होता है। शल्य चींटीभक्षक जल से दूर ही रहता है और चींटी-चींटे खाकर जीवनयापन करता है। इसकी लम्बी जीभ चिपकन शक्ति युक्त होती है। यह इसकी विशेषता होती है। इसके दृढ़ पंजे चींटी का बिल खोद डालने में और गहरा बिल (विवर) बनाने में सहायक होते हैं।

अंडजस्तनिन के हंसकमुखी वंश में एक ही जाति हंसकमुखी या बत्तखमुखी नाम की होती है। शल्य चींटीभक्षक की दो या तीन जातियाँ या प्रजातियाँ एक दूसरा वंश बनाती हैं।

अंडजस्तनिन उपवर्ग के सभी जन्तुओं का निवास केवल आस्ट्रेलिया, टस्मानिया तथा न्यूगिनी में है।

शिशुधानी स्तनिन

शिशुधानी स्तनपायी कंगारू के समान जन्तुओं को कहते हैं। इन्हें अण्डज-स्तनिन तथा गर्भपोषी स्तनिन के मध्य का मानना चाहिये। कुछ बातों में ये अण्डज-स्तनिन के निकटवर्ती ज्ञात होते हैं तो कुछ बातों में गर्भपोषी स्तनिनों के निकटवर्ती हैं। इनकी मुख्य विशेषता शिशु को पालने के लिए शरीर में बाहरी थैली या शिशुधान होना है। शिशु-धानों के रूप तथा स्थान में भेद से अनेक जातियाँ होती हैं, परन्तु ऐसे भी जन्तु शिशुधानी उपवर्ग के माने जाते हैं जिनमें आज शिशुधानी का अभाव पाया जाता है, किन्तु अन्य लक्षणों से उनको इस उपवर्ग से पृथक नहीं किया जाता है। हमें कुछ गर्भ-पोषी जन्तु भी ऐसे मिल सकते हैं जिनमें नाममात्र के शिशुधान का चिन्ह आज भी विद्यमान है किन्तु इसी कारण उन्हें शिशुधानी वर्ग में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि वे तो नाममात्र का शिशुधान विकास-क्रम की पूर्व शृङ्खला ही व्यक्त करने के लिए क्षीण रूप में दिखाते हैं अन्यथा अन्य रूपों में उनको

विकास का मार्ग पकड़ कर गर्भपोषी जन्तुओं का स्थान ग्रहण किये पाया जाता है।

दाँतों की व्यवस्था के विचार से शिशुधानी स्तनिन को एक उपवर्ग रूप में मान कर भी तीन गणों या विभागों में विभाजित माना जाता है। दाँतों में आगे वाले कर्तनक या काटने वाले हैं। उनके पीछे दोनों पार्श्व में एक-एक कुकरदन्ता है। उनके पीछे चबाने वाले दाँतों से पहले वालों को अग्र चर्वणक और सबसे पीछे वालों को केवल चर्वणक या चहू के दाँत कहते हैं। इस दृष्टि से यदि क (कर्तनक), र (रदनक या कुकुरदन्ता), अ (अग्र चर्वणक) और च (चर्वणक) का संकेत बनाकर 'क ५, र १, अ ३, च ४' तथा 'क ४, र १, अ ३, च ४' कहा जाय तो यह समझ लिया जा सकता है कि प्रत्येक जबड़े के दाई या बाई ओर के भाग में इतने दाँत हैं। पहली व्यवस्था ऊपरी जबड़े की है और दूसरी निचले जबड़े की है। इसी को आप भिन्न रूप में सहज प्रकट कर सकते हैं :—

क, $\frac{५}{४}$, र$\frac{1}{1}$, अ$\frac{3}{3}$, च$\frac{४}{४}$

ऐसी दाँत की व्यवस्था एक शिशुधानी गण में होती है। ओपोसम, आस्ट्रेलिया के शिशुधानी मार्जार, शिशुधानी छछून्दर और शिशुधानी भेड़िए में इसी प्रकार की दन्तावली होती है। ओपोसम या छद्‌ममूर्च्छालु जन्तु इनमें अधिक प्रसिद्ध हैं। इसलिए इन सबको यदि ओपोसमरूप या छद्ममूर्च्छालु-रूप गण कहें तो अनुचित नहीं।

कंगारू की दन्तावली निम्न प्रकार की व्यवस्था रखती है ;—

क $\frac{3}{1}$, र $\frac{1}{०}$, अ $\frac{2}{2}$, च $\frac{४}{४}$

यह दन्तावली शाकाहारी जन्तुओं समान होती है। ऊपर के ओपोसमरूप गण के जन्तुओं में छोटे-छोटे कर्तनक दाँत ऊपरी जबड़े में चार या पाँच जोड़े और नीचे के जबड़े में कुछ कम होते हैं। कर्तनक दाँतों का आकार लगभग एक-सा होता है। कुकुरदन्ता बड़ा होता है। चर्वणक दाँत तीखे नोकों-युक्त होते हैं। उस दन्तावली को मांसाहारी ढंग का कहा जायगा। इसके विपक्ष कङ्गारू सरीखे जन्तुओं में प्रायः दो या कभी-कभी तीन जोड़े कर्तनक दाँत ऊपरी जबड़े में होते हैं। निचले जबड़े में केवल एक जोड़ा कर्तनक होता है। मध्यवर्ती जोड़े बहुत दृढ़ता से विकसित होते हैं। रदनक (कुकुरदन्ता) या तो रहता ही नहीं, या न्यून विकसित रहता है। चर्वणक दाँत कुचलने वाले होते हैं, उनमें कभी-कभी रेखा समान उभाड़ होते हैं। कंगारू तथा छोटे आकार के कंगारू समान वैलेबी शिशुधानी, शिशुधान ऋक्ष (वोम्बेट), फैलेंगर तथा कोआला में ऐसी दन्तावली होती है। इन जन्तुओं को कंगारूरूपगण कह सकते हैं।

शिशुधान स्तनिन में एक तीसरा गण भी होता है जिसे उपयुक्त दोनों गणों का मध्यवर्ती कह सकते हैं। उसकी जातियों के दाँतों का संख्याक्रम ओपोसमरूप गण के शिशुधानों सरीखे ही होता है परन्तु उन दाँतों का आकार बदला होता है और कंगारूरूप गण के अधिक अनुरूप होता है। इन्हें छोटे कुतरने वाले जन्तुओं (कृतन्क) के समकक्ष समझना चाहिए। अतएव इनको कृतन्क रूप गण या कृन्तकीय शिशुधानी गण कह सकते हैं।

शिशुधान स्तनपायियों का निवास आस्ट्रेलिया, टस्मानिया, न्यूगिनी तथा उस क्षेत्र के कुछ अन्य द्वीपों में पाया जाता है। किन्तु न्यूजीलैंड में या अन्य किसी भी भूभाग में ये जन्तु नहीं मिलते। केवल ओपोसम छद्ममूर्च्छालु जन्तु दक्षिणी अमेरिका और दक्षिणीपूर्वी उत्तर अमेरिका में और कृन्तकीय शिशुधान दक्षिणी अमेरिका में पाए जाते हैं।

गर्भपोषी स्तनिन

माता का दूध पीकर शैशव काल व्यतीत करने वाले जन्तुओं को ही स्तनधारी, स्तनपायी, दुग्धपायी आदि कहा जाता है। स्तनिन इन सबसे छोटा शब्द है, इसलिए स्तनधारी, स्तनपायी आदि की जगह उसका ही प्रयोग ऐसे जन्तुओं का वर्ग बदलाने के लिए सुगम हो सकता है। इस वर्ग के भी सूक्ष्म

विवेचन से अंडज स्तनिन, शिशुधानी स्तनिन, और गर्भपोषी स्तनिन नाम के तीन उपवर्ग बने हैं। इनको आज जन्तु जगत के प्राचीन विभेदों—अंडज, पिंडज आदि के भ्रामक रूप के स्थान पर वैज्ञानिक विभेद प्रकट करते पाया जाना है गर्भपोषी स्तनिन उपवर्ग बड़ा विशाल ही नहीं है, स्वयं मनुष्य भी उसी का एक भाग है, अतएव इस उपवर्ग का वर्णन जन्तु-जगत या स्तनपायी जगत् में मनुष्य का स्थान प्रकट करने के कारण भी अधिक महत्वपूर्ण हो सकता है।

गर्भपोषी जन्तुओं की उच्चता को महत्व प्रदान करने वाली प्रमुख शारीरिक रचना उन्नत रूप की विकसित कुक्षि या गर्भ-मंजूषा है। इन जन्तुओं का मस्तिष्क भी विशेष विकसित होता है।

गर्भपोषी स्तनिन की दन्तावली तथा पैरों की विभिन्न रचना के विचार से उनका श्रेणी-विभाग करना सुगम है। इन बातों का प्रभाव उनके आहार, निवास तथा रहन-सहन पर विशेष पड़ता है। सरीसृपों में तो दन्तावली एक समान दाँतों की होती है जिस कारण उन्हें समदन्ती कहा जाता है। परन्तु स्तनपायी जन्तुओं में दाँतों की संख्या, क्रम तथा रचना में विभेद होता है। इस कारण वे विषमदन्ती होते हैं। दन्तावली की संख्या प्रकट करने में उनके प्रत्येक प्रकार का एक संकेत अक्षर देकर बटा या भिन्न रूप में ऊपर और नीचे जो संख्या दी जाती हैं वे ऊपरी जबड़े तथा निचले जबड़े के एक पार्श्व के दाँतों का क्रम प्रकट करती हैं। उदाहरणतः यदि मनुष्य की ३२ दाँतों की दन्तावली का उल्लेख हो तो केवल आठ दाँतों को ही ऊपरी और निचले जबड़े में वर्णित किया जायगा। मनुष्य के प्रत्येक जबड़े के अर्द्ध या एक पार्श्व भाग में आठ-आठ दाँत मिल कर कुल दन्तावली की चौथाई संख्या ही प्रकट करते हैं अतएव उसे चौगुना करने पर पूर्ण संख्या ३२ ज्ञात होगी। बिल्ली की स्थायी दन्तावली का संख्या-क्रम निम्न प्रकार है।

क (कर्तनक) $\frac{3}{3}$, र (रदनक या कुकुरदन्ता) $\frac{1}{1}$, अ (अग्र-चर्वणक) $\frac{3}{2}$; च (चर्वणक) $\frac{1}{1}$

इस दन्तावली के संख्या-क्रम से प्रकट होता है कि ऊपरी जबड़े के एक ओर के भाग में ३+१+३+१ मिलकर कुल आठ दाँत हैं किन्तु निचले जबड़े में ३+१+२+१ मिलकर कुल सात ही एक ओर होते हैं। अतएव १५ दाँत एक ओर के दोनों जबड़े में होंगे। इसके दूने ३० दाँत पूर्ण दन्तावली में होंगे।

गर्भपोषी स्तनिन के विभिन्न गणों की आधुनिक जातियों के निवास या प्रसार-क्षेत्रों की चर्चा उनके वर्णनों के साथ की गई है। प्राचीन काल में उन जीवित जन्तुओं के पूर्वजों का प्रसार-क्षेत्र अन्यत्र भी हो सकता है या इन्हीं क्षेत्रों में कितनी विलुप्त जातियाँ भी प्रसारित रही होंगी जिनका स्मरण आज उनके कुछ प्रस्तरावशेषों द्वारा ही हो सकता है। उनका कुछ वर्णन 'विलुप्त जन्तु' नामक पुस्तक में पाया जा सकता है।

कीटभुज गण

कीटभक्षी या कीटभुज गर्भपोषी जन्तु क्षुद्रकाय होते हैं। क्षुद्रतम स्तनिन इसी में होते हैं। कतिपय वृक्षजीवी तथा विवरवासी कीटभुजों को छोड़ कर शेष में विशेष उच्च गुणों का अभाव होता है। दन्तावली पूर्ण होती है, परन्तु अनेक प्रकार के दाँत एक दूसरे से बहुत अधिक विभिन्न नहीं ज्ञात होते। इसका मुख्य आहार कीट होते हैं। साधारणतया प्रत्येक पैर में पाँच अंगुलियाँ होती हैं। प्रत्येक अंगुली में चंगुल होता है। पृथ्वी पर पूर्ण पञ्जे को रखकर चलते हैं। बृहद् मस्तिष्क का तल सपाट होता है।

कीटभुजों के नमूने छछून्दर, वृक्षजीवी छछून्दर, छछून्दरी और कण्टमूष हैं। कण्टमूष या कटीला चूहा देखने में शल्यकी या साही के समान शरीर पर काँटे उत्पन्न किए दिखाई पड़ता है परन्तु साही दूसरे गण का जन्तु है जिसे कुतरने वाले या कृन्तक

जन्तु कहते हैं। काँटों के आवरण से कण्टमूष के शरीर की रक्षा होती है। कीटभुज पूर्वी तथा पश्चिमी दोनों ही गोलार्द्धों में पाया जाता है किन्तु दक्षिणी अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड तथा उसके निकटवर्ती द्वीपों में नहीं पाया जाता। कण्टमूष केवल पूर्वी गोलार्द्ध में मिलता है।

चर्मपक्ष गण

चर्मपक्ष गण वृक्षजीवी स्तनिन हैं। इनके शरीर के दोनों पार्श्व भाग में त्वचा की एक चौड़ी पट्टी फैली होती है जो गर्दन से अगले पैर तक, अगले पैर से पिछले पैर तक और पीछे की ओर पिछले पैर से दुम तक प्रसारित होती है। पैर की उँगलियों में अङ्गुलिजाल (चर्मीय झिल्ली) होती है। पैर त्वचा की पट्टी से आगे की ओर निकले होते हैं। यह त्वचा की पट्टी शरीर में चिपकी रहती है, परन्तु जब जन्तु उड़ने की इच्छा करता है तो वह झिल्ली शरीर से बाहर की ओर प्रसारित होकर पंख-सा बन जाती है। ऐसे जंतु यथार्थ में पूर्णतः स्वतन्त्र उड़ान करते नहीं कहे जा सकते, बल्कि छतरी के समान चर्मीय प्रसारित पट्टी से शरीर को हवा में सम्भाल सकने के कारण कुछ दूर तक लम्बी उड़न-कुदान-सी कर लेते हैं। इनका मस्तिष्क आरम्भिक रूप का ही होता है। शरीर-रचना में ये कीटभुजों से ही होते हैं।

चर्मपक्ष गण में एक जाति का जन्तु ही होता है जिसे उड़ता लेमूर या कोलुगो कहते हैं। इसका प्रसार-क्षेत्र पूर्वी द्वीपसमूह है।

चर्मचटक गण

चर्मचटक गण उड़ाकू स्तनिन हैं। इनका पङ्ख एक त्वचा-जाल होता है जो मुख्यतः अगले पैर में पार्श्व भाग में आबद्ध होता है और पीछे की ओर फैल कर पिछले पैर में आ जुटा होता है। पिछले पैर से भी पीछे की ओर फैल कर किसी में यह पूँछ को भी सम्मिलित कर लिए होता है या उससे स्वतंत्र रहता है। केवल अंगूठे को छोड़कर शेष पादाङ्गुलियाँ अगले पैरों में बड़ी लम्बोतरी होती हैं और त्वचाजाल का कड़ी का काम करती है। त्वचा-जाल की अधिकांश भाग इन चार अंगुलियों पर ही आधारित होता है। अंगूठा उसमें भाग नहीं लेता। अंगूठे में एक पैना चंगुल होता है। पिछला पैर त्वचाजाल के सिरे से स्वतंत्र रूप में आगे निकला होता है। उसकी प्रत्येक अंगुली में पैने चंगुल होते हैं। चर्मचटक की दुम लम्बी, छोटी अथवा सर्वथा लुप्त हो सकती है। दन्तावली पूर्ण होती है, परन्तु बहुत अधिक विशिष्ट रूप धारण किए नहीं होती। वृहत मस्तिष्क क तल लहरियादार नहीं होता।

चर्मचटकों के दो उपगण हैं (१) फलभक्षी, (२) कीटभक्षी। फलभक्षी चर्मचटक का उदाहरण बड़े फलभक्षी चमगीदड़ हैं। उनके हाथ या अगले पैर की द्वितीय अंगुली तथा अंगूठे में चंगुल होते हैं। यदि दुम होती है, तो त्वचाजाल के पिछले भाग में सम्बद्ध नहीं होती। पूर्वी द्वीपसमूह के उष्णवर भागों में ये पाए जाते हैं।

कीटभक्षी चर्मचटक का उदाहरण छोटे आकार के विशेषतया कीटभक्षी चमगीदड़ हैं किन्तु दक्षिणी अमेरिका का वैम्पायर चमगीदड़ स्तनिनों का रक्त चूसता है और उन्हें काटता है। हाथ की दूसरी अंगुली में चंगुल नहीं होता। यदि दुम होती है तो पिछले त्वचाजाल में सम्बद्ध होती है। इसकी अनेक जातियाँ हैं जो संसार भर में उपयुक्त वातावरणों में मिलती हैं।

कृन्तक गण

कृन्तक गण या कुतर कर खाने वाले जन्तु क्षुद्रकाय तथा मुख्यतया शाकाहारी होते हैं। इनके दाँत कठोर वस्तुएँ काट सकने योग्य होते हैं। कर्तनक (आगे के दाँत) एक जोड़ा ऊपरी जबड़े और एक निचले जबड़े में होते हैं। वे लम्बे रुखानी समान होते हैं। उनमें दन्तवेष्ठ (इनेमल) नामक श्वेत रक्षक आवरण केवल शीर्ष के सामने के तल पर ही प्रायः मोटी तह में मढ़ा होता है, शेष भाग में वह पतली तह में ही होता है या उसका सर्वथा अभाव ही

रहता है। इस प्रकार कुतर सकने के लिए पैना छोर रक्षित रहता है। रदनक (कुकुरदन्ता) होता ही नहीं। कर्तनक तथा चर्वणक (चहू के दाँतों के मध्य मसूड़े में लम्बा रिक्त स्थान होता है। चर्वणक का ऊपरी सिरा चपटा होता है जिससे कुचलने और पीसने का काम लिया जा सके।

निचला जबड़ा जिस तल पर स्थित होता है, वह ऐसा लम्बा बना होता है कि आगे तथा पीछे खिसक सके। जब वह पीछे की स्थिति में होता है तो ऊपरी तथा निचले दोनों जबड़ों के चर्वणक दाँत मिल जाते हैं किन्तु कर्तनक दाँत नहीं सट सकते। पिछले जबड़े के कर्तनक दाँत ऊपरी जबड़े के कर्तनक दाँतों के पीछे ऊपर निकल गए होते हैं। जब कर्तनक दाँतों से कुतरने का काम लेना हो तो निचले जबड़े को अवश्य ही आगे की ओर रखना पड़ेगा जिससे दोनों जबड़ों के कर्तनक मिल सकें किन्तु उस समय दोनों जबड़ों के चर्वणक दाँत साथ नहीं मिल सकते। ऐसी स्थिति के कारण कुतरने और चबाने की क्रियाएँ साथ-साथ नहीं की जा सकतीं। चबाने के समय निचला जबड़ा कुछ आगे-पीछे होता रहता है।

कृन्तकगण चलने में अपने पंजे पूरी तरह भूमि से स्पर्श कराते हैं। हाथ या अगले पैरों में अंगूठा छोटा होता है या बिल्कुल ही नहीं होता है। पिछले पैर में अंगुलियों की संख्या और भी न्यून हो सकती है। अंगुलियों में चंगुल होते हैं जो कभी-कभी इतने कुन्द होते हैं कि छोटे खुर समान बन गए होते हैं।

कृन्तक स्तनिनों के उदाहरण मूष, मूषक (चूहे-चूहियाँ) कलन्दक (गिलहरी), सेतुद्र (बीवर), शल्यकी (साही) आदि हैं। शल्यकी या साही के रूप उसके शरीर पर लम्बे-लम्बे कांटों के कारण भूल सकना कठिन है। इसके समान छोटे रूप का कंटकधारी जन्तु कण्टमूष कीटभुज गण का होता है। सबसे बड़े आकार का कृन्तक दक्षिणी अमेरिका का केपीबारा नामक अर्द्ध जलजीवी जन्तु होता है जिसकी लम्बाई चार फुट होती है। कलन्दक (गिलहरी) की दन्तावली निम्न प्रकार की होती :—

क $\frac{१}{१}$, र $\frac{०}{०}$, अ $\frac{२}{१}$, च $\frac{३}{३}$

कृन्तकगण में अन्य किसी भी स्तनिनगण से अधिक संख्या की जीवित जातियाँ पाई जाती हैं। कुछ लोग कृन्तक की ३००० जातियाँ बताते हैं। ये अधिकांश स्थलजीवी होते हैं। कुछ विवरवासी और कुछ वृक्षजीवी होते हैं। अल्प-संख्यक रूप में जलजीवी या अर्द्ध जलजीवी भी होते हैं। उड़ाकू गिलहरी चर्मीय झिल्ली से उड़नकुदान कर लेती है। गिनी सूअर छोटे आकार रखते हैं।

कृन्तक जन्तु का प्रसार सारे संसार के उपयुक्त वातावरणों में पाया जाता है। दक्षिणी अमेरिका में इनकी संख्या अधिक हैं। आस्ट्रेलिया और मेडागास्कर में अपेक्षाकृत न्यून संख्या में पाये जाते हैं।

शश गण

शश गण में ऊपरी कर्तनक दो जोड़े होते हैं, पीछे वाले कर्तनक के जोड़े बहुत छोटे हैं। निचले जबड़े में एक जोड़ा कर्तनक होते हैं। पूँछ नाममात्र को होती है। शश गण की दन्तावली निम्न संख्या-की होती है :—

क $\frac{२}{१}$, र $\frac{०}{०}$, अ $\frac{३}{२}$, च $\frac{३}{३}$

शशगण में तीन जातियाँ ही पाई जाती हैं। खरगोश की ही दो जातियाँ होती हैं जिनमें एक शशक (रैबिट) कहलाती है। दूसरी को शश कहते हैं। शशगण की तीसरी जाति पाइका होती है। यह गण वैज्ञानिक विवेचन के पश्चात् कृन्तकगण से पृथक माना गया है।

शशगण का प्रसारक्षेत्र पूर्वी तथा पश्चिमी गोलार्द्धों के उपयुक्त वातावरण में विशेषतया उत्तर-खण्डों में है। आस्ट्रेलिया तथा मैडागास्कर का निवासी नहीं है।

शाखालंबिन रूपगण

शाखालम्बिन या स्लाथ आज के जन्तु-जगत के विचित्र जंतुओं में प्रसिद्ध हैं। उसके शरीर की कशेरुकाओं का पारस्परिक जोड़ दुहरे रूप में होता है जो केवल कुछ सरीसृपों में अवश्य पाया जाता है।

किन्तु अन्य स्तनिनों में नहीं पाया जाता। केवल आर्मांडिलो तथा चींटीभक्षक कंकाल-रचना में स्लाथ की समानता प्रकट करते हैं इसलिये इनको एक पृथक गण में विभाजित माना गया है। इनमें दन्तावली कभी पूर्ण नहीं पाई जाती। कर्तनकों का अभाव होता है। रदनक भी नहीं होते परन्तु किसी-किसी में सब से पहले के अग्र-चर्वणक रूप में प्रकट हो सकते हैं। चर्वणक दाँत छोटी कीलों रूप में जबड़े के प्रत्येक पार्श्वभाग में ४ से लेकर १० तक हो सकते हैं। किंतु किसी-किसी में २० या २५ तक जबड़े के पार्श्वभाग में हो सकते हैं। वयस्क जंतुओं में दन्तवेष्ठ (इनेमल) नहीं होता। पुराने दाँत घिस जाने पर उनकी जगह बराबर नये दाँत निकल आते रहते हैं। इस गण की कुछ जातियों के वयस्क जन्तुओं में दाँतों का सर्वथा अभाव होता है। अंगुलियों में चंगुल प्रायः बड़े लम्बे, मुड़े हुए तथा अत्यधिक विकसित होते हैं। मस्तिष्क आदिम रूप का होता है।

आधुनिक स्लाथ वृक्षजीवी होते हैं। उनका वृक्षजीवन विचित्र होता है। अधिकांश वृक्षजीवी स्तनिन विशेष रूप से नाटे होते हैं। गिलहरी तथा बन्दर उदाहरण स्वरूप कहे जा सकते हैं किन्तु स्थलों का आकार एक छोटी बिल्ली के समान आकार से लेकर बिल्ली के चौगुने या पँचगुने तक होता है। उनका शरीर तो छोटा होता है और पैर लम्बे होते हैं। अपनी लम्बी अँगुलियों के लम्बोतरे अत्यधिक वक्र चंगुलों को शाखा के ऊपर अँटका कर यह अपना शरीर शाखा के नीचे लटका लेता है। इस अवस्था में लटका रहकर ही स्लाथ धीरे-धीरे भद्दे रूप में उल्टे रेंगता रहता और चारों ओर फैली पत्तियों को खाता रहता है। भूमि पर तो यह बड़ी ही कठिनाई से रेंग कर किसी प्रकार चलने का स्वांग कर सकता है। इसके बाल लम्बे, मोटे और भूरे होते हैं किन्तु उस पर अलगा (सूक्ष्मदर्शकीय वनस्पति) आ उगते हैं। इस कारण बालों का रङ्ग पत्तों-सा हरा होकर उसे छिपा रखने में सहायक होता है। प्रत्येक अर्द्ध हनु (जबड़े) में चार या पाँच चर्वणक ही उसकी कुल दन्तावली होती है। उसमें भी सबसे पहले वाला चर्वणक कदाचित रदनक ही होता है। ग्रीवा भाग की रचना तीन पादांगुलियों के स्लाथ में तो कशेरुकाओं के पृष्ठवंश से हुई रहती है। परन्तु दो पादांगुलियों के स्लाथ, में केवल छः कशेरुकाओं का ग्रीवा के पृष्ठवन्श में स्थान होता है।

चींटीभक्षक या चींटीखाद रोमीय शरीर के जन्तु हैं। किसी-किसी में तो बहुत अधिक बाल होते हैं। विशेषतया पूँछ के बाल अधिक लम्बे होते हैं। अपने विशेष प्रकार के आहार के लिए ये विशेष रूप का थूथन रखते हैं जो लम्बा और पतला होता है। उसमें चिपकन जीभ भी लम्बी होती है जिससे बिल की गहराई से भी दीमक, चींटी, चींटे आदि पा सकें। बिल खोदकर भी इनको वे खाते हैं। वयस्क चींटी-भक्षक (वम्राद) सर्वथा दन्तहीन होते हैं। सबसे लम्बकाय चींटीभक्षक महाचींटी-भक्षक कहलाता है जिसकी लम्बाई थूथन के सिरे से लेकर पूँछ की छोर तक सात फुट होती है। कुछ क्षुद्रकाय चींटी-भक्षक वृक्षजीवी होते हैं और उनकी लम्बी दुम ग्राही (कोई वस्तु लपेट सकने योग्य) होती है।

आर्मांडिलो में सरीसृप के रूप का धोखा होने के लिए चर्मीयस्तर के स्थान पर अस्थिपट्टिकाओं का भारी वर्म ऊपर से शृङ्गीय शल्कों से आच्छादित होता है किन्तु इन शल्कों (छिछड़ों) के बीच-बीच में मोटे रोम भी निकले होते हैं जो इसे स्तनिन होना सिद्ध करते हैं। धड़ क्षेत्र में अस्थिपट्टिकाएँ प्रायः क्षुद्रकाय और वर्गाकार सी होती हैं और आड़ी पट्टियों रूप में होती हैं जिनकी संख्या विभिन्न जातियों में विभिन्न होती है। स्कंध तथा कमर के अन्तिम भाग में बड़ी-बड़ी पट्टिकाएँ हो सकती हैं। प्रत्येक पार्श्व हनु में ८ से १० तक दाँत हो सकते हैं किन्तु भीमकाय आर्मांडिलो में २५ तक होते हैं। इस प्रकार गर्भपोषी स्तनिनों की दन्तावली की साधारण संख्या से वे बहुत ही अधिक होते हैं।

आर्मांडिलो का आकार चूहे के बराबर से लेकर पूँछ मिलाकर ४ या ५ फुट तक लम्बा होता है।

[शेष पृष्ठ ८५ पर]

मनोविज्ञान शब्दावली

श्री पुत्तन लाल विद्यार्थी

(गत अंक से आगे)

Psychologist मनोवैज्ञानिक
Psycho-neurosis मनःस्नायुरोग
Psycho, obsessional मानसिक आवेश
Psycho-pathology मनोरोग विद्या, मनोविकार
Psycho-physical मानस-भौतिक
Psychosis मनोरोग
Pugnacity झगड़ालूपन, युयुत्सा
Pulsation स्पंदन
Pupil पुतली
Purposive आभिप्रायिक, हेतुपूर्वक
— action आभिप्रायिक कार्य, प्रयोजनीय क्रिया, हेतुपूर्ण कार्य
Qualitiative गुणात्मक, गुणीय
Quantitative परिमाणात्मक, मात्रिक
Race गति (बं०)
Radiation विकरण (बं०)
Radical अतिवादी, उग्रवादी
Random movement अक्रम गति (बं०)
Range गोचर, अवधि, पहुँच, मार
Ratio निष्पत्ति, अनुपात
Rational युक्तिसिद्ध, तर्कसंगत, बुद्धि-जीवी
Rationalist युक्तिवादी (बं०), हेतुक (बं०)
Rationalism युक्तिवाद, तर्कवाद
Rationalization युक्त्याभास, युक्तीकरण
Reaction प्रतिक्रिया (बं०)
Reaction time प्रतिक्रिया काल
Ready reference तत्काल द्योतक
Real वास्तविक
Realisation अनुभूति
Realism वास्तववाद (बं०)
Reality चरम तत्त्व
Reason हेतु
Recall पुनरावाहन, पुनरावृत्ति
Receiver ग्राही यंत्र
Recency साम्प्रत्य (बं०), नवीनता
Receptive ग्राही (बं०), ग्राहीय
Receptor ग्राहक
Reciprocity व्यतिहार (बं०)
Recognition पहिचान, प्रत्यभिज्ञा
Redirection मार्गान्तरीकरण
Reflection परावर्त्तन, मनन
Reflex प्रतिवर्त्त
— action सहज क्रिया, प्रतिवर्त्त क्रिया
— conditioned आपेक्षिक प्रतिवर्त्त, सहेतुक-प्रतिवर्त्त
— unconditioned अनापेक्षिक प्रतिवर्त्त, हेतुहीन-प्रतिवर्त्त
Regression प्रत्यावृत्ति
Regulation सुव्यवस्था, नियंत्रण
Regulator नियंत्रक, नियामक, सुव्यवस्थापक
Regulate नियंत्रीकरण, नियमन, सुव्यवस्थीकरण
Reinforce संकरण
Relative सापेक्ष. सापेक्षिक (बं०), संबंधी
Relativity आपेक्षता (बं०)
— theory of सापेक्षवाद
Relaxation आराम, श्लथन

Reliability विश्वसनीयता, विश्वासपात्रता
Relief निवृत्ति (बं०), अवकाश
Remorse अनुताप (बं०), पश्चात्ताप
Remote दूर
Renaissance पुनर्जागृति
Repetition पुनर्वृत्ति (बं०), दोहराना
Repressed अवदमित
Reproduction जनन (बं०)
Repulsion विकर्षण (बं०)
Resistance बाधा, प्रतिबंध (बं०)
Resonance अनुनाद (बं०), प्रतिध्वनि
Respond प्रतिवेद
Rest विश्राम, विराम (बं०)
Retention धारण
Retina अक्षि-पट (बं०)
Retrogression प्रतीयगति (बं०)
Rhythm छन्द (बं०), लय, तालबद्ध
Rhythmic movement छांदस गति (बं०), तालबद्ध गति
Right knowledge प्रमा
Rivalry प्रतियोगिता, प्रतिद्वंद्विता
Rote learning रटकर सीखना
— memory रटंत स्मृति
Sacral अनुत्रिका
Sacrum त्रिक (?)
Sadism धर्षकाम (बं०), परदुःखे सुखानुभव
Salivary gland लाला ग्रन्थि
Satisfaction संतोष
Saturate संतृप्तिकरण
Savage बर्बर
Scale मान, मापक
— Graduated अंशित मानदंड
— musical स्वर ग्राम मान
— Pan तुल-पात्र (बं०
Scepticism संदेहवाद (बं०)
Schematic योजनीय, परिकल्पनीय (बं०)

Scheme परिकल्प बं०), योजना
School संप्रदाय (बं०)
Science विज्ञान
Scoring method गणना-पद्धति
Screen पर्दा (बं०), आवरण
— memory आवरक स्मृति
Section भेदन
— vertical लंब भेदन
Selection चयन, चुनना
Selective चयनित
Self आत्मा, अहं, स्व
— —assertion आत्म साम्मुख्य (बं०)
— —conscious आत्म चेतन (बं०)
— —consciousness आत्म-चेतना (बं०)
— —evident स्वतः स्पष्ट
— —feeling आत्म-भावना
— —regard आत्म-श्रद्धा
— —regarding instinct आत्म-श्रद्धा सहज प्रवृत्ति
— —willed स्वसंकल्पी
Semi-circular canal अर्धवृत्ति नालिका
Sensation संवेदन (बं०)
Sensationalism संवेदवाद (बं०)
Sense वेदन
— muscle पेशीय वेदन
— of guilt अपराध वेदन
— of inferiority निम्नता वेदन, हीनता वेदन
— organ ज्ञानेन्द्रिय
— tendinous शिरावेदन
Sensorial reaction वेदन प्रतिक्रिया
Sentiment स्थायी भाव, रस (बं०), मनोभाव
Sensory ज्ञानवाही वेदनवाही
— motor गतिवेदन, चेष्टावेदन
— area वेदन-क्षेत्र
— nerve वेदन-स्नायु

Sex योनि
Sexual योनि सम्बन्धी, कामज
— instinct काम प्रवृत्ति, सहज योनि प्रवृत्ति
— pleasure काम सुख
Sexology काम-विज्ञान
Simple सरल (बं०)
— reflex सरल प्रतिवर्त्त
Simultaneous साथ-साथ, युगपत (बं०)
Sin पाप
Skill दक्षता, निपुणता, प्रवीणता, कुशलता
Skilful निपुण, दक्ष, प्रवीण, कुशल
Skin चर्म (बं०), खाल
Skull खोपड़ी, शिरोस्थि
Sleep निद्रा (बं०), नींद
Slot खाँच, लम्बा छेद
Social psychology समाज मनोविज्ञान
Society समाज
Socket कटोरिका, कटोरा
Solution हल, घोल
Somnambulism स्वप्नचारिता (बं०)
Sound शब्द, ध्वनि
Sounder, Morse मार्स शब्दक
Sour खट्टा, अम्लीय
Space देश, आकाश, स्थान
— error देश-त्रुटि
— perception देश-प्रत्यक्ष (बं०)
— time continuum देश-काल संतति (बं०), देशकाल प्रसार
Span विस्तार (बं०), बालिश्त
Specific आपेक्षिक, विशेष (बं०)
— energy आपेक्षिक शक्ति, विशिष्ट शक्ति
Spectrum वर्णालि
Speculation सट्टा, काल्पनिक विचार
Speculative काल्पनिक-विचारात्मक
Speed चाल
— Counter चाल-गणक
— indicator चाल-सूचक
— recorder चाल-लेखक
Specialization विशेषज्ञता
Sphygmograph धमनीगति सूचक यन्त्र
Spinal column मेरु दंड
— cord सुषुम्ना
Spine पृष्ठवंश
Spiritualism अध्यात्मवाद, प्रेतवाद
Spontaneous स्वतः व्यक्त
Spontaneity स्वतः वृत्ति (बं०)
Sprinkling सेवन (बं०), छिड़कना
Spurt उत्क्षेप (बं०)
Stable मजबूत, सुस्थित (बं०), स्थिर, स्थायी
Stage रंगमंच, क्रम, दशा, अवस्था (बं०), सोपान
Stage by stage दशाशः, अवस्थाशः
Standard प्रमाण (बं०), प्रमाणीभूत
Standardization प्रमाण विधान, प्रमितीकरण
State of Consciousness चेतनावस्था
Static स्थित्यात्मक
Stationary स्थावर
Steadiness-tester चांचल्य मापक (बं०), स्थिरता,
Stereoscope घनदृक (बं०)
Stimulation उत्तेजन, उद्दीपन
Stimulus उत्तेजना
error उत्तेजना त्रुटि
Stream of Consciousness—चेतना प्रवाह
Strength मजबूती
String डोरी, सूत्र (बं०), लड़ी
Structure गठन, बनावट
Structuralism—गठनवाद
Stupor स्तम्भ (बं०)
Sub-consciousness अवचेतना, उपचेतना
Subject विषय
Subject matter विषय सामग्री
Subjective आत्म सम्बन्धी, स्वसहित, स-स्व
attitude स्वांतरीय दृष्टिकोण

Subjectivism आत्मवाद
Sublimation उद्‌गति (बं०)
Sublime महत् (बं०), शोधीकृत, उदात्त
Submission वश्यता (बं०) आश्रित होना
Substance सार
Substitute प्रतिकल्प, उपकल्प
Succession उत्तरवर्त्तन
Suggestible अभिभाव्य (बं)
Suggestibility अभिभाव्यता (बं०), अभिभाविता (बं०)
Suggestion सुझाव
Suggestive सुझावीय
Super-ego अधिशासिता (बं०)
Supernatural अतिप्राकृतिक, अतिप्राकृत, अधिप्राकृत
Supplementary पूरक, संपूरक (बं०)
Supposition अस्थायी मान्यता
Suppressed निरुद्ध (बं०) दबित (दबा हुआ)
Surprise विस्मय (बं०), आश्चर्य
Survey निरीक्षा (बं०), सरसरी निगाह, नेत्र-मापन
Suspension लटकना
Swimming संतरण, प्लावनम्
Syllogim त्रिपार्श्वक तर्क
Symbol प्रतीक (बं०)
Symbolic action प्रतीक क्रिया (बं०)
Symbolism प्रतीकता (बं०), संकेत विद्या
Symmetrical सुसंगठित, समांगित
Symmetry समांगता
Sympathetic संवेदी (बं०)
nervous system संवेदी स्नायुमंडल
Sympathy सहानुभूति
Symptom लक्षण (बं०)
Symptomatic लाक्षणिक (बं०)
Term शब्द, नाम, पद
Test जाँच, परीक्षा (बं०)
Testimony साक्ष्य (बं०)
Testing जांच करना, परीक्षण
Test Tube परखनली
Texture बिनावट, ग्रथन
Theology ईश्वर-विज्ञान
Theorem प्रमेयोपपाद्य
Theory सिद्धांत, वाद (बं०)
Therapeutic भैषज
Therapy चिकित्सा (बं०)
Thesis वाद, प्रलेख
Thinking चिंतन (बं)
Third dimension तृतीय मात्रा (बं०), तृतीय विस्तार, तृतीय मान
Thought चिंतना, विचार
— transference चिंतना-संक्रम, विचार-संक्रम
Thread सूत्र, तागा, तंतु
Threshold चौखट, देहली
Thymus gland चुल्लिका
Thyroid आयोडीन-ग्रन्थि, कंठग्रन्थि
Tickle गुदगुदाहट, सुरसुराहट
Timbre उपस्वन (बं०)
Time काल (बं०), समय
— marker काल-मापक
Tint आभा (बं०), उपरंज, वर्णोल्पता
Tonal fusion स्वनयुक्ति (बं०)
Tone स्वन (बं०)
Tonus आतति (बं०)
Toothed wheel दंतुर चक्र (बं०)
Topographical दैशिक, सांस्थानिक (बं०)
Topography संस्थान
Total situation समग्र स्थिति
Trait प्रलक्षण (बं०)
— special प्रलक्षण विशेष
Trance उपसमाधि
Trantcendental अनुभवातीत, तुरीय

Transcendentalism तुरीयवाद
Transfer संक्रमण
Transference संक्रमणता
Transformer संक्रमणकारी
Transmitter प्रेषक (बं०)
Transparent पारदर्शक
Trial and error प्रयत्न और त्रुटि, परीक्षा-भूल-सुधार
Tropic action उष्णदेशीय प्रभाव
Trial error method प्रयत्न त्रुटि पद्धति, परीक्षा-भूल-सुधार-पद्धति
Try यत्न
Tuning fork स्वन सूचक कांटा
Twilight-vision संध्या-दृष्टि (बं०), अल्प प्रकाशीय दृष्टि
Type जातिरूप (बं०)
— psychological मनोवैज्ञानिक अतिरूप
Typical dream बहुदृष्ट स्वप्न
Unconditioned उपाधि रहित, बिना-शर्त
Unconscious अचेतन
Unconscious-consciousness अचेतना-चेतना, अज्ञात-चेतना
Understanding बोध (बं०)
Under-stimulus ऊन उत्तेजना
Uniform सम
Unit इकाई, एकाई
Unity एकत्व (बं०)
Unlearnt असीखित, शिक्षा-विस्मृत
Unstable अस्थिर, अप्रतिष्ठ (बं०)
Use उपयोग
Utilitarianism उपयोगवाद
Validity सत्यता
Variable परिवर्त्तनशील, भेद्य (बं०)
Variety प्रकार
Vasometer वाह नियामक (बं०)
Vibration कंपन
Viscera आन्तर यंत्र
Vision दृष्टि (बं०)
— binocular द्विदृक् दृष्टि
— daylight दिवा दृष्टि
— twilight अल्प प्रकाश दृष्टि
Vital capacity सत्त्व क्षमता, वीर्य क्षमता
Vitalism सत्त्ववाद, वीर्यवाद
Vividness विस्पष्टता (बं०), सुस्पष्टता
Violet बैंजनी
Vocal कंठ्य (बं०)
— cord कंठ्य-तन्त्री, स्वरतंत्री
Vocation वृत्ति (बं०), पेशा
Vocational वृत्तीय बं०)
Volition इच्छा (बं०)
Voluntary ऐच्छिक
Warmth उष्णता
War-neurosis युद्ध-स्नायु-रोग
Wave लहर, तरंग (बं०)
Weight भार
Wheel चक्र (बं०) पहिया
Wholeness समग्रता
Width चौड़ाई
Will संकल्प, कृति-शक्ति
Will-power संकल्प शक्ति
Winding वेष्टक (बं०), घुमावदार
Wire तार
Wish इच्छा
Wit सूक्ष्म, प्रगल्भता
Woman नारी (बं०) स्त्री
Wonder आश्चर्य
Word शब्द, वाचक
Yawning जृम्भन (बं०)
Zone मंडल (बं०)
— retinal अक्षिपट मण्डल

टिड्डियों के विरुद्ध लड़ाई

जोधपुर : टिड्डियाँ किसान की सबसे पुरानी और भयंकरतम शत्रु हैं। यही कारण है कि इस देश पर टिड्डियों का आक्रमण होते ही कृमि-शास्त्री डी० आर० भाटिया के नेतृत्व में भारत के केन्द्रीय टिड्डी-नाशक संघटन के टैक्निशियनों ने उनके विरुद्ध तुरन्त ही नभ और स्थल मार्ग से जबर्दस्त कार्रवाई शुरू कर दी। पिछले १५ वर्षों में इस उपमहाद्वीप पर टिड्डियों द्वारा किये गये हमलों में यह सबसे बड़ा आक्रमण है।

टिड्डी-नाशक संघटन का सबसे अधिक ध्यान उस विशाल मरुस्थल की ओर है, जिसमें राजस्थान के बहुत बड़े भाग के अलावा पंजाब, बम्बई राज्य, सौराष्ट्र और कच्छ के वे प्रदेश भी शामिल हैं जिनकी सीमाएँ राजस्थान की सीमाओं से मिलती हैं। पश्चिम की ओर से जिन टिड्डियों द्वारा प्रतिवर्ष भारत पर आक्रमण किया जाता है, वे इन इलाकों में ही बैठकर अंडे देती है। टिड्डी-नाशक संघटन इस प्रयत्न में रहता है कि इन रेतीले मैदानों में अंडे देने से पहले ही टिड्डियों को मार दिया जाये, अण्डों से बच्चे निकलने से पहले ही उन्हें नष्ट कर दिया जाये और पंखविहीन टिड्डियों को पर निकलने से पहले ही समाप्त कर दिया जाये। टिड्डी-नाशक संघटन ने इस कार्य के लिए पूरे समय तक काम करने वाले कर्मचारी नियुक्त कर रखे हैं। इन कर्मचारियों को इस कार्य में भारत के लाखों किसानों का सहयोग प्राप्त है।

यदि भारत के किसी गांव पर हुए टिड्डियों के हमले का समाचार टिड्डी-नाशक संघटन के जोधपुर-स्थित प्रधान कार्यालय में पहुंचाना हो तो वह तुरन्त ही पहुँचाया जा सकता है—चाहे वह गांव जोधपुर से कितनी ही दूर क्यों न हो। वायरलेस सम्बन्धी व्यवस्था के कारण उपर्युक्त संघटनों को तुरन्त ही गुप्त सन्देशों द्वारा यह मालूम हो जाता है कि टिड्डियाँ किस क्षेत्र में हैं, उनका विकास कहाँ तक हुआ है और उनके विनाश के लिए कैसी सहायता की आवश्यकता है। जिन स्थानों में वायरलेस द्वारा समाचार भेजने की व्यवस्था न हो, वहां से टेलीफोन, तार या डाक से समाचार प्राप्त होते हैं। अक्सर किसान ऊँटों पर सवार होकर टिड्डियों के आक्रमण का समाचार देने आते हैं। कभी-कभी लोगों को परिवहन की कोई भी व्यवस्था न होने के कारण दूर के इलाकों से पैदल ही आना पड़ता है।

मौत के घेरे में

टिड्डियों के आक्रमण का समाचार चाहे जिस ढंग से भी प्राप्त हो, टैक्निशियनों का दल कीटमार दवा और दवा छिड़कने वाले यन्त्रों को लेकर तुरन्त ही जीप, ट्रक अथवा ट्रैक्टर पर सवार होकर संकटग्रस्त इलाके की ओर रवाना हो जाता है। आवश्यकता प्रतीत होने पर कीटमार दवा छिड़कने वाले वायुयान भी रवाना कर दिये जाते हैं। यदि संकटग्रस्त क्षेत्र में पहुँचने के लिए सड़क हो तो कुछ ही घन्टों में और यदि वह क्षेत्र अधिक दूर हो तो अगले दिन तक टिड्डियाँ मौत के घेरे में आ जाती हैं।

टिड्डी-नाशक कार्रवाइयों का संचालन युद्ध के ढंग पर किया जाता है। इस कार्य के लिए ८०,००० वर्गमील से अधिक मरुभूमि में ८७ चौकियाँ स्थापित की गई हैं। ये चौकियां टिड्डियों की हलचलों पर चौबीसों घण्टे निगाह रखती हैं। टिड्डी-नाशक कार्रवाई की दृष्टि से मरुभूमि को तीन 'सर्किलों' में बांटा गया है—जोधपुर (केन्द्रीय) सर्किल, बीकानेर (पूर्वी) सर्किल और पालनपुर (बम्बई) या पश्चिमी

सर्किल। जोधपुर सर्किल का काम सारे कार्यक्रम में तालमेल रखना है। प्रत्येक चौकी में एक या उससे अधिक टिड्डी-नाशक टुकड़ियाँ होती हैं। ये टुकड़ियाँ संकट-ग्रस्त क्षेत्रों में जाकर जाँच-पड़ताल करती हैं और वापस लौटकर उसकी रिपोर्ट देती हैं। प्रत्येक सर्किल आवश्यक कार्रवाई का आदेश देता है और इसकी सूचना जोधपुर-स्थित प्रधान कार्यालय को भी दे देता है।

गांव वालों का सहयोग

टिड्डी-नाशक कार्रवाई में गाँव वाले भी महत्व-पूर्ण भाग लेते हैं। किसान और उनके परिवार के लोग चार-चार या पाँच-पाँच व्यक्तियों की टोलियाँ बना लेते हैं। वे अपने खेतों के आस-पास खंदकें खोद लेते हैं और झाड़ूओं की मदद से टिड्डियों के बच्चों को उन खंदकों में फेंक कर दबा देते हैं। कभी-कभी टिड्डियों को झाड़ियों के पास इकट्ठा करके आग लगा दी जाती है। किसान लोग टिड्डियों को मारने के लिए टिड्डी-नाशक चूर्ण का भी प्रयोग करते हैं। यह चूर्ण उन्हें टिड्डी-नाशक संघटन की ओर से मुफ्त प्रदान किया जाता है।

किसान के लिए टिड्डियों के विरुद्ध संघर्ष करने का अर्थ है अपनी रोटी के लिए संघर्ष करना। प्रसंगवश, मरी हुई टिड्डियाँ खाद के रूप में प्रयोग के लिए बहुत उत्तम होती है। इस प्रकार, जो किसान अपने खेत में भारी संख्या में टिड्डियों को मारता है, उसकी फसल उस बार बहुत अच्छी होती है।

निकटपूर्व और अफ्रीका के अधिकांश राष्ट्रों की भाँति भारत को भी सदियों से टिड्डियों की समस्या का सामना करना पड़ रहा है। टिड्डियों का स्थायी घर अरब, अफ्रीका और ईरान में है। टिड्डियाँ इन प्रदेशों में वसन्त में अण्डे देती हैं और गर्मियों के शुरू में इन प्रदेशों के खुश्क होते ही ये पूर्व की ओर पहले पाकिस्तान पर फिर भारत पर धावा बोलती हैं। बरसात के दिनों में रेतीली भूमि न तो अधिक सख्त होती है और न अधिक आर्द्र ही। इसलिए राजस्थान की मरुभूमि अण्डे देने के लिए बहुत उपयुक्त है। कुछ टिड्डी-दल उड़ते हुए पंजाब, पेप्सू और उत्तर प्रदेश, और कभी-कभी बिहार और आसाम तक, पहुँच जाते हैं किन्तु इन प्रदेशों में भारी वर्षा होने के कारण ये टिड्डी-दल फिर राजस्थान को लौट जाते हैं।

गत वर्ष भारत में टिड्डियों का प्रवेश ११ अप्रैल को आरम्भ हुआ था। दूसरा टिड्डी-दल जून में आया और उड़ता हुआ उत्तरप्रदेश तक जा पहुँचा। दिल्ली, पंजाब और पेप्सू के इलाकों में बहुत बड़ी संख्या में टिड्डियों ने अण्डे दिये हैं। इन राज्यों की सरकारों केन्द्रीय टिड्डी-नाशक संघटन की सहायता से टिड्डियों के खिलाफ जोरदार कार्रवाई की।

विश्वव्यापी कार्रवाई

टिड्डियों के विरुद्ध भारत की कार्रवाई उस विश्वव्यापी कार्रवाई का ही एक अंग है, जिसका संचालन संयुक्तराष्ट्रीय खाद्य-कृषि संघटन, अमेरिका और ब्रिटेन के सहयोग से अनेक देशों मुख्यतः सऊदी अरब, जोर्डन, सूडान, मिश्र, इराक, अफगा-निस्तान, ईरान व पाकिस्तान द्वारा किया जा रहा है। पिछले अनेक वर्षों से विभिन्न राष्ट्रों में तालमेल की दृष्टि से स्थिति सुधर गई है और १९५० के बाद से खाद्य-कृषि संघटन के तत्वावधान में प्रतिवर्ष सम्मेलन हो रहे हैं।

अमेरिका ने टैक्निकल सहयोग समझौतों के फलस्वरूप संकटग्रस्त देशों को 'एल्ड्रीन' नामक एक नई प्रभावकारी कीटमार दवा तथा अन्य सामग्री प्रदान की है। भारत-अमेरिकी टैक्निकल सहयोग मिशन ने भारत को पिछले तीन वर्षों में ७,२८,१५० डालर (लगभग ३४.८० लाख रुपये) के मूल्य की सामग्री दी है। इस वर्ष टैक्निकल सहयोग मिशन ने भारत को ३० जीपें, १० लैंड रोवर २५ डौज पीवर वैगन, ६ जीप स्टेशन वैगन, ८ ट्रैक्टर, २५ ठेले, ७७ दवा छिड़कने वाले विद्युत-चालित यन्त्र, ३ कीटमार दवा छिड़कने वाले हवाई जहाज, २७ वायरलैस सेट तथा बहुत बड़ी मात्रा में 'एल्डीन' तथा 'हैप टैकलोर' नामक कीटमार दवायें दी हैं।

टिड्डियों की समस्या कम से कम ४००० वर्षों से चली आ रही है। बाइबिल में लिखा है कि टिड्डियाँ लालसागर से मिस्र में प्रवेश किया करती थीं। आज भी टिड्डियों के आक्रमण का यही मार्ग है।

आक्रमणों का चक्र

भारत में १८६० और १८९७ के बीच टिड्डियों के चार चक्र चले हैं। इस सदी में भी अब तक चार चक्र चल चुके हैं—१९०० से १९०७ तक, १९१२ से १९२० तक, १९२६ से १९३१ तक व १९४० से १९४६ तक। वर्तमान पाँचवाँ चक्र १९४९ में प्रारम्भ हुआ था।

१९२६-३१ के चक्र में केवल फसल को ही १० करोड़ रुपये का नुक्सान पहुँचा था आज के हिसाब से यह नुक्सान ४० करोड़ रुपये से भी अधिक का था। भूख से मरने वाले मवेशियों के कारण जो अतिरिक्त नुक्सान हुआ उसका तो कोई हिसाब ही नहीं। इसके विपरीत, इस वर्ष भारत के इतिहास में टिड्डियों का सबसे बड़ा हमला होने पर भी अन्न और पशुओं को बहुत कम नुक्सान होगा। १९२६-३१ में भारत में टिड्डियों पर काबू पाने के लिए कोई बाकायदा संघटन नहीं था, किन्तु आज इस संघटन की बदौलत केवल २० लाख रुपये वार्षिक व्यय करके ही यह सुरक्षा प्राप्त कर ली गई है।

क्या टिड्डियों को खत्म किया जा सकता है? कृमि-शास्त्रियाँ का कहना है कि यह सम्भव है कि टिड्डियों की संख्या इतनी कम हो जाये कि उनसे कोई खतरा न रहे, किन्तु उनकी नस्ल को हमेशा के लिए नष्ट नहीं किया जा सकता।

मनुष्य द्वारा निर्मित जहरीली दवाओं और गढ़हों के अलावा, प्रकृति भी टिड्डियों की संख्या को निरन्तर कम करने में सहायक हो रही है। यदि तेज हवा के कारण टिड्डियाँ चिरापूँजी जैसे भारी वर्षा वाले क्षेत्र में पहुँच जायें तो वे वहाँ जीवित नहीं रह सकतीं। अकसर अप्रत्याशित हवाएँ उन्हें समुद्र में ढकेल देती है। इस पर भी जो थोड़ी-बहुत टिड्डियाँ बच निकलने में सफल हो जाती हैं, वे रेतीली भूमि में जा छिपती हैं और मनुष्य के खिलाफ इक्का-दुक्का कार्रवाइयाँ जारी रखती हैं।

प्रतिभास तथा उसकी उपयोगिताएँ

प्रतिभास तथा अपराध-परीक्षण में उसका स्थान

(Fluorescence and its role in Criminal detection)

श्री० हरिमोहन, भौतिक शास्त्र विभाग, विश्वविद्यालय, प्रयाग

विज्ञान की उत्तरोत्तर प्रगति एवं उसकी निरन्तर सफलता के विषय में यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि "आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है।" इसी वैज्ञानिक दृष्टिकोण के बल पर मानव अन्यान्य नवीनतम उपकरणों एवं प्रसाधनों का आविष्कार करता हुआ प्रकृति पर निरन्तर अपनी विजय-पताका फहराता हुआ अग्रसर है। एक ही क्षणमात्र में सर्वतः भयंकर अग्नि काण्ड मचा देने की सामर्थ्य आज वैज्ञानिक के हाथ में अणुबम के रूप में है। इतना सब कुछ होने पर भी उसे संतोष नहीं। नित्य नवीनतम आश्चर्योत्तेजक आविष्कारों की वृद्धि होती ही जाती है। वास्तविकता तो यह है कि मानव का यही असन्तोष विज्ञान की अवश्यंभावी उत्तरोत्तर सफलता का द्योतक है।

प्रस्तुत निबंध का शीर्षक "प्रतिभास तथा अपराध-परीक्षण में उसका स्थान" Fluores cence and its role in Criminal detection) निम्नाङ्कित पंक्तियों के उद्देश्य पर पर्याप्त प्रकाश डालता है।

अपराध तथा तदनुकूल दंड, इनका मानव-समाज की गतिविधि में विशेष महत्व है। विभिन्न साधनों एवं विधियों द्वारा जिनमें विशेष रूप से मनोवैज्ञानिक (Psycological) होती हैं, यथासम्भव वास्तविक अपराधी का विश्वसनीय निर्णय करके उसे दंड दिया जाता है। विज्ञान की प्रवहमान् धारा ने यह क्षेत्र भी बिना प्रभावित किए नहीं छोड़ा। मनुष्य की इस चमत्कारिक बुद्धि ने अपराध-परीक्षण (Crime-detection) के लिए ऐसे विविध वैज्ञानिक-प्रसाधनों का आविष्कार किया है जिनके बल पर वास्तविक अपराधी का पता निश्चयात्मक रूप से सुगमतापूर्वक हो जाता है। एक्स-किरण-परीक्षण (X-ray testing) उपरोक्त प्रसाधनों में विशेष उल्लेखनीय है। प्रतिभास विश्लेषण (Fluore-scence Analyis) की अन्यान्य बहुमुखी उपयोगिताओं में जो साधारण मानव समाज की गति विधि में विशेष महत्व रखती हैं, प्रतिभास द्वारा अपराध-परीक्षण अपूर्व ही है। यद्यपि इस विधि को सर्वतः जालसाजी (Fraud) की पूर्ण सुरक्षा रूप तो कहा नहीं जा सकता, अपितु यह कसौटी जालसाज की कला को दुस्तर अवश्य कर देती है। इस परीक्षण-पाश से कोई प्रवीण तथा कलाकार धोखेबाज़ ही यदा-कदा बच पाता है।

जालसाज़ी (Forgery) तथा असत्यता (False-hood) का प्रश्न सामान्य रूप से काग़ज पर स्याही अथवा पेंसिल के जाली अङ्क बना देने की शंका से बहुधा उठता है। दोनों ही वस्तुएँ वास्तविक एवं कृत्रिम-प्रतिभास दीप के प्रकाश में अनेकों शंकाओं का समाधान कर देती हैं। स्वयं कागज ही यदि उस पर कुछ लिखा न गया हो, अतिबैंजनी रश्मिपुञ्ज (Ultraviolet light) में अपने गुणों के अनुसार (कि वह किस प्रकार की लुग्दी (Pulp) का बना है) विभिन्न प्रतिभासिक वर्णों का निस्सरण करता है। अतः किसी भी प्रपत्र (Document) में से किसी विशेष पृष्ट को निकाल कर उसके स्थान

पर जाली पृष्ट नत्थी हुए होने का ज्ञान अतिबैंजनी प्रकाश में (Document) के सब पृष्ठों के प्रतिभास की असमानता का निरीक्षण करके अत्यन्त सुगमतापूर्वक हो जाता है। कागज पर स्याही के प्रयोग के फलस्वरूप एक रासायनिक क्रिया होती है जिसकी परख अतिबैंजनी प्रकाश-रश्मियों में बड़ी सुगमता से हो जाती है। यदि स्याही की दृश्यमान लिपि (Visible script) "इन्क-रिमूवर" द्वारा मिटा ही क्यों न दी गई हो। अपराध-निरीक्षण में पोर्टेबिल प्रकार (Portable type) के अतिबैंजनी दीप ही सर्वोपयोगी सिद्ध होते हैं क्योंकि हम इसके द्वारा परीक्षण-वस्तु का कोई भी भाग बड़ी सरलता से परख सकते हैं। प्रयोगशाला में अपराधी तथा तत्सम्बद्ध वस्तुओं को लाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। अपराधी के कपड़ों, बालों तथा हाथ-पैर इत्यादि का समुचित परीक्षण सरलापूर्वक किया जा सकता है।

विभिन्न प्रकार के सीलिंग-मोम (Sealing waxes) तथा चेपकों (Adherants) का प्रतिभास पृथक-पृथक होता है। अतः डाक के लाख की सील से बन्द पत्रों के पैकटों की सील तोड़कर दूसरी जाली लगाने का रहस्योद्घाटन प्रतिभास-परीक्षण द्वारा सरलता से हो जाता है। कपड़ों इत्यादि में गोली के चिन्हों का पता इस विधि से अत्यन्त सुगम हो जाता है। जेल के अपराधियों के पत्रों की परीक्षा (Censor) अतिबैंजनी दीप की सहायता से अत्यन्त सरल है तथा मिनटों में वास्तविकता का निर्णय हो जाता है। सामान्यतः गुप्त-समाचार लिखने के लिए जेल में लोग लार (Saliva), दूध तथा साबुन इत्यादि का प्रयोग करते हैं जिसके लिखे अक्षर साधारण-प्रकाश में दृष्टिगत नहीं होते। अतिबैंजनी रश्मि पुञ्ज में ये गुप्त-अक्षर अपने विशिष्ट प्रतिभास के कारण चमकने लगते हैं। जिससे भेद मालूम करने में समय नहीं लगता। अगूँठा निशान (Thumb print) का फोटो ग्राफ उस पर अन्थ्रासीन चूर्ण (Anthracene powder) छिड़क कर अतिबैंजनी प्रकाश किरणों में बड़ी सरलता से लेकर अन्तर-विवेचन किया जाता है।

अनेकों बड़े-बड़े बैंकों तथा पुलिस की अपराध-परीक्षण प्रयोगशालाओं (Crime detection laboratories में जमानत-पत्रों (Sursity letters) हुडियों (Promisory notes), बैंक नोटों (Currency notes) तथा चैक (Cheques) इत्यादि की सत्यता के आशु-परीक्षण (Immediate testnig) के लिए प्रतिभास-परीक्षण दीप उपलब्ध रहते हैं। कागज, स्याही तथा जल-चिन्ह (water mark) के वास्तविक से भिन्न प्रतिभास से जाली वस्तु का परीक्षण अत्यन्त ही सरलतापूर्वक हो जाता है। चैक इत्यादि बनाने के लिए एक विशिष्ट प्रकार का कागज जिसका प्रतिभास अत्यन्त तीव्र होता है बहुधा प्रयुक्त होता है। कागज पर किया गया विलयीकरण (Erasure) कितनी भी कलात्मक रूप से क्यों न किया गया हो, अतिबैंजनी प्रकाश में प्रतिभास के कारण सुस्पष्ट हो जाता है। पुलिस की प्रयोगशाला में इसी विधि की सहायता से जाली हस्ताक्षर बड़ी सुगमता से पहिचाने जा सकते हैं, कारण विभिन्न स्याहियों का प्रतिभास विभिन्न रहता है। जाली तथा असत्य पासपोर्ट इत्यादि भी अनायास ही परखे जा सकते हैं। बलात्कार (Rape) इत्यादि की दुर्घटनाओं में भी कभी-कभी प्रतिभास परीक्षण से बड़ी सहायता मिलती है।

निम्नाङ्कित चित्र में प्रतिभास-परीक्षण द्वारा एक ऐसे भेद का रहस्योद्घाटन होते हुए दिखाया गया है जो पर्याप्त महत्वपूर्ण है। उपराङ्कित चित्र की कहानी इस प्रकार है। एक धनी पुरुष के बटुए की दो तीन बार चोरी हुई। अनेक प्रयत्न करने पर भी वास्तविक चोर का पता न लग सका। अन्यान्य प्रयत्न करने पर पुलिस को एक युक्ति सूझी। पुलिस ने महाजन के बटुये पर कोई अवदीप्यशील पदार्थ का चूर्ण (Fluorescent powder) छिड़क दिया। अगली बार चोरी होने पर पुलिस ने उसके एक अनन्य विश्वस्त ऐसे मित्र को सन्देह में गिरफ्तार

किया। ऊपर के चित्र में मित्र महोदय का हाथ चुराया हुआ बटुआ तथा उनकी जेब जिसमें बटुआ डाला गया था, तीनों वस्तुएँ साधारण प्रकाश में दिखाई गई हैं परन्तु जब उन तीनों पर अति बैंजनी

प्रकाश डाला गया तो वे चमकने लगे जैसा कि नीचे के चित्र में दिखाया गया है। अवदीप्यशील चूर्ण बटुए से हाथ पर तथा जेब पर लग गया था। इस प्रकार मित्र के वेष में छिपे चोर को पकड़ लिया गया।

रक्त के धब्बे इस विधि द्वारा पर्याप्त समय उपरान्त ऋतु-परिवर्तन होने पर भी बड़ी सरलता से परखे जा सकते हैं। हड्डियों की परीक्षा भी यह जानने के लिये कि अमुक हड्डियाँ पृथ्वी में गाड़ी गई लाश की हैं अथवा जलाई गई लाश की है, पारद वाष्पदीप द्वारा अत्यन्त सुगमता से इनकी परख हो जाती है। जलाई हुई लाश की हड्डियाँ किसी भाँति का प्रतिभास नहीं देतीं।

कभी-कभी कुछ व्यक्तियों को (Black mailing) हत्या इत्यादि की धमकी के गुमनाम (annony-mous) पत्र मिलते हैं इस दशा में प्रतिभास परीक्षण बड़ा सहायक होता है। यह पत्र कौन लिखता है इसको जानने के लिए पुलिस गुप्त रूप से संदिग्ध व्यक्ति की दवात में कोई अवदीप्यशील पदार्थ (Fluorescent powder) छिड़कवा देती हैं अथवा उसके Type-writer (टाइप की मशीन) के रिब्बन पर अवदीप्यशील चूर्ण लगवा देती है। इसके उपरान्त जब धमकी इत्यादि का पत्र आता है तब उस पत्र की जाँच अति बैंजनी प्रकाश किरणों में की जाती है। यदि अक्षर चमकने लग जाँय तो यह निश्चित हो जाता है कि अमुक संदिग्ध व्यक्ति ने ही वह गुमनाम पत्र लिखा था।

जब किसी गोदाम अथवा स्टोर में बार-बार चोरी होने लगती है तब ऐसी दशा में कुली से लेकर अधिकारी तक को संदिग्ध ठहराया जा सकता है। वास्तविक चोर को पकड़ने के लिए गोदाम में कोई अवदीप्यशील चूर्ण छिड़क दिया जाता है। अगली बार जब चोर चोरी करने आता है तब यह चूर्ण उसके कपड़ों, जूतों तथा हाथों इत्यादि को लग जाता है। चोरी के उपरान्त संदिग्ध व्यक्ति को, उसके कपड़ों तथा हाथों इत्यादि को अतिबैंजनी प्रकाश पुञ्ज में जाँचा जाता है तथा जिसके कपड़े तथा हाथ चमकने लगते हैं वही विश्वस्त रूप से चोर होता है।

उपरोक्त उदाहरणों एवं वैज्ञानिक परिणामों से हम इस तथ्य पर पहुँचते हैं कि प्रतिभास-परीक्षण द्वारा अनेकानेक भेदपूर्ण घटनाओं के रहस्योद्घाटन में पर्याप्त सहायता मिलती है तथा यह अपराध परीक्षण का एक प्रमुख साधन है।

भारतीय डाक टिकट

श्री० रामवृक्ष प्रसाद सिंह

प्राचीन काल में डाक कबूतरों, हरकारों तथा घोड़ों द्वारा पहुँचाई जाती थी। उसका मुख्य कारण आधुनिक साधनों का सुलभ न होना था, परन्तु आज विज्ञान काफी उन्नति कर चुका है। जो काम पहले महीनों में होता था, वह अब घंटों में होने लगा है। इस प्रकार विज्ञान की उन्नति से डाक विभाग काफी उन्नति कर गया है।

भारत में सिंध डिस्ट्रिक्ट डाक टिकट (Scinde District Dawk) १८५२ ई० में निकाला गया था। उसका क्षेत्र सिर्फ सिन्ध तक ही सीमित था। सन् १८५४ में अखिल भारतीय डाक टिकट (India postage) निकाला गया। अब सिंध डिस्ट्रिक्ट डाक टिकट को बन्दकर अखिल भारतीय डाक व्यवस्था का श्रीगणेश किया गया।

भारत ने जो सौ साल (सन् १८५४ से १९५४) तक भारतीय जनता की डाक सम्बन्धी सेवा की है, उसका ज्ञान हमें 'भारतीय डाक टिकट शताब्दी प्रदर्शनी, नई दिल्ली' के देखने से प्राप्त हुआ। यह प्रदर्शनी २ 'अक्टूबर' ५४ से ७ 'नवम्बर' ५४ तक हुई थी। इस प्रदर्शनी में विश्व के करीब-करीब ७० देशों ने भाग लिया। इन देशों ने अपने-अपने देशों की टिकटें प्रदर्शनी में प्रदर्शन के लिये भेजी थीं। इन टिकटों में उन देशों की कला, शिक्षा संस्कृति, देश की सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति का पता चलता है। इस प्रदर्शनी के टिकट संग्रहों में मुख्य आकर्षक चीन, हंगरी, रूस, जर्मनी तथा फ्रांस का था।

भारत ने डाक विभाग सम्बन्धी जो प्रगति इन सौ सालों में की है, उसका लेखा-जोखा विभिन्न प्रकार के चार्ट, नक्शे, चित्र आदि के द्वारा मालूम हुआ। इन नक्शों तथा चित्रों के द्वारा यह बताया गया था कि डाक विभाग किस प्रकार पहाड़ी इलाकों, रेगिस्तानों, बाढ़ ग्रस्त इलाकों में डाक पहुँचाता है।

बाहरी देशों की टिकटों में निम्न विषयक टिकटें विशेष आकर्षक थीं:—

कृषि संबंधी—बर्मा, आस्ट्रेलिया, पोलैंड, लंका आदि देशों के किसान कृषि कार्य करते हुये दिखाये गये थे। आस्ट्रेलिया का खाद्य उत्पादन माला (Food Production Series) टिकटों में गेहूँ, मक्खन आदि विषयक टिकटें प्रभावशाली हैं।

उद्यान सम्बन्धी (Horticultural Tickets)—हंगरी तथा स्वीटजर लैंड के टिकटों में विभिन्न प्रकार के फूल (Flowers) देखने में आये। इन टिकटों के छापने में भी बहुत टेकनीक की जरूरत है और उसका पूरा निबाह किया गया है। हमें ये टिकटें (Natural colover) प्राकृतिक रंग में देखने को मिले। यही वजह थी कि अधिकांश लोगों की भीड़ इन टिकटों के सामने लगी रहती थी।

प्राणी शास्त्र सम्बन्धी—इन टिकटों में प्राणी-विज्ञान सम्बन्धी टिकटें भी अच्छी थीं। स्वीट-जरलैंड के टिकटों में गिरगिट, विभिन्न प्रकार के पक्षी, कीड़े, तितली तथा अन्य जीव जन्तु अपने प्राकृतिक रंगों में देखने को मिले।

स्वास्थ्य सम्बन्धी—न्यूजीलैंड (Nawzee-land) ने स्वास्थ्य माला (Health Series) टिकटें छापी हैं, जिसमें खेलते हुये बच्चे दिखाये गये हैं। व्यायाम, फूटबाल (Foot ball) आदि खेल सम्बन्धी टिकटें भी प्रभावशाली थे।

आर्थिक स्थिति सम्बन्धी टिकटें—किसी देश की आर्थिक उन्नति का पता टिकटों से भी

लगाया जा सकता है। इस सम्बन्ध में चीन ने जो कुछ भी उन्नति की है, उसका पता इन टिकटों के देखने से लगाया जा सकता है। चीन के बाँध, नहर, नये कल कारखानें आदि को टिकटों पर छापकर यह बताया गया है कि देश ने कितनी उन्नति कर ली है।

ऐतिहासिक महल, किले आदि—फ्रांस, टर्की, इरान, अफगानिस्तान आदि देशों के प्राचीन महल, किले तथा इनके खंडहर भी दिखाये गये हैं। इस प्रकार की टिकटों से किसी देश की प्राचीन कला का अन्दाजा लगाया जा सकता है।

लिखने का तात्पर्य यह कि दुनियाँ के किसी भी विषयों पर टिकटें देखने को मिल सकती थीं। उदाहरण के लिये नदी, नाले, झील, सामूहिक नृत्य (folk Damecs), शान्ति सन्देश, ऐतिहासिक सन्धि समझौता आदि।

इस प्रदर्शनी से भारत ने बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त किया। हमारी सरकार ने पंचवर्षीय योजना में जो कुछ भी प्रगति की है उसका लेखा-जोखा टिकटों द्वारा प्रकट किया जा सकता है। गत वर्ष भाखरा-नांगल का उद्घाटन किया गया, उस समय हमें विशेष टिकटें जारी करनी चाहिये। हमें अपने यहाँ के टिकटों की डिज़ाइन समय-समय पर बदलते रहना चाहिये। जैसे अभी कुछ दिन पहले पुरातत्व माला टिकटें निकाली गई थी, उसकी जगह पर २६ जनवरी 'प्रजातन्त्र दिवस' पर अन्य मालायें निकालनी चाहिये। भारत की नृत्य, कला कौशल, शिक्षा संस्कृति विश्व में सम्मान प्राप्त कर चुकी है। देश के स्वर्गीय नेताओं के वर्षी पर विशेष टिकटें निकालनी चाहिये। भारत में कई प्रकार के जीव जन्तु हैं जो दुनियाँ में नहीं मिलते हैं, उसकी टिकटें भी जारी करनी चाहिये। टिकटें प्राकृतिक रंगों में ही छापे जायँ।

डाक टिकट सम्बन्धी सभायें—विश्व के सभी उन्नत देशों में डाक टिकट सम्बन्धी सोसाइटी हैं। उनकी पत्रिकायें निकलती रहती हैं, जिसमें टिकटों के डिजाइन, प्राप्त करने के साधन तथा सुझाव आदि होते हैं। भारतवर्ष में भी अब लोग टिकट संग्रह करने लगे हैं। कुछ दिन पहले तक यही समझा जाता था कि टिकट संग्रह का काम बच्चों का है परन्तु अब यह निर्मूल सिद्ध हो चुका है। अब वृद्ध हो या बालक, सभी टिकट संग्रह करते हैं।

आशा है टिकट संग्रह प्रेमी इस ओर ध्यान देंगे तथा नये-नये डिज़ाइन की टिकट निकालने के लिये सरकार को समय-समय पर सुझाव देंगे।

[स्तनपोषियों का श्रेणी-विभाजन—पृष्ठ ८५ का शेषांश]

ये विवर बनाकर रहते हैं और रात्रिजीवी प्रवृत्ति रखते हैं। मुख्यतया कीटभक्षी होते हैं या कभी मांसभक्षी भी होते हैं। इन्हें अधिक दिनों के शव का भक्षण करने में भी आपत्ति नहीं होती।

कुछ आर्मोडिलो में विचित्र सन्तानोत्पादन विधि पाई जाती है। प्रायः चार शिशु एक बार में उत्पन्न होते हैं। सभी शिशु एक लिंग के होते हैं अर्थात् चारों ही नर या चारों ही मादा होते हैं। उनकी उत्पत्ति एक ही गर्भस्थ अण्डे से होती है। गर्भाशय में उस एक अण्डे से बहुत आरम्भिक काल में ही चार भ्रूण बन जाते हैं।

शाखालम्बिन रूपगण का निवास दक्षिणी और मध्य अमेरिका में ही सीमित है। आर्मोडिलो की केवल एक जाति "नवपट्टित आर्मोडिलो" का उत्तरी अमेरिका के दक्षिणी टैक्सा प्रदेश तक प्रसार पाया जाता है।

विज्ञान समाचार

कीड़ों के विरुद्ध १०० वर्षों से जारी संघर्ष

अमेरिका में कीटाणुओं जैसे भयंकर और स्वाभाविक शत्रु के विरुद्ध कृमि-विशेषज्ञ गत १०० वर्षों से निरन्तर सक्रिय रूप से भीषण युद्ध लड़ रहे हैं। ये शत्रु घातक बीमारियाँ एवं भीषण महामारियाँ फैलाते हैं। ये न केवल फसलों, मकानों एवं कपड़ों को ही नष्ट करते हैं, अपितु सुखमय जीवन का भी विनाश कर देते हैं। इस शत्रु के तूफानी दस्ते में अनेक किस्म के कीटाणु शामिल हैं।

मई ४, १८५४ को, न्यूयार्क नगर में, डा० असा फिच्च की कृमि-विशेषज्ञ के रूप में नियुक्ति कर कीटाणुओं के विरुद्ध संघटित संघर्ष की तैयारी शुरू की गयी। इसी साल १४ जून को संघीय सरकार ने ग्लोवर को पहला कृमि-विशेषज्ञ नियुक्त किया।

एक साल के निरन्तर संघर्ष के बाद अब स्थिति क्या है? अमेरिका में ४ अरब डालर की हानि हर साल कीटाणुओं के कारण होती है। यदि पिछले सौ सालों में कीटाणुओं की किसी प्रकार की रोकथाम न होती, तो आज अमेरिका में आजकल प्रतिवर्ष ४० अरब डालर मूल्य का उत्पादन कृषि द्वारा होता है।

कीटाणुओं के सम्बन्ध में की गई निरोधात्मक कार्रवाइयों से ही, मलेरिया, पीत ज्वर, प्लेग, टाइफाईड तथा मच्छर, मक्खी, जूं, पिस्सू आदि कीटाणुओं से फैलने वाले भयंकर रोगों से मानव जाति को पूरी तरह से मुक्ति दिलाई गई है। १८७३ ई० में मिसिसिपी नदी घाटी में पीत ज्वर नामक महामारी के कारण १३,००० व्यक्ति मृत्यु के शिकार हुए थे। डाक्टरी अनुसंधान के फलस्वरूप यह पता चला कि मच्छर द्वारा ही यह रोग फैलता है। इसके बाद कृमि-विशेषज्ञों ने मच्छरों की रोकथाम के उपाय खोजे। फलस्वरूप अमेरिका में पीत ज्वर का अंतिम प्रकोप १९०५ में न्यू ओरलियन्स में हुआ। इसके बाद यह महामारी फिर कभी सिर नहीं उठा सकी।

कीटाणुओं के विरुद्ध संघर्ष में यद्यपि आश्चर्यजनक सफलता तो रोगों को रोकने की दशा में ही मिली है, लेकिन वैज्ञानिकों ने इतने पर ही अपने कीटाणु-विरोधी अनुसन्धान-कार्य को बस नहीं किया है। हर क्षेत्र में मानव को इस शत्रु के बिनाशकारी प्रभावों से बचाने के लिए उन्नत निरोधक उपायों को खोजने एवं इस सम्बन्ध में अधिकाधिक जानकारी प्राप्त करने की चेष्टा की जा रही है।

डी०डी०टी० की कीट-विनाशक सफलता ने आम जनता के मस्तिष्क को इतना अधिक प्रभावित किया है कि इसमें बहुत से लोग तो कीटमारों के प्रारम्भिक इतिहास तक को ही भूल गये हैं। डी०डी०टी० से पहले कोई भी कीटमार इतना गुणकारी सिद्ध नहीं हुआ, तथापि उन कीटमारों ने भी काफी लाभ पहुँचाए थे। १७८१ में जब स्वतन्त्र होकर अमेरिका ने एक राष्ट्र का रूप अपनाया तब भी अमेरिकी किसान इस बात को जानते थे कि तम्बाकू में पाये जाने वाली निकोटीन से कोमल त्वचा वाले कीटाणुओं को नष्ट किया जा सकता है। वैज्ञानिकों के मैदान में उतरने के बाद पायरीथ्रम, तेलों तथा संखिया मिश्रित दवाओं को पहले-पहल तैयार कर कीटाणुओं का मुकाबला किया गया। इनमें से अधिकांश तो १८६० ई० हीं में कीटमार के रूप में प्रयुक्त किये जाने लगे थे।

प्रारम्भ की महत्वपूर्ण खोजों में से एक १८९२ ई० में की गयी थी। स्वर्गीय डा० एल० ओ० हावर्ड

ने मच्छर पैदा करने वाले क्षेत्रों में पानी पर तेल छिड़कने का प्रयोग बड़े पैमाने पर तब पहली बार में किया था। इस अनुसन्धान-कार्य की सफलता को देखकर संसार में मच्छर के अण्डों को नष्ट करने के काम के लिए तेल ही को प्रयुक्त किया जाने लगा। आपकी इस खोज के परिणाम-स्वरूप अमेरिका में पीत-ज्वर का तो लोप हो गया और मलेरिया ज्वर कम हो गया। १८९४ में डा० हावर्ड अमेरिकी कृषि विभाग के प्रमुख कृमि-विशेषज्ञ नियुक्त हुए और १९२९ तक इसी पद पर आसीन रहे।

डी०डी०टी० कीटमार के बाद कई एक कीटमार तैयार होने लगे। द्वितीय महायुद्ध में जनता और सेनाओं के बड़े पैमाने पर एक स्थान से दूसरे स्थान में जाने पर टायफ़स की महामारी को रोकने का सब श्रेय डी०डी०टी० को ही प्राप्त है। शुरू-शुरू में डी०डी०टी० कीटाणु मारने का एक पूर्ण और सार्वदेशिक हथियार प्रतीत हुआ।

लेकिन कीटाणुओं ने कुछ ही समय में इस नये खतरे पर काबू पा लिया और उनमें डी०डी०टी० को प्रतिरोध करने की क्षमता बढ़ने लगी। एक खास किस्म के झिंगुरों और कुछ ऐसे ही महत्वपूर्ण कीटाणु तो कभी भी डी०डी०टी० से नष्ट नहीं हुए। कीटाणुओं के इतने चतुर होने के बावजूद भी वैज्ञानिक इस बात को जानते थे कि फिलहाल उनका पलड़ा भारी है। फौरन ही कीटाणुओं और मनुष्यों के बीच शस्त्रास्त्र तैयार करने की होड़ शुरू हो गयी। ज्यों-ज्यों कीटाणुओं की प्रतिरोधक या मुकाबला करने की शक्ति बढ़ती गयी, त्यों-त्यों वैज्ञानिक भी हमले के लिए नये-नये शस्त्र तैयार करते चले गये। कीटमारों के बढ़ते हुए भण्डार को डी०डी०टी० क्लोरिनेटिड हाइड्रोकार्बन के ही आधार पर तैयार किया गया और इनमें मिथौक्सी क्लोर, टी० डी० ई०-बी० एच० सी, लिन्डेन, क्लोरडेन, आल्ड्रिन, डा० यल्ड्रिन, एन्ड्रिन तथा हैप्टाक्लोर आदि शामिल हैं। तथापि इनमें से हर कीटमार में एक खास जाति के कीटाणुओं को प्रभावशाली ढंग से नष्ट करने की शक्ति है, फिर भी इस बात में अविश्वास का कोई कारण नहीं कि कीटाणु भी धीरे-धीरे इन कीटमारों का प्रतिरोध या मुकाबिला करने की क्षमता अपने में पैदा कर लेंगे।

"शाडेन" नामक महत्वपूर्ण कीटमार अभी हाल में तैयार हुआ है। यह फासफोरस से तैयार किया गया है। इस कीटमार को यदि पौधे या मिट्टी पर छिड़का जाए, तो यह प्रचूषण-क्रिया द्वारा पौधे में प्रवेश करके डालियों तथा पत्तियों तक पहुँच जाता है। जिस समय हानिकारक कीटाणु पौधे के मूल रस को चूसता है, तब यह विष उसमें चला जाता है। इससे बहुत बड़ी सफलता की आशाएँ हैं। इस कीटमार का सबसे महत्वपूर्ण लाभ तो स्पष्टतया "निरन्तर छिड़कने" की प्रक्रिया से छुटकारा मिलना है। टाडेन को उस समय तक व्यापक रूप में इस्तेमाल नहीं किया जा सकता है, जब तक कि इसके मनुष्य पर पड़ने वाले कुप्रभावों के बारे में ठीक से पता नहीं चल जाता।

हानिकारक कीटाणुओं के आक्रमण से बचने लिए प्रारम्भिक दिनों में जो उपाय किये जाते थे, उनमें से भी एक उपाय को व्यापक रूप से काम में लाया जा रहा है। यह उपाय जीव-नियंत्रण की विद्या से सम्बन्धित है। संसार भर में कीटाणुओं को नष्ट करने वाले जितने भी जीव हैं, उनकी खोज में अमेरिकी कृषि-विभाग के अनुसन्धानकर्ता रत हैं। इस प्रकार के कुछ परजीवियों (दूसरों का भक्षण कर जीने वाले) का अब तक पता चल चुका है।

अमेरिका में १८८८ ई० से लेकर अब तक ऐसे १०० परजीवियों का पता लगाकर ४० किस्म के कीटाणुओं की बड़ी सफलता से नष्ट किया जा चुका है। आस्ट्रेलिया के विडालिया नामी परजीवि गोबरैले ने शुरू में कैलिफोर्निया के फल-उद्योग को हानिकारक कीटाणुओं से बचाया था। और भी कई परजीवियों को लाकर उनका उपयोग किया जा चुका है, लेकिन वे इतने प्रभावशाली सिद्ध नहीं हुए। फिर भी, इन्होंने एक सीमा तक नियन्त्रण सम्बन्धी समस्या को हलकर दिया है।

आजकल कृमि-विशेषज्ञों को इस बात की बड़ी आशा है कि यूरोपियन कार्नबोरर तथा पिन्क बालवर्म नामक परजीवियों को अमेरिका में लाकर कीटाणुओं द्वारा होने वाली लाखों डालर की हानि को रोका जा सकता है। लेकिन कीटमारों और परजीवियों के सम्बन्ध में हमारा संयुक्त रुख क्या हो, यह समस्या उपस्थित होने पर, भविष्य में, हमारे लिए काफी जटिल रूप धारण कर लेगी। हमारे सामने तब सवाल यह होगा कि कीटमारों द्वारा कीटाणुओं का विनाश करते समय इनसे परजीवियों की रक्षा कैसे की जाय।

अमेरिका में आज कीटाणु समस्या का हल खोजने के काम में एक हजार व्यक्ति लगे हुए हैं। १०० वर्षों में कृमि-विद्या-विशारद के रूप में लगभग ६५०० व्यक्तियों ने कार्य किया है। इनकी संख्या भले ही थोड़ी हो, लेकिन इस कमी की पूर्ति इन्होंने अपनी वैज्ञानिक योग्यता, सूझ-बूझ और दृढ़ निश्चय के रूप में की। इन्हें शुरू ही में पता चल गया था कि अधिकांश घातक कीटाणु संयुक्त राज्य अमेरिका में मूल रूप में विद्यमान नहीं थे।

१८६५ ई० में डा० ग्लोवर ने यह सुझाव रखा कि विदेशों से आने वाले सब बीजों एवं पौधों को अमेरिका में प्रवेश होने से पहले इस दृष्टि से अच्छी तरह से जांच की जानी चाहिए कि उनमें हानि पहुँचाने वाले किसी किस्म के कीटाणु तो नहीं हैं। आपने बताया कि नये किस्म के कीटाणुओं का एक जोड़ा जानी पहिचानी किस्म के हजारों कीटाणुओं से कहीं अधिक हानि पहुँचा सकता है।

१६१२ ई० में अमेरिकी कांग्रेस ने बाहर से आने वाले पौधों पर रोक लगाने का कानून बना दिया। १८५६ से और १६१२ तक की अवधि में जिप्सी नामी ततैय्या, स्वीटपोटैटो नामी झिंगुर, कैलिफोर्निया का लाल जिल्द वाला एक कीड़ा, हरा खटमल, मूंछों वाली मक्खी, बोल नामी झिंगुर, यूरोपियन कार्नबोरर तथा जापानी गोबरीला, ये हानिकारक कीटाणु अमेरिका में दूसरे देशों से आये। इन कीटाणुओं से पौधों को वर्ष में लगभग १ अरब डालर की औसतन हानि होती है।

निरीक्षण और रुकावटों के बावजूद कुछ भयंकर कीटाणु अमेरिका में दाखिल हो ही गये। ये सब प्रबंध भी इन्हें रोकने में असमर्थ रहे तथापि, इसमें सन्देह नहीं कि यदि डा० ग्लोवर के सुझाव पर जल्दी कदम उठा लिया जाता, तो इनमें से अधिकांश को अमेरिका में दाखिल होने से रोका जा सकता था। १६४६ में अकेले कार्नबोरर नामक कीड़े से ३५ करोड़ डालर की क्षति हुई। इसी तरह १६५० में बोल नामी झिंगुर ने ७५ करोड़ डालर की क्षति पहुँचाई। किसी भी राष्ट्र की आर्थिक स्थिति के लिए यह हानि काफी महत्वपूर्ण है।

स्वाभाविक रूप में बहुत से हानिकारक कीटाणु यूरोप से ही शुरू में उन समुद्री जहाजों द्वारा अमेरिका पहुँचे जो उत्तरी अमेरिका के तट पर बसने वाले प्रवासियों को लाये थे। जूं, पिस्सू, खटमल, सूती कपड़ों में लगने वाले कीड़े, मक्खियाँ, चींटियाँ और साधारण गोबरीले शुरू में अमेरिका पहुँचाने वाले कीड़ों की श्रेणी में आये हैं। इसी तरह 'हैसियन-फ्लाई' नामक कीड़ा अमेरिकी क्रान्ति काल में जर्मन सैनिकों के जरिये अमेरिका में प्रविष्ट हुआ।

कीड़े तथा कीटाणु मनुष्य के ऐसे चतुर शत्रुओं में से हैं, जो प्रत्येक नये वैज्ञानिक आक्रमण का मुकाबिला बड़ी मजबूती से करते हैं। लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि गत १०० वर्षों में विज्ञान ने जो सफलता प्राप्त की है, उसके कारण अमेरिका न केवल एक सबल राष्ट्र बना है, अपितु वहाँ के लोगों के स्वास्थ्य में भी काफी सुधार हुआ है।

पौधों को कीड़ों से बचाने के लिए गामा किरणों का उपयोग

अमेरिका के कृषि विशेषज्ञों को बड़ी आशा है कि एक्स-रे तथा आणविक विकिरण का प्रयोग करके कीड़ों की योनि बदली जा सकती है। इससे किसानों को कीड़ों के विरुद्ध निरन्तर चल रहे महगे संघर्ष में सहायता मिल सकेगी।

उदाहरण के तौर पर, अब वे कपास की फसल से प्रतिवर्ष होने वाली भारी क्षति को कम करने के लिए कपास को हानि पहुँचाने वाले कीड़ों पर गामा किरणों का प्रयोग करके यह मालूम कर रहे हैं कि उनका उन कीड़ों पर क्या प्रभाव पड़ता है।

कीड़ों की वंशानुगत प्रकृति विकिरण से बदल सकती है

ये कृषि-विशेषज्ञ यह भी समझते हैं कि विकिरण द्वारा कपास उत्पादकों के सबसे बड़े शत्रु गुलाबी रंग के कीड़े (पिंक बोल वर्म) से फसल की रक्षा की जा सकती है। उनका विश्वास है कि एक्स-रे अथवा रेडियो-सक्रिय सामग्री इन कीड़ों की वंशानुगत प्रकृति बदल सकती है और कुछ दशाओं में इसकी प्रजनन-शक्ति को भी कम कर सकती है।

कीड़ों से कपास की महान क्षति

कपास उत्पादकों का उन कीड़ों के विरुद्ध संघर्ष जो कपास की फसल को अपार क्षति पहुँचाते हैं, अमेरिका के वस्त्र उद्योग के लिए सदैव एक महत्वपूर्ण विषय रहा है। इसी प्रकार कपास की फसल को क्षति पहुँचाने वाले कीड़े दूसरे स्वतन्त्र देशों में भी कपास की फसलों को बहुत अधिक हानि पहुँचाते हैं। इसलिए अमेरिका में इन कीड़ों पर विजय पा लेने से संसार के अन्य देशों को भी लाभ पहुँच सकता है। अमेरिकी कृषि उत्पादकों की एक गैरसरकारी संस्था नेशनल काटन कौन्सिल के कथनानुसार १९५३ में कीड़ों ने कपास की फसल का ७वां भाग नष्ट कर दिया था। हाल के अन्य वर्षों में भी लगभग इतनी ही हानि हुई है।

कांटन कौन्सिल का कहना है कि १९५३ में कपास उत्पादकों को २६ करोड़ १० लाख डालर की हानि हुई। कौन्सिल के अधिकारियों का कहना है कि यदि ऐसी क्षतियों को कम किया जा सके तो उत्पादन लागत को बढ़ाये बिना ही व्यापार के लिए अधिक कपास उपलब्ध हो सकती है। इससे वस्त्र उद्योग को कृत्रिम तन्तुओं के उद्योग का मुकाबला करने में बड़ी सहायता मिलेगी। १९५४ में कीड़ों से कपास की रक्षा करने के लिए भारी प्रयत्नों के बावजूद ५०० पौंड की १४ लाख गांठों की हानि हुई।

वैज्ञानिकों ने कपास को क्षति पहुँचाने वाले कीड़ों की उत्पत्ति रोकने के लिए गामा किरणों के प्रयोग के सम्बन्ध में उत्साहवर्द्धक समाचार दिये हैं। उनका कथन है कि यही किरणें कृषि के अन्य कार्यों में भी सहायक सिद्ध हो सकती हैं।

कीड़ों को खस्सी कर उनकी समाप्ति की योजना

अमेरिकी कृषि-विभाग के कीटाणु-अनुसन्धानकर्ता डा० ई० एफ० निपलिंग ने क्यूरासो के वेस्ट इण्डीज टापू पर किये गये प्रयोगों का उल्लेख किया है। वहाँ स्क्रू नामी नर कीड़ों को खस्सी करके उनकी उत्पत्ति को प्रायः समाप्त ही कर दिया गया है। ये कीड़े त्वचा और चोटों के द्वारा पशुओं के शरीर में घुस कर अक्सर उनकी मृत्यु का कारण बन जाते हैं। इन कीड़ों के कारण अमेरिका के पशुपालकों को प्रतिवर्ष २ करोड़ ५० लाख डालर से लेकर ३ करोड़ ५० लाख डालर तक की क्षति हर साल पहुँचती है।

डा० निपलिंग ने बताया कि वेस्ट इण्डीज में प्रयोग के रूप में लगभग ४० लाख खस्सी स्क्रू नामी नर कीड़े लाये गये थे। क्योंकि मादा स्क्रू केवल एक बार गर्भ धारण करती है, इस लिए खस्सी नर कीड़ों के वहाँ लाये जाने के २ वर्ष बाद उस टापू से उन कीड़ों का खात्मा सा ही हो गया था।

प्रजनन शक्ति पर विकिरण का प्रभाव

यह बात अभी सिद्ध करनी शेष है कि यह विधि कपास के कीड़ों के सम्बन्ध में उपयोगी है अथवा नहीं।

अमेरिकी कपास उद्योग की ओर से कपास के गुलाबी रंग के कीड़े (पिंक बोलवर्म) के सम्बन्ध में अनुसन्धान करने वाले डा० एफ० सी० बिशप का कहना है कि यह विधि व्यावहारिक सिद्ध हो सकती है विशेष रूप से उस समय जब इन कीड़ों की संख्या बहुत थोड़ी हो अथवा जब मादा केवल एक ही बार गर्भाधान करती हो। उनका कहना है कि उक्त गुलाबी कीड़े की प्रजनन शक्ति पर विकिरण का क्या प्रभाव होता है, इस सम्बन्ध में अनुसन्धान किये जायेंगे। इस समय बिनाशक कीड़ों को गामा किरणों द्वारा नष्ट करने के सम्बन्ध में परीक्षण किये जा रहे हैं।

यन्त्रों के निर्माण के प्रयत्न

रेडियो कारपोरेशन औव अमेरिका नामी एक अन्य गैर सरकारी कम्पनी इसी प्रकार के प्रयत्न कर रही है। वह ऐसे यन्त्र तैयार कर रही है जिसकी सहायता से उसी समय बिनौलों में मौजूद कीटाणुओं को मार दिया जायेगा, जब कपास ओटने की मशीन पर रुई से जुदा करने के लिए रुई रवाना की जायेगी। आमतौर पर इन बिनौलों में से कुछ बिनौलों का किसान अगली फसल में इस्तेमाल करते हैं। जब इन बिनौलों को खेतों में बोया जाता है, तब वे बिनौलों और पौधों दोनों में खूब फलते-फूलते हैं। इस प्रकार हर नई फसल को वे हानि पहुँचाते रहते हैं। रेडियो कारपोरेशन औव अमेरिका एक ऐसी छोटी मशीन भी तैयार कर रही है, जिसे विकिरण द्वारा कीड़ों को मारने के लिए आसानी से कपास के खेतों में ले जाया जा सकेगा।

कीटाणु-नाशक औषधियाँ

डा० बिशप का कथन है कि यदि ये उपाय प्रभावशाली सिद्ध हो गये, तो विखण्डनीय पदार्थों की व्यर्थ जाने वाली वस्तुओं में से कीड़ों को नष्ट करने के लिए विकिरण के साधन उपलब्ध किये जा सकेंगे। किन्तु यदि विकिरण विधि फसलों को हानि पहुँचाने वाले कीड़ों को नष्ट करने के लिए प्रभावशाली एवं सस्ती भी सिद्ध हुई, तो भी अमेरिकी कृमिशास्त्री शक्तिशाली कीटाणुनाशक औषधियों तथा उनका प्रयोग करने के अच्छे तरीकों के सम्बन्ध में अनुसन्धान जारी रखेंगे। टैक्सास के एग्रिकल्चरल एण्ड मैकेनिकल कालेज में जिस मिश्रण का परीक्षण किया गया है, वह कपास को लगने वाले कीड़ों के लिए अन्य औषधियों की अपेक्षा अधिक नशीला पाया गया है। अमेरिकी कृषि-विभाग के कपास को लगने वाले कीड़ों के नियन्त्रण सम्बन्धी कार्यक्रम के अध्यक्ष डा० के० पी० यूइंग का कथन है कि इस नये मिश्रण में कपास को लगने वाले कीड़ों को मारने की अत्यधिक क्षमता है। यह औषधि जर्मनी के संघीय गणतन्त्र की बायर नामक कम्पनी द्वारा तैयार की गयी थी।

कीट नाशक औषधियों को प्रयोग में लाने के नये तरीकों में वे विषैली औषधियाँ सबसे अधिक प्रभावशाली हैं, जो स्वयं पौधों को ही कीटाणु-नाशक बना देती हैं। मिट्टी अथवा बीज में इन औषधियों के डालने से वे पौधों में रम जाती हैं और जो कीड़े उन पर आक्रमण करते हैं वे मर जाते हैं।

बाल-विज्ञान

जल से बिजली

डा० सत्य प्रकाश

एक समय था जब मनुष्य अपने काम अपने बाहुबल से निकालता, स्वयं वह जमीन खोदता, पेड़ काटता, आटा पीसता और बोझा ढोता था। इसके बाद एक युग आया जिसमें उसने अपने काम के लिये पशुओं से सहायता मांगी। उसने बैल, घोड़े, खच्चर, ऊँट, हाथी आदि पशुओं को पालतू बनाया। इन पालतू पशुओं ने मनुष्य की गाड़ियाँ खींची, कोल्हू और हल चलाये। कुएँ में से पानी निकाला, माल ढोया और तरह तरह के काम किये, यह युग सहस्रों वर्षों तक चला। इसी बीच मनुष्य ने भाप की शक्ति का आविष्कार किया। इस भाप द्वारा उसने रेलगाड़ियाँ और जहाज चलाये, छापेखाने की मशीनों से छपाई की, इसी भाप से और कारखाने चले। कहीं कहीं पंखे भी चलाये गये। पहाड़ियों के बीच में जहाँ तेज हवायें चलती हैं, वहाँ हवा से पनचक्कियाँ चलायी गयीं। भाप के युग के बाद तेल युग आया। पेट्रोल या मिट्टी के तेल की खानों को पाकर मनुष्य प्रसन्न हुआ। पेट्रोल से चलने वाले अनेक एंजिन बना डाले गये। इन एंजिनों से मोटर कारें चलीं और हवाई जहाज चले।

मनुष्य का सदा प्रयत्न रहा है कि सस्ती से सस्ती विधि से वह शक्ति प्राप्त करे और अपने सब काम निकाले। जब से फैरेडे ने अपने आविष्कारों से बिजली की व्यावहारिक उपयोगिता का मार्ग प्रदर्शित किया, मनुष्य सदा इस खोज में रहा है कि सस्ती से सस्ती बिजली कैसे तैयार की जाय।

मनुष्य ने यह देखा कि जब नदियाँ तेजी से बहती हैं, या पानी झरनों या प्रपातों के रूप में ऊपर से नीचे गिरता है, तो इसमें बड़ी ताक़त होती है। तुम जानते हो कि पानी जितनी तेजी से बहे, वह उतनी ही तेजी से चीजों को ढकेल सकता है, अगर तेज धार में तुम खड़े हो जावो, तो तुम्हारे शरीर पर उसका धक्का स्पष्ट प्रतीत होगा। इसी प्रकार जब तुम नल के नीचे बैठते हो, तो तुम्हें नल की धार के बल का कुछ अनुभव होता है। जितने ही ऊँचे से पानी गिरेगा, उतना ही उसका दबाव या जोर तुम्हारे सिर पर मालूम होगा।

पहाड़ी स्थानों में अनेक जगहें ऐसी हैं जिनमें कई सौ फुट ऊपर से पानी की मोटी धार नीचे गिरती है। इस धार में इतना बल

होता है कि वहाँ हाथी भी खड़ा नहीं रह सकता। इसमें तुम्हें तेज बहते या ऊपर से गिरते पानी के बल का कुछ अनुभव हो गया होगा। अब प्रश्न यह है कि क्या इस महान् बल से हम अपना कुछ काम निकाल सकते हैं। मनुष्यों ने जैसे बड़े-बड़े पशुओं को पालतू बना कर उनसे अपना काम निकाला, इसी प्रकार मनुष्य ने पानी के इस बल को अपने वश में किया और इससे यथेष्ट काम लिया।

पानी से चलने वाले चक्र—मानलो कि बड़े गोल पहिये की परिधि पर थोड़ी-थोड़ी दूर तरह तुमने ८-१० बालटियाँ बाँध दी हैं। पहिया अपनी धुरी पर नाच सकता है। पहिये को इस पर लगाओ कि यदि इसे किसी झरने या प्रपात में रख दिया जाय तो प्रपात का पानी एक बाल्टी पर गिरे। जैसे ही बाल्टी पानी से भर जायगी, यह बोझीली होकर नीचे को आयेगी इसके नीचे आते ही पहिया थोड़ा सा घूमेगा। इतने में ही दूसरी बालटी पानी की धार के नीचे आयेगी। यह जब भर जायगी तो यह नीचे दबेगी और पहिया फिर थोड़ा-सा घूमेगा। इसी प्रकार एक के बाद एक बालटी भरती जायँगी और पहिये को घुमाती जायँगी। ये भरी बालटियाँ जब घूमकर ऊपर पहुँचेंगी, तो उलट कर खाली हो जायँगी और फिर दुबारा अपने क्रम पर भरेंगी। सब का परिणाम यह होगा कि पानी के प्रपात के कारण इन बालटियों की सहायता से पहिया निरन्तर घूमता रहेगा। पानी ऊपर से नीचे को जितनी तेजी से गिरेगा, पहिया उतनी ही तेजी से घूमेगा।

ऊपर बालटियोंदार पहिये का जो उदाहरण दिया है, वह पेल्टन ह्वील (Pelton Wheel) कहलाता है। इस पेल्टन ह्वील या पेल्टन चक्र से मिलते-जुलते और भी कई प्रकार के चक्र बनाये गये हैं। बहुत से चक्रों में इस प्रकार की पंखुड़ियाँ लगी होती हैं, जैसे कि बिजली के पंखों में। पानी की धार जब इन पंखुड़ियाँ या पंखों पर पड़ती है, तो ये पंख एक ओर को घूमते हैं और अपने साथ पूरे चक्र को घुमा देते हैं। इन चक्रों की ये पंखुड़ियाँ बहुधा कुछ गहरी मुड़ी रहती हैं; समझ लो कि कटोरेनुमा होती हैं। ऐसे चक्र और भी सरलता से पानी के जोर से घूमते हैं।

चक्रों की शक्ति के उपयोग—ऊपर पानी से संचालित जिस चक्र का वर्णन किया है, वह जब घूमता है तो उसके साथ बेल्ट या पेटियाँ या जंजीरें जोड़कर बहुत-सी अन्य चीजों को घुमाने या खींचने का काम लिया जा सकता है। पानी से चलने वाली चक्कियाँ जिनमें आटा पीसा जा सकता है, या कोल्हू चलाये जा सकते हैं, इसी प्रकार की थीं।

क्या तुमने कोई बिजलीघर देखा है। अधिकतर बिजलीघरों में कोयले की भट्टियाँ सुलगा कर पानी की भाप बनाते हैं और इस भाप से ही बहुत-सी मशीनें चलाते हैं। इन मशीनों

के चलने से बिजली बनती है, जो तार द्वारा शहर में दूर-दूर घरों में पहुँचती है। आप कह सकते हैं कि यह बिजली कोयले के भस्म होने जो शक्ति निकली उससे बनी। कोयले की शक्ति को बिजली की शक्ति में परिणत करना काफी खर्चीला है। अगर बिजलीघर की मशीनें कोयले से शक्ति न पा करके पानी के तेज गिरने या तेज बहने से पावें तो बिजली बिना खर्च की हो मिल जायगी। हमने अभी ऊपर जिस पेल्टन चक्र या अन्य चक्रों का वर्णन किया है, वे पानी की धार की तेजी से चलने लगते हैं और जब ये चक्र एक बार घूमने लगें, तो ये अपनी शक्ति से दूसरी मशीनों को भी चला सकते हैं। इन मशीनों को चलाकर फिर बिजली तैयार की जा सकती है।

इस प्रकार कोयला बिना जलाये, पानी के वेग की सहायता से जब बिजलीघरों में मशीनें चलायी जाती हैं, तब हम कहते हैं, कि यह बिजली पानी से बनी। इस प्रकार बिजली बनाने की योजना को हाइड्रोएलेक्ट्रिक स्कीम (जल-विद्युत् आयोजना) कहते हैं।

भारत में हाइड्रोएलेक्ट्रिक स्कीम—अमरीका में, विशेषतया कनाडा में, पर्वतीय स्थलों में कहीं-कहीं पर बहुत अधिक ऊँचाई से गिरने वाले भयंकर प्रपात हैं। इन प्रपातों की शक्ति का पहले कोई उपयोग न था। पर अब तो इन प्रपातों के नीचे चौबीसों घंटे विशालकाय चक्र (वाटर टरबाइन) तुमुल नाद करते हुए घूमते रहते हैं। उनके घूमने से बिजलीघर की मशीनें भी चलने लगती हैं। इस प्रकार इन प्रपातों के स्थान पर बहुत ही सस्ती बिजली तैयार करली जाती है। यह बिजली तार द्वारा दूर-दूर स्थानों में पहुँचती हैं, और वहाँ बड़ी-बड़ी फैक्टरियों की मशीनें चलाती हैं।

भारतवर्ष में कोयला बहुत नहीं है, बहुत से प्रदेशों में जैसे उत्तर प्रदेशों में तो बिलकुल नहीं है। अतः यहाँ बिजली पैदा करने का सबसे अच्छा साधन नदियों के पानी का उपयोग है। सन् १९१८ में उत्तर प्रदेश के नहर विभाग के चीफ एञ्जीनियर जी० टी० बार्लो (Barlow) और भारतीय सरकार के जे० डब्ल्यू० मीयर्स दोनों के सहयोग से एक आयोजना बनी। बार्लो की शीघ्र मृत्यु हो गयी, पर मीयर्स ने १९२१ में अपनी जो रिपोर्ट दी, उससे यह स्पष्ट हुआ कि इस देश में ६० से १३० लाख किलोवाट शक्ति की बिजली पानी से तैयार की जा सकती है। तब ये आज तक सभी प्रदेशों की सरकार इस प्रकार की आयोजनायें बनाती रही हैं। बम्बई सरकार के परामर्श से १९४८ में एक एलेक्ट्रिसिटी एक्ट भी बना। इसके अनुसार अब इस राष्ट्र के प्रत्येक प्रदेश में इस व्यय के लिए एक बोर्ड है।

इस देश की हाइड्रोएलेक्ट्रिक स्कीमों में निम्न मुख्य हैं—

(१) टाटा की तीन कम्पनियाँ—टाटा

हाइड्रोएलेक्ट्रिक पावर सप्लाई कंपनी (१९१५) आन्ध्रवैली पावर सप्लाई कंपनी (१९२२) और टाटा पावर कंपनी (१९१७) ये तीनों कंपनियाँ बम्बई प्रदेश में १००० वर्ग मील से अधिक भाग को बिजली देती हैं। इनसे १९४८-४९ में १ अरब ३१ करोड़ इकाई (Units) बिजली बनी।

(२) मैसूर में १९०२ से कावेरी नदी के जल से बिजली बनाने की आयोजना बनी थी। यह ६०,००० अश्वबल तक की बिजली तैयार की जा सकती है।

(३) हमारे उत्तर प्रदेश में गंगा केनाल हाइड्रोएलेक्ट्रिक ग्रिड (Ganga Canal Hydro Electric Grid) से पश्चिम के १४ जिलों को बिजली मिलती है। दिल्ली के शहादरा को भी इसी गंगा की नहर से बिजली मिलती है यह नहर १० स्थानों पर ऊपर से नीचे गिरायी जाती है, और वहाँ प्रपात से बिजली तैयार करते हैं। चंदौसी और हरदुआगंज में १९००० किलोवाट शक्ति के स्टेशन बनाये गये हैं। मुहम्मदपुर में भी बिजली तैयार करने का स्टेशन बन रहा है। इस बिजली का उपयोग रोशनी करने और पंखे चलाने में तो ९३ शहरों और कस्बों में तो होता ही है, इससे ट्यूबवेल और अन्य कुओं से पानी भी पम्प किया जाता है, जिससे सिंचाई होती है।

गंगावेली स्टेट ट्यूबवेल आयोजना में २३०० के लगभग ट्यूबवेल हैं जिससे बिजनौर, मुरादाबाद, बदायूँ, मुजफ्फर नगर, सहारन पुर, मेरठ, बुलन्दशहर, अलीगढ़ और एटा जिलों में सिंचाई होती है। इनसे शहरों के छोटे छोटे अनेक कारखाने भी चलते हैं।

हमारे इस प्रदेश में शारदा केनाल हाइड्रोएलेक्ट्रिक स्कीम, यमुना हाइड्रोएलेक्ट्रिक आयोजना, नायर डैम योजना, रामगंगा योजना आदि बहुत सी योजनायें तैयार हो रही हैं। इस उत्तर प्रदेश में नदियों के जल का अच्छी तरह बिजली बनाने में उपयोग हो सकता है।

(४) बिहार, मद्रास, पंजाब, हैदराबाद आदि प्रदेशों में भी पानी से बिजली बनाने की योजनायें चालू हैं, इनमें पश्चिमी बंगाल का "दामोदर वैली प्रोजेक्ट" बड़े महत्व का है। इस योजना के सफल होने पर ३ लाख किलोवाट की बिजली मिल सकेगी।

भारत में टेलीफोन

श्री जगजीवन राम, केन्द्रीय संचारण मन्त्री

टेलीफोन का आविष्कार १८७६ में अलेक्जेंडर ग्राहम बेल ने किया था। इसके ५ साल बाद ही कलकत्ते में ५० लाइन का टेलीफोन एक्सचेंज स्थापित हो गया। संसार के जिन देश ने सब से पहले टेलीफोन-एक्सचेंज स्थापित किये उनमें भारत भी एक है, और इस देश ने कलकत्ते में ही सब से पहला एक्सचेंज स्थापित हुआ। इस समय कलकत्ते में जितने टेलीफोन हैं, उतने और किसी शहर में नहीं हैं, परन्तु वहाँ के टेलीफोन हस्तचालित हैं।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद कलकत्ते में स्वतः चालित टेलीफोनों की व्यवस्था पर विचार किया गया और १९५० में एक योजना बनाई गई जिसके अनुसार पाँच क्रमों में सारे नगर में स्वतः चालित टेलीफोन लगाने का निश्चय किया गया। १९५३ में १३,८०० लाइनों स्वयंचालित एक्सचेंजों की स्थापना की गई। आज ११,६०० लाइनों के दो और स्वयंचालित एक्सचेंजों की स्थापना की जा रही है। शेष तीन क्रमों में १९५७ के अन्त तक १० और स्वयंचालित एक्सचेंज स्थापित किये जायेंगे।

प्रगति की नाप

किसी देश की औद्योगिक और आर्थिक उन्नति उनके टेलीफोनों की से आँकी जा सकती है। इस समय भारत में प्रति सहस्र व्यक्ति ७ टेलीफोन हैं, जब कि अमेरिका में ३१० और ब्रिटेन में १२५ हैं। द्वितीय पंचवर्षीय योजना की समाप्ति पर भी यहाँ टेलीफोनों की संख्या अधिक से अधिक १·२५ प्रति सहस्र हो सकेगी।

भारत में टेलीफोन (जारी)

युद्धकाल में और उसके पश्चात भारत में टेलीफोनों की माँग बहुत बढ़ गई है। परन्तु हम इसको पूरा नहीं कर पा रहे। प्रथम पंचवर्षीय योजना की समाप्ति पर २,६०,००० टेलीफोन लग जाने के बाद भी, लगभग १ लाख टेलीफोनों की मांग बनी ही रहेगी। द्वितीय पंचवर्षीय योजना का लक्ष्य इस मांग को पूरा करना है।

गांवों में भी टेलीफोन

इस समय गांवों को भी तार और टेलीफोन की सुविधा देने की कोशिश की जा रही है। मार्च १९५६ के अन्त तक सब जिला-नगरों और जिलों के उप-विभागों के केन्द्रों तथा प्रमुख कस्बों में टेलीफोन लग जायेंगे। बाद में तहसीलों और थानों में लगेंगे। तार लगभग सभी सामूहिक योजना केन्द्रों और राष्ट्रीय विस्तार-सेवा-मुख्यालयों में लगेंगे। छोटे-छोटे शहरों में भी तार की व्यवस्था की जायगी। यह सोचा जा रहा है कि ऐसी व्यवस्था कर दी जाय कि तार देने या टेलीफोन करने के लिए साधारणतः किसी व्यक्ति ५ मील से अधिक न चलना पड़े।

टेलीफोन-व्यवस्था के प्रसार के साथ-साथ उसे आधुनिक रूप देने का भी प्रयत्न किया जा रहा है। सभी बड़े शहरों में स्वयंचालित एक्सचेंज खोलने की योजना बनाई जा रही है। दिल्ली कलकत्ता और बम्बई के बीच ट्रंक-सर्विसी विलम्ब को दूर करने के लिए एक नई व्यवस्था की जा रही है। भविष्य में ऐसी व्यवस्था भी की जायगी जिससे किसी भी शहर को टेलीफोन किया जा सके।

सारा साज-सामान स्वदेशी

इस बात का प्रयत्न किया जा रहा है कि तार और टेलीफोन का सारा सामान देश में ही बनने लगे। तार और टेलीफोन के विकास के लिये खम्भे,

तार, स्वयंचालित एक्सचेंज के सामान कैरियर के सामान, केबिल, स्विचबोर्ड, टेलीफोन या टेलीप्रिन्टर, बिजली के लिये विद्युत-यन्त्र, बैटरी आदि की आवश्यकता है। कलकत्ता, बम्बई और जबलपुर के कारखाने, बंगलौर का इंडियन टेलीफोन इन्डस्ट्रीज (कारखाना), रूप नारायणपुर की हिन्दुस्तान केबिल फैक्टरी तथा और भी सरकारी और गैर-सरकारी कारखाने इन चीजों के बनाने में लगे हुए हैं। शीघ्र ही एक टेलीप्रिन्टर कारखाना भी स्थापित होने वाला है।

टेलीफोन ने सभ्य संसार के जीवन में एक क्रांति पैदा कर दी है। बड़े शहरों में तो यह लोगों के दैनिक जीवन का एक अंग बन गया है और उसके अभाव से उनको बड़ी परेशानी होती है इसलिये टेलीफोनों की कमी को पूरा करने का भरसक प्रयत्न किया जा रहा है।

भविष्य में टेलीफोन-व्यवस्था के प्रसार और सुधार से न केवल उद्योगों का विस्तार होगा, अपितु हमारा जीवन अधिक सुखमय हो जायगा और हम राष्ट्रीय एवं अन्तर राष्ट्रीय मामलों का अधिक अच्छा ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

विषय-सूची

नागरी प्रेस, दारागंज, प्रयाग।

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

१—विज्ञान प्रवेशिका, भाग १—श्रीरामदास गौड़ और प्रो० सालिगराम भार्गव ।=)
२—चुम्बक—प्रो० सालिगराम भार्गव ।।।=)
३—मनोरञ्जन रसायन—प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव २)
४—सूर्य सिद्धान्त—श्री महावीरप्रसाद श्रीवास्तव छः भाग मूल्य ८) । इस लेखक को १२००) का मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला है ।
५—वैज्ञानिक परिमाण—डा० निहालकरण सेठी १)
६—समीकरण मीमांसा—पं० सुधाकर द्विवेदी; प्रथम भाग १।।) द्वितीय भाग ।।=)
७—निर्णायक (डिटर्मिनैंट्स) प्रो० गोपाल कृष्ण गर्दे और गोमती प्रसाद अग्निहोत्री ।।)
८—बीज ज्योमिति या भुजयुग्म रेखागणित—डाक्टर सत्यप्रकाश डी० एस-सी०, १।)
९—वर्षा और वनस्पति—श्री शंकरराव जोशी ; ।=)
१०—सुवर्णकारी—ले० श्री० गङ्गाशंकर पचौली; ।=)
११—व्यङ्ग-चित्रण—ले० एल० ए० डाउस्ट; अनुवादिका श्री रत्नकुमारी एम० ए०; २)
१२—मिट्टी के बरतन—प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा; (अप्राप्य)
१३—वायुमंडल—डाक्टर के० बी० माथुर, २)
१४—लकड़ी पर पालिश—डा० गोरखप्रसाद और श्री रामरतन भटनागर, एम० ए०, २) (अप्राप्य)
१५—कलम पेवंद—ले० श्री शंकरराव जोशी; २)
१६—जिल्दसाजी—श्री सत्यजीवन वर्मा, एम० ए० २)
१७—तैरना—डा० गोरखप्रसाद १)
१८—सरल विज्ञान-सागर प्रथम भाग—सम्पादक डाक्टर गोरख प्रसाद मूल्य ६) (अप्राप्य)
१९—वायुमण्डल की सूक्ष्म हवाएं—डा० सन्तप्रसाद टंडन, डी० फिल० ।।)
२०—खाद्य और स्वास्थ्य—डा० ओंकारनाथ परती, मूल्य ।।।)
२१—फोटोग्राफी—लेखक श्री डा० गोरख प्रसाद डी० एस-सी० (एडिन) ४),
२२—फल संरक्षण—डा० गोरखप्रसाद डी० एस-सी० और श्री वीरेन्द्रनारायण सिंह २।।)
२३—शिशु पालन—लेखक श्री मुरलीधर बौड़ाई । मूल्य ४)
२४—मधुमक्खी पालन—दयाराम जुगड़ान; ३)
२५—घरेलू डाक्टर—डाक्टर जी० घोष, डा० उमाशङ्कर प्रसाद, डा० गोरखप्रसाद, ४)
२६—उपयोगी नुसखे, तरकीबें और हुनर—डा० गोरखप्रसाद और डा० सत्यप्रकाश, ३।।)
२७—फसल के शत्रु—श्री शङ्कर राव जोशी ३।।)
२८—साँपों की दुनिया—श्री रमेश वेदी ४)
२९—पोर्सलीन उद्योग—प्रो० हीरेन्द्र नाथ बोस ।।।)
३०—राष्ट्रीय अनुसंधानशालाएँ—२)
३१—गर्भस्थ शिशु की कहानी—प्रो० नरेन्द्र २।।)

अन्य पुस्तकें

१—साबुन-विज्ञान ६)
२—भारतीय वैज्ञानिक ३)
३—वैक्युमब्रेक २)
४—यांत्रिक चित्रकारी २।।)
५—विज्ञान के महारथी (जगपति चतुर्वेदी) २)
६—पृथ्वी के अन्वेषण की कथाएँ („) १।।)
७—विज्ञान जगत की झाँकी (प्रो० नारायण सिंह परिहार) २)
८—खोज के पथपर (शुकदेव दुबे) ।।)

पता—विज्ञान परिषद् (म्योर सेन्ट्रल कालेज भवन) प्रयाग

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्तिविज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तति। तै० उ० ।३।५।

भाग ८१ | कर्क २०१२; जुलाई १९५५ | संख्या ४

स्तनिन जन्तुओं की उत्पत्ति

जगपति चतुर्वेदी

मंडूक के समकक्षीय जन्तु जल तथा स्थल के मध्य रह सकने से उभयचारी कहलाते हैं। उन्मुक्त वायु में श्वास लेने के लिए उनमें फेफड़े बने होते हैं, भूमि पर चल सकने या उचक सकने के लिए चार पाद होते हैं, उनका कुछ अनुकरण-सा कर कुछ मत्स्य भी खुली वायु में श्वास ले सकने के लिए फुफ्फुस की व्यवस्था रखते हैं। किन्तु फेफड़े तथा पैरों की व्यवस्था होने पर उभयचारी जन्तु जल तथा आर्द्रता की उपेक्षा नहीं कर सकते। उनके अंडे पानी में ही दिये जाते हैं। पानी में ही अंडों से शिशु उत्पन्न हो कर पोषित होते हैं। मंडूकों की कोमल श्लेष्मिक त्वचा भी उन्हें विशेषतया आर्द्र स्थलों में रहने को बाध्य करती है, अतएव जलखंड से अधिक दूर के स्थलों तक वे नहीं रह सकते। नदी, तालाबों के निकटवर्ती स्थलों तक ही उनका निवास सीमित रहता है। सरीसृपों में बाह्य श्लेष्मा के स्थान पर शुष्क, अभेद्य शरीर-आच्छादक त्वचा होती है अतएव वे शुष्क वायु का सामना कर सकते हैं। सरीसृपों के अंडे स्थलखंड पर ही दिये जाते तथा पोषित होते हैं। उनमें कुछ झिल्लियाँ उत्पन्न होती हैं जो उनके पोषण, श्वसन तथा रक्षा का प्रबन्ध करती हैं। अतएव उनसे जो शिशु उत्पन्न होते हैं वे यथेष्ट विकसित रहते हैं। इस प्रकार जल के आश्रय की बहुत कुछ दुर्बलता दूर कर सरीसृप दूर-दूर के स्थानों तक प्रसरित हो सकते थे। अतएव उनका स्थल-खंडों पर प्राधान्य स्थापित हो सका। बाद में कुछ जलखण्ड में लौटकर जीवन व्यतीत करने के भी अभ्यस्त दिखाई पड़े तथा कुछ आकाश-गामी बने। पक्षियों ने अपनी त्वचा को पर (पतत्र) रूप में परिवर्तित करने में सफलता प्राप्त की। उनके अग्रपादों ने पंख रूप धारण किया। आन्तरिक तापमान को यथेष्ट उच्च कर लिया। इस प्रकार उन्होंने वह पूर्णता प्राप्त की जो उन्हें आकाश का भ्रमण कर सकने योग्य जीवन व्यतीत करने में समर्थ बना सकी।

जलक्षेत्र में रहने वाले मत्स्यों, धरती पर विचरण करने वाले सरीसृपों तथा व्योम में विहरण करने वाले पक्षियों का जीवन अवश्य स्पृहणीय रहा होगा। इन रूपों में हम पृष्ठवंशी जन्तुओं की सृष्टि का सफल दृश्य प्रतिभासित करता-सा अनुमान कर

सकते हैं, परन्तु विकासोन्मुखी शक्तियों के हथकंडे ज्ञात या अज्ञात रूप में किन्हीं दिशाओं में प्रवृत्त होकर ही कदाचित जन्तु-जगत में कायापलट करने का अवसर ला सके। सरीसृपों का पक्ष ही कदाचित धरा पर अधिक प्रसारित था, अतएव उसे ही क्षीण करने की कदाचित प्रकृति को आवश्यकता हुई हो, किन्तु कारण कुछ भी हो, उनमें कोई भारी दुर्बलता निहित थी जो उन्हें धरती पर एक प्रमुख रूप धारण किये रख सकने में समर्थ न बना सकी। आज से सात करोड़ वर्षों पूर्व से लेकर बीस-बाईस करोड़ वर्षों पूर्व तक पृथ्वी के इतिहास में मध्य-जन्तुक युग का प्रसार था। उस युग में प्रारम्भ में सरीसृपों का भरपूर उदय हुआ किन्तु इस युग के अवसान काल में उनकी संख्या बहुत ही क्षीण हो सकी। इस युग को इस कारण सरीसृपों का युग भी कहते हैं। उस युग के अवसान ने सरीसृपों का भी अधःपतन इतना अधिक देखा कि आज उनका बहुत क्षीण रूप ही जीवित रह सका है। भौगर्भिक प्रमाणों से यह स्पष्ट ज्ञात नहीं होता कि सरीसृपों के अवसान के क्या कारण थे। हो सकता है भूमि के प्रसारक्षेत्र में घोर परिवर्तन हुए हों, तापमान गिर गया हो, वायु में आर्द्रता न्यून हो गई हो, हरियाली का ही रूप ऐसा बदला हो जिससे शाकाहारी सरीसृपों को भारी असुविधा हुई हो और बाद में उसका प्रभाव ही मांसाहारियों पर भी पड़ा हो। बहुत अधिक संतानवृद्धि से अत्यधिक संख्यावृद्धि या अकाल के कारण मांसाहारी जन्तुओं को एक दूसरे को मार खाने की आवश्यकता आ पड़ी हो। कुछ ऐसे ही कारणों के संघट्ट ने ही तत्कालीन जन्तुजगत का पलड़ा अत्यधिक विषम करने के लिए विवश किया होगा और सरीसृप विनाश को प्राप्त हुए होंगे।

मध्यजंतुक युग में अपेक्षाकृत अधिक उष्ण वातावरण था। विश्वास है कि प्राचीन सरीसृप बाह्य वातावरण से प्रभावित होकर अपने शरीर का तापमान परिवर्तित करने वाले जंतु थे। ऐसे रूप के जन्तुओं को शीतरक्तीय कहा जाता है, परन्तु शीतरक्तीय शब्द भ्रामक और अशुद्ध है। यथार्थ में मत्स्य, सरीसृप आदि का रक्त शीत नहीं होता, बल्कि कोई स्थिर तापमान नहीं होता। बाह्य वातावरण का तापमान न्यून या अधिक होने पर उनके शरीर का तापमान भी न्यून या अधिक हो जाता है, अतएव उनको अस्थिरतापमानी जन्तु कह सकते हैं परन्तु पक्षी, स्तनिन आदि को स्थिर तापमानी जंतु कहा कहा जाना चाहिये क्योंकि उनके शरीर का तापमान किसी आन्तरिक अव्यवस्था के न उपस्थित होने पर साधारणतया प्रत्येक ऋतु में समान ही रहता है। उष्णरक्तीय कहने की अपेक्षा स्थिरतापमानी जंतु कहना अधिक उचित है। शब्दों की भ्रामकता की बात तो यह हुई परन्तु शीतरक्तीय तथा उष्णरक्तीय प्रचलित से हो गए हैं। जंतुओं का विभाजन होने पर उनके अभिप्राय ठीक रूप का ही समझ लिया जाता है। जो 'शीतरक्तीय' जन्तु हैं उनमें पाचन क्रिया मन्द होती है। पक्षियों का तापमान मनुष्य से अधिक होने पर उनकी पाचनक्रिया बहुत ही तीव्र होती है। शीतरक्तीय जन्तुओं में अपेक्षाकृत न्यून तापमान उत्पन्न होता है। सरीसृपों की त्वचा इस क्षीण मात्रा के तापमान को भी रक्षित रखने में समर्थ नहीं होती। पोषण के लिये शरीर के अन्तर्गत यथेष्ट तापमान होना आवश्यक है अतएव सरीसृप को अपने पोषण के लिए बाह्य तापमान पर ही अवलम्बित रहना पड़ सकता है। फलतः उष्ण देशों में ही सरीसृप वृद्धि पाते हैं। आज दीर्घकाय सरीसृप घड़ियाल, अजगर केवल उष्ण तथा अर्द्ध उष्ण देशों में ही पाये जाते हैं। शीततर कटिबन्धों में क्षुद्रकाय तथा अल्पसंख्यक सरीसृप ही होते हैं ध्रुवीय प्रदेश में तो सरीसृपों का सर्वथा ही अभाव है

आकार तथा तापमान में एक नियमबद्ध सम्बन्ध होता है। यदि एक रूप में रचित शरीर के विभिन्न आकार हों तो उसके बाह्यतल तथा शरीर का घनफल एक निश्चित अनुपात में परिवर्तित मिलेंगे। बड़े सरीसृप में छोटे सरीसृप की अपेक्षा न्यून बाह्यतल

ही होगा। सरीसृप के तल पर तापमान या तो शोषित हो सकता है या लुप्त हो सकता है। यह बात उसके शरीर के आन्तरिक तथा वातावरण के तापमान की आपेक्षिक मात्रा पर निर्भर करती है। यदि शीत रात्रि के पश्चात् एक छः इञ्च लम्बी छिपकली तथा एक बारह फुट लम्बा घड़ियाल प्रातः के अर्द्ध उष्ण धूप में पड़े हों तो घड़ियाल की अपेक्षा छिपकली का शरीर बहुत शीघ्र गर्म हो उठेगा। संसार के विस्तृत उष्ण भूखंडों ने ही सरीसृपों का अभ्युदय काल उपस्थित किया था। यदि मध्यजन्तुक युग के अन्त तक सरीसृपों का उदय न हो सका होता तो संसार में कभी सरीसृपों का युग ही न आया होता।

मध्यजन्तुक युग के बाद भौगर्भिक इतिहास में नव-जन्तुक युग का उदय आज से नौ करोड़ पूर्व हुआ। इस नवजन्तुक युग का अपेक्षाकृत न्यून तापमान केवल सीमित उष्ण कटिबन्ध में ऐसे सरीसृपों को जीवित रहने का अवसर दे सका जो मध्य-जन्तुक युग की संहारलीला से किसी प्रकार अपनी रक्षा कर बचे रह सके थे। एक ओर जहाँ महासरीसृपों का लोप हो रहा था, वहाँ दूसरी ओर थोड़े दिनों पूर्व ही जन्तु-जगत में अवतरित पक्षियों ने अपनी वृद्धि प्रारम्भ की थी। उन्होंने विभिन्न वातावरणों के अनुकूल अपने को बना लिया। इसका एकमात्र कारण यही था कि उन्होंने अपने को स्थिर तापमानी जन्तु बना लिया था। जिस भूखंड पर पहले सरीसृपों ने अपना आधिपत्य स्थापित किया था, उसे पृष्ठवंशियों के स्तनपायी वर्ग को अपेक्षाकृत शीत होने वाले युग में अपना निवास बनाना था तो उष्णरक्तता अर्थात् स्थिरतापमान-रक्तता का गुण रखना अनिवार्य था तथा सन्तानोत्पादन में भी ऐसे परिष्कार की आवश्यकता थी कि नवजात शिशु ऋतु-वैषम्य के सम्मुख जीवन-रक्षा कर सकने में समर्थ हों।

पक्षियों में ऐसे कुछ उपक्रम थे। शरीर का तापमान उच्च था जो स्थिर रह सकता था किन्तु वे आकाश में उड़ने के जीवन के लिए इतने अधिक विशेष रूप का शरीर धारण कर सके थे कि उनका स्थलजीवी जीवन कठिन बात थी। अपवाद स्वरूप थोड़े से पक्षी भूमिजीवी हमें दिखाई पड़ते हैं जो उड़ान क्रिया से शून्य होते हैं किन्तु यथेष्ट शरीर-परिवर्तन के बिना सफल भूजीवी जन्तु का जीवन असम्भव था। पृष्ठवंशियों के इतिहास में इसी समय स्तनिन जन्तु वर्ग का उदय हुआ।

सरीसृपों की भांति स्तनिन जन्तु अधिकांशतः भूजीवी होते हैं। अतएव चौपाए स्तनिन की शरीर-रचना सरीसृप से बहुत अधिक विभिन्न होना आवश्यक नहीं। पक्षियों को वायु में उड़ने के लिए पृष्ठवंशियों की शरीर-रचना की अपेक्षा बहुत आमूल परिवर्तन की आवश्यकता पड़ी किन्तु भूजीवी होने के कारण स्तनिन जन्तुओं के शरीर की रचना में उतने भारी अन्तर की आवश्यकता नहीं थी। विभिन्न रूप के छोटे-मोटे गौण कङ्कालीय परिवर्तन अवश्य हुए। विशेष रूप से उल्लेखनीय परिवर्तन उच्च तापमान के स्थिर रूप का होना कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त शरीर पर रोम (बाल), गर्भाशय से शिशु की उत्पत्ति तथा दुग्ध-ग्रन्थियाँ उल्लेखनीय हैं। ये विशेषताएँ ऐसी हैं जिन्हें भौगर्भिक प्रमाण प्रस्तरावशेष रूप में प्रकट करने में असमर्थ हैं। पक्षियों के सम्बन्ध में विकास के पूर्व सोपान को प्रकट करने वाले आदि-पक्षी के भव्य प्रस्तरावशेष जैसी सुन्दर विकास-कथा सुना सकते हैं वैसा स्तनिन जन्तुओं के सम्बन्ध में कथा सुनाने योग्य कोई सुन्दर आधार नहीं। कङ्काल के स्थूल रूपों के प्रमाण प्रस्तरावशेष रूप में अवश्य मिलते हैं जो स्तनपायियों की प्राचीन कथा कहते हैं।

स्तनिन जन्तुओं की प्राचीन कथा में कङ्काल के साथ दन्तावली भी सहायता करती है। भूजीवी स्तनपायी के आधुनिक रूप में कङ्काल तो सरीसृप के कङ्काल से अनेक रूपों में विभिन्न होता है। उनमें अधिकांश विभिन्नताएँ कपाल की अस्थियों के सम्बन्ध में ही पाई जाती हैं। कपाल की अस्थियों में संख्या की अधिक कमी देखी जाती है। सरीसृप में जहाँ बहुत-सी अस्थियाँ पृथक-पृथक स्पष्टतः होती हैं, वहाँ

वे स्तनपायी के कपाल में कुछ के जुटकर एक हो जाने से थोड़ी संख्या की होती हैं। कपाल तथा पृष्ठवंश के संधिस्थल पर अन्तिम कशेरुका (रीढ की स्फुट हड्डियाँ) का दो अस्थिमुण्डों द्वारा सम्बन्ध स्तनपायी जन्तुओं की विशेषता है परन्तु पक्षियों तथा सरीसृपों में कपाल से अन्तिम कशेरुका का सम्बन्ध एक अस्थि-मुण्ड द्वारा ही पाया जाता है। आधुनिक काल के उभयजीवी जंतुओं में भी दो अस्थि-मुंड कपाल-पृष्ठवंश से संयोजक होते हैं किन्तु सब से प्राचीन ज्ञात उभयजीवी तथा सरीसृपों के प्रस्तरावशेषों में केवल एक अस्थि-मुण्ड द्वारा ही कपाल-पृष्ठवंश का संयोग पाया जाता है।

स्तनिन की दन्तावली बहुत ही सुन्दर रूप का आधार है, जिससे उनके विभेदों की विशेषताएँ प्रकट होती हैं। स्तनपायी को छोड़कर अन्य पृष्ठवंशियों में, बहुत थोड़े अपवादों को छोड़कर सरल रूप की ही दन्तावली होती है। अन्य किसी विशेष जाति के सभी जन्तुओं में जबड़े के प्रत्येक भाग में एक रूप के ही दाँत होते हैं। इस स्थिति को समदन्तीय कहते हैं। किन्तु अधिकांश स्तनिन जन्तुओं में दाँतों में स्थानीय रूप के अन्तर होते हैं। उसे विषमदन्तीय स्थिति कहते हैं। प्रत्येक जबड़े के सम्मुखीय भाग में पैने सिरों वाले काटने के दाँत होते हैं। उन्हें कर्तनक (कतरने वाला या काटने वाला) कहते हैं। कर्तनक दाँतों की पंक्ति के दोनों पार्श्वों में एक विशेष रूप के नोकीले दाँत होते हैं जिन्हें रदनक या कुकुरदन्ता कहते हैं। मांसाहारी में उनका विशेष विकास हुआ रहता है। प्रत्येक कुकुरदन्ता के पीछे चर्वणक (चबाने वाले) दाँतों की पंक्तियाँ होती हैं, जिनमें से कुकुरदन्ता के निकट से प्रारम्भ होनेवाली दन्तमाला अग्र चर्वणक कही जा सकती है। अन्तिम सिरों की ओर की दन्तमाला चर्वणक कहलाती है। चर्वणक दाँत प्रायः भारी रूप के और आहार कुचलने या चबाने के लिए उपयुक्त होते हैं। स्तनिन जन्तुओं के अनेक भेद-प्रभेदों में इन दाँतों के प्रकार की विविधता अत्यधिक होती है तथा इनके जाति-वंश आदि विभाजन में इन दन्तावलियों के विशेष क्रमों तथा रूपों का महत्वपूर्ण भाग होता है। इन विशेषताओं से प्राचीन स्तनपायी जन्तुओं के प्रस्तरावशेषों की पहिचान में भारी सहायता प्राप्त होती है।

जहाँ तक प्रमुख तथ्यों का प्रश्न है, स्तनपायी जन्तुओं का इतिहास मध्यजन्तुक युग के उत्तर खण्ड (आज से लगभग दस करोड़ वर्षों पूर्व) तक सन्तोष-जनकरूप से ज्ञात कर लिया गया है। उस समय तक पक्षियों की अपेक्षा अधिक प्रस्तरावशेष प्राप्त होते हैं। मध्यजन्तुक युग की इससे पहले की शिलाओं (अठारह-बीस करोड़ वर्षों पूर्व तक) में अभी तक क्षीण रूप में तथा खंड रूप के ही स्तनिनों के प्रस्तरावशेष प्राप्त हो सके हैं किन्तु वे प्रस्तरावशेष स्तनपायी जन्तुओं के तो निस्सन्देह ही हैं। इस बात की साक्षी कपाल के अस्थि-खंडों तथा दन्तावली द्वारा प्राप्त होती है। अतएव यह सम्भव है कि स्तनपायी जन्तुओं का प्रादुर्भाव आज से अठारह करोड़ वर्षों पूर्व मध्यजन्तुक युग के ट्रयासिक काल में हुआ। सरीसृप का सर्वप्रथम प्रस्तरावशेष ट्रयासिक काल के भी पूर्व परमियन काल (आज से बाईस करोड़ वर्षों पूर्व तक मिलता है। कालान्तर में इनका रूपान्तर होता गया अतएव कुछ स्तनिन सदृश रूप का आभास देने वाले प्रस्तरावशेष बाद में मिलते हैं। इन्हें इसी कारण स्तनिनरूपी सरीसृप (थेरोमोरफा) नाम देते हैं इनकी कपालास्थियों में सरीसृप से थोड़ा अन्तर पड़कर स्तनिन के ढङ्ग का रूप बना मिलता है। कुछ और परिष्कृत रूप होने पर बाद के प्रस्तरावशेषों में ऐसे रूप मिलते हैं जिनमें कपालास्थि का पृष्ठवंश से संयोजक अस्थिमुंड एक के स्थान पर दो बना होता है। स्तनिन कङ्काल का केवल एकमात्र यही प्रमाण सुलभ नहीं, अन्य अस्थियों का भी रूप है। किन्तु सरलता से समझ में आने के कारण उसका उल्लेख किया गया है। दन्तावली में भी ऐसी बात पाई जाती है। पहले के प्रस्तरावशेषों में विषमदन्ती रूप की थोड़ी प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है, परन्तु बाद के कङ्कालों में निस्सन्देह

रूप से विषमदन्ती रूप की दन्तावली पाई जाती है। ऐसे प्रस्तरावशेषों में एक जन्तु में दो क्रम की दन्तावली होने का कुछ प्रमाण मिलता है जिसमें पहली तो दूध के दाँत की भाँति होती थी। उसके गिर जाने पर दूसरी बार स्थायी दन्तावली निकलती। आधुनिक स्तनिन जन्तुओं का यही क्रम है, परन्तु स्तनपायी को छोड़कर अन्य पृष्ठवंशियों में दाँत अस्थायी ही होते हैं। उनके दाँत गिरने तथा पुनः उग आने की क्रिया बार बार होती रहती है।

यह कहना कठिन है कि शुद्ध सरीसृप तथा शुद्ध स्तनपायी रूपों के मध्य के विकसित रूपों की पूर्ण शृङ्खला मिलती है किन्तु यह बात निस्सन्देह अवश्य है कि कतिपय प्राचीन सरीसृपों के प्रस्तरावशेष ऐसे प्राप्त होते हैं जो अधिकांश रूप में स्पष्ट सरीसृप हैं। परन्तु उनमें कुछ स्तनपायी जन्तु के भी निश्चित लक्षण मिलते हैं स्तनिनरूपी सरीसृप के प्रस्तरावशेषों में सरीसृप से स्तनपायी रूप की ओर विकसित होने की शृङ्खला को कुछ क्रमागत रूप में प्रकट करने वाले प्रस्तरावशेष प्राप्त होते हैं।

परमियन काल (२२ करोड़ वर्षों पूर्व से १८ करोड़ वर्षों पूर्व तक) को कुछ लोग प्राचीन (पुरा) जन्तुक युग (पेलियोजोइक) का अन्तिम खंड कहते हैं और कुछ लोग मध्यजन्तुक युग (मेसोजोइक) का प्रथम या आदि खंड कहते हैं। इस काल में स्तनिनरूप सरीसृप (थेरोमोर्फ) पहले पहल प्रकट हुआ। परमियन काल के बाद के ट्रयासिक काल (१८ करोड़ वर्षों से १४ करोड़ वर्षों पूर्व तक) में उनकी जातियों की विभिन्नता पराकाष्ठा को पहुँच गई। उनका विस्तृत क्षेत्रों में प्रसार हो गया। उनके अवशेष अत्यधिक प्रचुर मात्रा में उत्तरी अमेरिका तथा दक्षिणी अफ्रीका में प्राप्त होते हैं किन्तु थोड़ी संख्या में वे दक्षिणी अमेरिका, योरप तथा एशिया में भी प्राप्त होते हैं। किन्तु यह जन्तु ट्रयासिक के अन्त तक विलुप्त हो गया प्रतीत होता है।

स्तनिनरूप सरीसृप (थेरोमोर्फ) के पैर स्तनिन जन्तु सदृश थे। साधारण सरीसृप तथा उभयचारी चतुष्पद जन्तुओं के पैर अपेक्षाकृत छोटे होते हैं। वे अन्डे रूप में शरीर से बाहर की ओर फैले होते हैं तथा शरीर को भूमि के ऊपर नहीं उठाते। ट्रयासिक के प्रारम्भ में दक्षिण अफ्रीका में पाया जानेवाला सिनोगनेथस नामक जन्तु सरीसृप से स्तनिन रूप धारण करनेवाले रूपों की शृङ्खला में स्थान पाता है। वह चार फुट या उससे भी अधिक लम्बा था। इसके पैर अपेक्षाकृत लम्बे थे तथा इसके शरीर को अवश्य भूमि से ऊपर उठा सकते होंगे। थेरोमोर्फ या स्तनिनरूप सरीसृप की कपालास्थि में एक अस्थिशुन्ड पृष्ठवंश से संयोग करने के लिए होता था, परन्तु बाद में ऐसे रूप के प्रस्तरावशेष मिलते हैं जिनमें दो अस्थिशुन्ड कपालास्थि तथा पृष्ठवंश के संयोजक पाए जाते हैं। इनको थेराप्सिडा या द्विअस्थि-शुंडीय स्तनिनरूप सरीसृप कहते हैं। इसी रूप के जन्तुओं में सिनोगनेथस भी था। उभड़े रूप में फैलने के स्थान पर इसका अगला पैर स्कंधीय संधिस्थल पर पीछे की ओर नाचता। इसलिए केहुनी का जोड़ पीछे की ओर मुड़ता था। इसी प्रकार पिछले पैर के कूल्हे का जोड़ आगे की ओर नाचता। अतएव घुटने का जोड़ आगे की ओर झुकता। ऐसी व्यवस्था आधुनिक स्तनपायी जन्तुओं में पाई जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि शरीर के ठीक नीचे सहारा देने के लिए अधिक बल प्राप्त होता है तथा अनेक संधियों के प्रबन्ध से चलने तथा दौड़ सकने में सुविधा होती है।

पूर्ण सन्देहरहित स्तनपायी जन्तु के प्रस्तरावशेष दक्षिणी अफ्रीका तथा योरप में ट्रयासिक काल के उत्तरार्द्ध में प्राप्त होते हैं। वे छोटे आकार के जन्तुओं के ही नमूने हैं। कपाल तथा दन्तावली का अवलोकन करने पर वे अवश्य ही आधुनिक कुन्तक (कुतर कर खानेवाले जन्तुओं) के समान ज्ञात होते हैं। उनके कर्तनक दाँत पुष्ट तथा पैने किनारों युक्त थे। कुकरदंते की जगह कोई दाँत नहीं था। चर्वणक चहू या चबाने वाले दाँत बड़े थे तथा उसके शीर्ष पर उनके नोकीले उभाड़ थे। यह जन्तु सारे मध्यजन्तुक युग में प्रसारित रह कर नवजन्तुक युग के प्रारम्भ तक विद्यमान था।

इन सब बातों पर दृष्टि डाल कर ज्ञात होता है कि ट्रयासिक काल (आज से १८ करोड़ वर्षों पूर्व से १४ करोड़ वर्षों पूर्व तक) में एक अपेक्षाकृत क्षुद्रकाय सरीसृप के आदिम रूप की किसी शाखा ने धीरे-धीरे स्तनिन रूपों को ग्रहण करना प्रारम्भ किया। इस काल के उत्तरार्द्ध में कुछ अज्ञात कारणों से ही स्तनिनरूपी जन्तु, जो कुछ बातों में ही स्तनपायी जन्तुओं सदृश थे, लुप्त हो गए किन्तु उनके जो समकालीन स्तनपायी जन्तुओं का बहुत कुछ रूप तथा गुण ग्रहण कर चुके थे, जीवित रह सके। उनके जीवित रह सकने का कारण उनके चल सकने का अधिक सन्तोषजनक साधन तथा उष्ण रूप या स्थिरतापीय रक्त की व्यवस्था रखना था। शरीर पर रोम की व्यवस्था से भीतरी ताप की रक्षा कर सकना एवं उत्कृष्ट ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति भी उनको जीवन-संघर्ष में जीवित रख सकने में भारी सहायक हुई। गमन की अधिक प्रबल शक्ति, शरीर का तापमान रक्षित रख कर विभिन्न तापमान के वातावरणों में पहुँच सकने की क्षमता, इन आरम्भिक स्तनिनों को उस जगत में अपना निवास प्रसारित करने में अग्रसर हुई जहाँ सरीसृपों ने भारी-भरकम शरीर बनाकर भी अपना लोप होते देखा। जिस समय उपयुक्त वातावरण के कारण सरीसृप अपना चरम उत्कर्ष-काल अनुभव कर रहे थे तथा अन्य प्रकार के पृष्ठवंशी जन्तु जीवन धारण किए रख सकना कठिन समझ सकते थे, सरीसृपों के उस स्वर्ण युग में भी आदिम स्तनपायी अपनी सहन शक्ति द्वारा कहीं दुबके रह कर जीवित रहे। ये स्तनपायी बहुत छोटे आकार के ही थे। उनमें से अधिकांश एक फुट से भी कम लम्बे थे। उनका मुख्य कार्य वृहदाकार किन्तु मन्दगामी सरीसृपों की भयंकर चपेट से बचे रह सकने के लिए उनसे दूर छिपकर ही रहना था। ऐसी स्थिति में स्तनपायी जन्तुओं की क्षुद्रता, क्षिप्रता एवं स्फूर्ति तथा उत्कृष्टतर मस्तिष्क की व्यवस्था ने जन्तु-जगत के भावी रूप में कायापलट करने का पुष्ट बीजवपन किया। इतने गुणों से सम्पन्न होने पर भी उनको भीषण सरीसृपों के द्वारा भारी क्षति अवश्य उठानी पड़ी होगी। यही कारण है कि मध्यजन्तुक (सरीसृप युग) के स्तनपायी जन्तुओं के प्रस्तरावशेष बहुत दुर्लभ ही हैं। हमें जो भी मांसाहारी भीमकाय सरीसृप का प्रस्तरावशेष आज देखने को मिल सकता है, वह उस सुदूर भूतकाल में कितने अधिक स्तनिनों का संहारक बना होगा, इसकी कुछ कल्पना आज भी करना सम्भव है। जब इस प्रकार बहुसंख्यक स्तनिन काल के ग्रास बनते रहे तो आज उनके प्रस्तरावशेष किस प्रकार सुलभ हों।

मध्यजन्तुक युग के अन्तिम काल में परिस्थिति ने पलटा खाना प्रारम्भ किया। सरीसृप विनाश को प्राप्त होने लगे। दीर्घकाल तक सरीसृपों के अभ्युदय काल में कहीं लुक छिपकर जीवन चला सकने का अवसर पा सकने वाले, जन्तु-जगत में हीन, उपेक्षित सा रूप रखने वाले स्तनिनों ने अपना पासा पलटते देखा। विस्तृत धरती पर एक बार पैर जमाने का अवसर भर उन्हें मिलना था कि सारी जन्तु-सृष्टि उसकी प्रधानता बर्बस स्वीकृत करने को विवश होने लगी। कालान्तर में इन सरीसृपों ने अपना शक्ति-वर्द्धन किया। आकार-प्रसार किया, जाति-प्रजाति तथा वंशों की विविधता प्राप्त की परिणामतः नव-जन्तुक युग प्रसारित हुआ जो यथार्थतः "स्तनिन युग" है। आज मनुष्य इस जन्तु वर्ग का ही प्रतिनिधि होकर इसे जन्तु-जगत में सबसे प्रमुख पद प्रदान कर रहा है।

स्वतंत्रता के बाद तार संचार का विकास

ले० बी० आर० बतरा, डाक-तार के महानिदेशक

"भारतीय तारों की कहानी" के प्राक्कथन में श्री जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है कि पिछले सौ वर्षों में संसार में सबसे अधिक परिवर्तन, संचार व्यवस्था में आश्चर्यजनक विकास के कारण हुआ है। संचार व्यवस्था के विकास ने मानव जीवन की गति को ही बदल दिया है।

गौरव की बात है कि संसार में, में भारत में ही सबसे पहले १८३९ में ही परीक्षणात्मक रूप में तार की लाइन स्थापित की गयी थी। उस समय की लाइन कुल २१ मील लम्बी थी, जो उस समय संसार में सबसे लम्बी थी। टेलीफोन के आविष्कार के ५ वर्ष बाद ही यानी १८८१ में भारत में कलकत्ते में टेलीफोन एक्सचेंज चालू हो चुका था। नियमित रूप से प्रयोग के लिए सबसे पहली टेलीफोन के तार की लाइन १८५२ में चालू की गयी थी, और १८५५ से इसे जनता के प्रयोग के लिये खोल दिया गया था। सन् १९५३ में भारतीय तार विभाग ने अपनी शताब्दी मनायी थी। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय डाक और तार विभाग, सरकारी अधिकार में चलने वाला सार्वजनिक उपयोग का संसार में सबसे पुराना विभाग है और भारत में सार्वजनिक उपयोग का यह दूसरा सबसे बड़ा विभाग है।

स्वतंत्रता से पहले

१९३९ में भारत में प्रति हजार व्यक्ति पीछे टेलीफोनों का औसत ०·२ था, जब कि अमेरिका में यह औसत १५० था। भारत के स्वाधीनता प्राप्त करने के पहले कई वर्षों तक विश्व युद्ध चलता रहा था, और उस समय अनेक वस्तुओं का अभाव था। परन्तु विश्व युद्ध के कारण प्रतिरक्षा की आवश्यकताएँ बहुत बढ़ रही थीं। अतः कैरियर टेलीफोनी और फ्रीक्वेन्सी टेलीग्राफी का उस समय भारत में काफी तेजी से विकास हुआ। प्रथम प्रणाली के अनुसार तारों के एक ही जोड़े पर एक साथ कई बातचीत ही सकती है। फ्रीक्वेन्सी टेलीग्राफी के द्वारा एक ही तारों पर एक साथ कई संवाद भेजे जा सकते हैं। प्रतिरक्षा विभाग के लिए युद्ध काल में ९४ तीन तारों की कैरियर प्रणाली और ४५ छः तारों की फ्रीक्वेन्सी टेलीग्राफ की व्यवस्था चालू की गयी। यही नहीं ८४,०० मील लम्बी नयी ट्रंक टेलीफोन लाइनें भी लगायी गयीं।

देश का विभाजन

जब देश का विभाजन हुआ, तो भारत को ३२० टेलीफोन एक्सचेंज और १,१५,००० टेलीफोन मिले। स्वतन्त्रता के बाद, देश की अधिक संख्या में टेलीफोनों की आवश्यकता थी टेलीफोन के नये कारखाने स्थापित करना, स्वयंचालित टेलीफोन भूमि के अन्दर बिछाये जाने वाले तारों का निर्माण आदि सभी कार्य आरम्भ करना था। प्रशिक्षण और गवेषणा की ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक था।

इस समय के देश टेलीफोन का औसत प्रति हजार व्यक्ति पीछे ०·७ है। हमारा लक्ष्य १९६१ तक ५ लाख से अधिक नये टेलीफोन लगाना है। इस प्रकार प्रति हजार व्यक्ति पर टेलीफोनों का औसत १·२५ हो जायगा। १९५६ के आरम्भ में हमारी पूँजीगत

आस्तियाँ लगभग ९५ करोड़ रु० की होंगी। आशा है कि १९६२ तक यह संख्या बढ़कर १७५ करोड़ हो जायगी। इस अवधि में हम औसतन ५० हजार टेलीफोन प्रतिवर्ष लगायेंगे।

ग्राम क्षेत्रों में विकास

भारत कृषि प्रधान देश है। वहाँ अधिकांश जनता ग्रामों में ही रहती है। स्वतन्त्रता के बाद से गाँवों में तार संचार का विकास करने की ओर अधिक ध्यान दिया जा रहा है। पंचवर्षीय योजना का लक्ष्य यह है कि प्रत्येक जिले के मुख्य नगर में और ३० हजार की आबादी वाले अन्य नगरों में एक टेलीफोन ऐक्सचेंज स्थापित होना चाहिये। इस योजना में ऐसा प्रयत्न हो रहा है कि प्रत्येक तहसील और मुख्य-मुख्य थानों में तार घर खोले जाय। जिन गाँवों की आबादी ५ हजार या इससे अधिक है, वहाँ भी तार घर खोलने की योजना है। आशा है कि मार्च १९५६ तक देश में लगभग ८०० टेलीफोन ऐक्चेंज, २,६०,००० टेलीफोन, ४८०० तार घर और ३५०० सार्वजनिक टेलीफोन खोले जा सकेंगे।

यथा संभव सभी सामुदायिक योजना केन्द्रों में और राष्ट्रीय विस्तार सेवा के मुख्य कार्यालयों में भी तारघर खोलने का विचार है।

दूर संचार व्यवस्था में जो आधुनिकतम विकास हुए हैं, उनका समावेश देश की तार व्यवस्था में किया जा रहा है। अभी तक ऐक्सचेंजों को मिलाने वाले तार ऊपर लट्ठों पर लगाये जाते हैं। आजकल जमीन के अन्दर से तार ले जाना अधिक उपयुक्त समझा जाता है। ऐसे तार अधिक टिकाऊ होते हैं और अन्त में इनमें खर्च भी कम होगा। ऐसे दो तार बम्बई और थाना के बीच लगाये जा चुके हैं। कलकत्ता और आसनसोल के बीच लगाये जा रहे हैं। अगला कार्यक्रम आसनसोल से दिल्ली और दिल्ली से बम्बई तक जमीन के अन्दर ऐसे ही तार बिछाने का है। यह कार्यक्रम दूसरी पंचवर्षीय योजना में पूरा हो सकेगा और इसमें लगभग ८ या १० करोड़ रुपया खर्च होगा। इसी प्रकार अन्य कार्यक्रमों की योजना भी बनायी जा रही।

हाल में टेलीफोन के बिल भी मशीनों द्वारा तैयार करने का उपाय, काम में लाया गया है। टेलीफोन से लगभग १२ करोड़ रुपये साल की आमदनी होती है, अतः आवश्यक है कि बिल ठीक प्रकार बनायें जाय। मशीनों द्वारा बिल तैयार करने का प्रयोग अभी केवल दो दफ्तरों में ही चालू किया गया है।

टेली प्रिन्टर

भारत में स्वतन्त्रता प्राप्त करने तक, बोडों तार व्यवस्था चालू थी सन् १९५० में बोडों प्रणाली को त्यागकर टेली प्रिन्टर लगाने का निश्चय किया गया। इसके पहले टेली प्रिन्टर केवल मुख्य लाइनों पर ही काम करते थे। आजकल देश में लगभग एक हजार टेली प्रिन्टर काम में लाये जा रहे हैं।

तार भेजने की प्रक्रिया में भी मशीनों से ही अधिक काम लेने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। इसके अलावा १९५२ से डेलेक्स प्रणाली भी बम्बई और अहमदाबाद के बीच चालू की गयी है। कुछ समय बाद अन्य केन्द्रों पर भी इस प्रणाली को चालू किया जायगा।

टेलीफोन की माँग देश में बराबर बढ़ रही है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में हमारा लक्ष्य २,१६,००० टेलीफोन और बढ़ाने का है।

स्वयं चालित ऐक्सचेंज का विकास

स्वयं चालित ऐक्सचेंज के विकास में काफी प्रगति की जा चुकी है। देश के सभी राजधानी नगरों में तथा अन्य बड़े नगरों में स्वयं चालित ऐक्सचेंज स्थापित करने की योजना है। पहली पंचवर्षीय योजना के अन्त तक ६० स्वयं चालित ऐक्सचेंज स्थापित हो जाँयगे।

कलकत्ता योजना, स्वचालित ऐक्सचेंज की सबसे बड़ी योजना है। इसके विकास का दूसरा चरण

पूरा हो रहा है। अब दो स्वचालित ऐक्सचेंज खोले जा रहे हैं। इस योजना का उद्देश्य २६,६०० हाथ से चलने वाले टेलफोनों को १९५७ के अन्त तक स्वचालित रूप में परिवर्तित करना है। इस योजना के पूरे होने में १४ करोड़ रुपया खर्च होगा।

आत्मभरितता

आत्मभरित होने के प्रयत्न भी अब सफल हो रहे हैं। सन् १९४८ में ही स्वचालित ऐक्सचेंज का साज सामान बनाने का देश में एक कारखाना स्थापित करने के लिए, लिवरपूल की एक टेलीफोन और बिजली कम्पनी से करार किया गया। भारतीय टेलीफ़ोन उद्योग का यह कारखाना अब बंगलौर में चालू है और सन् ११५० से स्वचालित ऐक्सचेंज के साज सामान का ५० फी सदी भाग तैयार कर रहा है। आशा है दो वर्ष के बाद यह कारखाना स्वचालित ऐक्सचेंज के लिए आवश्यक साज सामान का ८० या ८५ प्रतिशत बनाने लगेगा। भारतीय टेलीफोन उद्योग का वार्षिक उत्पादन अब ५०,००० टेलीफोन मन्त्र, ५० कैरियर प्रणाली और स्वचालित साज-सामान की ३ ,००० लाइन हैं।

केबुल (तार) निर्माण

रूपनारायणपुर (पश्चिम बंगाल) के हिन्दुस्तान केबुल कारखाने में सितम्बर १९५४ से उत्पादन शुरू हो गया है। इस कारखाने में बनाये गये तार कलकत्ते में बिछाये भी गये हैं। इसके अलावा देश में टेली प्रिन्टर बनाने के कारखाने स्थापित करने की भी व्यवस्था की जा रही है।

प्रशिक्षण का कार्यक्रम

प्रशिक्षण के लिये, हाल में जबलपुर में एक विशाल इमारत का निर्माण किया गया है। यहाँ दूर संचार से सम्बन्धित आधुनिकतम साज सामान की व्यवस्था की जायगी। इसके अलावा यहाँ टेलप्रिन्टर, स्वचालित साज सामान, तथा अन्य सम्बन्धित विषयों की प्रयोगशालाएँ रहेंगी। इस प्रशिक्षण-केन्द्र में एक साथ ८०० शिक्षार्थियों को प्रशिक्षण दिया जा सकेगा। यह पूर्व में सबसे बड़ा प्रशिक्षण केन्द्र होगा।

गवेषणा

अभी तक गवेषणा-कार्य के लिए समुचित प्रबन्ध नहीं था। कुछ थोड़ा बहुत विकास कार्य जबलपुर में होता था। सरकार ने अब एक अलग गवेषणा-शाखा स्थापित करने का निश्चय किया है। आशा है कुछ समय बाद यह चालू हो जायगी।

भारत में तार संचार—विकास की कहानी अधूरी ही रहेगी, यदि उसमें टेलीफोन उपभोक्ताओं के असाधारण धैर्य का उल्लेख न किया जाय। आज भी टेलीफोन उपभोक्ताओं को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, परन्तु उनका सहयोग सराहनीय रहा है।

——:o:——

स्तनपोषियों का श्रेणी-विभाजन

जगपति चतुर्वेदी

(गत अंक से आगे)

शल्किन गण

शरीर पर शल्क या छिछड़ा होने से जिन स्तनपायी जन्तुओं का विचित्र रूप होता है उन्हें शल्की स्तनिन कहते हैं इस गण में केवल एक जाति मिलती है जिसे शल्की वज्राद या चींटीभक्षक कहते हैं। शल्की पैंगोलिन भी इसी का नाम है। एशिया तथा अफ्रिका इसका निवास-क्षेत्र है। बाह्य रूप से यह आर्माडिलो सदृश ही प्रतीत होता है। इसके शरीर पर एक-दूसरे पर आरोहित शृंगीय शल्कों का पूर्ण वम होता है। आर्माडिलो से यह विभिन्नता होती है कि उसके नीचे अस्थिपट्टिकाएँ नहीं होतीं। शल्कों के मध्य मोटे कड़े बाल उगे होते हैं किन्तु कुछ बड़े या वयस्क शल्की वज्रादों में बालों की न्यूनता या अभाव हो सकता है पिछले पैर भूमि पर पंजे चपटा रखकर चलने वाले होते हैं, किन्तु अगले पैर की अँगुलियाँ इतनी अधिक नीचे तथा पीछे की ओर वक्रित होती हैं कि चलने पर उनका ऊपरी तल ही भूमि पर बैठता है। वयस्क सर्वथा दंतहीन होते हैं। थूथन, जबड़े तथा जीभ का आकार अन्य चींटीभक्षकों समान लम्बोतरा होना है।

अधिकांश शल्की चींटीभक्षक भूजीवी होते हैं, किन्तु कुछ क्षुद्रकाय शल्की चींटीभक्षक वृक्षजीवी होते हैं और उसकी पूँछ ग्राही होती है। भीमकाय शल्की चींटीभक्षक का आकार पूँछ मिलाकर ५ या ६ फुट लम्बा होता है। शल्की चींटीभक्षकों का मुख्य आहार दीमक है।

नालदंत गण

नालदंत गण की एक जाति भूशूकर या आर्डवर्क कहलाती है। वह दक्षिण अफ्रीका में पाई जाती है। इसका आकार सूअर के बराबर होता है। बाह्य रूप देखने से तो यह भद्दा ही ज्ञात होता है। भद्दी धड़, पुष्ट पर, मोटी पूँछ छोटा सिर तथा गधे समान लम्बे कानयुक्त इसका रूप होता है। साधारण रूप का लम्बा, पतला थूथन, छोटा मुख, तथा लम्बी जीभ से इसका मुख्य आहार दीमक होना प्रकट होता है। इसके शरीर पर विरल रूप में छोटे और मोटे बाल निकले होते हैं। पिछले पैर में पाँच और अगले पैर में चार अंगुलियाँ होती हैं। उनमें भारी कुन्द चंगुल निकले होते हैं, किन्तु भूमि पर चपटा बैठने वाले पैर खोदने के लिए उपयुक्त नहीं होते, किन्तु यह विवरवासी रात्रिजीवी जन्तु बताया जाता है।

इस गण का नाम दाँत की विशेषता के कारण है। प्रत्येक अर्द्ध हनु में गोल आकार के चार या पाँच चर्वणक दाँत होते हैं। उनमें दन्तवेष्ठ (इनेमल) का अभाव होता है। दाँतों के शीर्षतल की रचना अनेक नालिकावत स्तम्भों से होती है जो दाँत की धुरी के समानांतर बढ़े होते हैं और प्रत्येक में एक नली प्रविष्ट होती है जो दाँत के आधार में केन्द्रीय मज्जा-गुहा (अस्थि के मध्य स्थित रहने वाले जीवन-द्रव या मज्जा का गड्ढा) से सम्बन्ध स्थापित करती हैं।

मांसभुज गण

मांसभुजों में प्रायः दाँतों को छोड़कर शरीर-रचना में कोई विशेषता नहीं पाई जाती। वे पूर्णतः

तो नहीं, किन्तु मुख्यतः मांसभक्षी होते हैं। दन्तावली पूर्ण और अत्यधिक विषमदन्ती होती है। सामने के दाँत (कर्तनक) छोटे तथा तीक्ष्ण धार वाले होते हैं, कुकुरदंता (रदनक) लम्बे, शंकुवत तथा पैनी नोक के होते हैं, कुछ जन्तुओं में हाथी दाँत समान लम्बे बन गये होते हैं। उदाहरणार्थ वालरस तथा विलुप्त कटारदंती व्याघ्र कहे जा सकते हैं। चहू या चबाने के दाँत (चर्वणक) की रचना काटने के लिए होती है, उनमें प्रत्येक के शीर्ष पर पैनी किनारियों और नोकों की प्यालियाँ बनी होती हैं। श्वान इस गण का जन्तु है। उसकी दन्तावली निम्न प्रकार होती है :—

कर्तनक ३/३, रदनक १/१, अग्र चर्वणक ४/४ चर्वणक २/३

पैरों में प्रायः चार अँगुलियाँ होती हैं, किंतु चार से कम कभी नहीं होतीं। उनमें तीव्र चंगुल होते हैं। वे बिल्ली की भाँति समेट कर भी रक्खे होते हैं। पाचन संस्थान साधारण होता है। मस्तिष्क यथेष्ट विकसित होता है। वृहद मस्तिष्क में लहरों की बहुलता होती है जो अधिक बुद्धि का लक्षण है। अधिकांश मांसभुज स्थलजीवी रूप के अत्यधिक अभ्यस्त हैं। अतएव मांसभुजों को दो उपगणों में माना जाता है—(१) स्थलजीवी मांसभुज, (२) जलजीवी मांसभुज।

स्थलजीवी मांसभुज—स्थलजीवी या अर्द्ध जलजीवी मांसभुजों को स्थलजीवी मांसभुज उपगण में माना जाता है। इसके सात वंश निर्धारित किये गये हैं :—

श्वान वंश—श्वान, वृक (भेड़िया), लोमड़ी।

विडाल ऋक्ष वंश—रैकून, दक्षिण अमेरिका का किंकजाऊ, एशिया का पंडा।

ऋक्ष वंश—भालू या रीछ (ऋक्ष)।

जलविडाल वंश—ऊदबिलाव (जलविडाल), वीजेल, एरमाइन, मिंक, फेरेट, मार्टेन।

गंधविडाल और नकुल वंश—नेवला (नकुल), कस्तूरी विडाल, (सिवेट), जेनेट।

तरक्षु वंश—एशिया और अफ्रिका के तरक्षु (लकड़बग्घा)।

मार्जार वंश—बिल्ली (मार्जार), बनबिलाव (लिंक्स, जगुआर, सिंह, व्याघ्र, चीता।

जलजीवी मांसभुज—जलजीवी मांसभुजों का शरीर मछलियों की भाँति धारासुगम्य होता है जिसमें आगे तथा पीछे के सिरे तो अपेक्षाकृत पतले और नोकीले होते हैं और मध्य का भाग क्रमशः छोरों से मध्यवर्ती बिन्दु तक स्थूल बना रहता है। इस कारण इस रूप के पदार्थ या जीव पानी या वायु के प्रवाह में विशेष अवरोध नहीं कर सकते। अतएव ऐसे रूप को प्रवाहअनवरोधी या (प्रवाहानवरोधी) भी कह सकते हैं। ऐसे रूप के जलजीवी मांसभुजों में पूँछ छोटी होती है, पूँछ में प्लवन पक्ष (फिन या तैराने वाले मत्स्य-पक्ष) नहीं होते। स्कंधदेशीय तथा कटिदेशीय भुजाएँ विशेष विकसित होती हैं किंतु क्षुद्राकार और बाह्य रूप में मछलियों के मत्स्य-पक्ष समान होती है। पाँचों अँगुलियाँ एक साथ अंगुलिजाल (बाँधने वाली झिल्ली) में आवद्ध होती हैं। इसके तीन वंश माने जाते हैं:—

कर्णवती सील वंश—छोटी कर्णआच्छादक पट्टिका तथा कटिप्रदेशीय मत्स्यपंख होते हैं। भूमि पर अपने मत्स्यपंखों की सहायता से भद्दे रूप में चल सकती हैं। उदाहरण जलसिंह, रोमीय सील।

कर्णहीन सील वंश—कर्णआच्छादक पट्टिका का अभाव होता है। कटिप्रदेशीय मत्स्यपंख पीछे की ओर निर्देशित होते हैं। तैरने में सहायक हैं, परन्तु आगे की ओर नचाए नहीं जा सकते। अतएव भूमि पर निरुपयोगी होते हैं। उदाहरण साधारण सील।

हस्तीदन्ती वंश—हस्ती के समान दो लम्बे रदनक दाँतों युक्त जलजीवी मांसभुजों को इस विभाग में माना जाता है। कर्णआच्छादक पट्टिका नहीं होती। ऊपरी रदनक इतने बढ़े होते हैं कि हाथी दाँत की भाँति ऊपरी जबड़ों से निकले दिखाई पड़ते हैं किन्तु नीचे की ओर बढ़े रहते हैं। वालरस इसका उदाहरण है।

मांसभुजों का प्रसार संसार भर के उपयुक्त वातावरण के क्षेत्रों में पाया जाता है परन्तु आस्ट्रे-

लिया, न्यूजीलैंड तथा पालीनेशिया और उनके निकटवर्ती द्वीपों में इनका अभाव पाया जाता है। आस्ट्रेलिया का देशी श्वान 'डिंगो' मांसभुज है किन्तु केवल अकेले इसी मांसभुज स्तनपायी के होने से इसका कहीं बाहर से आगमन अनुमान किया जाता है।

विषमांगुलीय गण

स्तनपोषी या स्तनिन जन्तुओं के पैर अधिकांशतः पाँच अँगुलियोंयुक्त होते हैं किन्तु अँगुलियों के रूप में विभेद होता है। उनमें बहुत से ऐसे जन्तु हैं जिन्होंने जीवन की आवश्यकतावश देश काल के अनुरूप अपनी पाँचों अँगुलियों का ऐसे रूपों में घोर विकास किया कि कालान्तर में एक या दो अँगुलियाँ ही पैर को भूमि पर स्पर्श कराने में समर्थ हो सकीं। इनमें शेष अँगुलियों के क्षुद्र रूप आज भी पैर के कुछ ऊपर या दूर अँगुलियों के नाम का उपहास करते ही प्रकट होते हैं। हम घोड़े, खच्चर, गधे, बैल, गाय, बकरी आदि के पैरों की ओर देखें, तो यह बात स्पष्ट प्रकट हो जायगी। हम जिस विभाग के जन्तुओं को विषमांगुलीय कह रहे हैं उनको यदि सीधे शब्दों में सुम वाले जन्तु कहा जाय तो अर्थ का बोध हो सकता है। घोड़े के टाप को देखें। पूरा टाप एक अँगुली का नख ही है जो शृंगीय पदार्थ से बड़ा और कठोर रूप बनाकर अपने चपटे निचले तल को पूर्णतः भूमि से स्पर्श कराकर पैर का अवलम्ब-स्थल बनता है। घोड़ा ऊपर पार्श्व भागों में नन्हें-नन्हें काले स्थल उस समय की याद दिलाते हैं जब अश्व भी दूसरी और चौथी अँगुली को आज के बड़े टाप के साथ ही भूमि को स्पर्श किया करते थे। कठोर भूमि पर तीव्रगति से दौड़ सकने के लिए केवल मध्यवर्ती अँगुली के नख का सहारा लेना अधिक फलदायक था, इस कारण अन्य हिंस्र पशुओं से बचने के लिए ही कदाचित् अश्व ने तीसरी या मध्यवर्ती अँगुली के नख का सतत प्रयोग कर पूर्ण विकास किया। अतएव प्रकृति ने व्यवहार की पुनरावृत्ति से अश्व की आवश्यकता को स्वीकार किया और विकासवर्ती साधनों से एक नख का अश्व संसार में उत्पन्न हुआ। परन्तु तीन नखों के पूर्व भी अश्व का रूप था जिसमें पाँचों अँगुलियों को भूमि स्पर्श करते पाया जाता। लाखों-करोड़ों वर्षों के विकास-क्रम को प्रकट करने वाले क्रमिक रूप के प्रस्तरावशेष अश्वों के पैर की यह कथा स्पष्ट प्रकट करते हैं।

अश्व के सदृश बिचली अँगुली का अत्यधिक विकास होने से एक नख के स्तनिन सुमवाले जन्तु कहलाते हैं, परन्तु हमें ऐसे रूप भी मिल सकते हैं जिनमें दूसरी तथ चौथी अँगुलियों का भी मध्यवर्ती समान उपयोग होता है और इन तीनों अँगुलियों का समान रूप में विकास हुआ हो, परन्तु प्रथम तथा पंचम अँगुलियाँ ही क्षीण या लुप्त-सी हों। इन जन्तुओं को भी विषमांगुलीय कहा जायगा। जिन स्तनिनों को तृतीय अँगुली अत्याधिक बलिष्ठ तथा एकमात्र व्यावहारिक प्रयोग की अँगुली होती है, चलने के समय केवल उसी के नख भूमि स्पर्श करते हैं। दूसरी और चतुर्थ अँगुलियाँ एक समान विकसित पाई जाती हैं। यदि प्रथम और पंचम अँगुलियाँ भी विद्यमान हों तो वे परस्पर एक दूसरे के समान आकार की विकसित होता है।

विषमांगुलीय स्तनिनों के तीन वंश होते हैं:—

१. अश्व वंश—एक नख को ही सुम रूप में पैर का निम्न आधार बनाने वाले विषमांगुलीय स्तनिन अश्ववंशी कहे जा सकते हैं। जैसे अश्व, गर्दभ, जेब्रा।

२. गंडक वंश—पैरों में केवल तीन अँगुलियाँ व्यावहारिक रूप में विकसित होती हैं। एक विशेषता और भी होती है कि सिर के अग्रभाग के मध्य एक या दो सींगें होती हैं जिनका आकार मझोला होता है। मध्यवर्ती भाल या नासिका प्रदेश में सींग होने से ही गैंडा नासिशृंग नाम से पुकारा जाता है। अगले तथा पिछले दोनों पैरों में प्रत्येक में तीन अँगुलियाँ व्यवहार में ला सकने के लिए विकसित

रखने वाला स्तनिन गेंडा ही होता है। अन्य जन्तुओं की सींगें अस्थिखंड से निर्मित पाई जाती हैं, परन्तु गेंडे की सींग शृंगीय पदार्थ के रेशों से ही निर्मित होती है। इसके अन्तर्भाग में अस्थि नहीं होती। बालों के संयुक्त होकर एक हो जाने से ही कदाचित् उसकी रचना नहीं होती है। गेंडा की जातियाँ एशिया और अफ्रीका में पाई जाती हैं।

३. टापिर वंश—इस नाम के वंश में टापिर प्रसिद्ध हैं। इसके अगले पैरों में चार और पिछले पैरों में तीन अँगुलियाँ होती हैं। फिर भी विषमांगुलीय स्तनिन ही कहलाते हैं। टापिरों में थूथन छोटे सूँड़-सा बढ़ा होता है। इस कारण इनको क्षुद्र-शुंडोय भी नाम दिया जा सकता है। टापिरों का प्रसार क्षेत्र मलाया तथा दक्षिणी और मध्य अमेरिका है।

विषमांगुलीय स्तनिनों के दाँत शाकाहारी जन्तुओं के रूप के होते हैं। आगे वाले दाँत (कर्तनक) काटने का कार्य कर सकने में समर्थ होते हैं। उनके बाद वाले कुकुरदंता (रदनक) छोटे होते हैं। चहू के दाँत (चर्वणक) चपटे शीर्ष वाले तथा लम्बी रेखानुमा उभाड़ोंयुत होते हैं जिससे कुचलने तथा पीसने का काम ले सकें। अश्व की दन्तावली निम्न रूप की होती है :—

कर्तनक $\frac{3}{3}$, रदनक $\frac{1}{1}$, अग्रचर्वणक $\frac{4}{4}$, चर्वणक $\frac{3}{3}$

इसका अर्थ यह है कि दाईं या बाईं ओर के एक पार्श्व में ऊपरी जबड़े में ३ कर्तनक, १ रदनक, ४ अग्रचर्वणक तथा ४ चर्वणक होते हैं और नीचे के जबड़े में भी इसी के अनुरूप होते हैं। इन जन्तुओं का पोषण संस्थान साधारण रूप का होता है।

अश्ववंशी विषमांगुलीय आधुनिक काल में केवल पूर्वी गोलार्द्ध के निवासी हैं किन्तु विषमांगुलीय जंतुओं के तीनों आधुनिक वंशों के प्रस्तरावशेष पश्चिमी गोलार्द्ध में पाये जाते हैं। अतएव सिद्ध होता है कि पूर्वकाल में उस क्षेत्र में इन जातियों की पूर्व पीढ़ियों का निवास अवश्य था।

समांगुलीय स्तनिन

समांगुलीय स्तनपोषी जन्तुओं में पैर को भूमि पर अवलम्बित करने के लिए तीसरी और चौथी अँगुलियों का एक समान विकास हुआ रहता है। उन दोनों का पैर के प्रयोग में समान महत्व होता है। अन्य अँगुलियाँ अविकसित या सर्वथा लुप्त रहती हैं। यदि वे विद्यमान हों तो द्वितीय तथा चतुर्थ अँगुलियाँ परस्पर एक दूसरे समान विकसित होती हैं। प्रथम अँगुली कुछ विलुप्त हो चुके समांगुलीय स्तनिनों के प्रस्तरावशेष में पाई जाती है। समांगुलीय स्तनपोषियों की दन्तावली शाकाहारी जन्तु सदृश होती है। कर्तनक दाँत काट सकने योग्य होते हैं। रदनक छोटे होते हैं। तथा चर्वणक चबा या पीस सकने योग्य होते हैं।

समांगुलीय स्तनिन गण के दो विभाग किये जाते हैं :—

(१) चतुः शफ या चतुरांगुलीय उपगण, (२) द्विशफ उपगण।

चतुरांगुलीय उपगण—इस उपगण के जन्तुओं में प्रत्येक पैर में चार अँगुलियाँ होती हैं। द्वितीय तथा पञ्चम भी यथेष्ट विकसित होती हैं। कुकुरदन्ता (रदनक) लम्बे होकर वक्र हाथी दांत से हो जाते हैं, विशेषतया नर में प्रमुख होते हैं। चर्वणक में गोल उभाड़ होते हैं। शूकर की दन्तावली निम्म रूप की होती है :—

कर्तनक $\frac{3}{3}$, रदनक $\frac{1}{1}$, अग्रचर्वणक $\frac{4}{4}$, चर्वणक $\frac{3}{3}$

इन उपगण के दो वंश हैं (१ शूकर वंश, (२) जलअश्व वंश। शूकरवंश में सूअर और पेक्कारी हैं। जल अश्ववंश का दरियाई घोड़ा प्रसिद्ध है।

द्विशफ उपगण—इन्हें जुगाली करने वाले जन्तु कहा जाता है। इनमें प्रायः दो अँगुलियाँ ही प्रत्येक पैर में व्यवहार्य होती हैं। गाय, बैल, बकरी आदि में खुर रूप में दिखाई पड़ने वाला भाग उनकी तीसरी चौथी अँगुलियों के ही नख का वृद्धि-प्राप्त रूप होता है।

द्विशफ या द्वयांगुलीय स्तनिन में द्वितीय तथा चतुर्थ अँगुलियाँ अल्पविकसित या सर्वथा लुप्त होती

हैं। दन्तावली में ऊपरी कर्तनक दाँत छोटे या प्रायः लुप्त होते हैं। कुकुरदन्ता (रदनक) भी छोटे या लुप्त होते हैं। चर्वणक में दूज के चाँद समान अर्द्ध वृत्तीय उभाड़ होते हैं। निम्न रूप में दाँतों का क्रम पाया जाता है:—

कर्तनक $\frac{०}{३}$, रदनक $\frac{०}{१}$, पूर्व चर्वणक $\frac{४}{४}$, चर्वणक $\frac{३}{३}$

द्वयांगुलीय या जुगाली करने वाले जन्तुओं की विशेषता आमाशय की जटिलता है जो कई भागों में, प्रायः चार खंडों में विभक्त रहता है। खाने और चबाने के कार्य पृथक-पृथक होते हैं। चारा बिना चबाए ही निगल लेने पर अपेक्षाकृत आगे की ओर के एक या दो खंडों में पहुँचता है और थोड़े समय के लिए संचित रहता है। खाना समाप्त हो जाने पर चारा या दो खंडों में पहुँचता है और थोड़े समय के लिए संचित रहता है। खाना समाप्त होने से पुनः मुख में पहुँचती है और अवकाश के समय कुचली जाती है। इसे ही जुगाली करना कहते हैं। जुगाली कर लेने के पाचात् सूक्ष्म रूप में खंडित तथा अर्द्ध द्रव रूप में होकर चारा पुनः पीछे की ओर के आमाशय के खंड में पहुँचता है। वहाँ पर उसका पाचन होता है।

द्विशफ या जुगाली करने वाले जन्तुओं के अनेक वंश माने जाते हैं।

उष्ट्र वंश—इसमें यह विशेषता होती है कि एक ऊपरी कर्तनक तथा चारों रदनक विद्यमान होते हैं। सींगों का सर्वथा अभाव होता है। इस वंश के जन्तुओं में एक तथा दो कुब्बानों वाले ऊँट एशिया में पाए जाते हैं तथा लामा दक्षिणी अमेरिका में पाया जाता है।

हरिण-मूषक वंश एशिया तथा अफ्रीका में हिरनमूसा या हरिण-मूषक नाम का जन्तु होता है जो विषमदन्ती तथा समदन्ती स्तनिनों (खुर वाले जानवरों) में सबसे छोटे आकार का होता है। यह खड़े होने पर केवल १२ इंच ऊँच होता है। इसका रूप हिरन के समान ही होता है किन्तु एक तो बहुत छोटे आकार का होता है, दूसरे सींग नहीं होती।

शृङ्गपाती या मृग वंश—इसकी जातियों में प्रायः सिर पर एक जोड़े शृङ्ग ठोस अस्थायी उभाड़ सरीखे बने होते हैं जिन पर अस्थायी रूप से ही त्वचा का आवरण होता है। यह शृङ्ग सिर की सम्मुखीय अस्थि से उभड़े होते हैं और उनसे प्रायः शाखा प्रशाखाएँ फूटी होती हैं। ये शृङ्ग प्रायः नरों में ही होते हैं। किन्तु मृग की कुछ जातियों में नर और मादा दोनों में पाये जाते हैं। कस्तूरी मृग, साधारण मृग, रेन डियर, एल्क और मूज की मादा में शृङ्ग का सर्वथा अभाव होता है।

जिराफ या उष्ट्र-चित्रक वंश—अत्यन्त लम्बी गर्दन तथा पैरों के कारण जिराफ ऊँचे वृक्षों की शाखाओं से पत्तियाँ खा सकता है। छोटे वृक्षों का अभाव होने पर ही इतनी लम्बी गर्दनों तथा पैरों का विकास हुआ होगा जिससे ऐसे जन्तुओं की जातियाँ अफ्रिका के अपेक्षाकृत हरीतिमा-दुर्बल स्थानों में जीवित रह सकें इन जन्तुओं में स्थायी रूप के अस्थि-उभाड़ों रूप में त्वचा से आवेष्ठितशृङ्ग होते हैं। एक जोड़े शृङ्ग छोटे आकर के होते हैं। जिराफ तथा ओकापी जातियाँ इस वंश में होती हैं जो अफ्रिका में ही होती हैं। ओकापी को आकार तथा पैरों पर प्रमुख पट्टियों के साथ जेब्रा समान कहा जा सकता है। परन्तु जेब्रा में एक तो सारे शरीर में पट्टियाँ या धारियाँ होती हैं, दूसरे वह विषमांगुलीय होता है किन्तु ओकापी समांगुलीय (द्वयांगुलय स्तनिन है। अतएव यह जिराफ का अधिक निकटवर्ती है। इसके पैर और ग्रीवा का आकार जिराफ की अपेक्षा छोटा होता है। ओकापी घोर जंगलों में छिपा ही जन्तु था किन्तु अन्वेषकों ने इसका आधुनिक संसार को ज्ञान कराया। वह बेलजियम कांगो में (अफ्रिका) में पाया गया था।

पाताल मृग वंश—पाताल देश या नई दुनियाँ में पाए जाने वाले प्रांगमृग का एक विशेष वंश ही माना जाता है। इसके एक शीर्षीय शृङ्ग स्थायी अस्थि-गर्भ रखते हैं किन्तु उनके शृङ्गीय आवरण का प्रति वर्ष लोप तथा जन्म होता है।

स्थिरशृङ्गी हिरण वंश—इन जन्तुओं की सींग भीतर खोखली होने से स्थिर या रिक्तगर्भ-शृंगी नाम देना उचित है। भीतरी अंश बाँस की भाँति बिल्कुल खाली नहीं रहता, बल्कि मुख्य दृढ़ आधार के ऊपर आवरण होता है, परन्तु भीतर हड्डी होती है। अतएव इन जन्तुओं को अस्थिगर्भशृंगी कहा जाता है। इसके उदाहरण ढोर (गाय, बैल, भैंस आदि), बीसन, भेड़, बकरी, गजेली हरिण आदि हैं। हरिण और मृग शब्दों को पृथक-पृथक अर्थों का द्योतक मानना उचित है जिससे प्रमुख रूप में अस्थि से निर्मित तथा त्वचा से मण्डित शृङ्गों के धारण करने पर मृग नाम प्रचारित रखा जाय और गाय, बैलों की तरह भीतरी भाग में अस्थि किन्तु बाहरी भाग में दृढ़ कठोर शृंगी पदार्थ से बने रूप की सींगों वाले जन्तु को हरिण नाम से पुकारा जाय।

समांगुलीय स्तनिन पूर्ण गण के रूप में विचार करने पर पूर्वी तथा पश्चिमी, दोनों गोलार्द्धों में प्रसारित हैं। केवल आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, पालिनेशिया में मनुष्य द्वारा पहुँचाए जाने के अतिरिक्त नहीं पाए जाते। वन्य शूकर केवल पूर्वी गोलार्द्ध के जन्तु हैं, पाताल शूकर या पेक्कारीज पश्चिमी गोलार्द्ध में ही होते हैं। जल-अश्व अफ्रीका का जन्तु है।

अस्थिशृङ्गी या मृग वंश दोनों गोलार्द्धों में बहुव्यक हैं, वे विशेषतया अपेक्षाकृत उत्तरी खंडों में ही अधिक होते हैं। अस्थि-गर्भशृंगीवंश या स्थिर शृङ्गी के हरिण पूर्वी गोलार्द्ध के ही जन्तु हैं। पाताल हरिण (प्रांगबक या अमेरिकीय हरिण) केवल उत्तरी अमेरिका के पश्चिमी भाग में होता है।

शुण्डीय गण

शुण्डीय गण का उदाहरण हाथी दीर्घतम आकार का स्थल-जीवी स्तनिन है। विषमांगुलीय तथा समांगुलीय गणों में पैर का कार्य एक या दो पुष्ट अंगुलियों पर डालने की ही वृत्ति होती है, उनके विपक्ष हाथी में पाँचों अंगुलियाँ प्रत्येक पैर में होती हैं और सभी व्यवहार्य हैं किन्तु पाँचों बाह्य रूप से स्वतंत्र नहीं होतीं। दूर-दूर पृथक रह कर वे एक संयुक्त त्वचा-आवरण में ही आबद्ध रहती हैं। उनके मध्य के विस्तृत स्थल घने रूप के बंधक सूत्रजालों से भरे होते हैं। वह संयुक्त पदार्थ अंगुलियों की पंक्ति के पीछे तक भी फैला रह कर एक मोटी गद्दी बनता है। प्रत्येक अंगुली में अगले पैर में एक-एक दीर्घकाय चौड़ा खुर होता है। पिछले पैर में कम से कम तीन या चार अंगुलियों में खुर या भीमकाय नख होते हैं। इस प्रकार हाथी अपने पैरों पर पड़ने वाले शरीर के अतुल भार को भूमि के अधिकतम क्षेत्रफल के ऊपर प्रसारित कर देता है अश्व तो प्रत्येक पैर के छोर के टापों पर चलता है किन्तु एक-एक पैर में एक-एक टाप होने से उसका गमन कार्य चार टापों पर ही होता है, परन्तु हाथी अपने चारों पैरों के बीस टापों पर शरीर का भार वितरित कर गमन कार्य करता है। इतनी विशेषता अवश्य होती है कि एक-एक पैर के पाँच टापों की रचना इस रूप की होती है कि वे एक विशाल टाप रूप में ही संयुक्त रूप से व्यवहृत होते हैं। प्रत्येक पैर एक सीधा वृहद् स्तम्भवत होता है। अगले पैर की केहुनी के जोड़ से पीछे की ओर तथा पिछले पैर के घुटने के जोड़ पर आगे की ओर झुकाव की विधि अन्य स्तनिनों में प्रयुक्त होती पाई जाती है। किन्तु हाथी का भारी-भरकम शरीर ऐसी विधि का सर्वथा त्याग करने को विवश कर सका है। अन्यथा पैरों पर शरीर का भारी बोझ सँभलना कठिन हो जाता।

हाथी की दन्तावली विचित्र होती है। ऊपरी जबड़े के एक जड़े कर्तनक हाथीदाँत (बाहर निकले हुए बड़े दाँत) बन गये होते हैं। वे नर में अत्यधिक विकसित होते हैं। परन्तु मादा में अल्प विकसित होते हैं। दिखावे के इस हाथी दाँत की बड़ी प्रसिद्धि है। परन्तु वह दाँत का ही कुछ बदला रूप होता है। ऊपरी आवरण के स्थान पर सिमेंट की अत्यधिक पतली तल मढ़ी होती है किन्तु दन्तवेष्ठ (इनेमल) नहीं होता। इनेमल तो केवल नवोत्पन्न हाथी दाँत के छोर पर ही रहता है। स्थायी हाथी दाँतों के स्थान

पर पहले दूध के दाँत ही निकलते हैं जो अस्थायी और अपेक्षाकृत छोटे होते हैं। उनके गिरने पर स्थायी हाथीदाँत उगते हैं। कुछ विलुप्त हस्ती रूप जन्तुओं में निचले जबड़े में एक जोड़ा हाथी दाँत अतिरिक्त हाथी दाँत बना दिखाई पड़ता है। ये निम्न जबड़े के कर्तनक होते हैं जो प्रस्तरावशेषों में नीचे की ओर झुके मिलते हैं। रदनक दाँतों का हाथी में सर्वथा अभाव पाया जाता है। अपने जीवनकाल में हाथी २४ चर्वणक दाँत प्राप्त करता है। जबड़े में प्रत्येक ओर (एक पार्श्व भाग में) छः ऊपर तथा छः नीचे की ओर उत्पन्न होते हैं। एक पार्श्वहनु के छः चर्वणक दांतों में से केवल दो ही एक समय उत्पन्न दिखाई पड़ सकते हैं। अनेक समयों पर तो एक पार्श्वहनु में केवल एक चर्वणक ही रहता है। एक विशेष समय पर विद्यमान दो चर्वणक दाँतों में पूर्ववर्ती चर्वणक पूर्णतः विकसित होता और उसका शीर्षतल व्यवहार के लिए पूर्णतः खुला रहता है। पीछे की ओर का चर्वणक अधूरा ही विकसित होता है और उसका केवल पूर्ववर्ती शीर्ष भाग ही दिखाई पड़ता रहता है। अन्ततः पुराना चर्वणक गिर जाता है और उसकी जगह आगे की ओर वाला चर्वणक पहुँच कर अपना शीर्ष पूर्ण व्यवहार्य बना लेता है। इसी काल में एक आर्थिक रूप का विकसित चर्वणक आगे की ओर स्थान बनाकर पूर्ण व्यवहार्य दूसरे चर्वणक के यौवन काल या व्यवहार्य रूप नष्ट होते ही उसके स्थान पर आसीन होने की तैयारी भीतर ही भीतर करता रहता है। इस तीसरे चर्वणक का भी अभ्युदय तथा व्यवहार्य काल अंततः समाप्त होता है और चौथा चर्वणक उचित स्थान पाने की ओर अग्रसर होता है। इसी तरह बारी-बारी से छहों चर्वणक नाटकीय पट की भाँति एक-एक समय प्रदर्शित दिखाई पड़ते हैं। प्रथम चर्वणक तीन माह आयु के हाथी में पूर्णतः विकसित हो जाता है पाँचवाँ चर्वणक २० वर्षों या उससे भी अधिक समय पश्चात् व्यवहार में आना प्रारम्भ होता है। चर्वणक दाँतों को जन्तु के अन्य बाह्य रूपों के अनुरूप आकार रखते पाया जाता है। एक वयोवृद्ध हाथी में आगे से पीछे तक चर्वणक के शीर्ष का प्रसार ६ से १५ इञ्च तक लम्बा तथा लगभग साढ़े तीन इञ्च चौड़ा जाता पाया है। वे आड़े रूप में उभाड़ रेखाओं युक्त होते हैं।

हाथी का लम्बोतरा मुख या शुँड उसकी विशेषता है। बाह्य नासिका-रंध्र सूँड़ के अगले सिरे पर होते हैं। शुंड प्रबल पेशीयुक्त होती है। छोर पर एक कोमल अँगुली समान उभाड़ होता है। उस उभाड़ से हाथी जहाँ छोटी वस्तुएँ उठाने का कौशल दिखलाता है, वहाँ शुंड की प्रबल पेशियों के बल से भारी-भारी काष्ठ-खंड भी उठा फेंकने या भारी शाखाओं या छोटे-मोटे पेड़ों को समूल उखाड़ फेंकने में समर्थ होता है।

हाथी के कान तो सूप सदृश बड़े आकार के होते हैं, परन्तु पूँछ शरीर के आकार की दृष्टि से तुच्छ होती है। इसका शाकाहारी स्वभाव है। आमाशय सरल रूप का होता है। जुगाली करने की आवश्यकता नहीं होती। त्वचा बड़ी मोटी होती है। उस पर जहाँ-तहाँ ही बाल निकले होते हैं। मस्तिष्क विशेष विकसित होता है। वृहद् मस्तिष्क अत्यधिक लहरियादार तलयुक्त होता है। किन्तु हाथी को अत्यधिक बुद्धिशाली होने की मान्यता देना अतिशयोक्ति ही है।

आधुनिक स्थलजीवी स्तनिनों में हाथी अत्यधिक विशिष्टांगी है। साधारण स्तनिनों के बिल्ली, सिंह व्याघ्र आदि रूपों की अपेक्षा हाथी के बाह्य रूप में बहुत बेडौलपन है किन्तु सारे अंगों का इस प्रकार समन्वय है कि पूर्ण शरीर सुडौल ही ज्ञात होता है। इसका भारी शरीर भद्दा नहीं कहा जा सकता। गति धीमा अवश्य है, परन्तु "गजगमनी" की उपमा सम्भ्रान्त एवं मर्यादापूर्ण रमणियों की भव्य गति से तुलना कर हाथी को भी आदर प्रदान करती है। वर्तमान हाथियों की दो जातियाँ पाई जाती हैं, भारतीय तथा अफ्रिकीय। अफ्रिकीय हाथी कुछ बड़ा होता है और उसके कान भी अपेक्षाकृत दीर्घकाय होते हैं। विलुप्त रूप के हाथी समान मैमथ तथा मैस्टोडोन पूर्वी तथा पश्चिमी दोनों गोलार्द्धों में होते थे। एक लम्ब-रोमीय मैमथ दोनों गोलार्द्धों के उत्तरी शीत भूखंडों में होता था।

भीरुक गण

भीरुक गण ऐसे गौण तथा छोटे जानवरों का वर्ग है जिसके उपयुक्त विभाजन के सम्बन्ध में जटिल समस्याएँ पाई जाती हैं। इनका आकार शशक समान, पैर मझोले आकार के दुम छोटी, कर्ण-आच्छादक चर्म-पट्टिकाएँ बहुत छोटी होती हैं। कर्तनक दाँत प्रमुख रूप के होते हैं। इन रूपों में कृन्तक नाम पड़ने में कोई आपत्ति नहीं प्रतीत होती किन्तु इनकी दन्तावली कृन्तकों (कुतर कर खाने वाले जन्तुओं) के समान नहीं होती, बल्कि इनकी अपेक्षा खुर वाले जन्तुओं के अधिक समान होती है। अगले पैर में चार व्यवहार्य अँगुलियाँ होती हैं। पिछले पैर में तीन ही व्यवहार्य अँगुलिया पाई जाती हैं। पिछले पैर की प्रथम अँगुली के अतिरिक्त सभी पैरों की शेष अँगुलियों के छोर पर चौड़े, कुन्द शृंगीय पदार्थ होते हैं जो चंगुल की अपेक्षा नख या टाप से अधिक समानता प्रकट करते हैं। अपवाद रूप की अँगुली में एक लंबा टेढ़ा चंगुल होता है। पैर पूर्ण भूस्पर्शी होते हैं। किन्तु उनकी कुन्द शृंगीय रचना खुरवाले जन्तुओं के अनुरूप होती है। ये जन्तु शाकाहारी होते हैं। आमाशय दो भागों में विभाजित होता है। पित्तकोष का अभाव होता है।

भीरुकगण की जातियाँ हाइरेक्स तथा डेंड्रा हाइरेक्स हैं। इन दोनों को कोनी नाम भी मिला है। योरप के शशक को भ्रमवश कुछ लोग कोनी कहते हैं किंतु यह भ्रमात्मक ही है यथार्थ भीरुक गण की जातियाँ केवल पश्चिमी एशिया और उत्तरी अफ्रीका में होती हैं। हाइरेक्स भूजीवी जंतु है, परन्तु डेंड्राहाइरेक्स को वृक्षों के कोटर का निवासी कहा जाता है।

समुद्र-गो गण

समुद्र-गो गण जलजीवी तो अवश्य हैं, परन्तु तिमि (ह्वेल) सदृश जलजीवन के अत्यधिक अभ्यस्त नहीं होते। शरीर से अपेक्षाकृत छोटा और मोटा होता है। ह्वेल की अपेक्षा शिर शरीर से विशेष रूप में प्रमुख दिखाई पड़ता है। मध्यवर्ती मत्स्य-पंख का अभाव होता है। आड़े रूप का (क्षैतिज) पुच्छीय मत्स्य पंख (बाज) होता है। स्कंधदेशीय बाज या मत्स्यपंख बाह्य रूप में ह्वेल समान ही होता है। कटिप्रदेशीय बाज (मत्स्यपंख) या भुजा केवल नाम मात्र को होती है और शरीर की दीवाल में चिपक-सी होती है।

समुद्र-गो गण विषमदन्तीय स्तनिन हैं। कर्तनक नहीं होते। अधिक से अधिक केवल एक जोड़ा ऊपरी जबड़े में हो सकता है जो हाथी दाँत-सा प्रकट हो सकता है। रदनक बिल्कुल नहीं होते। चर्वणक दाँत शुन्डीय जन्तुओं समान होते हैं, विशेषकर एक के लुप्त होकर उसका स्थान दूसरे द्वारा ग्रहण करने की विधि वैसी ही पाई जाती है जिसमें कोई दाँत घिस कर नष्ट हो जाने पर किसी दूसरे पूर्ववर्ती दाँत द्वारा स्थानापन्न होता है। एक अर्द्ध हनु में उत्पन्न हुए सभी चर्वणकों की संख्या २० से अधिक होती है किंतु एक समय छः से अधिक नहीं रहते।

समुद्र-गो गण की त्वचा बड़ी मोटी होती है। बाल लगभग नहीं से होते हैं। दुग्ध ग्रंथियाँ एक जोड़े ही होती हैं जो वक्षस्थल में बिल्कुल आगे की ओर होती हैं। आमाशय विषमरूपी होता है जो जुगाली करने वाले जंतुओं के समान होता है। मस्तिष्क अपेक्षाकृत छोटा होता है। उसमें हल्की लहरें ही बनी होती हैं।

समुद्र-गो गण समुद्री गो जन्तुओं के विभाग को कहते हैं। ये अटलांटिक, पैसिफिक, भारत सागर के शीतोष्ण तटीय जलखण्डों तथा निकटवर्ती मीठे (अलवणीय) जलों में रहते हैं। इनका आहार समुद्री वनस्पति है। आठ या दस फुट तक शरीर की लंबाई होती है। इसकी दो प्रजातियाँ पाई जाती है : (१) मेनाटी और (२) ड्यूगांग।

मेनाटी—इस प्रजाति के जंतुओं में कर्तनक दाँत नहीं होते। ग्रीवा प्रदेश के पृष्ठवंश में केवल सात कशेरुकाएँ होती हैं। स्तनिनों में प्रायः सात कशेरुकाएँ

ग्रीवा में होती हैं। अमेरिका तथा अफ्रीका के अटलांटिक तटों पर ये पाये जाते हैं।

ड्यूगांग - इस प्रजाति के जंतुओं में ऊपरी जबड़े में हाथी दाँत समान एक जोड़े कर्तनक होते हैं। ग्रीवा के पृष्ठवंश में अधिकांश स्तनिनों की भाँति सात कशेरुकाएँ होती हैं। दक्षिणी-पश्चिमी पैसिफिक (आस्ट्रेलिया), लाल सागर तथा भारत महासागर (अफ्रीका के पूर्व तट पर) में ये पाये जाते हैं।

एक तीसरी प्रजाति रीटिना या स्टेलार का समुद्रगो वयस्क रूप में दन्तहीन कही जाती थी जो उत्तरी पैसिफिक में अठारहवीं शताब्दी तक पाई जाती थी किंतु तब से इस समुद्रगो का नाम पुनः न सुनाई पड़ा।

तिमिगण

तिमिगण में तिमि या ह्वेल प्रमुख जंतु है। इस गण के जंतु जलजीवी होते हैं। उनमें से बहुतेरे भीमकाय होते हैं। ८५ फुट या इससे भी लम्बे आकार के जलजीवी स्तनिन पाये जा सके हैं। आज तक ज्ञात सभी स्तनिनों से यह लम्बा रूप है। इनका बाह्य रूप मछलियों-सा होता है। बाहर की ओर ग्रीवा का कोई स्थान नहीं ज्ञात होता। ग्रीवा की रचना अन्य स्तनिनों की भाँति सात कशेरुकाओं से अवश्य हुई रहती है, परन्तु वे बहुत छोटी होती हैं और प्रायः परस्पर जुट कर एक अस्थिखंड-सा बन गई रहती हैं। पुच्छीय मत्स्यपंख मत्स्य में खड़ा होता है, परन्तु तिमिगणों में आड़ा होता है। एक पृष्ठीय मत्स्यपंख (बाज) प्रायः विद्यमान रहता है किन्तु वह आंतरिक कङ्कालहीन होता है। वक्षस्थलीय भुजाएँ छोटी, चौड़ी और बाह्य रूप में मत्स्यपंख (बाज) समान होती हैं किन्तु आंतरिक रूप में पंचांगुलीय के कङ्काल भाग सन्निविष्ट रखती है चार या पाँच अँगुलियाँ एक ही त्वचा से पूर्णतः आबद्ध भीतर बन्द पड़ी रहती हैं। कटिप्रदेशीय पाद कटिप्रदेशीय अस्थियों में सम्मिलित नाममात्र का रूप रखते हैं, वे शरीर की दीवाल में सन्निविष्ट ही होते हैं।

तिमिगणों की त्वचा कड़ी और वयस्कों में प्रायः रोमहीन होती है वसा की मोटी तह त्वचा के अन्दर रह कर उस स्तनपायी उष्णरक्तीय (या स्थिर तापरक्तीय) के शरीर की उष्णता सतत जल के अंदर रहने पर रक्षित रखती है। बिल्कुल पीछे की ओर एक जोड़े स्तन होते हैं। सिर के ऊपरी मध्यवर्ती भाग में बाह्य नासारंध्र होते हैं। इनका आमाशय विषमरूपी होता है। वह कई भागों में विभाजित होता है। मस्तिष्क अपेक्षाकृत बड़ा होता है तथा बृहद् मस्तिष्क अत्यधिक लहरियादार होता है।

तिमिगणों को दो उपगणों में विभाजित माना जाता है: (१) दन्तीय, (२) तिमि-अस्थीय।

दन्तीय उपगण - इस उपगण में दन्तहीन तिमि प्रसिद्ध है। वह मांसभक्षी जलजीवी स्तनिन है। दन्तावली बहुसंख्यक रूप में एक समान दाँत ही होने से समदन्तीय होती है। दाँतों का रूप सरल शंकुवत होता है। विशेष रूपों में दाँतों की संख्या न्यून होकर कुछ जोड़े ही या केवल एक जोड़ा भी हो सकती है। बाह्य नासारंध्र भीतर जाकर एक छिद्र में मिलते हैं। दन्तीय उपगण में स्पर्म ह्वेल, चंचुधारी ह्वेल, बोतल-नासिका, शिंशुमार (डाल्फिन) तथा सूँस (पारपायजेज) गिने जाते हैं।

तिमि-अस्थीय उपगण—ह्वेलबोन ह्वेल नाम का जन्तु इस उपगण में विशेष प्रसिद्ध है। इस जाति में दाँत नहीं होते परन्तु उसका स्थानापन्न जो पदार्थ होता है वह ह्वेलबोन या अस्थितिमि कहे जाने पर भी यथार्थ में अस्थि-खंड नहीं होता। फिर भी नाम उसके पुराने रूप में प्रसिद्ध हैं और ये जलजीवी स्तनिन भी उसी भाँतिपूर्वक नाम पर प्रसिद्ध हैं। वयस्कों में दाँत का अभाव होता है। शृङ्गीयपट्टिका उसके स्थान पर होती है जिसके निचले छोर बहु-छिद्रमय होते हैं। वे झालर की तरह ऊपरी जबड़े से नीचे लटके रहते हैं। इस चलनी रूपी उपकरण से इन जन्तुओं को आहार प्राप्त करने में सहायता प्राप्त होती है। मुख के छिद्र में पानी भर लेने पर छोटे-

छोटे जलजीव भी पहुँच गए होते हैं, परन्तु मुख के जबड़े बन्द होकर छिद्रीय शृङ्गपट्टिका या ह्वेलबोन की पट्टी से पानी को बाहर निकल जाने का मार्ग दे देते हैं, जीव-जन्तु पीछे मुँह में ही पड़े रह जाते हैं। उन्हें ह्वेल उदरस्थ कर लेता है। इसकी कई जातियाँ होती हैं।

तिमिगणों का प्रसार भूमध्य रेखा से लेकर दोनों ध्रुवीय प्रदेशों तक है। कुछ क्षुद्रकाय तिमिगण की जातियाँ मीठे अलवणीय जल में एशिया तथा अफ्रिका की बड़ी नदियों में पाई जाती हैं।

नर-वानर गण

जन्तुओं के वर्णन में मनुष्य का नाम भी घसीट लिया जाता है। क्या किया जाय, प्रकृति का विधान ही ऐसा है कि मनुष्य भी जन्तु-जगत के एक विभाग में, किन्तु विशेष उच्च पद पर विराज-मान स्पर्द्धा के कारण हम जन्तु-जगत के सभी वर्गों में श्रेष्ठ स्तनपोषी या स्तनिन वर्ग के अन्य सभी जन्तुओं को अत्यन्त हीन ही स्थान दे सकते हैं, फिर भी जन्तु-शास्त्रियों के विवेचन क्षेत्र में मनुष्य अपना स्थान स्तनपोषी जन्तु वर्ग में ही पाता है। भावनाओं में बहकने का कोई प्रश्न नहीं है। जन्तु-शास्त्रियों ने तो शरीर-रचना, तथा प्राचीन विकास-क्रम की प्राचीन प्रस्तरावशेषों तथा आधुनिक दृष्टि से कङ्कालों का तुलनात्मक रूप में अध्ययन कर सभी जन्तुओं का सृष्टि में स्थान ज्ञात करने के प्रयत्न में मनुष्य को भी जन्तु-जगत् के विकास-सोपानों में से किसी एक की अंतिम शृङ्खला-सा ज्ञात किया है। यह शृङ्खला स्तन पोषी वर्ग में नर-वानर गण नाम से ज्ञात है। प्राइमेट्स शब्द इसी गण का द्योतक है। यदि सच पूछा जाय तो नर-वानर गणों का अन्य स्तनपोषियों से कोई ऐसा विलक्षण रूप नहीं ज्ञात होता जिससे इसकी कोई बहुत स्पष्ट परिभाषा हो सके। तिमि या ह्वेल को स्थान देने वाले तिमिगण की विशिष्टरूपता प्रमुख है। चमगीदड़ों को सन्निविष्ट करने वाले चर्मच-टक गण की पहचान बता सकना बहुत सुगम है। खुर वाले स्तनपोषियों के गण उपगण अपनी विशेष-ताएँ बनाने में बहुत कष्ट नहीं देते परन्तु नर-वानर गण की स्पष्ट पहचान कराने वाला क्या लक्षण कहा जाय। सभी नर-वानर गण पंचांगुलीय होते हैं। द्विपद होना या खड़े होकर चलना कुछ नर-वानरों का ही लक्षण है। अधिकांश नर वानर गण तो चारों पैरों पर ही चलने के अभ्यस्त हैं। सभी के पैर पूर्ण भूमिस्पर्शी हैं। दन्तावली पूर्ण होती है, परन्तु किसी भी एक प्रकार के दाँत का कोई विशिष्टतापूर्वक विकास नहीं हुआ रहता। स्तनपोषियों समान विषमदन्ती रूप की दन्तावली होती है।

दाँतों की विशिष्टता तो कीटभुज जन्तुओं से भी न्यून होती है। आमाशय प्रायः सरल होता है। शरीररचना-भेद की बहुत अधिक खोजबीन की जाती है तो केवल इतना पता चलता है कि अङ्गु-लियों में टाप या चंगुल होने के स्थान पर चपटे नख होते हैं किन्तु एक तो यह कितनी छोटी-सी बात है, इसके अपवाद भी हैं। एक दूसरी विशेषता पैर या हाथ या दोनों के अँगूठों का शेष अँगुलियों के विपरीत दिशा में मुड़ सकना है। अँगूठे के दूसरी ओर शेष अँगुलियों के विरुद्ध मुड़ सकने से हम कोई वस्तु हाथ से बहुत दृढ़ता से पकड़ सकते हैं। वानरों में तो पैर के अँगूठे भी इसी तरह विरुद्धगामी हो सकने से पैर को यथेष्ट ग्रहण-शक्ति प्रदान करते हैं। किंतु कुछ जातियाँ नर-वानर गण में ऐसी भी हैं जिनके हाथ या पैर के अंगूठे विपथगामी नहीं होते। ऐसी अवस्था आदिम रूप के नर-वानर गणों में होतीं है। नर-वानर गणों की मनुष्य जाति ऐसी है जो वृक्षजीवी न होकर भी हाथ के अंगूठे की विपथ-गमनीय शक्ति बहुत अधिक सुविधाजनक पाती है। एक विशेषता यही है जो किसी नई दिशा की नवीन विशिष्टता नहीं होती, बल्कि अन्य स्तनिनों में भी वृहद् विकसित रहती आई है। यह मस्तिष्क का लहरियादार रूप है। यह बात उल्लेखनीय है कि मस्तिष्क की विशिष्टता में नर-वनार गण के बहुत से वंश अन्य गणों के स्तन-पोषियों से हीन पाए जाते हैं। लेमूरों में कुछ जातियाँ ऐसी हैं जिनकी गिनती

नर-वानर गण के स्थान पर कीटभुज में भलीभाँति की जा सकती है, किन्तु केवल यह बात पाई जाती है कि लेमूरों में कुछ अँगुलियों में चपटे, शृङ्गीय नख समान कोई वस्तु होती है, और औसत से बड़ा रूप होता है और कुछ वानरों सा साधारण रूप झलकता है, इन बातों के ही कारण वे नर-वानर गण में गिने जाते हैं।

नर-वानर गण तीन उपगणों में विभाजित हैं: (१) लेमूररूप उपगण, (२) टार्सियसरूप उपगण, (३) नररूप उपगण।

लेमूररूप—इस उपगण के स्तनिन क्षुद्राकार होते हैं, परन्तु कुछ बिल्ली के बराबर या उससे कुछ बड़े हो सकते हैं। अधिकांश वृक्ष-जीवी तथा रात्रिचर होते हैं। साधारण रूपरेखा कुछ-कुछ वानरों सी जान पड़ती है। आँखें पार्श्वाभिमुखी होती हैं। मस्तिष्क अपेक्षाकृत छोटा होता है। उस पर लहरें बहुत थोड़ी होती हैं। इसकी अँगुलियों में नख तथा चङ्गुल के विभिन्न पचमेल या मध्यवर्ती रूप पाए जाते हैं किन्तु पिछले पैर की दूसरी अङ्गुली में सदा ही चङ्गुल होता है तथा अँगूठे में सदा ही नख होता है पूँछ लम्बी होती है, परन्तु उसमें ग्राह्य शक्ति नहीं होती। वक्षस्थल में एक जोड़े स्तन होते हैं।

इस उपगण के उदाहरण लेमूर हैं जो दक्षिणी एशिया, पूर्वी द्वीप समूह, फिलीपाइन, अफ्रिका, विशेषकर मडागास्कर में बहुसंख्यक पाए जाते हैं।

टार्सियसरूप—इस उपगण के जन्तुओं का आकार एक छोटी गिलहरी (कलन्दक) के बराबर होता है। वृक्षजीवी तथा रात्रिचर होते हैं। लेमूरों से रूप मिलता है। पिछले पैर बड़े होते हैं। पूँछ बड़ी, लम्बी होती है जिसके सिरे पर लम्बे बालों का गुच्छा होता है। आँख अनुपात से बहुत ही बड़ी होती है। वह गोल तथा सम्मुखवर्ती होती है। लेमूरों की अपेक्षा इनका मस्तिष्क अधिक विकसित होता है। आधुनिक काल में एक जीवित प्रजाति ही टार्सियस नाम को है। ये जन्तु पूर्वी द्वीपसमूह और फिलीपाइन में पाए जाते हैं। लेमूरों तथा टार्सियस को कभी-कभी सम्मिलित रूप में प्रोसिमी उपगण नाम से पुकारते हैं।

नररूप उपगण—ये जन्तु अधिकांशतः लेमूर से बड़े होते हैं। नेत्र सम्मुखवर्ती होते हैं। मस्तिष्क अपेक्षाकृत बड़ा होता है। वृहद् मस्तिष्क अधिक लहरियादार होता है। प्रायः सभी अँगुलियों पर चपटे नख होते हैं। हाथ का अँगूठा और किसी-किसी जाति में पैर का अँगूठा भी शेष अँगलियों की विरुद्ध दिशा में मुड़ सकने वाला होता है। वक्षस्थल में एक जोड़े स्तन होते हैं।

नररूप उपगण के दो खंड माने जाते हैं (१) *अनुत्तंगनासामंचीय*, (२) *उत्तंगनासामचीय*।

अनुत्तंगनासामचीय—नासिका का मञ्च या ऊपरी तल चौड़ा होता है तथा नासारंध्र थोड़े बहुत पार्श्व-मुखी होते हैं। सब अँगुलियों पर चपटे नख होते हैं, परन्तु मारमोसेट जन्तु इसका अपवाद है। उसमें नख के स्थान पर पैर के अँगूठे को छोड़कर शेष सभी अँगुलियों में चङ्गल होते हैं। पूँछ लम्बी तथा प्रायः ग्राही होती है। नख के विपरीत नखर शब्द का अर्थ चंगुल लिया जाता है; अतएव मारमोसेट को अँगुलियों में चंगुल रखने के कारण नखर कपि कह सकते हैं। चौड़ी नाक के नर-वानर गणों की जाति के इस खंड के दो वंश कहे जा सकते हैं, (१) नखर कपि वंश (२) पाताल कपि वंश। ये दोनों वंश केवल मध्य तथा दक्षिणी अमेरिका में पाये जाते हैं।

उत्तंगनासामंचीय—नासिका का मञ्च पतला होता है। नासारंध्र सम्मुख तथा निम्नवर्ती ही अधिक होते हैं। सभी अँगुलियों पर नख होते हैं। पूँछ लम्बी, छोटी या सर्वथा लुप्त हो सकती है किन्तु कभी ग्राही नहीं होती। इसके तीन वंश माने जाते हैं

पुच्छीय कपि वंश—इसमें मैकेक बैबून, लंगूर, वानर आदि हैं जो अफ्रिका तथा एशिया में पाये जाते हैं।

विपुच्छ कपि—सब से छोटे आकार का विपुच्छ कपि गिब्बन होता है जो केवल मलाया में मिलता

[(शेष पृष्ठ १२० पर]

उच्चतर विमायें (ग)

(डा० ब्रज मोहन एम० ए०, एल-एल० बी०, पी-एच० डी०)

४. त्रैविम संसार (Three dimensional world)

हम लोग त्रैविम संसार के प्राणी हैं। थोड़ी देर के लिये कल्पना कर लीजिये कि एक विशेष प्रकार के प्राणी भी संसार में विद्यमान हैं जिनके लिये चौथी विमा का भी अस्तित्व है। जिस प्रकार द्वैविम संसार के चींटे मनुष्य को नहीं देख सकते उसी प्रकार हम लोग भी चौथी विमा के प्राणियों को नहीं देख सकते। अधिक से अधिक उनकी आवाज सुन सकते हैं अथवा संकेत द्वारा उनका आभास पा सकते हैं।

हमारा कमरा त्रैविम संसार का एक संक्षिप्त प्रतिरूप है। यदि चौथी विमा से कोई व्यक्ति पुकारता है तो हम उसकी ध्वनि भले ही सुन लें उसको देख नहीं पायेंगे। मान लीजिये कि हम उस प्राणी को 'चौ' कहते हैं और अपने आप को 'मा,' तो हम दोनों में निम्नलिखित वार्तालाप होगा।

चौ०—क्या तुम मुझे देख सकते हो।

मा०—नहीं, किन्तु तुम्हारी आवाज सुनाई दे रही है।

चौ०—मैं चौथी विमा का प्राणी हूँ।

मा०—चौथी विमा से क्या अर्थ है। संसार में तीन ही त्रिमायें होती हैं। चौथी विमा हमारी कल्पना में नहीं आती।

चौ०—तुम्हारे संसार के ठोसों में तीन विमायें होती हैं। लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई। अपनी गति के हिसाब से तुम इन तीन दिशाओं के ये नाम रखते हो।

आगे-पीछे, दहिने-बायें, ऊपर-नीचे

इसी प्रकार एक चौथी विमा होती है जिसे तुम चाहो तो पूर्व-पश्च कह सकते हो।

मा०—क्या तुम इसका कोई प्रमाण दे सकते हो ?

चौ०—जब तुम द्वैविम संसार के ची से बात कर रहे थे तो तुमने तीसरी विमा के अस्तित्व का क्या प्रमाण दिया था ?

मा०—मैंने प्रमाण भले ही न दिया हो किन्तु चन्द्रमा और शंकु लेकर तीसरी त्रिमा का व्यावहारिक प्रदर्शन किया था। क्या तुम भी उसी ढंग के कोई उदाहरण देकर चौथी विमा का अस्तित्व प्रदर्शित कर सकते हो ?

चौ०—अवश्य कर सकता हूँ। तुमने तरबूज तो देखा होगा।

मा०—अवश्य देखा है।

चौ०—पहले पहल जब तुम तरबूज को देखते हो किस प्रकार का दिखाई देता है।

मा०—एक नन्हीं सी गोली।

चौ०—तत्पश्चात् क्या दिखाई देता है ?

मा०—गोली बढ़ती जाती है और कुछ दिनों में गेंद के आकार की हो जाती है।

चौ०—उसके बाद क्या होता है ?

मा०—तरबूज बढ़ता जाता है और कुछ सप्ताहों में एक बड़ा सा गोला बन जाता है।

चौ०—तो तुम्हें भिन्न भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न आकार के गोले दिखाई देते हैं।

चित्र ६

तुम समझते हो कि तरबूज बढ़ता चला जाता है और अन्त में अपना महत्तम रूप धारण कर लेता है। किन्तु वास्तव में बढ़ने का कोई अर्थ नहीं है। जब तुमने द्वैविम ची को चांद दिखाया था तो उसे भिन्न-भिन्न अवसरों पर केवल रेखायें दिखाई दी थीं जो बढ़ती चली जाती थीं। वास्तव में रेखायें चन्द्रमा का ची के द्वैविम समतल पर विक्षेप ही थीं। उसी प्रकार तरबूज के भिन्न-भिन्न आकार के गोले जो तुम्हें दिखाई देते हैं वास्तविक चतुर्विम तरबूज के त्रैविम समतल पर विक्षेप ही हैं।

मा० किन्तु चन्द्रमा वाली रेखायें तो बढ़ने के बाद फिर घटने लगी थीं और अन्त में बिन्दु बनकर लुप्त हो गई थीं।

चौ०—यदि तरबूज को भी तुम बेल से तोड़ो नहीं और यों ही पड़ा रहने दो तो वह आप से आप फट जायगा, सड़ जायगा और उसके समस्त अंग फिर पंचतत्व में मिल जायेंगे। अर्थात् वह तुम्हारे संसार से ओझल हो जायगा।

मा०—तुम्हारी बात ठीक हो सकती है। किन्तु मेरे मन में नहीं बैठती।

चौ०—जब तुम ची से बात कर रहे थे तुमने उसे यह समझाने का कितना प्रयत्न किया कि वास्तव में रेखायें एक दूसरे से अलग नहीं हैं। एक ही वस्तु के भिन्न-भिन्न विक्षेप हैं। किन्तु उसकी समझ में न आया। इसी प्रकार तुम्हारे लिये भी मेरी बात का समझना कठिन है।

मा० किन्तु तरबूज के उगने से सड़ने तक कई महीने लग जायेंगे। क्या कोई भ्रम इतने दिन तक चल सकता है?

चौ०—जब तुम ची को चन्द्रमा दिखा रहे थे, उसे एक के बाद एक रेखायें दिखाई दे रही थीं। समस्त रेखायें दिखाने में तुम्हें कितना समय लगा, यह तुम्हारे ऊपर निर्भर था। मान लो कि तुमने उसमें एक घंटा लगा दिया तो ची को एक घंटे तक भ्रम बना रहा। इसी प्रकार तरबूज का भ्रम कितने दिन तक चल सकता है, यह तुम्हारे ऊपर निर्भर नहीं है। जगन्नियन्ता, जो तुम्हें भ्रम में डाल रहा है, उस पर निर्भर है।

मा०—कोई और उदाहरण दे सकते हो?

चौ०—जब तुम्हारे संसार में कोई बच्चा पैदा होता है सबसे पहले किस प्रकार का होता है?

मा० —एक नन्हा-सा सुकुमार।

चौ० —कुछ वर्ष पश्चात क्या दिखाई देता है?

मा० — बच्चा २५ वर्ष तक बढ़ता जाता है तब उसकी वृद्धि समाप्त हो जाती है।

चौ०—तत्पश्चात्।

मा०—बच्चा बड़ा होकर मनुष्य हो जाता है और अपनी पूरी आयु, ६०-७० वर्ष, पाकर मर जाता है।

चौ०—जब तुमने ची को शंकु दिखाया था तब भी तो यही हुआ था। बिन्दु से रेखा बनी। रेखा बढ़ती चली गई और अपना महत्तम रूप धारण करने के पश्चात् ओझल हो गई।

मा०—तो क्या तुम्हारा यह तात्पर्य है कि मनुष्य के जन्म और मृत्यु भी हमारी दृष्टि की भ्रान्तियाँ ही हैं?

चौ०—निस्संदेह ऐसा ही है। वास्तव में न जन्म है न मृत्यु। वास्तविक मनुष्य एक चतुर्विम प्राणी है। कुछ समय के लिये तुम्हारे संसार में आता है और अपनी लीला दिखाकर अन्तर्द्धान हो जाता है।

मा०—बड़ी विलक्षण बात कहते हो। क्या संसार में जीवन और मरण का कोई अर्थ नहीं है।

चौ०—जो बातें तुमने द्वैविम प्राणियों से कही थीं उनके लिये वे भी विलक्षण ही थीं। चौ० बराबर यह समझता गया कि उसके संसार में एक बिन्दु उत्पन्न हुआ जो रेखा बन गया। रेखा बढ़ती चली गई और अन्त में लुप्त हो गई। यदि वह यह कहे कि 'बिन्दु जन्म लेता है और अन्त में मर जाता है तो क्या उसका कहना ठीक होगा?'

मा०—बिलकुल गलत होगा क्योंकि मैं जानता हूँ कि समस्त रेखायें वास्तव में एक शंकु के भिन्न-

भिन्न अंग थे। शंकु को चौ० नहीं देख सकता था किन्तु मैं तो देख सकता था।

चौ०—उसी प्रकार तुम मनुष्य के भिन्न-भिन्न अवसरों के आकार देखते हो। किन्तु मैं पूर्ण मनुष्य को आदि से अन्त तक देख रहा हूँ। मनुष्य का जीवन और मरण केवल एक विडम्बना है। इतना ही अन्तर है कि चन्द्रमा का भ्रम एक घंटे रहा, तरबूज का भ्रम दो तीन महीने रहा किन्तु मनुष्य का भ्रम ६०-७ वर्ष चलता है।

मा०—किन्तु शंकु वाली रेखा तो महत्तम आकार की होने पर द्वैविम संसार से एकदम लुप्त हो जाती है। मनुष्य का शरीर तो प्राण निकलने पर भी एकदम अन्तर्द्धान नहीं हो जाता। शरीर तो ज्यों का त्यों बना रहता है।

चौ० यदि तुम शरीर को न जलाओ, न गाड़ो, यों ही पड़ा रहने दो, तो वह सड़ जायगा। यों कहो कि तुम्हारे संसार से ओझल हो जायगा। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि मनुष्य और शंकु की उपमा प्रत्येक बात में ठीक-ठीक बैठ ही जाय।

मा०—तुम्हारी बातों ने मुझे घपले में डाल दिया है। कोई और उदाहरण दे सकते हो।

चौ०—जब कोई पेड़ उगता है पहले-पहल तुम्हें क्या दिखाई देता है?

मा०—एक नन्हा-सा पौधा।

चौ०—तत्पश्चात् क्या होता है।

मा०—पौधा बढ़ता चला जाता है और कुछ वर्षों में एक वृहद् रूप धारण कर लेता है।

चौ०—पेड़ के जीवन में भी वही बात है। पेड़ ज्यों-ज्यों तुम्हारे संसार में आता है तुम्हें बड़े और फिर उससे बड़े आकार का दिखाई देता जाता है। वास्तव में न वह कहीं से आता है, न कहीं जाता है। पेड़ तो तुम्हारे संसार में उगने से पहले भी था और तुम्हारे संसार से ओझल होने के पश्चात् भी रहेगा। केवल तुम्हारी दृष्टि का भ्रम है। ची० एक समय में एक ही रेखा देखता था किन्तु तुम हर समय पूरा चांद देख रहे थे। उसी प्रकार तुम्हें पेड़ के भिन्न-भिन्न आकार दिखाई देते हैं। किन्तु मैं समूचे पेड़ को सदैव देखता हूँ। अर्थात् उसका आदि, मध्य और अन्त मुझे सदैव दृष्टिगोचर होता है।

मा०—किन्तु पेड़ तो वर्षों चलता है। बल्कि कुछ पेड़ तो सैकड़ों वर्ष तक जीवित रहते हैं।

चौ०-सैकड़ों वर्ष ही नहीं, कुछ पेड़ हजारों वर्ष तक चलते हैं। तुम्हीं लोगों के संसार में एक कहावत है कि "साखू का पेड़ हजार वर्ष खड़ा, हजार वर्ष पड़ा, हजार वर्ष सड़ा।" चन्द्रमा वाला भ्रम एक घंटा चला, तरबूज वाला भ्रम कुछ महीने चला, मनुष्य वाला भ्रम ६०-७० वर्ष चला। इसी प्रकार कल्पना कर सकते हो कि पेड़ वाला भ्रम हजारों वर्ष चल सकता है। भ्रम की अवधि में समय का कोई विशेष महत्व नहीं है।

हम इस लेखमाला के दूसरे लेख में यह दिखा चुके हैं कि त्रैविम संसार का प्राणी द्वैविम संसार में एक चाकू गिराता है तो द्वैविम संसार के प्राणियों को यह पता नहीं चलता कि चाकू कहाँ से आया और जब त्रैविम संसार का प्राणी चाकू उठा लेता है तो द्वैविम संसार के प्राणियों को यह पता नहीं चलता कि चाकू कहाँ गया। उन लोगों को तो यह एक जादू का खेल-सा दिखाई देता है। इसी प्रकार यदि चतुर्विम संसार का कोई प्राणी अपने संसार से हमारे त्रैविम संसार में कोई वस्तु गिरा देगा तो हमें पता नहीं चलेगा कि अमुक वस्तु कहाँ से आई और यदि वह हमारे संसार से कोई वस्तु उठा लेगा तो हम यह नहीं जान सकेंगे कि उक्त वस्तु किधर गई। हमको भी यह खेल एक चमत्कार-सा दिखाई देगा।

पाठकों को यह बातें बिल्कुल अनहोनी सी दिखाई पड़ेंगी। किन्तु पश्चिम के बहुत से विद्वान इस विषय की गवेषणा में लगे हुये हैं। लन्दन और न्यूयार्क जैसे बड़े-बड़े नगरों में 'आत्मिकीय गवेषणा परिषदें' वर्षों से कार्य कर रही हैं। ऐसी घटनायें वास्तव में घटित हुई हैं कि कुछ वैज्ञानिक एक कमरे

में एक मेज के चारों ओर बैठे हुये हैं। मेज में आत्मा, अथवा वह जो कोई भी शक्ति हो. का आवाहन किया गया है और उससे कहा गया है कि "कोई चमत्कार दिखाओ।" तो वास्तव में मेज पर से चाकू उठकर गायब हो जाता है और कुछ क्षण पश्चात् लौट आता है। ऐसा भी हुआ है कि एक रस्सी में गांठ बाँधकर उस पर मुहर लगा दी गई है। समस्त विद्वानों के देखते-देखते रस्सी की गांठ आपसे आप खुल गई है किन्तु उसके ऊपर की मुहर टूटने नहीं पाई। उक्त विद्वानों ने इस विषय में जितनी भी सावधानी ले सकते थे ले ली है, जिसमें किसी प्रकार का कोई धोका अथवा जाल न होने पाये। समस्त विद्वानों का बैठने से पहले भाड़ा ले लिया गया है कि कहीं किसी के कपड़ों में अथवा शरीर पर किसी प्रकार का उपकरण तो नहीं छिपा हुआ है, जिससे कोई छल प्रपंच कर सके, अथवा धोका दे सके, या हाथ की सफाई दिखा सके। मेज के नीचे और कमरे के अन्दर चारों ओर यहाँ तक कि छत की भी छानबीन कर ली जाती है। जिस रस्सी में गांठ होती है वह मेज के बीचोबीच रक्खी रहती है। उपस्थित व्यक्तियों में से कोई उसे स्पर्श भी नहीं कर पाता और गांठ खुल जाती है। जिन पाठकों को इन बातों पर विश्वास न हो वे उक्त परिषदों की कार्यवाही पढ़ सकते हैं जो शनैः शनैः छपती रहती है।

हम लोग त्रैविम संसार के प्राणी हैं। परन्तु एक प्रकार से हमको भी कभी-कभी चौथी विमा का आभास मिल जाता है। हम बैठे-बैठे पिछली किसी घटना पर विचार करने लगते हैं जो वर्षों पहले घटित हुई हो और उस घटना के सारे पर्यावरण और परिस्थितियाँ आँखों के सामने इस प्रकार दृष्टिगोचर हो जाती हैं मानो उक्त घटना उसी समय हमारे सम्मुख घटित हो रही हो। हमने इस लेखमाला में देखा है कि त्रैविम संसार के प्रत्येक अंश को देख सकता है। मान लीजिये हम अपनी कापी पर एक वृत्त बनायें और उसके अन्दर एक छोटे से कीड़े को छोड़ दें। तो वह कीड़ा वृत्त के थोड़े से ही भाग को देख सकेगा किन्तु हमें वृत्त के अन्दर का प्रत्येक बिन्दु दिखाई देता है। इसी प्रकार मान लीजिये कि हम लोग एक गोले के अन्दर बन्द हैं। यदि वास्तव में चतुर्विम संसार के प्राणियों का अस्तित्व हो तो ऐसा कोई प्राणी गोले के बाहर से गोले के अन्दर के समस्त स्थानों को देख सकता है। इसी प्रकार यदि हम एक कमरे में बन्द हैं और कमरे के सब दरवाजे, खिड़कियाँ, वातायन इत्यादि बन्द हों तो हम यह समझते हैं कि हमें कमरे के बाहर का कोई व्यक्ति नहीं देख सकता। किन्तु चतुर्विम संसार का कोई प्राणी चौथी विमा द्वारा हमारे कमरे के कोने-कोने को भली-भाँति देख सकता है।

(क्रमशः)

[स्तनपोषियों का श्रेणी विभाजन – पृष्ठ ११६ का शेषांश]

है। ओरेंगउटन बोर्नियो तथा सुमात्रा में पाया जाता है गोरिल्ला, चिंपेंजी अफ्रीका में मिलते हैं।

मानव वंश—पूर्वी मोलार्द्ध में ही इसका जन्म माना जाता है। प्रचीन प्रस्तरावशेष बहुत ही न्यून तथा कठिनाई से प्राप्त होते हैं। अतएव शोधकार्य से थोड़ी-बड़ी बातें ही जन्म, विकास आदि की ज्ञात की जा रही हैं।

फलों के रसों से माल तैयार करना

मैसूर की खाद्य शिल्प अनुसंधानशाला ने फलों के रसों से माल तैयार करने के बारे ऐसी रीति का आविष्कार किया है जिसके द्वारा फलों के रस और निचोड़ सफलतापूर्वक सुखाये जा सकते हैं और उन्हें सफलता से पैक कर के दूर दूर भेजा जा सकता है। इस सूखे माल में ताजे रस के समान, या दूसरे पोषक पदार्थों के मिलाये जाने के कारण उससे भी अधिक पोषक गुण हो सकते हैं।

इस विधि में पहले फलों के रसों या निचोड़ों का पानी उड़ाकर उन्हें सघन बनाया जाता है, फिर उनमें चीनी, ग्लुकोज, लैक्टोज, या इसी प्रकार की कोई वस्तु अच्छी तरह मिला दी जाती है। और सुखाने से पहले लुगदी जैसे माल को चिथड़ों, छिलकों या गोलियों के रूप में विभाजित कर लिया जाता है। इस विधि को छोटे पैमाने पर व्यापारी ढङ्ग से परख लिया गया है। इसकी सहायता से संतरे, आम, कटहल, पपीते, अमरूद, टमाटर, अनन्नास आदि फलों के निचोड़ निथड़ों, छिलकों औलियों में परिवर्तित किए गये हैं, और उनसे बहुत बढ़िया चूर्ण तैयार किये गये हैं।

फलों के रसों को सुखाकर बाजार में भेजने का उद्योग काफी पुराना है। सूखा फल वैसा ही या पानी मिलाकर खाने के काम में लाया जाता है। फलों के रसों या निचोड़ को सुखाने के लिये उपयोगिता के अनुसार कई विधियाँ इस्तेमाल की जाती हैं। यह पाया गया है कि अधिकतर पानी उड़ जाने के बाद जो लुगदी बच रहती है वह सन्तोषजनक रीति से और आसानी से नहीं सूखती। नीबू के रस को जमा कर सुखाने की रीति तेजी से माल नहीं तैयार करती। संतरे का विशुद्ध सूखा रस वातावरण में से पानी सोखकर चिपचिपा हो जाता है। आम, कटहल, अमरूद, पपीता जैसे गूदेदार फलों के रस छिड़कने की रीति से नहीं सुखाये जा सकते।

फलों का रस या निचोड़ साधारण रीतियों से दबाकर या निचोड़ कर प्राप्त किया जाता है। चूर्ण बनाने के लिये एक ही फल के रस को अथवा कई फलों के रसों को मिलाकर काम में लाया जाता है। रस को साफ करने के लिये तलछट को बैठने का अवसर दिया जाता है, छाना जाता है, या सेंट्रीफ़ूगल मशीन की सहायता ली जाती है। कुछ रस ऐसे होते हैं जो बिना साफ किये ही सुखाने के काम में लाये जाते हैं।

इस प्रकार जो घनीभूत रस मिलता है उसमें चीनी, ग्लुकोज, या इसी प्रकार की कोई पिसी हुई शक्कर अच्छी तरह मिला देते हैं। यदि उचित समझा जाता है तो स्वाद और रंग आदि सुधारने वाले कुछ पदार्थ भी इस समय मिलाये जा सकते हैं।

मिश्रित लुगदी को चिथड़ों, छिलकों या गोलियों का रूप दे देते हैं। इनकी पोषकता बढ़ाने के लिये उसमें एस्कोर्बिक एसिड (विटामिन सी), बी वर्ग के विटामिन, विटामिट ए और डी मिलाये जा सकते हैं। उचित प्रकार के स्वाद-गंधदायक और भी डाले जा सकते हैं।

विज्ञान-समाचार

घरेलू मुर्गियों की जूँ से रक्षा

घरेलू मुर्गियों में चालीस तरह की जूँएँ हो सकती हैं। इनमें से चार तरह की जूँएँ साधारण तौर पर चूजों में पाई जाती हैं। इन छोटे आयु के पक्षियों को जूँएँ सबसे अधिक हानि पहुँचाती हैं।

यदि बड़ी मुर्गियों में बहुत अधिक जूँ पड़ गए हों तो उनका भी बोझ घट जाता है, उनकी शक्ति कम हो जाती है और वे अंडे कम देने लगती हैं। जूँओं वाली मुर्गियाँ सुस्त पड़ जाती हैं, उनके डैने लटके हुए और पंख बिखरे से दिखाई देते हैं। उन्हें दस्त लग जाते हैं। इज्जतनगर की भारतीय पशु-चिकित्सा अनुसंधानशाला में किये अध्ययन से पता चलता है कि चूजों में पड़ने वाली जूँएँ निम्नलिखित हैं।

शरीर पर रहने वाली जूँएँ—ये जूँएँ बहुत तेज दौड़ने वाली होती हैं और पक्षी के सभी अंगों पर पाई जाती हैं। इनका रंग हलका पीला होता है। ये अपने अंडे विशेष तौर पर छोटे पंखों पर देती हैं। बहुत से अंडे एक स्थान पर दिये जाते हैं।

पंखों पर रहने वाली जूँएँ—ये मुख्य रूप से पंखों की डंडियों पर पाई जाती हैं। समझा जाता है कि ये जूँएँ अपना भोजन पंखों के छिलकों आदि से प्राप्त करती हैं। इसलिए इनसे मुर्गी को इतना कष्ट नहीं होता जितना शरीर पर रहने वाली जूँओं से होता है।

सिर पर रहने वाली जूँएँ—गहरे भूरे रंग की लगभग ०.१२५ इंच लम्बी होती हैं। ये गर्दन पर भी होती हैं और चूजों को बहुत हानि पहुँचाती हैं।

इलाज की अपेक्षा जूँओं की रोकथाम सदा अच्छी रहती है। मुर्गियों को ऐसे घरों में रखना चाहिये जहाँ हवा और रोशनी अच्छी तरह आती हो।

मुर्गियों की जूँओं का इलाज करने में सोडियम फ्लोराइड सबसे अधिक लाभदायक औषधि सिद्ध हुई है। बाजार में मिलने वाली सोडियम फ्लोराइड की सफेद बुकनी अच्छी रहती है। यह बोतल या डिब्बे में बन्द करके सूखे स्थान में रखने से काफी दिनों तक खराब नहीं होता। सोडियम फ्लोराइड मुर्गियों के शरीर पर चुटकी से बुरका जा सकता है। उसकी दस चुटकियाँ सिर, गर्दन, छाती, जंघा, गुदा, डैना और पूँछ पर डालनी चाहिये और पंखों में भली-भाँति मसल देना चाहिये।

स्नान कराने की विधि से सारी जूँएँ तुरन्त ही मर जाती हैं। पर जब सोडियम फ्लोराइड को चुटकी से बुरका जाता है तो सब जूँओं के मरने में तीन-चार दिन लग जाते हैं। जूँओं को पूरे तौर से नष्ट करने के लिए एक-एक सप्ताह बाद औषधि बुरकी जानी चाहिये।

यदि मुर्गियाँ बहुत-सी हों तो जूँओं वाले पक्षियों को सोडियम फ्लोराइड के घोल से स्नान कराना चाहिये। यह घोल एक गैलन पानी में एक औंस सोडियम फ्लोराइड (मोटे तौर से पाँच सेर पानी में आधा छटाँक) डाल कर तैयार किया जाता है।

स्नान कराने के लिए एक लकड़ी की नांद बनाते हैं और उसमें सोडियम फ्लोराइड का घोल भर लेते हैं। पक्षी को इस प्रकार पकड़ते हैं कि उसके डैने उसकी पीठ के ऊपर स्नान कराने वाले के एक हाथ में रहते हैं। दूसरे हाथ से वह उसके पंखों को धीरे-धीरे

उलटता रहता है। सिर को भी एक दो-बार घोल में डुबो दिया जाता है।

इस प्रकार १०० मुर्गियों को स्नान कराने के लिए लगभग पाँच गैलन घोल की आवश्यकता होती है। यदि पक्षी बहुत कमजोर और छोटी आयु के हों तो उन्हें ठण्डे और नमीदार मौसम में कभी स्नान नहीं कराना चाहिये। सोडियम फलोराइड इस काम के लिये सब कीटनाशकों से सस्ता रहता है।

परजीवी कीटाणु और पशुधन

ऐसे बहुत कम ही किसान होंगे, जिनके पशु शरीर के अन्दर रहने वाले परजीवी कीटाणुओं से मुक्त हों। जिन पशुओं के शरीर में परजीवी कीटाणु मौजूद होते हैं, वे न तो पूर्णतया स्वस्थ ही होते हैं और न बीमार ही कहे जा सकते हैं। चूँकि स्वस्थ और ऐसे रोगी पशुओं में बहुत अधिक अन्तर नहीं होता, अतः किसान यह सोच सकता है कि उसके पशु सम्भवतः अब और अधिक नहीं पनपेंगे। इस प्रकार वह अपनी हानि तथा उसके कारण का पता लगाने की चेष्टा भी नहीं करता।

फिर भी, हाल ही में पश्चिमवर्ती क्षेत्रों के कुछ गड़रियों ने यह अनुभव किया कि उनके मेमनों (भेड़ के बच्चों) का उचित विकास नहीं हो रहा है। उनके बाल बुरी तरह से उड़ गये थे और वे इतने कृश थे कि खरीदार उनको खरीदना पसन्द नहीं करते थे। यदि कोई खरीदता भी, तो दाम बहुत कम मिलते। इनमें से बहुत से मेमने मृत्यु का ग्रास भी बन गये।

कृषि विभाग द्वारा अनुसन्धान

इस पर अमेरिकी कृषि-विभाग की कृषि-अनुसन्धानशाला के परजीवी कीटाणु-विशेषज्ञों ने पता लगाया कि पेट के कृमियों तथा वायर वर्म नामी कीड़ों के कारण उन मेमनों के बाल उड़ गये हैं।

विशेषज्ञों के समक्ष यह प्रश्न था कि क्या फेनोथियाजीन औषधि से इन कृमियों पर नियंत्रण पाया जा सकता है? अनुसन्धानकर्ताओं ने परजीवी कीटाणुओं से युक्त मेमनों के तीनों दलों को लेकर प्रयोग शुरू किया। यह २४ सप्ताह तक चला।

उन्होंने मेमनों को तीन भागों में बांट लिया। पहले भाग की स्वच्छ चरायी की व्यवस्था की गयी। दूसरे भाग को ऐसे चारागाहों में छोड़ा गया, जहाँ उनके पेट के कीड़ों तथा वायर वर्मों के शिकार बन सकने की संभावना थी। तीसरे दल की भी दूसरे दल की भाँति ही चरायी की व्यवस्था की गयी। किन्तु तीसरे दल के मेमनों को १:९ के अनुपात में फेनोथियाजीन और नमक का मिश्रण दिया जाता रहा।

परीक्षण के अन्त में, पहले दल के मेमनों का वजन दूसरे दल के उन मेमनों से २१ पौण्ड अधिक था जिनको साथ-साथ चिकित्सा की व्यवस्था नहीं थी। इसके साथ ही पहले दल के मेमनों का वजन तीसरे दल के मेमनों से भी १२ पौण्ड अधिक रहा, यद्यपि इनकी चराई काल में साथ ही साथ औषधि भी दी जाती थी। तीसरे दल के मेमनों का वजन दूसरे दल के मेमनों की अपेक्षा ९ पौण्ड अवश्य अधिक रहा। इस विधि से वैज्ञानिकों ने मेमनों की ऊन के उड़ने का कारण तथा उसको रोकने का उपाय मालूम कर लिया। उन्होंने इस बात की पुष्टि की कि परजीवी कीटाणुओं से होने वाली क्षति को रोकने का सबसे अच्छा उपाय यह है कि पशुओं को परजीवी कीटाणुओं से मुक्त रखा जाए। औषधियों द्वारा पशुओं की परजीवी कीटाणुओं से रक्षा करने का उपाय उपयोगी होते हुए भी उसका स्थान ही पहले उपाय के बाद ही है।

पशुओं के शरीर में ३०० किस्म के परजीवी कीटाणु और उनसे होने वाली हानि

शरीर के अन्दर रहने वाले जिन परजीवी

कीटाणुओं से हमारे पशुपालन उद्योग को आर्थिक दृष्टि से हानि पहुँचती है, उनकी ३०० किस्में हैं।

इस प्रकार की क्षति का अन्दाज लगाते समय पशुओं की मृत्यु-संख्या का पता लगा लेना सबसे सरल है। पशु के शरीर के मांस को देख कर यह पता लगाना अपेक्षाकृत कठिन है कि इन कीटाणुओं से उसके किसी अंग या सारे शरीर को कितनी हानि पहुँची है। इन पशुओं के पालन में जो चारा, श्रम तथा स्थान व्यर्थ जाता है, उसका अन्दाज लगाना और भी कठिन है।

परजीवी कीटाणुओं के कारण पशुओं के पालन तथा गर्भाधान में जो रुकावट आती है, उसका केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है। किन्तु इतना सत्य है कि शरीर में रहने वाले परजीवी कीटाणुओं के कारण कुछ पशुओं की प्रजनन शक्ति सर्वथा नष्ट हो गयी। कुछ पशुओं में इन कीटाणुओं ने प्रजनन शक्ति को क्षीण कर दिया, या गर्भाधान में विलम्ब उपस्थित किया या गर्भपात कर दिया। इन कीड़ों के कारण कुछ पशु छोटे कद के बच्चे उत्पन्न करने लगे या मुर्गियाँ कम अन्डे देने लगीं।

इसके अलावा, शरीर में रहने वाले इन परजीवी कीटाणुओं के कारण अनेक पशुओं का मांस भी घटिया किस्म का हो गया। फलस्वरूप बाजार में इस मांस का मूल्य और बिक्री दोनों ही कम हो गयीं।

भेड़ें और फेनोथियाजीन

अब विज्ञान की सहायता से इस क्षति की रोक-थाम के उपाय किये जा रहे हैं। इस संबन्ध में जो प्रगति हुई है, उसके अनुसार भेड़ों में पाये जाने वाले परजीवी कीटाणुओं पर नियन्त्रण करने के लिए फेनोथियाजीन बड़ी प्रभावशाली औषधि है। १९३८ में अमेरिकी कृषि-विभाग की कृषि अनुसंधानशाला द्वारा यह औषधि तैयार की गयी थी। कृषि अनुसन्धान-शाला के परजीवी कीटाणु-विशेषज्ञ की बैन्जमिन श्वार्ट्ज का कहना है कि पशुओं के शरीर में विद्यमान परजीवी कीटाणुओं की संख्या कम करके परजीवी कीटाणुओं से होने वाली आर्थिक हानियों को कम किया जा सकता है। यह कम परजीवी कीटाणुओं की संख्या में वृद्धि को रोक कर अर्थात् उनकी प्रजनन शक्ति की समाप्ति कर अत्यन्त कुशलतापूर्वक किया जा सकता है।

फेनोथियाजीन के सेवन से भेड़ों में पाये जाने वाले परजीवी कीटाणुओं की प्रजनन शक्ति समाप्त की जा सकती है। भेड़ें जितना फेनोथियाजीन खाती हैं, उसका लगभग आधा भाग उनके शरीर में रम जाता है और शेष पशुओं के गोबर में जा कर पर-जीवी कीटाणुओं के अण्डों को नष्ट कर देता है।

बेल्ट्सविल (मेरिलैन्ड) के कृषि अनुसन्धान केन्द्र में भेड़ों को फेनोथियाजीन और नमक का १:९ के अनुपात से मिश्रण दिया गया। इससे वे १२ वर्ष तक परजीवी कीटाणुओं से मुक्त रहीं।

पशु उक्त औषधि को पर्याप्त मात्रा में नहीं खाते हैं। इसलिए उन्हें एक ऐसा मिश्रण देना चाहिए, जिसमें नमक, हड्डियों का चूरा तथा चूने के पत्थर का चूरा, इनमें से प्रत्येक के तीन भाग और एक भाग फेनोथियेजीन मिलाया हुआ हो। ओबर्न स्थित अलाबामा की कृषि अनुसन्धानशाला के वैज्ञानिकों ने २ वर्ष तक ४ से लेकर ९ महीने तक की आयु के बछड़ों पर इस मिश्रण का परीक्षण करके देखा है। इससे पशुओं के पाये जाने वाले आम कीटाणुओं पर काबू पा लिया गया।

इन कीटाणुओं के दुधारु पशुओं तथा सुअरों के शरीर में विद्यमान होने पर आमतौर पर इतने स्पष्ट लक्षण दिखाई नहीं पड़ते, जितने स्पष्ट प्रायः भेड़ों में दिखाई देते हैं। किन्तु इन पशुओं के पेट में भी पर-जीवी कीटाणु मौजूद रहते हैं। इनके कारण पशुओं के पालन-पोषण में बहुत अधिक खर्च आता है। इन कीटाणुओं का विनाश करने के लिए वैज्ञानिक फेनोथियाजीन के समान गुण रखने वाली अन्य प्रभावशाली औषधियों के सम्बन्ध में अनुसन्धान कर रहे हैं।

अन्न की समस्या का नया हल

पिछले १० या २० वर्षों में असम्भव दीखने वाले इतने कार्य परीक्षणशालाओं में किये जा चुके हैं कि लोग उनको बिल्कुल मामूली और स्वाभाविक समझ लेते हैं। विज्ञान ने ऐसी औषधियों की खोज की है जिनसे मनुष्य की आयु में वृद्धि हो गई है, उसने पहनने के आश्चर्यजनक वस्त्र तैयार कर दिये हैं और शब्द की गति से भी तेज चलने वाले वायुयानों का आविष्कार किया है जिनके कारण दूर दूर के राष्ट्र अधिक निकट आ गये हैं।

अन्न के अभाव दूर करने के लिए नये पौधे का विकास

अब वैज्ञानिक एक ऐसे पौधे का विकास करने वाले हैं जिससे अन्न के अभाव को और इस प्रकार युद्धों के एक मुख्य कारण को दूर किया जा सकेगा।

इस अत्यधिक उपयोगी पौधे का नाम क्लोरेला है। इसमें केवल एक सूक्ष्म कोण होता है और यह बहते हुए पानी में पनपता है। बहुत से लोगों ने इसे जौहड़ों या पोखरों में हरी काई के रूप में तैरते देखा होगा। यह पौधा 'एल्गा' जाति का है और अपने सूक्ष्म आकार के कारण वनस्पति जगत् में इसका स्थान सबसे नीचा है। ३००० गुना बड़ा करके देखने पर यह आँख जितना बड़ा हो पायेगा।

क्लोरेला की विशेषता

क्लोरेला की एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें जरा भी फोक नहीं होता और यह सारे का सारा पुष्टिकारक है। इसकी जड़ पत्तियों या टहनियों का कोई भी हिस्सा बेकार नहीं होता। अन्य बड़े पौधे के खाने योग्य भागों की अपेक्षा इसमें कहीं अधिक प्रोटीन रहती है। इसमें चिकनाई और कार्बोहाइड्रेट्स भी रहते हैं। इनके आलावा इसमें १० प्रकार के एमिनो-एसिड और विटामिन-सी को छोड़ कर सभी विटामिन मौजूद होते हैं। चूँकि क्लोरेला को उगाने के लिए अधिक स्थान की आवश्यकता नहीं पड़ती, इसलिए लगभग १००० वर्गमील में यह इतनी पर्याप्त मात्रा में उगाया जा सकता है कि इससे संसार की आधी आबादी की प्रोटीन सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके।

आश्चर्यजनक वृद्धि

क्लोरेला पौधा आश्चर्यजनक तेजी से बढ़ता है। है। एक दिन में इसके आकार में ७ गुनी वृद्धि हो जाती है। यह एक ऐसी घास है जो सर्दी-गर्मी की सख्ती को संहार सकती है और भिन्न जलवायु में उगाई जा सकती है। इन विशिष्ट गुणों के कारण ही वैज्ञानिक पिछले साठ वर्षों से इस बारे में परीक्षण कर रहे हैं।

१९४८ में क्लोरेला के सम्बन्ध में प्रयोगशाला में में परीक्षण करने की अवस्था समाप्त हो गई। इसके ३ वर्ष बाद कैम्ब्रिज (मैसेच्यूसेट्स) स्थित कार्नेगी इन्स्टिट्यूशन में परीक्षण के तौर पर क्लोरेला का पौधा लगा कर यह सिद्ध कर दिया गया कि एला किस्म की घासों का बड़े पैमाने पर उत्पादन किया जा सकता है। हर वर्ष एक एकड़ में लगभग १७॥ टन एला उगाई जा सकती है।

जापान, जर्मनी आदि में अध्ययन

इस सम्बन्ध में जापान, जर्मनी हालैंड, वेनेज्वेला, इंग्लैंड और अमेरिका में अत्यधिक खोजपूर्ण अध्ययन किया जा रहा है। अमेरिका में खाद्य पदार्थों को डिब्बों में बन्द करने का व्यवसाय करने वाले कई बड़े कार्पोरेशन क्लोरेला में दिलचस्पी ले रहे हैं। इस समय इस प्रकार का अधिकांश कार्य तालाबों और टंकियों में क्लोरेला पौधे की देखभाल करने और उसका पोषण करने के बारे में किया जा रहा है। एला घास की मुख्य खुराक कार्बन-डायोक्साइड है। सूर्य का साधारण प्रकाश भी आवश्यक है। यह घास

बर्फ जमने के तापमान से लेकर १०२ डिग्री फार्नहाइट तापमान तक में उगाई जा सकती है।

वैज्ञानिक और रसोइये क्लोरेला को स्वादिष्ट बनाने के उपायों के सम्बन्ध में बराबर अध्ययन कर रहे हैं, लेकिन साथ ही क्लोरेला पशुओं के चारे के रूप में भी बहुत लाभदायक सिद्ध हुआ है।

क्लोरेला का उपयोग एक अन्य क्षेत्र में किये जाने की भी काफी सम्भावना है। शक्ति उत्पन्न करने में क्लोरेला महत्वपूर्ण योग दे सकता है। इस सम्बन्ध में एक भविष्यवाणी तो यह है कि भूमि के कुल क्षेत्रफल के १० वें हिस्से पर क्लोरेला का उत्पादन करने से समस्त संसार की भोजन और शक्ति सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सकती है। संभवतः यह आवश्यकता से अधिक आशावादी दृष्टिकोण है।

रंगीन अलमोनियम के प्रयोग से इमारतों की शोभा बढ़ायें

अमेरिका में गगनचुम्बी इमारतों को रंगीन अलमोनियम से सजाने का रिवाज चालू हो चुका है। हाल ही में 'दि एल्यूमिनियम कम्पनी औव् अमेरिका' ने पिट्सवर्ग की सबसे नयी गगनचुम्बी इमारत को नीले रंग के अलमोनियम से सजाने का प्रबन्ध अपने हाथों में ले लिया है।

उक्त कम्पनी ने पिछले साल सिनसिनैटी स्थित अपने कार्यालय की इमारत को नीले और सुनहरी रंग से मिश्रित अलमोनियम से सजाया था। उक्त कम्पनी को यह आसा है कि पेन्सिल्वेनिया राज्य के कार्यालय की १६ मंजिला इमारत को जब रङ्गीन अलमोनियम से सजाया जायेगा, तो यह अपने ढङ्ग की एक इमारत सिद्ध होगी। उक्त कम्पनी के अधिकारियों का कथन है कि गिरजाघरों, स्कूलों और मकानों को रङ्गीन अलमोनियम से सजाना उपयुक्त होगा। इस काम के लिए रङ्ग-बिरङ्गा इन्द्रधनुषी अलमोनियम प्रयुक्त किया जा सकता है।

सामान्य अलमोनियम, जिसका रङ्ग रुपहला होता है, आमतौर पर काफी इस्तेमाल होता है। भवन-निर्माण में अलमोनियम का उपयोग करने से जो खर्च की बचत होती है, उसका पिछले साल प्रदर्शन करते हुए न्यूयार्क की एक गगन-चुम्बी इमारत के ढांचों को ९॥ घण्टे के अल्पकाल में ही अलमोनियम की दीवारों से सज्जित कर दिखाया गया था।

अलमोनियम की रङ्गीन चादरें सामान्य रुपहली चादरों की अपेक्षा कुछ महँगी पड़ती हैं, तथापि 'दि एल्यूमिनियम कम्पनी औव् अमेरिका' का विश्वास है कि इससे शोभा में जो वृद्धि होती है उससे दामों की अधिकता की पूर्ति हो जाती है।

अलमोनियम को रङ्गने की विधि पर प्रकाश डालते हुए कम्पनी के अधिकारियों ने बताया है कि अलमोनियम पर रङ्ग पोता नहीं जाता, बल्कि धातु निर्माण प्रक्रिया में रङ्ग डालकर इसे रङ्गीन बनाया जाता है।

लाइसिन का कृत्रिम रूप में उत्पादन

मनुष्य के आहार की दृष्टि से आवश्यक लाइसिन नामी पोषण तत्व को अब अमेरिका की ड्यू पोण्ट कम्पनी कृत्रिम रूप में तैयार कर रही है। बहुत सी किस्मों के आहार, खास कर गेहूँ से तैयार होने वाले पदार्थों में लाइसिन की मात्रा बहुत कम पायी जाती है।

शरीर के कोष समूहों की अभिवृद्धि के लिए आवश्यक ८ एमीनो एसिडों में लाइसिन भी एक है।

मनुष्य के स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिए ये एमीनो-एसिड आवश्यक समझे जाते हैं। मांस, अण्डे, मछली और पनीर जैसे कुछ खाद्य पदार्थों में ये एमीनो-एसिड संतुलन अनुपात में पाये जाते हैं। इसके विपरीत खासकर अनाज से तैयार किये जाने वाले खाद्य पदार्थों में इनकी कमी पायी जाती है। कुछ अवस्थाओं में इस कमी की पूर्ति ऐसे पदार्थों में लाइसिन डाल कर की जा सकती है।

उदाहरण के तौर पर गेहूँ के आटे में, हजार में २ हिस्सा लाइसिन का मिला देने से उसके प्रोटीन की कीमत ७० से बढ़कर १०० प्रतिशत तक हो जाती है। यह बात अनेक परीक्षणों से स्पष्ट है। अनु-सन्धान से यह भी पता चला है कि अधिकांश अवस्थाओं में बच्चों के आहार में लाइसिन मिला देने से उनकी शीघ्र वृद्धि में भी सहायता मिलती है।

कोयले में उपयोगी खनिज विद्यमान

कोयले से न केवल ईंधन का काम ही लिया जा सकता है, अपितु इसमें संसार के बहुत से दुर्लभ एवं उपयोगी खनिज पदार्थ भी पाये जाते हैं। अमेरिका के खान विभाग की एक रिपोर्ट के अनुसार अमेरिका में इस समय कोयले के सम्बन्ध में बहुत से परीक्षण हो रहे हैं, जिनसे यह पता चल सकेगा कि व्यापार की दृष्टि से कोयले से किस हद तक खनिजों को प्राप्त किया जा सकता है।

कोयले में मुख्य रूप से निम्न तत्व पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं : कोबाल्ट, बेरिलियम, बोरोन, टाइ-टेनियम, वेनेडियम, क्रोमियम, निकल, मौलिबडिनम तथा तांबा। वैज्ञानिकों का यह विश्वास है कि चूंकि कोयले में उक्त उपयोगी खनिज पाये जाते हैं, इसलिए निकट भविष्य में कोयला न केवल ईंधन के रूप में उपयोग में लाने के लिए अपितु उससे उपयोगी खनिज तत्व भी प्राप्त करने के लिए खानों से निकाला जावेगा।

समालोचना

शिशु पालन—(युनाइटेड स्टेट्स इन्फर्मेशन सरविस, अमरीकन एम्बेसी द्वारा भारत सरकार के लिए प्रकाशित) यह पुस्तक बच्चों के लालन-पालन तथा उनके स्वास्थ्य को बनाये रखने की साधारण व जटिल समस्याओं पर बड़े रोचक और सरल ढंग से लिखी गई है। साधारण शिक्षित जनता भी इस पुस्तक का ज्ञान सरलता से प्राप्त कर अपने बच्चों का पालन उचित रूप से करना सीख सकती है। माता-पिता की साधारण अज्ञान भूलों के कारण काफी बच्चों का जीवन नष्ट होता है। ऐसे माता-पिताओं को अपने बच्चों की जीवन-रक्षा करने का मार्ग यह पुस्तक बड़े सरल ढंग से बतलाती है। इस दृष्टि से पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है।

प्रसव से पहले—(युनाइटेड स्टेट्स इन्फर्मेशन सरविस अमरीकन एम्बेसी द्वारा भारत-सरकार के के लिए प्रकाशित)—प्रत्येक स्त्री के लिये विवाह के उपरान्त यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी। बच्चे का उचित लालन-पालन करने से पहले प्रत्येक स्त्री के लिये यह जानना भी आवश्यक है कि गर्भावस्था में वह किस प्रकार अपने स्वास्थ्य को ठीक रखे तथा किस प्रकार का आचार-विचार करे, जिससे वह एक स्वस्थ बालक को जन्म दे सके। यह ज्ञान इस पुस्तक से प्राप्त कर वह अपनी समस्याओं का समाधान प्राप्त कर सकती है। पुस्तक बड़ी सरल भाषा में है, जिससे प्रत्येक स्त्री इसे पढ़कर समझ सकती है।

आपका बच्चा—(युनाइटेड स्टेट्स इन्फर्मेशन सरविस अमरीकन एम्बेसी द्वारा भारत-सरकार के लिए प्रकाशित) यह पुस्तक १ से ६ वर्ष तक के बच्चों के पालन-पोषण पर प्रकाश डालती है। इस आयु में पड़ी हुई आदतें तथा सीखे हुये आचार-विचार मनुष्य के भावी जीवन को बनाते या बिगाड़ते हैं। इस कारण यह मनुष्य के जीवन का का सबसे महत्त्वपूर्ण काल है। अज्ञान माता-पिता जो बालक के मनोविज्ञान को नहीं समझते अपनी साधारण भूलों से प्रायः बालकों के जीवन को नष्ट करने के कारण बनते हैं। इस पुस्तक के अध्ययन से उन्हें बच्चों के मन को समझने तथा उनके पालन पोषण की समस्याओं को सुलझाने में मार्ग प्रदर्शन मिलेगा।

हमारे बच्चे ६ से १३ वर्ष तक—(युनाइटेड स्टेट्स इन्फर्मेशन सरविस, अमरीकन एम्बेसी द्वारा भारत सरकार के लिए प्रकाशित)—बालक के जीवन का यह काल बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है। प्रायः स्कूल और घर की शिक्षा में, शिक्षक तथा माता-पिता के व्यवहार और आदेशों में इतनी भिन्नता होती है कि बालक का कोमल मन इनमें सामञ्जस्यता नहीं उत्पन्न कर सकता। फलस्वरूप उसके मन में भिन्न प्रकार की मानसिक ग्रन्थियाँ बन जाती हैं, जो जीवनपर्यन्त उसके व्यवहार तथा चरित्र को प्रभावित करती हैं। यह पुस्तक माता-पिता को ऐसी समस्याओं के सम्बन्ध में बड़े सरल ढंग से ज्ञान देती है, जिससे वे अपने बालकों को उचित रूप से शिक्षा दे सकें। पुस्तक माता-पिता तथा अध्यापक दोनों के लिए समान रूप से बड़ी उपयोगी है।

—श्रीमती रानी टंडन, अध्यक्ष, राजकीय गृह-विज्ञान महिला महाविद्यालय, इलाहाबाद

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

१—विज्ञान प्रवेशिका, भाग १—श्रीरामदास गौड़ और प्रो० सालिगराम भार्गव ।=)

२—चुम्बक—प्रो० सालिगराम भार्गव ।।।=)

३—मनोरञ्जन रसायन—प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव २)

४—सूर्य सिद्धान्त—श्री महावीरप्रसाद श्रीवास्तव छः भाग मूल्य ८) । इस लेखक को १२००) का मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला है ।

५—वैज्ञानिक परिमाण—डा० निहालकरण सेठी १)

६—समीकरण मीमांसा—पं० सुधाकर द्विवेदी; प्रथम भाग १।।) द्वितीय भाग ।।=)

७—नर्णायक डिटर्मिनैंट्स प्रो० गोपाल कृष्ण गर्दे और गोमती प्रसाद अग्निहोत्री ।।।)

८—बीज ज्योमिति या भुजयुग्म रेखागणित—डाक्टर सत्यप्रकाश डी० एस-सी०, १।)

६—वर्षा और वनस्पति—श्री शंकरराव जोशी ; ।=)

१०—सुवर्णकारी—ले० श्री० गङ्गाशंकर पचौली; ।=)

११—व्यङ्ग-चित्रण—ले० एल० ए० डाउस्ट; अनुवादिका श्री रत्नकुमारी एम० ए०; २)

१२—मिट्टी के बरतन—प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा ; (अप्राप्य)

१३—वायुमंडल—डाक्टर के० बी० माथुर, २)

१४—लकड़ी पर पालिश—डा० गोरखप्रसाद और श्री रामरतन भटनागर, एम० ए०, २) (अप्राप्य)

१५—कलम पेवंद—ले० श्री शंकरराव जोशी; २)

१६—जिल्दसाजी—श्री सत्यजीवन वर्मा, एम० ए० २)

१७—तैरना—डा० गोरखप्रसाद १)

१८—सरल विज्ञान-सागर प्रथम भाग—सम्पादक डाक्ट गोरख प्रसाद मूल्य ६) (अप्राय)

१६—वायुमण्डल की सूक्ष्म हवाएं—डा० सन्तप्रसाद टंडन, डी० फिल० ।।)

२०—खाद्य और स्वास्थ्य—डा० ओंकारनाथ परती, मूल्य ।।।)

२१—फोटोग्राफी—लेखक श्री डा० गोरख प्रसाद डी० एस-सी० (एडिन) ४),

२२—फल संरक्षण—डा० गोरखप्रसाद डी० एस-सी० और श्री वीरेन्द्रनारायण सिंह २।।)

२३—शिशु पालन—लेखक श्री मुरलीधर बौड़ाई । मूल्य ४)

२४—मधुमक्खी पालन—दयाराम जुगड़ान; ३)

२५—घरेलू डाक्टर—डाक्टर जी० घोष, डा० उमाशङ्कर प्रसाद, डा० गोरखप्रसाद, ४)

२६—उपयोगी नुसखे, तरकीबें और हुनर—डा० गोरखप्रसाद और डा० सत्यप्रकाश, ३।।)

२७—फसल के शत्रु—श्री शङ्कर राव जोशी ३।।)

२८—साँपों की दुनिया—श्री रमेश वेदी ४)

२६—पोर्सलीन उद्योग—प्रो० हीरेन्द्र नाथ बोस ।।।)

३०—राष्ट्रीय अनुसंधानशालाएँ—२)

३१—गर्भस्थ शिशु की कहानी—प्रो० नरेन्द्र २।।)

अन्य पुस्तकें

१—साबुन-विज्ञान	६)
२—भारतीय वैज्ञानिक	३)
३—वैक्युमब्रेक	२)
४—यांत्रिक चित्रकारी	२।।)
५—विज्ञान के महारथी (जगपति चतुर्वेदी)	२)
६—पृथ्वी के अन्वेषण की कथाएँ (,,)	१।।)
७—विज्ञान जगत की झाँकी (प्रो० नारायण सिंह परिहार)	२)
८—खोज के पथपर (शुकदेव दुबे)	।।)

पता—विज्ञान परिषद् (म्योर सेन्ट्रल कालेज भवन) प्रयाग

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्तिविज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तति। तै० उ० ।३।५।

भाग ८१ | सिंह २०१२; अगस्त १९५५ | संख्या ५

समांगुलीय गण

जगपति चतुर्वेदी

वृषभ वंश

वृष या वृषभ कहने से हमारा अभिप्राय उस जाति के पशु से होता है जिसे गाय, बैल साधारण भाषा में कहा जा सकता है। गाय या बैल किसी एक नाम से इस जाति का ही बोध होना चाहिए। इसलिए, वृष या वृषभ जाति की जगह यदि गो जाति भी कह दें तो कोई आपत्ति की बात नहीं। भाव प्रकाश में बैल के निम्न प्रकार पर्याय नाम उल्लिखित हैं :—

बलीवर्दस्तु वृषभ ऋषभश्च तथा वृषः।
अनड्वान सौरभेयोऽपि गौरुक्षा भद्र इत्यपि॥

अर्थात् बली वर्द, वृषभ, ऋषभ, वृष, अनड्वान, सौरभेय, गौ उक्षा और भद्र बैल के नाम हैं।

बैल के इन पर्याय नामों के उल्लेख तथा वृषभ वंश शीर्षक देने से हमारा प्रयोजन बैल की प्रशस्ति करना या वंशावली वर्णित करना नहीं है। हमने नाम इसलिए दिये हैं जिससे वृष या वृषभ नाम हमारे कानों को स्मृत होउठे और बैल का प्रचलित सा नाम ज्ञात हो किन्तु दूसरा मुख्य प्रयोजन वह है कि हम इस नाम से उस वैज्ञानिक विभाजन का परिचय दें जिसमें बैल, गाय, भेड़, बकरी, हरिण (स्थिरशृंगी या शून्यगर्भशृंगी) भैंस आदि विभिन्न रूप दिखाने वाले पशु भी कुछ विशेष साम्य रखने के कारण एक परिवार के माने जाते हैं। अब इस वैज्ञानिक तथ्य के द्योतन के लिये इस वंश को बैल वंश नाम दिया जाय तो कुछ अच्छा न लगेगा। इसलिए विस्मृत से होते जाने वाले प्राचीन संस्कृत 'वृषभ' नाम से इसका वृषभ वंश नाम रखना समीचीन हो सकता है।

वृषभ वंश उन जातियों का एक विभाग है जो खुर वाले जन्तु हैंतथा जुगाली (रोमंथ) करते हैं। खुर वाले जन्तु तो बहुतेरे होते हैं किन्तु उनमें भी वैज्ञानिकों ने छान-बीन की है और विशेष रूप से विभाजन किये हैं। एक खुर या बिना खुर रखने वाले जन्तु हमें भूल नहीं सकते। घोड़ा, गधा आदि हमारे

परिचित पशु हैं। दो खुरों वाले जानवरों को चिरा हुआ खुर रखने वाला कहते हैं किन्तु यथार्थ में वे दो खुर होते हैं जो पैर की दो उँगलियों के अंतिम छोर ही नख के स्थान पर कड़े पदार्थ द्वारा बने होने से खुर या शफ कहलाते हैं। इन दो खुरों की पूर्ववर्ती अस्थियाँ, जिन्हें दो उँगलियों की अस्थियाँ कहनी चाहिए, परस्पर जुट कर प्रकृति के विशेष विधान या विकास के क्रमों द्वारा एक अस्थि का रूप धारण कर लिये होती हैं। यदि घोड़े, गधे आदि पशुओं को एक खुर का जन्तु कहने के स्थान पर एकशफी कहें तो उन्हें इस तरह पुकारने का एक शब्द अच्छा सा मिल जाता है। उन्हीं की भाँति दो खुरों या फटे जान पड़ने वाले खुरों वाले पशुओं गाय, बैल, भैंस, बकरी आदि को द्विशफी कहें तो युक्तिसंगत बात हो सकती है।

वैज्ञानिकों ने ऐसा न कर यह बात मानी है कि किसी प्राचीन युग में पाँच उंगलियों या पादांगुलियों की व्यवस्था कदाचित व्यापक रूप में रही हो। स्थान, वातावरण तथा जीवनक्रम के विभेदों से कालान्तर में भिन्न पशुओं में विभिन्न परिवर्तन आवश्यक होते गये। विकास के सर्वमान्य सिद्धान्तों द्वारा पादांगुलियाँ न्यून होती गईं। कुछ में विशेष बल केवल मध्य की उँगली पर देने की व्यवस्था आवश्यक हुई। उनमें मध्यवर्ती उँगली के साथ अगल-बगल की भी एक-एक उँगली भी कुछ में व्यवहार्य रही। ऐसे पशुओं को विषमांगुलीय नाम दिया जाता है। घोड़े, गधे आदि उसी में आते हैं। दो खुरों या शफों के पशुओं में केवल एक उँगली पर शरीर का भार अधिक पड़ने के स्थान पर दो उँगलियों पर बल डालने की व्यवस्था हुई। उनके अगल-बगल की एक-एक उँगली भी कुछ में व्यवहार्य रही। अतएव ऐसे एक या दो जोड़े वाले शफों या खुरों के पशु समशफी या समांगुलीय कहला सकते हैं।

जिराफ (उष्ट्र चित्रक), ऊँट तथा दरयाई घोड़े समशफी या जोड़े खुर वाले जन्तु होते हैं, परन्तु वे समशफी या समांगुलीय गण में रह कर भी पृथक वंश बनाते हैं, परन्तु वृषभवंश समशफी गण में सब से बड़ा होता है। उसकी विशेषताओं तथा विभिन्न जातियों के कुछ गुण यहाँ देने का प्रयत्न किया जायगा।

गौर या भारतीय बीसन सैनी, याक तथा वन्य महिष आदि की गणना भारतीय वन्य वृषभों में हो सकती है। इनकी पहचान यह है कि भारी भरकम शरीर होता है किन्तु रूप पालतू ढोरों से मिलता है। वन्य मेष (भेड़ा) तथा छाग (बकरी) भी इसी तरह पालतू भेड़-बकरियों समान रूप रखते हैं परन्तु डीलडौल बड़ा होता है। ये वन्य पशु भारी भरकम शरीर होने पर भी बड़े क्रियाशील और स्फूर्तिवान् होते हैं। बीसन और याक अधिक से अधिक ढालू पहाड़ों पर भी बेधड़क चढ़ जाते हैं। जंगली भेड़, बकरियों के पहाड़ों पर चढ़ जाने की कुशलता के विषय में तो कुछ कहना ही निरर्थक है। ऊँची बेढब चढ़ाई शीघ्रता तथा सुरक्षित रूप से पार कर लेने में तो इन जंगली भेड़, बकरियों की बराबरी कुछ ही अन्य पशु कर सकते हैं।

शिकारी पशुओं में आक्रमणकारी शक्ति प्रदान करने के लिए चंगुलयुक्त हाथ होते हैं। बानरों, बनमानुसों आदि के हाथों और पैरों में ग्रहणशील उँगलियाँ होती हैं जिनसे शाखा प्रशाखाओं को सहज पकड़ कर वे वृक्षों पर सहज घूम फिर सकें, आहार प्राप्त कर सकें या शत्रुओं से रक्षा कर सकें। खुरवाले जन्तुओं में इन सब सुविधाओं के स्थान पर पैरों में केवल कठोर शफ या खुर ही होते हैं। इससे उनको केवल अपने शरीर की गति देने में ही सहायता प्राप्त होती है। इनके पैरों में खुर होने से विषम से विषम तल से घर्षण से रक्षा प्राप्त होती है। उनके गमन में वेग तथा निश्चिन्तता उनकी गमन-पद्धति तथा पैरों की विशेष रचना पर निर्भर करती है। सभी खुर वाले अपने पादाँगुलि के छोरों के बल चलते हैं। अतएव इसका पूर्ण उपयोग होता है और पग की लम्बाई तथा गमन की गति बढ़ती है। किसी गतिशील वस्तु की गति का अवरोध न्यून होने से उसकी

गति अधिक होती है। खुर वाले जानवरों में यह अवरोध पादांगुलियों के छोरों के बल चलने से न्यून होता है परन्तु खुरों (शफों) की संख्या न्यून होने से और और भी न्यून अवरोध होता है। उनके चलते समय उनके शरीर का भूतल से स्पर्श होने वाला भाग न्यूनतम होता है, अतएव अवरोध भी उसी अनुपात में न्यून होता है। कोई भी मुख्य शफी (खुरवाला) जन्तु चार से अधिक व्यवहार्य पादांगुलियाँ नहीं रखता। कुछ में व्यवहार्य अर्थात् चलने में भूमि स्पर्श कर प्रयुक्त होने वाली तीन पादांगुलियाँ होती हैं, परन्तु अधिकांश में दो और अश्व में केवल एक पादांगुलि व्यवहार्य होती है। इन सब पशुओं में प्रकृति की व्यवस्था एक या अधिक पादांगुलियाँ लंबोतरी तथा दृढ़ कर अन्य पादांगुलियों की कोई आवश्यकता नहीं रहने देने की होती है।

वृषभ, मेष छाग, हरिण, मृग, शूकर तथा जलअश्व में तीसरी तथा चौथी पादांगुलियाँ अत्यधिक विकसित होती हैं। अन्य पादांगुलियाँ लुप्त होती हैं या छोटी होती हैं। इन सबमें प्रथम पादांगुलि का सर्वथा लोप रहता है। इसे अँगूठे की जगह की सबसे आन्तरिक पादांगुलि समझ सकते हैं। भीतर से बाहर की ओर गिनने पर हमारी पाँच उँगलियों में से दूसरी (तर्जनी) और पाँचवीं या अंतिम (सबसे बाहर की ओर की या कनिष्ठा) पादांगुलियों का रूप लुप्त या छोटा होता है। ये ढोरों, हरिण, मृग तथा शूकर आदि पशुओं में क्षुद्र पादांगुलि कहलाती हैं। इनमें दो मध्यवर्ती पादांगुलियाँ अर्थात् तीसरी चौथी पादांगुलियाँ पूर्ण विकसित होती हैं। ये दोनों दीर्घकाय, समान आकार तथा एक समान रूप की होती हैं। पैर की मध्यवर्ती रेखा इन दोनों के मध्य जाती है। इन दोनों पादांगुलियों को आवेष्ठित रखने वाले शफ अपने चौड़े अधोतल से भूमि स्पर्श करते हैं। इनकी पैर के साथ संधि भी विशेष रूप की होती है जिससे तीव्र चलने में बल पड़ने पर धोखा न दे जायँ। इन जोड़े या चिरे हुए जान पड़ने वाले खुरों से विषम भूमि पर अधिक निश्चिन्त आश्रय प्राप्त होता है। नर्म मिट्टी में धसने पर वे फैल जाते हैं और पैर उठाने पर जुट जाते हैं, अतएव अर्द्ध जलमग्न भूमि में भी इनकी गति संभव है। खुरों की रचना तथा आकार पशु के जीवनक्रम तथा स्वभाव के अनुरूप होती है। जंगली भैंसा दलदलों तथा जलमग्न स्थलों का निवासी है। अतएव उसके खुर बड़े तथा चौड़े फैलाव के होते हैं जिससे जलमग्न स्थलों में भली भाँति चल सके। इसके विपक्ष बीसन पर्वतों का पशु है, अतएव उसके खुर छोटे तथा गठे हुए होते हैं। वे कठोर तल पर चलने के लिए विशेष उपयुक्त होते हैं।

इन सब वर्णनों से ज्ञात हो सकता है कि वृषभ वंशी तथा उनके समक्ष जन्तुओं के पैरों की रचना ऐसी होती है कि वे वेग तथा निश्चिन्तता से भाग कर अपने प्रमुख शत्रु हिंसक पशुओं से रक्षा पा सकें। इसके सिवा उन्हें अपने आहार की खोज के लम्बी दूरी तक चलना पड़ता है। ऐसे रूप के पैरों के खुर के कारण वे विषम भूमि की दूर तक यात्रा कर सकते हैं। जंगली ढोर, भेड़, बकरी हिरण आदि का जीवन क्रम एक समान कठिनाइयाँ उठाने का रहा होगा, अतएव उन सब में शफों या खुरों की ऐसी रचना हुई। वही रूप इनमें से अधिकांश पशुओं के पालतू बन जाने पर आज भी वर्तमान है।

पशुओं की दन्तावली का उनके आहार के प्रकार से गहरा सम्बन्ध होता है। भेड़, बकरी, ढोर आदि का आहार घास तथा अन्य मोटे वानस्पतिक पदार्थ हैं। इनको सुपाच्य बनाने के लिए देर तक कुचलने की आवश्यकता होती है। ऐसे आहार के लिए चर्वणक (चबाने) दाँत विशेष उपयुक्त होते हैं। उनके इन दाँतों का ऊपरी तल चौड़ा तथा कठोर दंतवेष्ठन (इनेमल) के उभाड़ों और विचित्र मोड़ों से युक्त होता है। उभाड़ों के दोनों पार्श्वों में अपेक्षाकृत कोमल दंती पदार्थ होते है। इन दाँतों के चर्वणक तल की रक्षा इन कठोर दंतवेष्ठनों (इनेमलों) के स्थायी बने रहने तथा कोमल दंतीय पदार्थों के घिसते रहने से होती

है। कृत्तकों (कुतरने वाले जंतुओं) के दाँतों की रक्षा भी ऐसी व्यवस्था से होती है।

वृषभ वंशी जंतुओं के सामने के दाँत भी उनके आहार के उपयुक्त ही होते हैं। इस वंश के सभी पशुओं में ऊपरी जबड़े में कर्तनक (कुतरने वाले या सामने के दाँत) दाँत नहीं होते। उनकी जगह मांस की गद्दी (मसूड़े) ही होती हैं। रदनक दाँत (कुकुरदन्ते या सामने वाले दाँतों के बगल के दाँत) ऊपरी जबड़े में या तो छोटे से होते हैं या उनका सर्वथा अभाव ही होता है। निचले जबड़े में कर्तनक तथा रदनक दाँत अवश्य होते हैं किन्तु कर्तनक दाँतों का रदनक दाँतों से निकट का सम्पर्क होता है। उनको पृथक बता सकना कठिन हो सकता है। घास नोचने के लिए वे आवश्यक उपकरण बन गये हैं। जीभ द्वारा घास मुँह में पहुँचाई जाती है। जीभ की सतह खुरदरे नोकों से आच्छादित होती है जो कंठ की ओर निर्देशित रहती हैं। उनसे ही घास खींचकर मुँह में पहुँचाने का काम निकलता है।

वृषभ वंशी जन्तु भारी-भरकम आकार के होने से बहुत अधिक भोजन की आवश्यकता रखते हैं। उनका मुख्य आहार मोटे रेशेदार वनस्पति होते हैं। उन्हें पचाने के लिए मुँह में देर तक चबाते रहने की आवश्यकता हो सकती है। किन्तु इनके शत्रुओं का भी अभाव नहीं होता। सिंह, बाघ, चीते, भेड़िये, बन-कुत्ते आदि अपनी शक्ति के अनुसार इनमें छोटे या बड़े पशुओं का सहज शिकार किया करते हैं। यदि खुले स्थान में विलम्ब तक उदर पूर्ति की चिन्ता में ही घास नोचते और चबाते पड़े रहें तो आए दिन इनके जान के लाले पड़ते रहें। परन्तु प्रकृति को हिंसकों को आहार रूप में पशु देने की जितनी व्यवस्था करनी पड़ती है उतनी ही हिंस्य या इन निरीह, भोले भाले वृषभ वंशीय पशुओं की रक्षा के लिए भी व्यवस्था रखनी पड़ती है।

बुद्धि में न्यूनता का नमूना बताने के लिए किसी भोले-भाले निर्बुद्धि व्यक्ति को बैल से उपमा दी जाती है। उसी के नाम से प्रचलित पशुओं की बुद्धि का अधिक विकास होने की आशा की ही नहीं जा सकती। फिर भी इनकी रक्षा होती ही है। इसलिए प्रकृति ने ऐसी व्यवस्था की है कि ये पशु घास-पात तो थोड़े समय में नोच खा लें परन्तु उसे बचाने के लिए चबाने का कृत्य किसी एकान्त या सुरक्षित स्थान में अपनी सुविधा के अनुसार काम करें। इस सुविधा को ही जुगाली करना कहते हैं। इस कार्य के लिए उनके आमाशय की विशेष रूप से रचना हुई होती है।

वृषभ वंशी पशुओं का आमाशय चार कोष्ठों में विभाजित होता है। पहले और सबसे बड़े कोष्ठ को खाद्य-ग्राहक कोष्ठ कह सकते हैं। इसमें जल्दी-जल्दी में खाया वनस्पति पदार्थ, घास-पात आदि संचित होते हैं।

प्रथम कोष्ठ (खाद्य-ग्राहक) में चबाए हुए घास-पात को नर्म करने की क्रिया होती है और नर्म होने के बाद छोटे-छोटे गोलों रूप में वह फिर मुँह में वापस आता है। प्रत्येक गोली या ग्रास को पशु धीरे-धीरे तथा श्रम पूर्वक कुचलते हैं जिसे रोमंथ या जुगाली करना कहते हैं। बिल्कुल लुगदी बन जाने पर खाद्य द्रव्य का चबाया गोला या ग्रास निगल लिया जाता है और उसकी जगह दूसरा ग्रास प्रथम आमाशय कोष्ठ से मुँह में आ जाता है। कुचला हुआ ग्रास द्वितीय आमाशय कोष्ठ में आ जाता है जिसे बहु-छिद्रीय कोष्ठ कहते हैं। उसकी दीवालें मधु मक्खी के छत्ते के समान बहु संख्यक क्षुद्र प्रकोष्ठों से युक्त होती हैं। यहाँ से खाद्य द्रव्य दबाकर भोजन-नलिका द्वारा तीसरे तथा बाद में चौथे आमाशय कोष्ठ में जाता है। अंतिम कोष्ठ में ही यथार्थ पाचन क्रिया होती है। गाय, बैल, भेड़, बकरी आदि तो ऐसे पेचीदे रूप के आमाशय रखते ही हैं, हिरण और मृग भी ऐसे रूप के आमाशय रखते और जुगाली करते हैं। ऊँट और मूषक-मृग भी जुगाली करते हैं परन्तु उनके आमाशय की रचना कुछ दूसरे रूप की होती है।

वृषभ वंशी जन्तुओं की एक और विशेषता उनकी सींग की विचित्र रचना है। उनकी सींग में दो

भाग होते हैं। एक को आन्तरिक और दूसरे को बाह्य कह सकते हैं। बाह्य भाग ही यथार्थ सींग है। तुम्बी लगाने वाले उसी का ऊपरी शीर्ष छेद युक्त कर मुख द्वारा उसे वायुशून्य बनाते हैं। इस कारण किसी मनुष्य की क्षत त्वचा पर चौड़ा मुख चिपका रखने पर रक्त त्वचा के ऊपर आ जाता है। यह बाह्य अंग खोखली शंकुवत नली समान होता है। इसकी रचना जिस पदार्थ से होती है उसी का नाम शृंगीय पदार्थ है। सींग टूटने पर उनके अन्दर हड्डी का शंकु समान उभाड़ दिखाई पड़ता है जो पशुओं के माथे से ऊपर संलग्न ऊपर बढ़ा होता है। इस अंतरीय शंकु पर ऊपरी सींग की खोखली किन्तु कड़ी नली शंकु के ही आकार में बनी मढ़ी होती है। एक बार उत्पन्न हो जाने पर यह आजीवन रहती है। जुगाली करने वाले पशुओं में वृषभ वंशीय जन्तुओं को छोड़कर किसी भी अन्य पशु में ऐसे रूप की सींग नहीं होती है।

बैलों की जातियों के अधिकांश उष्ण कटिबंध में रहते हैं। भारतीय जातियों में बीसन, सैनी तथा भैंसे उष्ण कटिबंधीय हैं, केवल याक (चमरी वृषभ) ही शीतोष्ण कटिबंध में पाया जाता है। भेड़, बकरियों की अधिकांश जातियाँ मध्य एशिया में पाई जाती है। भारत में उनकी जातियाँ उष्ण कटिबंधीय जंगलों या हिमालय के ऊँचे पर्वतों में पाई जाती हैं। जंगली भेड़ों की उरियल नाम की एक जाति पंजाब तथा पश्चिमी पाकिस्तान के बिलोचिस्तान, सिंध आदि के सूखे ऊजड़ पहाड़ों पर रहने की अभ्यस्त बन गई है। भारत के दक्षिणी पठार में जंगली बकरी की केवल एक जाति नीलगिरि की ऊँचाई तथा आस-पास की पहाड़ियों में पाई जाती है। कम से कम इतनी ऊँचाई पर ही जंगली बकरी पाई जाती है।

ऋतु के परिवर्तन का प्रभाव वनस्पतियों पर भी पड़ता है जो पशुओं के आहार होते हैं। इस कारण भिन्न-भिन्न ऋतुओं के जलवायु तथा वनस्पति विभिन्न होने से पशुओं के स्वभाव पर भी प्रभाव पड़ता है। उदाहरण स्वरूप गौर वृषभ की बात लीजिये। शीत ऋतु में वे पहाड़ियों की चोटी के घास वाले मैदानों तथा पहाड़ियों के बाँस और द्रुमलता आच्छादित ढालों पर रहते हैं। जब ग्रीष्म ऋतु का आगमन होता है तो चारा तथा पानी के अभाव के कारण उन्हें पहाड़ियों की चोटियाँ तथा ढाल छोड़ देने के लिए विवश होना पड़ता है। नदी-नालों के घास भरे तटों पर नीची ऊँचाई के स्थानों में ही शरण लेनी पड़ती है। वर्षा काल में तो उन्हें बहुत दूर-दूर तक चक्कर काटना पड़ता है, परन्तु अन्य ऋतुओं में उन्हें विशेष मासों में विशेष स्थानों पर ही प्रति वर्ष देखा जा सकता है।

मैसूर के जंगलों में गौर वृषभ का निवास जनवरी से मई तक सततप्रवाहिनी सरिताओं द्वारा सिंचित सततहरीतिमायुक्त बनों में रहता है किन्तु जब मई में वर्षा का आगमन प्रारम्भ हो जाता है तो धरा पर हरीतिमा उत्पन्न होने का क्षेत्र नदी नालों के किनारे के अतिरिक्त ऊँचे या दूर के स्थलों में भी फैल जाता है। अतएव गौरों को अपने आहार के लिए पहाड़ियों के चोटियों पर पहुँचा पाया जाता है। उस समय वे चोटियाँ हरी-भरी रहने के कारण प्रचुर आहार प्रदान करती हैं। सितम्बर में पहाड़ियों के पादस्थल में भी यथेष्ट हरियाली उत्पन्न हो गई होती है, अतएव बहुत से गौर वहाँ भी चले आते हैं।

आसाम में नदियों के कछारों में वर्ष भर हरियाली रहती है। अतएव वहाँ जंगली भैंसों को चारे की खोज में अधिक दूर जाने की आवश्यकता नहीं होती, अतएव उनकी वृत्ति ही दूर तक घूमने-फिरने की नहीं होती। उड़ीसा तथा मध्य प्रदेश में जंगल तो हैं परन्तु वर्षा ऋतु में वहाँ हरियाली अधिक होती है और शीतकाल में भी यथेष्ट पाई जाती है किन्तु ग्रीष्मकाल में घास-पात सूख जाते हैं। छोटे-मोटे तालाब या कुण्ड सूख जाते हैं, अतएव वहाँ बन्यमहिषों को घास की खोज में बड़ी दूर तक जाना पड़ता है। उन्हें कहीं बस्तियों

के निकट वाले तालाबों में ही पानी पीने तथा पंक में लोटने के लिए जाना पड़ता है। जहाँ साल भर तक पानी से भरे तालाब होते हैं वहाँ जंगली भैंसे दिन भर पानी में डूबे या कीच में लिपटे पड़े रहते हैं।

वृषभ वंशी जन्तुओं में चमरी (याक) को जितनी भीषण प्राकृतिक शक्तियों से युद्ध कर अपना जीवन यापन करना पड़ता है, इसका अनुमान शस्यश्यामला भूमि में सहज आहार प्राप्त करने वाले पशुओं के मध्य रहने वाले व्यक्तियों को कदाचित ही हो सके। चमरी का निवास तिब्बत के निकट भूखण्ड में होता है। तिब्बत के ऊजड़ पठारों में कठोर शीत और हिमाच्छादित निर्जन भूमि में शीतकाल में अनेक चमरियों का प्राणान्त हो जाता है किन्तु जीवन रक्षा करनी होती है वे अपेक्षाकृत नीचे स्थलों, १४००० फुट की ऊँचाई तक के स्थानों में आहार की खोज में चले आते हैं।

कहीं पर तो शीत का आधिक्य जीवन के लिए असह्य होता है, परन्तु दक्षिण भारत सरीखे स्थानों में ग्रीष्म काल का ऊँचा तापमान ही जीवन दूभर करने वाला होता है। पश्चिमी पाकिस्तान की सूखी पहाड़ियों में भीषण गर्मी के ऋतु मेंउरियल चट्टानों की ओट में छिपकर दिन व्यतीत करता है अथवा जंगलों में भी घुस जाता है। केवल संध्या या उषाकाल के अपेक्षाकृत ठंडे समय में ही आहार की खोज में बाहर आता है। उन्हें ही शीत ऋतु में या आकाश मेघाच्छन्न रहने पर दिन भर दौड़ धूप करते पाया जाता है।

प्रकृति में किसी वस्तु की असीम बुद्धि रोकने के लिए स्वतः कुछ व्यवस्था पाई जाती है। हिंसक जंतु शाकाहारी पशुओं को खा-खाकर उनकी भारी संख्या वृद्धि नहीं होने देते। पक्षी असंख्य कीटों को नित्य खाकर उनकी असीम गति से संतानोद्वारा संख्यावृद्धि से धरातल को बोझल होने से बचाते हैं। इसी प्रकार घास-पात, बनस्पतियों की दिन दूनी रात चौगुनी बुद्धि की उक्ति चरितार्थ करने के अनुसार वृद्धि को रोकने में प्रकृति शाकाहारी पशुओं का सहारा लेती है मानो संसार के जीव जगत के व्यवस्था में शाकाहारियों की उत्पत्ति धरातल पर वनस्पतियों की अतुल बाढ़ का नियंत्रण करने के लिए ही होती है। प्रकृति की ऐसी व्यवस्था में शाकाहारी पशुओं की संख्या नियंत्रित करने का प्रसंग ध्यान में रखने पर हम देख सकते हैं कि वन्य वृषभ सबसे बड़े आकार के जुगाली करने वाले (रोमंथ) जंतु है। अतएव उनको आहार बनाने वाला हिंसक पशु भी सबसे प्रबल होता होगा। भारतीय बनों में केवल बाघ ही ऐसा बली हिंसक होता है जो जंगली वृषभों (साँड़ों) का वध कर सके।

जङ्गली मेष (भेड़ तथा छाग अपेक्षाकृत छोटे होते हैं। अतएव पर्वतों में इनकी बढ़ती हुई संख्या को कम करने के लिए प्रकृति इनका वध तेंदुए (चित्र व्याघ्र), भेड़िये, बन-कुत्ते आदि द्वारा कराती है। बृहत्तम रोमंथकों (जुगाली करने वाले पशुओं) वन्य वृषभ, वन्य महिष आदि की संख्या बाघों द्वारा यथेष्ट न्यून होने का अवसर कदाचित न मिल सकता हो, इस कारण प्राकृतिक व्याधि रूप के उन संक्रामक रोगों का जब-तब प्रसार होने से इनकी भारी संख्या नष्ट हो जाया करती है।

शाकाहारी पशुओं के सहयोग की बात भी सुनी जाती है। हाथी और भारतीय बीसन (वन्य-वृषभ) जंगलों में साथ पाये जाते हैं। इनके साथ पाये जाने के कारणों पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि कदाचित इनका साथ एक दूसरे को कुछ लाभ पहुँचाने के लिए होता है। इन दोनों का स्वभाव आहार तथा रक्षा पाने के सम्बन्ध में एक समान-सा होता है। ये बाँस की पत्तियाँ अधिक खाते हैं। बाँस लम्बा होता है। बीसन (भारतीय वन्य वृषभ) यद्यपि सबसे बड़े आकार का रोमंथक (जुगाली करने वाला) पशु है फिर भी बाँस की सारी ऊँचाई उसकी पहुँच में नहीं हो

सकती। और भी कोई ऐसा उपाय उसे सुलभ नहीं होता। हाथी भी ऊपरी फुनगी तक नहीं पहुँच सकता परन्तु अपने शुंड की लपेट में वह बाँस की कमर लपेट कर तोड़ देता है। अतएव उससे ऊपरी अंश भी टूट कर नीचे आ जाता है और वह कोमल फुनगियाँ खा लेता है। एक बार बाँस की कमर टूट जाने से जहाँ ऊपरी भाग भी नीचे पहुँच जाता है, वहाँ हाथी द्वारा कोमल फुनगियाँ खा लेने के बाद शेष पत्तियाँ वन्य वृषभ की पहुँच में भी हो चुकी होती हैं। अतएव वह सहज ही अपनी उदर पूर्ति कर लेता है। हाथी के सहयोग से यह सबसे बड़ा लाभ होता है परन्तु हाथी को भी वन्य वृषभ से कुछ लाभ पहुंचता है या नहीं, यह कहना कठिन है।

वन्य वृषभ का संपर्क एक ओर तो बाघ से हिंस्य और हिंसक रूप में होता है, दूसरी ओर हाथी से सहायक रूप में होता है परन्तु इन दो पशुओं के अतिरिक्त बन के किसी अन्य पशु से उसके संपर्क का अवसर नहीं होता। कुछ काट खाने वाली मक्खियाँ अवश्य ही अन्य पशुओं की भाँति उन्हें भी विशेषतया ग्रीष्मकाल में बहुत तंग करती हैं। उनसे जान छुड़ाने के लिए मैदानों में दूर भाग जाते हैं। ऐसे संकट में पड़ने पर सैनी (ब्राह्म वन्य वृषभ) खुले घास के मैदानों के बीच लेट जाता है। ग्रीष्म तथा वर्षाकाल में जङ्गल के बीच बहुसंख्यक रक्त-शोषक परोपजीवी कीटों से रक्षा पाने का यही मार्ग होता है।

जहाँ तक अपनी जाति के पशुओं से सम्बन्ध रखने की बात है, वन्य वृषभों द्वारा बाघ की तरह अपना-अपना पृथक आहार क्षेत्र बनाने का कोई प्रमाण नहीं पाया जाता। इस विषय में यथार्थतः खोज नहीं की जा सकी है। इतना अवश्य है कि नर वन्य वृषभ गर्भाधान कराने की ऋतु में गायों का दल एकत्र कर उन्हें अपनी सम्पत्ति बनाकर एक अधिकार क्षेत्र सा बना लेता है। कोई भी अन्य नर वन्य वृषभ उस दल के निकट नहीं आ सकता। उसके आने का विकट प्रतिरोध होता है। अन्य दल भी उसके दल के निकट नहीं आ सकता। अपने दल की गायों पर नर का यह एकछत्र अधिकार केवल उसके पौरुष पर ही आधारित होता है जो अन्य नरों को भगा देता है। किन्तु गर्भाधान ऋतु के पश्चात् कोई ऐसा विशिष्ट अधिकार क्षेत्र कदाचित नहीं रहता। एक दल दूसरे दल के क्षेत्र में आ जा या मिल सकता है। किसी सामूहिक आवश्यकता के कारण अनेक दल संयुक्त भी हो सकते हैं।

अपनी जाति की बात छोड़ दें तो वृषभ वंशीय पशुओं की विभिन्न जातियाँ परस्पर मिलती या एकत्र होती पाई जा सकती हैं। एक ही पहाड़ी पर बीसन तथा सैनी (ब्राह्म वन्य वृषभ) रह सकते हैं। मारखोर छागों को चापश्रृंगी छागों (लाइबेक्स) के साथ चरते पाया जा सकता है। भारल तथा चापश्रृंगी भी साथ चरते मिलते हैं। बुड़ाल और ठार साथ चरते ही हैं।

जन्तु जगत में मनुष्य का स्थान सबसे ऊँचा है। प्रायः सभी जन्तु उससे भय खाते और दूर रहना चाहते हैं। रोमंथक (जुगाली करने वाले) पशुओं में सर्वश्रेष्ठ गौर (वन्य वृषभ) भी मनुष्य से प्रायः दूर ही रहना चाहते हैं। उसे स्वभाव से डरपोक जानवर कहा जा सकता है। किन्तु एक आहत गौर या एकाकी वन्य वृषभ मनुष्य पर आक्रमण भी कर सकता है। अपवादों को छोड़-कर गौर प्रायः बस्तियों से दूर रहता है। खेतों में नहीं घुसता। फसल नहीं खाता। किन्तु ब्राह्म वन्य वृषभ (सैनी) गौर से कम डरपोक होता है। वह बस्तियों में घुस सकता है और कभी-कभी खेतों में घुस कर फसल भी खा जाता है। जंगली भैंसे मनुष्यों से नहीं घबड़ाते। आदमी के निकट आ जाने पर भी वे नहीं भागते। ये खेतों में घुस जाने पर बड़ी कठिनाई से भगाये जा सकते हैं, अतएव इनसे फसलों को भारी हानि पहुँचती है। भारतीय वृषभ वंशी पशुओं में वे सब से अधिक साहसी तथा जंगली होते हैं।

मनुष्य ने अपने बाहुबल तथा शस्त्रबल से अधिकांश वन्य पशुओं का संहार किया है। उस संहार वृद्धि को हम सभ्यता की वृद्धि कहते हैं; परन्तु पशुओं की दृष्टि से वही बध क्रिया होगी। नगर बसते गये हैं, बन कट कर खेत बनते गये हैं, इससे बेचारे वन्य वृषभ पीछे हट-हटकर केवल बचे-खुचे जंगलों में जा बसे हैं। मिदनापुर जिले तथा उड़ीसा के तटीय भागों और मध्य प्रदेश के निकट जहाँ पहले वन्य वृषभों का साम्राज्य था, वहाँ आज उनका सर्वथा लोप हो गया है।

वन्य पशुओं को मनुष्य से कितनी ही बाधाएँ तथा हानियाँ होती हैं। जहाँ मनुष्य की पहुँच होती है, वहाँ वन्य पशु उसके निकट आने-जाने का समय अनुमान कर उसके उनुपस्थित रहने के समयों में ही बाहर खुले स्थल में चारा चरने निकलते हैं। मनुष्य ने उन पर अन्य रूपों में भी वज्रपात किया है। उसके पालतू पशु पशु-संक्रामक रोग (रिंडरपेस्ट) तथा खुरपका (मुख और खुर रोग) से आक्रान्त होकर बहुसंख्यक रूप में मृत होते हैं। वे पशु इन रोगों से ग्रस्त होकर जिन गोचर भूमियों में भ्रमित हुए होते हैं उनमें उन रोगों के कीटाणु भी प्रसारित हो गये होते हैं। अतएव जब बेचारे वन्य पशु उन्ही भूमियों में चारा चरने के लिए आते हैं तो उन रोगों के कीटाणु उन पर भी रोग का प्रसार कर उनका संहार करते हैं।

रोमंथकों (जुगाली करने वाले पशुओं) में वृषभ वंश के भारवाहक पशुओं की कथा यथेष्ट प्राचीन है। कृषि में सहायता देने, दूध देने या अन्य अनेक उपयोगों को भी मनुष्य जाति पुरातन काल से जानती आ रही है। भारत में हमें जो पालतू ढोर दिखाई पड़ते हैं उनकी उत्पत्ति में इन वन्य रोमंथकों, भारतीय बीसन, (वन्य वृषभ), सैनी (ब्राह्म वन्य वृषभ), याक (चमरी) और वन्य महिष का बहुत-कुछ हाथ रहा है। यह कहा जाता है कि भारत में अग्र पीठ पर उभाड़ (ककुद) वाले बैलों की उत्पत्ति ब्रह्म देश के वन्य वृषभ (सैनी) या कुछ उससे ही मिलती-जुलती किसी विलुप्त जाति से हुई है। इनके माथे की रचना, मिथ्या शफों (दिखावटी खुरी) के विकास तथा सैनी के पिंगल (पीले भूरे) वर्ण के साम्य के आधार पर ही ऐसी कल्पना की गई है।

अग्र पीठ पर ककुद वाले भारतीय वृषभ (काकुत्थ या ककुद धारी) तथा सपाट पीठ वाले या ककुदहीन योरोपीय वृषभ की नस्लें औरोक या वन्य महावृषभ नाम की एक विलुप्त जाति से ही उत्पन्न मानने की धारणा कुछ विद्वानों में पाई जाती है, परन्तु कुछ का विचार है कि कदाचित ब्राह्म वन्य वृषभ के स्कंध देशीय उभाड़ ने ही विकसित होकर भारतीय नस्ल के वृषभों में अग्र पीठ के ककुद का स्थान ग्रहण किया। यह बात निस्संदेह है कि भारत में, ककुद युक्त तथा ककुदहीन, दोनों हीं जातियों के वृषभों का ज्ञान था। मोहनजोदड़ो की खुदाई में जो मुद्रायें प्राप्त हुई हैं उनमें इन दोनों प्रकार के वृषभों के चित्र खचित पाए जाते हैं। हम जब यह सोचते हैं आज से ५, ६ सहस्र वर्षों पूर्व की इस मोहनजोदड़ो की सभ्यता के समय वृषभों की ये दोनों जातियाँ कैसे वर्तमान थीं जो आज नहीं पाई जातीं तो बड़ा विस्मय होता है।

ब्राह्म वन्य वृषभ (सैनी) को बोर्नियो तथा जावा के भागों में पालतू बनाने में आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त हो सकी है, परन्तु वृषभवंशियों में भव्यतम जाति गौर वृषभों को पालतू बनाना असम्भव ही रहता आया है। फिर भी भारतीय नस्ल सुधारने में इसका उपयोग किया गया है। गौर तथा सैनी, दोनों ही भारतीय गो जाति को गर्भाधान करा सकने में योग देते हैं। अतएव ऐसी वर्णसंकर संतान अर्द्ध पालतू रूप में आसाम की पहाड़ी जातियाँ पोषित करती हैं। इसे मिथन या मेथेन नाम दिया जाता है। आसाम में गौर वृषभ का योगदान प्राप्त कर गर्भधारण करने का अवसर प्रायः मिलते रहने से मिथन जाति के वृषभ अपना बलिष्ठ रूप स्थिर रखते हैं, परन्तु कुछ ही पूर्व चिन की पहाड़ियों में गौरों का अभाव-सा होने से गर्भाधान में उनका योगदान अधिक नहीं मिल

सुरूपता। वहाँ मिथन वृषभ अपना बलिष्ठ रूप क्षीण करते पाये जाते हैं। वे ठिंगने बन जाते हैं, पैर छोटे हो जाते हैं, तथा उनमें प्रायः मिथ्या शफ (दिखाई खुर) विशेष विकसित हो जाते हैं, परन्तु शुद्ध गौर वृषभों की स्पष्ट विशेषता यह होती है कि उनके मिथ्या शफ (ऊपर के-दो दिखावटी खुर) कभी भी अधिक विकसित नहीं हो सकते। पालतू नस्लों द्वारा गर्भाधान होते रहने से पीठ का ककुद भी कम हो जाता है जो गौरों में सदा उन्नत रहता है और उनका रूप प्रभावोत्पादक बनाये रहता है। सींग भी परिवर्तित होकर गाय सी हो जाती है और पालतू के समान शरीर पर विभिन्न रंग उत्पन्न होने लगते हैं किन्तु शुद्ध गौर तो सचमुच गौर या गेहुंए रङ्ग का होता है। यदि गौर वृषभ तथा पालतू वृषभ जातियों के मिश्रण से उत्पन्न वर्णसंकर जाति की उत्कृष्ता क्षीण न होने देना हो तो इस मिथन या वर्णसङ्कर वृषभ जाति को समय-समय पर शुद्ध गौर (वन्य वृषभ, से पालतू वृषभ जाति का गर्भाधान कराना आवश्यक होता है।

तिब्बत तथा मध्य एशिया के ऊँचे पठारों की वन्य वृषभ जाति याक (चमरी को पालतू बना लिया गया है। शुद्ध रूप का उत्पन्न पालतू याक (चमरी) बहुत ही उत्तम पशु होता है। उसमें वन्य याक (चमरी) की अपेक्षा आकार रूप या बल कुछ भी कम नहीं होता। तिब्बत में भी जो वन्य याक होता है उसी का पालतू रूप रूपसू पठार के तातारी लोग रखते हैं। इस याक (चमरी) द्वारा लद्दाखी पालतू वृषभ जाति का संयोग कराकर वर्ण-संकर वृषभ उत्पन्न करने का उद्योग किया गया है। चमरी या याक साँड़ का पालतू गाय से संयोग कराकर दोगली संतान उत्पन्न कराई जाती है। उसे 'ज़ो' नाम दिया गया है। ये वर्णसंकर पशु शृंगीय तथा शृंगहीन दो नस्लों के होते हैं। किन्तु आगे की पीढ़ी में शृंगीय वर्णसंकर वृषभ शृंगीय संतान ही उत्पन्न करता है और शृंगहीन द्वारा शृंगहीन संतान ही सदा उत्पन्न होती है। यह वर्णसंकर संतान आकार में कुछ छोटी अवश्य होती है परन्तु इसमें अधिक तापमान सहन करने की शक्ति होती है। अतएव उच्च पर्वतीय चमरी की संतान होने के नाते इसमें पर्वत लंघन करने के गुण तो होते ही हैं, परन्तु नीचे तल में आ सकने की क्षमता भी वर्ण-संकरता के कारण उपलब्ध होती है। काश्मीर और लद्दाख के मध्य ये ही भारवाहक वाहन का काम करते हैं। हिमालय के आर-पार निर्जन स्थलों की यात्रा में इनकी ही सहायता मनुष्य की पहुँच करा सकती है।

भारतीय पालतू भैंस (महिष) के वन्य महिषों की संतान होने में कोई संदेह ही नहीं है। इसकी जाति सीमित भू-भागों में ही पाई जाती है। अतएव इसकी विभिन्न जातियाँ विभिन्न भू-भागों में नहीं पाई जातीं। इनका रङ्ग रूप वन्य महिषों सा ही होता है। इतना अवश्य किया गया है कि उचित नर-मादा के निर्वाचन द्वारा उत्कृष्ट नस्ल के पालतू महिष उत्पन्न होकर अधिक उपयोगी सिद्ध हों।

भेड़ बकरियों के पालतू रूपों की उत्पत्ति ईरान की जङ्गली बकरी से मानी जाती है। पालतू भेड़ों को भी इस प्रकार किसी वन्य जाति की संतान माना जा सकता है। उरियाल भेड़ें जङ्गली होती हैं। वे पालतू भेड़ों के साथ गर्भाधान में सहयोग करती हैं। इससे नस्ल अच्छी बनती है।

गौर तथा अन्य वृषभों में घ्राण शक्ति अत्यधिक विकसित होती है। अनेक वन्य वृषभों के शरीर से तीव्र गंध उत्पन्न होती है। वह एक प्रबल साधन होगा जिससे दल के अन्य सदस्यों से सम्बन्ध स्थापित किया जा सके। बहुत से वृषभों में गंधोत्पादक विशेष ग्रन्थि भी होती है जो इस प्रकार संबन्ध स्थापित रखने में सहायक होती है।

अधिकांश प्रमुख मेष जातियों में एक मुखाग्र ग्रंथि होती है जो आँख के ठीक नीचे माथे के एक छिछले छिद्र में होती है। ऊरु संधि (उदर और जंघ के जोड़) में भी एक जोड़ी ग्रंथियाँ होती हैं जिन्हें

ऊरुसंधीय ग्रंथि कहते हैं। पैर के दो मुख्य खुरों (शकों) के मध्य भी एक ग्रंथि होती है। इस दृष्टि से भेड़ों का वृषभों से भेद होता है क्योंकि ये ग्रथियाँ वृषभों में नहीं पाई जातीं। छागों से भी उनका विभेद होता है। उरियल (शापू) वन्य भेड़ों की पाद ग्रन्थि से एक स्पष्ट अर्द्ध द्रव स्रवित होता है जिसमें एक धीमी गंध होती है। इन पाद-ग्रन्थियों से स्रवित गंधोत्पादक रस मिट्टी से सिंचित हो जाता है। अतएव जिन भूभागों पर से भेड़, बकरियों का दल चला होता है उसके वासित हो जाने से दल का कोई पीछे छूटा या भूला-भटका सदस्य उस वास की सहायता से पुनः अपने दल में मिलता है। इसी प्रकार जब भेड़ें कभी भूमि पर बैठी होती हैं तो उनकी ऊरुसंधि (उदर और जंघे के बीच का जोड़ या काँख) भूमि से स्पर्श करती है इस कारण ऊरु-संधीय ग्रन्थियों की वास मिट्टी में मिल जाती है। इससे भी दल के भूले भटके सदस्यों को मार्ग-निर्देश प्राप्त हो सकता है। प्रमुख छागों में मुखाग्रीय ग्रन्थियों और ऊरुसंधीय ग्रन्थियों का अभाव ही होता है। अगले पैर के खुरों के मध्य वास-ग्रन्थियाँ हो भी सकती हैं और नहीं भी हो सकतीं परंतु पिछले पैरों के खुरों में तो वास-ग्रन्थियों का अवश्य अभाव होता है। इस प्रकार भेड़ों को हम दल रूप रह सकने के लिए अधिक उपकरणोंयुक्त पाते हैं।

गौर वृषभ प्रायः आठ या दस के झुण्ड में रहते हैं ऐसा झुण्ड मुख्यतः पारिवरिक दल होता है। चारे की खोज या अन्य कारणों से कई दल एकत्र हो सकते हैं। गर्भाधान काल न होने पर छोटे-बड़े अनेक आकार के साँड़ एकत्र रहते हैं। दल में गायें भी रहती हैं मानों दल में किसी का किसी से किसी तरह का विरोध ही नहीं। प्रौढ़ साँड़ चारे की खोज में अकेले या अन्य प्रौढ़ साँड़ों के साथ घूमते-फिरते रहते हैं। परन्तु प्रायः बहुत दूर नहीं जाते। गर्भाधान काल आने पर प्रौढ़ साँड़ों में गायें प्राप्त करने के लिए भीषण संघर्ष प्रारंभ हो जाता है। उनकी दल भावना, पारस्परिक सहिष्णुता सर्वथा लुप्त हो जाती है। जो साँड़ अकेले चरा करते हैं वे भी दल में घुस कर गायों के लिए होड़ करते हैं। विजयी साँड़ गायों का अधिकारी बनता है, अन्य सभी प्रौढ़ साँड़ दल से दूर भगा दिये जाते हैं। केवल अल्पवय साँड़ (नरवृषभ ही दल में पड़े रहने दिये जा सकते हैं। दलपति साँड़ अपना एक आहार क्षेत्र बना लेता है जहाँ दूसरे नहीं आने दिये जाते।

गर्भाधान काल समाप्त होने पर दलपति साँड़ अपना दल का साथ छोड़कर कहीं एकाकी जीवन व्यतीत करने चला जाता है। अगले वर्ष के गर्भाधान काल के आगमन तक वह अकेले या अन्य साँड़ों के साथ निरापद रूप से समय व्यतीत करता है। अगले वर्ष गायों को प्राप्त करने के लिए वह पुनः संघर्ष करता है। अधिक वृद्ध हो जाने पर उसकी संतानोत्पादन भावना प्रायः मिट सी जाती है। अतएव वह स्थायी रूप से एकाकी रहने लगता है। जब गर्भिणी गाय के प्रसव का समय आ जाता है तो वह दल से पृथक हो जाती है और कहीं एकान्त स्थल में शिशु जनन करती है। नवजात शिशु घास में दबा छिपा-सा पड़ा रहता है। केवल उसका मुख ही ऊपर निकला दिखाई पड़ सकता है। मादा निकट खड़ी शिशु की रक्षा करती रहती है। अन्य वृषभीय जातियों में भी यही बात पाई जाती है कि अपेक्षाकृत वयस्क नर गर्भाधान काल के अतिरिक्त प्रायः मादा से दूर रहते हैं। शिशु पालन का भार मादा पर ही पड़ता है।

हरिण और छागों के मध्यवर्ती से पशुओं को छागहरिण नाम से उपविभाग बनाकर वृषभवंशी पशुओं में गिना जाता है। इस उपविभाग या उपवंश में सेरो (शंकुश्रृंगी वन्य छागहरिण), गोरल (क्षुद्रश्रृंगी छाग-हरिण) तथा टाकिन (उन्नतोदर मुखी छाग-हरिण) गिने जाते हैं। ये सभी पर्वतवासी होते हैं तथा लगभग छागों- सा ही रूप होता है, दाँत छागों की तरह होता है पूँछ छोटी होती है। इनके नर और मादा दोनों में ही छोटी नलिकाकार सींगें होती हैं। योरोपीय छाग-हरिण की जाति चमाय

नाम की होती हैं। उत्तरी अमेरिका की राकी पर्वत-में भी एक छाग-हरिण होता है।

चमाय नामक एक मात्र जाति का छागहरिण ही योरप में पाया जाता है। सिर की लंबाई के बराबर सींग होती है जो अंकुश के आकार की होती है। और पीछे मुड़ी होती है। गर्मी में मटमैला लाल भूरा रंग होता है, पीठ के बीच में काली पट्टी होती है। अधोतल लाल पीला होता है। जाड़े में बाल लम्बे हो जाते हैं। सिर और धड़ की लम्बाई ४३ इञ्च तथा पूँछ की लम्बाई १½ इञ्च होती है। इसका निवास आल्प्स, आप्पेनाइन और कारपेथियन पर्वतों में है। इसकी स्थानीय उपजातियाँ पिरेनीज तथा स्पेन के अन्य ऊँचे स्थल काकेशस, और एशिया माइनर में पाई जाती है। यह दल बनाकर चलता है। वृक्ष उत्पन्न होने के क्षेत्र की उच्चतम सीमा तक जाता है। गर्मी में हिम-नदों द्वारा प्रवाहित कबाड़ के अंतिम ढेर तक चढ़ जाता है।

राकी पर्वतीय छागहरिण अमेरिका का एकमात्र छागहरिण है जो ब्रिटिश कोलंबिया, मोंटाना इडाहो, वाशिंगटन की राकी पर्वतमाला तथा दक्षिणी अलास्का तक की तटीय पर्वतमाला में रहता है। नर की ऊँचाई कंधे के निकट औसत ४० इञ्च होती है। शरीर का भार लगभग ३½ मन होता है। सींग की लम्बाई औसत ९ इञ्च होती है। बाल लम्बे और श्वेत होते हैं जो मूलवासियों द्वारा बुनाई में प्रयुक्त होते हैं।

सेरो (शंकुश्रृंगी छागहरिण) और गोरल (क्षुद्रश्रृंगी छागहरिण) में विशिष्ट रूप की शंक्वाकार सींग होती है। वे पीछे झुकी होती हैं किन्तु योरोपीय छागहरिण (चमाय) में तो वे इतनी अधिक मुड़ी होती हैं कि अंकुश का रूप बन गया होता है। सेरो और गोरल में दिखावटी समानता होती है; परन्तु कपाल की रचना में विशेष विभिन्नता होती है। इसके अतिरिक्त एक और भेद यह होता है कि कि गोरल में मुखाग्रीय ग्रंथि नहीं होती, परन्तु सेरो में यथेष्ट विकसित मुखाग्रीय ग्रंथि होती है जो माथे के एक गड्ढे में स्थित होती है। यह ग्रंथि अपनी क्षुद्र नलिका का मुख आँख के सम्मुख खोलती है। कभी-कभी यह भी छिद्र छोटे घाव-सा प्रतीत होता है। उससे उजला-सा द्रव स्रवित होता है। वह सूख जाने पर एकरस बन जाता और बास देता है सेरो में छागों की विशेष महक शरीर से निकलती रहती है। भेड़ों और छागों के शरीर की यह बास त्वचा-तल से उत्पन्न अनुमान की जाती है। उसको उत्पन्न करने वाली कोई विशेष बास-ग्रंथि नहीं होती।

गोरल (क्षुद्रश्रृंगी छागहरिण) सेरो की अपेक्षा छोटे होते हैं। उनमें मुखाग्रीय बास-ग्रंथि नहीं होती किन्तु भेड़ों के समान उनके पैरों में बास-ग्रंथि होती है। इस ग्रंथि का मुख खुरों के ऊपर पैर के ठेवने के सामने छोटे रंध्र रूप में खुलता है। यह नहीं कहा जा सकता कि सेरो के पैरों में भी ऐसी बास-ग्रंथि होती है या नहीं। कपाल की रचना में गोरल टाकिन से समानता रखता है। इससे इन दोनों में बंधुत्व अनुमान होता है। परन्तु शरीर के बाह्य रंग-रूप में इन दोनों में भारी विभिन्नता दिखाई पड़ती है।

टाकिन भारी-भरकम शरीर का पशु है जो छागहिरणों की उल्टी बात होती है। इसकी सींगें मोटी और आधार तल में लगभग जुटी सी होती हैं। वे पहले बाह्यवर्ती होकर पुनः निम्नवर्ती या अग्रवर्ती होती हैं फिर अकस्मात ऊर्ध्ववती या पश्चातवर्ती झुकाव कर सिर के ऊपरी तल के सम-वर्ती तल पर बढ़ी होती हैं।

हरिण और क्षुद्र-हरिण भी वृषभवंश के उपवि-भाग या उपवंश हैं। इन्हें भी रोमंथक (जुगाली करने वाले) तथा द्विशफीय या समशफीय (जोड़े खुर वाले) पशु होने का गौरव प्राप्त है। यही नहीं, बल्कि इनकी सींग भी वृषभवंशीय होती है। कुछ व्यापक गुणों की बात भुला देने पर एक ओर इन्हें ढोरों-सा सम-झने में भी कठिनाई होती है। दूसरी ओर इन्हें भेड़ बकरियों दोनों ही के मध्य का पशु कहा जा सकता है, परन्तु वैज्ञानिक परिभाषा के अनुसार कुछ समान गुणों के होने से ये सभी वृषभवंश में लिये जाते हैं।

एक बड़ी महत्वपूर्ण बात वह है कि जन्तुओं के विकास में वृषषभवंशी पशुओं में हरिणों का स्थान सबसे प्राचीन सिद्ध होता है। वे ढोरों से भी पूर्व उत्पन्न या विकसित हो सके थे। वे प्राचीनतम रोमान्थक पशु हैं। कदाचित इनसे ही एक ओर तो ढोरों का जन्म हुआ और दूसरी ओर भेड़, बकरियों का विकास हो सका। हरिणों में भी दो उपवंश माने जाते हैं। एक उपवंश में तिब्बती हरिण या चीरू की गिनती है जिसे फूली हुई नासिका होने के कारण नासाशोथ हरिण नाम दिया जा सकता है। तिब्बती हरिण का निकटतम बंधु अफ्रिका का सैगा हरिण होता है जिसकी गिनती इसी उपवंश में की जाती है। केवल ये दो जातियाँ ही इस उपवंश में मिलती हैं। सैगा की नाक भी फूली हुई और बड़ी लंबी होती है। वह निचले जबड़े से भी नीचे लटकी होती है। कंधे के निकट शरीर की ऊँचाई २½ फुट होती है शरीर की पूर्ण लम्बाई ४¼ फुट होती है जिसमें चार इञ्च पूँछ की ही लम्बाई होती है। यह पश्चिमी एशिया तथा दक्षिणी पूर्वी रूस में पाया जाता है किंतु करोड़ों वर्ष पूर्व प्लीस्टोसीनी काल में यह दक्षिणी पूर्वी इंगलैंड तक प्रसारित था जिसके प्रमाण इसके प्रस्तरावशेष रूप में आज भी रक्षित हैं।

हरिणों की अन्य जातियों तथा क्षुद्र या लघु हरिणों की गिनती एक दूसरे उपवंश में की जाती है। इन सब की रचना भव्य होती है। सींग का मादा में होना आवश्यक नहीं, परन्तु नर में उसे सदा प्रायः लम्बा, लगभग बेलनाकार और अधिकांशतः पाश्चात्य वीणा का आकार बनता-सा पाया जाता है। वे प्रायः रेखामुद्रिकाओं या गाँठ बनाने वाले गोल आड़े उभाड़ों युक्त होती हैं। इसकी सींग अन्य वृषभवंशीय जन्तुओं समान खोखली अवश्य होती है परन्तु उसके भीतर आधार के अस्थिनिर्मित खण्ड में कुछ अंतर होता है। हड्डी से बनी वह भीतरी सींग ढोरों, भेड़ बकरियों में मधुमक्खिका के छत्ते की भाँति बहुरंध्रमय होती है जिसमें वायु रहने का स्थान होता है, हरिणों और क्षुद्र हरिणों में वह अस्थि-खण्ड प्रायः ठोस-सा ही होता है।

हरिणों में आँखों के नीचे प्रायः एक ग्रंथि होती है। इस बात में वे ढोरों और छागों से विभिन्नता रखते हैं। भारतीय हरिण या कृष्ण हरिण (एण) में आँख के नीचे फूली हुई ग्रन्थि ध्यान आकर्षित कर लेती है। बाह्य रूप में यह ग्रन्थि प्रायः रोमहीन (नग्न) काली त्वचा का खड़ा चीरा बनाये होती है। इस चीरे का प्रवेश एक रोमाच्छादित दीवारों युक्त गहरे छिद्र में होता है जिसमें अन्तःस्थित ग्रन्थि का स्रवित द्रव आता है। ऊरुसंधीय ग्रन्थि भी होती है जो बड़ी होती है। खुरों के मध्य भी बड़ी ग्रन्थि रहती है। इन ग्रन्थियों का प्रयोजन दल में संदेशवहन होता होगा।

यदि हरिण भव्य रूप के होते हैं तो क्षुद्रहरिण भव्यतम रूप के कहे जा सकते हैं। उनका विशिष्ट रूप बलुहा रंग तथा मुख की पार्श्ववर्ती श्वेत पट्टियाँ होती हैं। तिब्बतीय क्षुद्रहरिण में मुखचिह्न नहीं होता। नर मादा दोनों में ही सींग होती है। वे पूर्णतः रेखा-मुद्रिकांकित होती हैं। उनके घुटने पर से बालों का गुच्छा निकला होना विशेषता है।

भारतीय हरिणों की दो जातियाँ शीतोष्ण कटिबंधीय हैं। वे तिब्बती हरिण तथा तिब्बती क्षुद्रहरिण हैं। वे तिब्बत के पठारों में रहती हैं। शेष जातियाँ उष्ण-कटिबंधीय हैं। ये पशु खुले तथा घास के मैदानों के ही जन्तु हैं। किसी समय उत्तरी भारत के मैदान निर्जन रूप में रहे होंगे। उस समय हरिणों और क्षुद्र हरिणों का सर्वत्र प्रसार पाया जाता रहा होगा परन्तु अब तो उनको मनुष्य ने अपनी बस्तियों और खेतों रूप में परिणत कर लिया है। अतएव इनका प्रसार सीमित क्षेत्रों में ही रह गया है।❀

❀"खुर वाले जानवर" से

खद्योत तथा अन्य कीड़े

डाक्टर प्रेम दुलारे श्रीवास्तव

खद्योत एक प्रकार का गुबरैला होता है जिसमें अपने शरीर से प्रकाश उत्पन्न करने की शक्ति होती है। इसका नर सदा पंखदार होता है और बराबर उड़ा करता है। मादा प्रायः पंखहीन होती है और घास पर पड़ी चमका करती है।

पर कुछ जातियों में मादा के भी पंख होते हैं। कुछ के केवल पिछले सिरों से, कुछ के सिरों और बगल के पिछले भागों से और शेष के पूरे शरीर के दोनों ओर से प्रकाश निकलता रहता है।

यह प्रकाश इन कीड़ों के प्रणय में सहायक होता है। मादा जूगनू का प्रकाश नर की अपेक्षा दुगना तेज होता है। मादा अपने कुछ विशेष अंगों की मदद से जिन्हें चूषणांग कहते हैं, पेड़ों के ऊँचे सिरों पर पहुँच कर अपने प्रकाश से नर को अपनी ओर आसानी से आकर्षित कर लेती है।

प्रौढ़ जूगनू ही नहीं, इनके अंडों और जातकों में भी चमकने की शक्ति होती है। जूगनू और इनके जातक दोनों ही नन्हें-नन्हें कीड़ों पर अपना जीवन निर्वाह करते हैं।

जूगनू के जोड़ा खाने और प्रसवन की ऋतु बरसात होता है। बरसात में इनके अंडे और जातक रात को घासों पर ढूँढ़ने पर चमकते हुए आसानी से मिल जाते हैं। परन्तु बरसात के अलावा साल के शेष भागों में भी ये पीपल के ऊँचे पेड़ों पर रात को तारों की तरह जगमग चमकते हुए देखे गये हैं। यद्यपि और ऋतुओं में इनकी संख्या बरसात की अपेक्षा कम अवश्य होती है।

इतने ऊँचे और वह भी एक जाति विशेष के पेड़ पर उड़ने के दो ही कारणों की अधिक सम्भावना हो सकती है। या तो ये पीपल के पेड़ पर पाये जाने वाले किसी जाति विशेष के कीड़ों को खाते हों या इनमें ऊँचाई पर ही संयोग होता हो। ये दोनों ही कारण इन्हें पीपल के पेड़ पर उड़ते रहने को प्रेरित कर सकते हैं। परन्तु प्रायः वर्ष भर पीपल के पेड़ पर उड़ते देखे जाने के कारण आहार ही अधिक उपयुक्त कारण मालूम होता है। ये पौधों को किसी भी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाते।

प्रकृति में प्राणियों में प्रकाश उत्पन्न करने की शक्ति का होना एक बड़ी विचित्र घटना है। प्राणियों के लगभग चालीस भिन्न भिन्न समूहों (पौधों के दो समूहों में भी) में यह शक्ति होती है। इस प्रकार के कीड़ों का सबसे अच्छा उदाहरण जुगनू है।

पहले ऐसा विचार किया जाता था कि यह प्रकाश फास्फोरस के जलने से उत्पन्न होता है। पर बाद में यह पता चला कि इसका वास्तविक कारण 'ल्यूसिफेरिन' नामक एक रसायन है जो कीड़े के शरीर के कुछ विशेष कोशाओं में पाया जाता है। इन कोशाओं में वायु-नलिकायें बहुतायत से होती हैं।

इन्हीं कोशाओं में 'ल्यूसिफेरेन' नामक विटक (एन्जाइम) भी होता है। जब वायु-नलिकाओं द्वारा इन कोशाओं में हवा पहुँचती है तो ल्यूसिफेरेस, ल्यूसिफेरिन को आक्सीजन-युक्त कर देता है जिससे तुरन्त प्रकाश उत्पन्न हो जाता है। प्रकाश उत्पन्न करने वाले भाग के ठीक पीछे एक सफेद रसायन (सम्भवतः अमोनियम यूरेट) रिसता है जो प्रकाश को बिखेरने का काम करता है।

जुगनू द्वारा उत्पन्न प्रकाश और प्रकाश से बड़ा भिन्न होता है। जहां साधारण गैस के प्रकाश

में केवल २ प्रतिशत, बिजली के प्रकाश में १० प्रतिशत और धूप में ३५ प्रतिशत किरणें ही प्रकाश की किरणें होती हैं और शेष ताप की होती हैं वहां जुगुनू के प्रकाश में १२ से १००प्रतिशत तक किरणें प्रकाश ही की किरणें होती है और ताप की तथा अल्ट्रा वाइलेट किरणें करीब करीब नहीं के बराबर होती हैं। यही कारण है कि जुगुनू द्वारा हमें बिना गर्मी का शीतल प्रकाश प्राप्त होता है।

अभी तक 'ल्यूसिफेरिन' बनावटी तरीकों से प्रयोगशालाओं में नहीं बन सका है। यदि कभी वैज्ञानिकों का इस दिशा में प्रयास सफल हुआ तो यह मानवता को एक अभूतपूर्व देन होगी। क्योंकि इस तरह संश्लेषित 'ल्यूसिफेरिन' से प्राप्त प्रकाश अन्य कुशल से कुशल प्रचलित प्रकाश से कई गुना कुशल होने के साथ ही साथ शीतल भी होगा।

मेक्सिको देश में एक जुगुनू पाया जाता है जिसका प्रकाश इतना तेज होता है कि इससे छोटे-छोटे अक्षर भी पढ़े जा सकते हैं। दक्षिणी समुद्र के द्वीपों की लड़कियाँ रात को नृत्य करते समय अपनी शोभा को बढ़ाने के लिये बालों में जुगनू को आभूषणों की तरह पहनती हैं।

पुराने समय में रात में मछली मारने के लिए भी जुगनू का उपयोग प्रकाश के लिये किया जाता था। गौरैया अपने घोसलों पर गीली मिट्टी लगा कर उसके सहारे उस पर जुगनू को चिपका देती है जिससे उसके घोंसले रात को प्रकाशित रह सकें।

मैक्सिको देश में लगभग दो इंच लम्बा जुगनू पाया जाता है जिसे वहां के निवासी रात में सफर करते समय लालटेन की तरह साथ लेकर चला करते थे। कुछ लोग फोटोग्राफी में कृत्रिम प्रकाश प्राप्त करने के लिये भी जुगनू का उपयोग करते हैं।

द्रुस्फोट

द्रुस्फोट मुख्यतः पौधों की विशिष्टता होती है। मोटे तौर पर पौधे पर किसी भी प्रकार की असाधारण वृद्धि को द्रुस्फोट या गॉल कहते हैं। इस प्रकार की असाधारण वृद्धि के कारण प्रायः नन्हें नन्हें कीड़े हुआ करते हैं।

द्रुस्फोट बनाने वाले कीड़े, पौधे के लगभग सभी भागों में गॉल बना सकते हैं। एक प्रकार के गॉल बनाने वाले कीड़े, भिन्न-भिन्न पौधों पर एक ही तरह का गॉल बनाते हैं। पौधों के लगभग आधे के अधिक कुलों के पौधों पर गॉल बनाते हैं।

गॉल बनाने वाला कीड़ा पालक पौधे पर या उसकी ऊतियों में अंडे दे देता है जिनसे बच्चे निकल कर पौधे के उस भाग में पहुंच जाते हैं जो वृद्धि के योग्य होता है।

साधारणतः अंडे से बच्चे निकलने के पहले पौधे में कोई परिर्वतन नहीं होता। पर उससे बच्चे निकलने पर कीड़े की वृद्धि के साथ-साथ गॉल भी बढ़ता जाता है।

गॉल बनने के कारण का पूरा-पूरा पता नहीं। पर ऐसा अनुमान किया जाता है कि गॉल बनाने का प्रोत्साहन जातक (लार्वो) के मुंह से निकलने वाले एक प्रकार के रस से मिलता है। इस कार्य का मादा के अंडे देते समय यांत्रिक या रसायनिक उद्दीपन से कोई संबंध नहीं है।

प्रचीन काल में भी लोग द्रुस्फोट से परिचित थे। परन्तु उन्हें इस बात का ज्ञान नहीं था कि उन्हें जीवित जीव बनाते हैं। पुराने समय में लिवि ने उनकी प्रकृति और तेजी से बढ़ने की चाल, मैल्पिगी ने उनके बनने के ढंग, और थियोफ्रेस्टस ने उनके दवाओं में काम आने वाले गुणों की चर्चा की है। द्रुस्फोट में मक्खी के जातक (लार्वा-ग्रब) का होना अकाल और स्वयं मक्खी का होना युद्ध का सूचक माना जाता है।

द्रुस्फोट खुले और बन्द दो प्रकार के होते हैं। इनसे अनेकों काम के पदार्थ प्राप्त होते हैं जिनमें टैनिक अम्ल (एसिड) मुख्य हैं। टैनिक अम्ल से निकोटीन टैनेट नामक कीट-नाशक दवा तैयार की जाती है। टैनिक अम्ल चमड़े को सिझाने के काम

भी आती है। कहीं-कहीं पर द्रुस्फोटों से निकलने वाले रंग भी काम में लाये जाते है।

द्रुस्फोट अनेकों अच्छी स्थायी स्याहियों को तैयार करने में काम आता है। कहीं-कहीं पर सरकारी रेकार्डों को स्थायी रखने के लिये नियम के तौर पर गॉल द्वारा बनी स्याही का ही उपयोग होता है।

अठारहवीं शताब्दी में फ्रांस देश में द्रुस्फोट कई प्रकार के ज्वरों में दवा के रूप में उपयोग किए जाते थे। परन्तु आजकल विज्ञान के विकास के इस युग में अनेक नई-नई दवाओं के ईजाद हो जाने से द्रुस्फोटों का दवा संबंधी महत्व बहुत घट गया है।

कभी-कभी और कहीं-कहीं गॉल खाने के काम भी आता है। एक प्रकार का गाल फ्रांस में भी खाया जाता है।

खाने योग्य कीड़े

यद्यपि कीड़ों को भोजन के रूप में उपयोग करने का प्रचलन कम है, फिर भी कुछ कीड़े ऐसे हैं जो कुछ देशों में खाये जाते हैं। इन कीड़ों में मुख्यतः टिड्डियों, टिड्डे, (ग्रास होपर्स) और तिलचट्टा आदि मुख्य हैं। टिड्डियाँ और टिड्डों को खाने का प्रचलन और कीड़ों की अपेक्षा अधिक है, विशेष कर टिड्डियों को खाने का प्रचलन तो दिनों दिन बढ़ता जा रहा है। इन्हें खाना, फस्लों को इनके हानिकर प्रभावों से बचाने का एक सफल साधन समझा जाने लगा है।

ग्रीस देश के निवासी टिड्डियों को सुखा कर उन्हें खल में कूटते और उसका आटा बनाते हैं। कहीं-कहीं पर तिलचट्टा और झिंगुर बहुत स्वादिष्ट समझे जाते हैं। दीमक, विशेषकर उनकी रानी उष्ण कटिबन्ध के निवासियों का प्यारा भोजन है।

कहीं-कहीं पर कीड़ों के अंडे को चिकनाई में तल कर बड़े चाव से खाते हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार की लकड़ियों में छेद करने वाले कीड़ों, मधुमक्खी और बर्रे आदि के मोटे तगड़े जातक (ग्रब्स) विशेष रूप से पसन्द किए जाते हैं।

अमेरिका के रेड इंडियन कीड़ों की बड़ी सूंड़ियों को सुखा कर रख लेते हैं और बाद में उन्हें खाने के काम में लाते हैं।

कीड़ों के खून में नमक की मात्रा औरों के खून से अधिक होती है इसलिये कुछ लोग उन्हें बड़े चाव से खाते हैं। इसके अलावा ऐसी जगहों में जहां पर नमक की कमी हो कीड़े कुछ हद तक इस कमी को पूरी कर सकते हैं। काक्निियन बग नामक खटमल के समूह के कीड़े को केकों को रंगने के लिये काम में लाते हैं।

इनके अलावा मछली, मेढ़क, छछूँदर, चींटी खाने वालों आदि स्तनिन (मैमल) तथा अन्य जानवरों के आहार हैं और सीधे तौर पर न सही और तरह ही सही मनुष्य को लाभ पहुँचाते हैं।

दवा के कीड़े

ऐसे कितने ही कीड़े हैं जो तरह-तरह से दवा के काम में आते हैं। कुछ कीड़े स्वयं कुछ का रस या चूर्ण और कुछ के बनाये पदार्थ दवा के काम में आते हैं। 'माइलेब्रिस' नामक फूलों को खाने वाला ग्रुबरैला, जिसके काटने से त्वचा में फफोले पड़ जाते हैं सुखा कर उससे बाजार में बिकने वाली कैंथ्रडीन-नामक दवा तैयार होती हैं जो भूमिजनन संहति (यूरिनोजे नाइटल सिस्टम) के भीतरी रोगों को अच्छा करने के काम आती है।

कैन्थ्रिडीन बालों को धोने की दवाओं में भी पड़ता है। परन्तु इससे बालों को थोड़ी हानि भी पहुँचाती है। एपिस नामक दवा मधुमक्खी का एल्कोहल द्वारा निकाला हुआ रस होता है जो डिप्थीरिया, स्कार्लेट ज्वर, तथा ड्राप्सी जैसे कठिन रोगों को अच्छा करने के काम आता है। घावों में विद्यमान जीवाणुओं तथा सड़ी गली ऊतियों को साफ करने के लिए वोल्फशिया नामक मक्खी के जातक (मेगट) काम में आते हैं।

अभी हाल ही में यूरिया से एक दवा तैयार की गयी है जो अब इन जातकों के स्थान पर उपयोग की जाने लगी है एसेप्टिक नामक मक्खी के जातक बहुत समय से चीड़-फाड़ में उपयोग किये जाते रहे हैं।

सूर्यग्रहण

खगोल संबंधी जितनी भी प्राकृतिक प्रक्रियाएं होती हैं,उनमे पूर्ण सूर्यग्रहण का दृश्य सबसे आकर्षक होता है। विज्ञानवेत्ता और साधारण आदमी सभी के लिए सूर्यग्रहण का दृश्य अत्यन्त आश्चर्यजनक होता है।

पुरातन काल से यह माना जाता रहा है कि सूर्यभगवान की पृथ्वी के प्राणियों के प्राणशक्ति के दाता हैं। प्राचीन साहित्य में अनेक स्थनों पर सूर्य-ग्रहण का उल्लेख मिलता है।

एक विज्ञानवेत्ता के लिए सूर्यग्रहण, सृष्टि के बारे में अधिक जानकारी प्राप्त करने का अवसर प्रदान करता है। इसी समय अनेक विज्ञान के सिद्धान्तों को कसौटी पर कसा जा सकता है। उदाहरण के लिए सन् १६१६ की २६ मई के सूर्यग्रहण ने आइंसटीन के वैज्ञानिक सिद्धान्त को कसौ:ी पर कसने का अवसर प्रदान किया था।

सूर्यग्रहण का कारण

सूर्यग्रहण क्यों होता है ? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। होता यह है कि चन्द्रमा जब सूर्य तथा पृथ्वी के बीच में ऐसा आ जाता है कि उसकी छाया पृथ्वी को अंधकार से आच्छादित कर देती है, तो यह सूर्य-ग्रहण जाता है। इन छाया के भी दो भाग होते हैं, जिन्हें विज्ञान की भाषा में 'अम्बरा' और पेनम्बरा' कहते हैं।

इसके अलावा सूर्यग्रहण का पूर्णग्रास होगा अथवा खंडग्रास, इसके भी अनेक कारण हो सकते हैं। सूर्यग्रहण का पूर्णग्रास होता है, जब चन्द्रमा पृथ्वी के इतनी दूरी पर रहता है कि चन्द्रमा आकाश में सूर्य से आकाश का दृष्टिगोचर होता है।

पृथ्वी से चन्द्रमा की दूरी बराबर बदलती रहती है। कभी यह २,२२,००० मील से कम रहती है तो कभी २,५३,००० मील के लगभग। जब कभी चन्द्रमा पृथ्वी से कम से कम दूरी पर रहती है, तो हमें वह सबसे बड़ा दीखता है।

छाया की गति तथा सूर्यग्रहण की अवधि

यदि पृथ्वी चक्कर न लगाती, तो चन्द्रमा की छाया औसतन २,१०० मील प्रति घंटे के हिसाब से चलती। परन्तु जिस दिशा में छाया चलती है, उसी पूर्व दिशा मे पृथ्वी भा चक्कर लगाती है तथा विषुवत रेखा पर पृथ्वी की चाल १०,४० मील प्रति घन्टे होती है। यदि विषुवत रेखा के पास से सूर्यग्रहण का अध्ययन किया जाय, तो सबसे अधिक सुविधाजनक स्थितियों में यानी जब चन्द्रमा पृथ्वी से कम से कम दूरी पर हो और सूर्य से अधिक दूरी पर तो सूर्यग्रहण की कुल अवधि अधिक से अधिक ७॥ मिनट हो सकती है। ऐसा सूर्यग्रहण भारत में सन् २१६८ ई० में दृष्टिगोचर होगा, जब सूर्यग्रहण की अवधि ७॥ मिनट होगी।

सूर्यग्रहण के चार चरण होते हैं। प्रथम जब चन्द्रमा सूर्य के चक्र का स्पर्श करता है। दूसरा जब पूर्णग्रास अथवा खंडग्रास होता है. तीसरा जब ग्रहण शनैःशनैः कम होता है और चौथा जब चन्द्रमा सूर्य के चक्र से दूर हो जाता है। प्रथम चरण से अंतिम चरण तक ४ घंटे से अधिक का समय भी लग सकता है।

ग्रहणों की संख्या

सूर्यग्रहणों की संख्या चन्द्रग्रहणों से अधिक होती है। प्रायः अनुपात ३:२ का रहता है। वास्तव

में सूर्य का पूर्णग्रास एक नियत स्थान पर ३६० वर्ष में एक बार होता है। औसतन सौ वर्ष मे २३८ बार सूर्यग्रहण होता है।

ग्रहण के समय सूर्य को कभी, बिना गहरा चश्मा लगाये, नहीं देखना चाहिये। खुली आँख से सूर्य-सूर्यग्रहण देखने से आंखों को बहुत नुकसान पहुँच सकता है। इसी प्रकार दूरबीन से देखना भी अत्यन्त हानिकर होता है।

सूर्य के पूर्णग्रास के १० मिनट पहले से ही अंधेरा होने लगता है। उस समय प्रकाश, क्योंकि बाहरी घेरे से ही आ पाता है, एक विचित्र तरह का होता है। उस समय पशु घबरा जाते हैं। पक्षी नीड़ों को भागते हैं। तापमान घट जाता है और कुछ ही क्षणों में चन्द्र की छाया क्षितिज में भयानक तूफान की भाँति बढ़ती दिखाई पड़ती है। पूर्णग्रास होनेपर, कुछ समय बाद फिर सूर्य अपनी देदीप्यमान आभा से प्रकट होता है।

अनेक देशों से सूर्य के पूर्णग्रास के अध्ययन के लिए अनेक दल भेजे जाते हैं। यह कार्य काफी व्ययसाध्य होता है। सूर्य ही एक ऐसा तारा है, जिसके वातावरण का अध्ययन बारीकी से किया जा सकता है। सूर्य वस्तुतः गरम गैस का एक गेंद है।

ग्रहण का अध्ययन करने के लिए जाने वाले दल बड़ी तैयारी करके जाते हैं। उनके सामने गणित संबंधी, मौसम की जांच, उपयुक्त स्थान की तलाश आदि अनेक समस्याएं होती हैं। १० से लेकर २० टन तक सामान ले जाना पड़ता है। इतनी सावधानी और कठिनाइयों के बाद ही विज्ञान-वेताओं को कुछ क्षणों के लिए अध्ययन का अवसर मिल पाता है।

[ऊपरी वायु मंडल—पृष्ठ १४७ का शेषांश]

तापक्रम में वृद्धि पाई जाती है यहाँ तक कि इस भाग के ऊपरी हिस्से में १४० मी० की उँचाई तक तापक्रम १७०° फ. हो जाता है।

२५-४० मील का भाग शून्य स्थान है। इसके बाद ऊपरी वायुमंडल में गैसों के परमाणु विद्युत-युक्त होते हैं इसी कारण आगे के ऊपरी भाग 'Ionophere' (विद्युत् मुक्त भाग कहलाते हैं। ये विद्युत् युक्त गैसीय अणु सूर्य विकीरण कि पृथ्वी से पुनरावर्तित दीर्घतरङ्गों को जिनमें रेडियो तरंगे (Radio waves) होती है पृथ्वी पर वापस लौटाते हैं। काश ये 'ions' नहीं होती तो Radio Waves अनंत में पहुँच जाती और रेडियो का एक स्थान से दूसरे स्थान को संवाद प्रसारण असंभव हो जाता।

इस भाग के भी तीन उप विभाग हैं जो D,E,F Zones द, इ, फ विभाग कहलाते हैं।

'द विभाग'—यह ४० से ६० मील तक पाया जाता है और रेडियो की दीर्घ तरङ्गों को (१५०८-२००० मीटर) वापस फेंकता है। इस भाग के ५० मील की दूरी तक तापक्रम कम होता हुआ—८०° फ० तक आ जाता है परन्तु फिर बढ़ता हुआ ६० मी. की ऊँचाई पर २१२° फ. हो जाता है।

'इ विभाग'—यह Kannely heavisied के नाम से भी माना जाता है। ६० मील से लेकर ६० मी. तक इसकी ऊँचाई है। रेडियो की माध्यमिक (६००-६०० मीटर) को पुनरावर्तित करता है। इसमें और आगे के विभागों में तापक्रम क्रमशः कम कम होता जाता है। ६० से लेकर १०० मील तक एक १० मील की 'शून्य पट्टी' जाती है।

'फ विभाग'—यह Apatton Layer के नाम से भी पुकारा जाता है। इसके F_1, F_2, उप विभाग हैं। $फ_1$ की ऊँचाई १०० से १५० व $फ_2$ की ऊँचाई १५० से २५० मील की है। यह भाग रेडियो की लघु तरंगों को पुनरावर्तित करता है।

अधिक आगे का अध्ययन 'ऋतुविज्ञान' का व्यवहारिक सम्बन्ध तो केवल ताप-तह (Troposphere) तक ही है।

ऊपरी वायुमंडल

(श्री० सागरमल बीजावत एम० ए० जैन गुरुकुल, छोटी सादड़ी)

प्रकृति के अनन्त भंडार में आज भी न जाने कितने गोपनीय रहस्य छिपे पड़े हैं। ब्रह्मांड तौलने वाले वैज्ञानिक भी इस चुनौती का उत्तर देने में असमर्थ रहे। यह नीला आकाश जिसमें प्रभात का अरुणोदय, मध्यान्ह का तपता हुआ सूर्य और रात का चाँद तारों का सभा मंडप, सदैव से मनुष्य के लिये आकर्षण और प्रश्न बनकर रहा है जैन धर्म में अपने षटद्रव्य निरूपण में आकाश को अनन्त बताया है और जिसकी परिभाषा देते हुए "आकाश-स्यावगाहः" कहा गया है। आज का वैज्ञानिक भी इस परिभाषा से सहमत है, और शून्य (Space) कह कर वह इस समस्या से पिंड छुड़ाना चाहता है।

अन्य ग्रह नक्षत्रों की भाँति पृथ्वी भी इसी 'आकाश' में आकर्षण शक्ति के बल पर अवस्थित है, और सामान्य परिभाषा के अनुसार उसका आकाश (जहाँ तक उसकी आकर्षण शक्ति और वायुमंडल पाया जाता है) हजारों मील का है। पृथ्वी का यह आकाश कुछ गैसों से परिपूरित है जिसे वायुमंडल कहते है। इस बायुमंडल का उसका ज्ञान अत्यन्त ही सीमित है। वह स्वयं लगभग २६००० फ़ीट से अधिक ऊँचा न जा सका।, ध्वनित गुब्बारों (Sounding Baloons) के द्वारा भी उसकी पहुँच केवल ३६ कि० मी० तक हो पाई। उषाकाल व सूर्यास्त के अरुणमंडल (Twilight) के आधार पर उसने ४० मी० ऊँचाई तक वायुमंडल माना है। टूटते हुए तारे वायुमंडल के घर्षण से चमकते हैं और यह चमक २०० मील ऊँचाई तक से पाई जाती है अतः वायुमंडल की उँचाई २०० मील होना चाहिये। अर्थात् अधिक से अधिक २०० मील की उँचाई तक हमारा यह वायुमंडल है, इसके परे शून्य आकाश है। कहते हैं उस शून्य आकाश में भी ईथर नामक गैस पाई जाती है।

अपने इस वायुमंडल की एक बात हम अवश्य जानते हैं कि क्रमवर्ती ऊपरी गैसें अधिकाधिक हल्की हैं और वायुमंडल विरलतर होता जाता है। 'लेक' के अनुसार परिणाम में आधा-वायुमंडल ३½ मील तक की ऊँचाई में आता जाता है, इससे ऊपर के वायु-मंडल में इसका आधा अर्थात् ७ मील तक ¾ उससे ऊपर फिर इसका आधा अर्थात् क्रम २ से ३½ मील के वायु-पटल में पूर्व का आधा २ वायुमंडल आ जाता है। इस हिसाब से वायुमंडल कितनी भी ऊँचाई पर समाप्त नहीं होगा। अत्यन्त ऊँचाई पर अतिसूक्ष्मांश में ही सही कुछ न कुछ पाया अवश्य जायगा। फिर भी इतना निश्चित है कि परिणाम से ९७% वायुमंडल १८ मील तक की ऊँचाई में आ जाता है और इससे ऊपर विरल होता-होता शून्य मय बन जाता है।

ऊपरी वायुमंडल क्रमशः विरलतर (Thinner) है उसी प्रकार से ऊँचाई के साथ तापक्रम से भी न्यूनता आती जाती है। तापक्रम की यह न्यूनता (Lapse rate) लेप्स रेट कहलाती है। ध्वनित गुब्बारे जब अधिक ऊँचाई पर भेजे गये तो पता चला कि कुछ अधिक ऊँचाई पर (Lapse rate) ही नहीं पाई जाती, अपितु वहाँ तो इससे विलोमदशा है। ऊँचाई के साथ-साथ वहाँ तापक्रम में वृद्धि पाई जाती है जो कि अस्वाभाविक सी लगती है। आखिर इस परिवर्तन के कारण क्या? इसी प्रश्न की खोज

करते २ ऋतु-वैज्ञानिकों को कुछ और भी आश्चर्यजनक निरीक्षण मिले जिसके आधार पर उन्होंने वायुमंडल को भिन्न-भिन्न तहों में विभाजित किया है।

ऊपरी वायुमंडल के विभिन्न भाग

वायुमंडल की सबसे नीची तह 'ताप तह' (Thermal Layer) या Troposphere कहलाती है। इस भाग में ऊँचाई के साथ वायुमंडल में तापक्रम की न्यूनता पाई जाती है। इससे तापक्रम के अन्तर के कारण वायु की सवाहनिक धारायें चलती रहती हैं अर्थात् हवाएँ पाई जाती हैं 'तापविश्रामसतह' (Tropopause) कहलाती है क्योंकि इसके ऊपर वायुमंडल में किसी प्रकार की Lapse Rate नहीं पाई जाती है। हमारे इस Tropopause की ऊँचाई ध्रुवों पर ५ मील और भूमध्यरेखा पर १०½ मील है अर्थात् हमारी पृथ्वी पर यह ताप तह एक तंबू की तरह है जिसकी सामान्यतया बीच की ऊँचाई १०½ मील व सिरों पर केवल ५ मील ही पाई जाती है। कभी-कभी इस भाग की ऊँचाई में ऋतु और वायु के दबाव के परिवर्तन के अनुसार अन्तर पड़ता रहता है। यदि धरातल पर दबाव अधिक हो तो इसकी ऊँचाई अधिक होगी, दबाव के कम होने पर ऊँचाई भी कम। इसी प्रकार ऋतु परिवर्तन के अनुसार किसी विशेष स्थान पर इसकी ऊँचाई घट बढ़ सकती है। एक बात अवश्य है कि इस भाग में 'Lapse rate' सर्वत्र समान और ३८०' फीट पर १° और फारनहाइट के अनुसार है। यही कारण है कि Tropopause या इस ऊपरी छत्त पर ध्रुवों की सीध में (५ मील की ऊँचाई पर) इस Lapse rate के अनुसार तापक्रम –४०° से लेकर –६०°F. तक पाया जाता है तथा भूमध्यरेखा की सीध में (१०½ मी० ऊँचाई होने से) –११०° हो जाता है। अर्थात् पृथ्वी के सतह पर भूमध्यरेखा पर तापक्रम अधिक और ध्रुवों पर कम और Tropopause में ध्रुवों पर अधिक (–४०, से –५०) और भूमध्य रेखा पर कम (-११०° तक।

इसके ऊपर का भाग 'समताप तह' (Isothermal या Stratosphere है। इस भाग में कोई Lapse rate नहीं पाई जाती है अतः सर्वत्र तापक्रम में अन्तर न होने के कारण यहाँ हवाएँ भी नहीं चलती हैं। वायुमंडल स्थिर व शांत है। कल्पना की जा सकती है कि दबाव के कम ज्यादा न होने के कारण इस भाग में वायुयान की उड़ान अच्छी हो सकती है। संभवतया प्रयत्न करने पर मनुष्य स्वयं भी इसमें उड़ सके। यह भाग केवल १५ मी० की ऊँचाई तक ही है।

इसके ऊपर १५ से २५ मी. तक की ऊँचाई के बीच का भाग ओझनतह (Ozon Layer or sea layer) कहलाता है इस भाग में 'Ozon' नामक गैस पाई जाती है, वैसे नीचे के वायुमंडल में भी इसका अंश होता है परन्तु बहुत ही कम। वायुमंडल की सम्पूर्ण ओझन इकट्ठी की जाय तो उस तह की ऊँचाई हमारी सतह का १ मिली मीटर भाग भी नहीं बन पायगी। इस ओझन में ही प्रकृति की अद्भुत ढींग आपको देखने को मिली है। ओझन में सूर्य किरणों द्वारा प्रसारित Ultra Violet किरणों के शोषण की आश्चर्यजनक विशेषता पाई जाती है। एक सुनिश्चित परिणाम में ये किरणें जीवन के लिये आवश्यक हैं। इनके अधिक परिणाम में होने पर नेत्र और चमड़ी जल जाती है। स्वास्थ्य के लिये इनकी अधिकता में हानिप्रद तो है ही, परन्तु साथ ही इनकी अधिकता 'Protoplasm' की उत्पत्ति भी रोक देगी इस प्रकार प्राणोत्पत्ति नष्ट हो जाने पर संसार में जीवत्व का अभाव होकर केवल 'जड़त्व' मात्र ही रह जायगा। यह Ozon layer प्रकृति के इस संतुलन को बनाये रखता है ओझन की मात्रा इतनी ही है कि Ultra-Violet rays (Short-wave radiation) शोषित होकर केवल उतनी ही मात्रा में पृथ्वी पर पहुँचती है, जितनी जीवत्व के लिये आवश्यक है। Ozon विरल और विघटित अवस्था में पाई जाती है।

समताप तह या Stratosphere में तापक्रम सर्वत्र समान या कहीं कहीं Lapse rate का विलोम अर्थात् ऊँचाई की वृद्धि के साथ तापक्रम में वृद्धि पाई जाती है। Ozon layer में ऊँचाई के साथ

[शेष पृष्ठ १४५ पर]

अरबी व रोमन अंकों की उत्पत्ति

[अध्यापक दयालसिंह कोठारी B. Sc., B. Ed- उदयपुर]

आधुनिक सांख्यिक पद्धति को पूर्ण व सशक्त करने का श्रेय भारत को है। लाप्लास के शब्दों में "यह देश भारतवर्ष है जिसने संसार को दस संकेतों से किसी संख्या को प्रकाट करना सिखलाया है। इस कार्य की महत्ता केवल इसीसे समझी जा सकती है यदि संसार यह स्मरण रखे कि आर्के-मिडीज व अपोलोनियस सी दो महान प्रतिमाएँ तक इसकी कल्पना न कर सकीं।" भारत में ईसा की पाँचवी व छठी शताब्दी में संख्याएँ आधुनिक सांख्यिक पद्धति के द्वारा प्रकट की गई है। संसार में अन्यत्र कहीं भी इससे पूर्व नवीन पद्धति का प्रयोग नहीं हुआ है।

भारत के इस महान आविष्कार का लाभ सर्व प्रथम इसके पड़ोसी देश अरब ने उठाया जहाँ से यह अन्यत्र प्रचारित हुआ। यही कारण है कि इसे भूल से अरबी पद्धति कहा गया है। आठवीं शताब्दी में खलीफा अल मंसूर के राज्यकाल में भारतीय ज्योतिषी बगदाद में आमन्त्रित किए गए जिन्होंने अरबी लेखकों को भारतीय सिद्धान्तों को अरबी में अनुवादित करने में सहायता दी। सम्भवतः इसी काल में अरबों ने भारतीय अंक पद्धति को अपनाया हो। यह सोचनीय है कि जहाँ अरबी लिपि दांई ओर से बांई ओर लिखी जाती है वहाँ अरबी अंक भारतीय विधि की तरह बांई ओर से दांई ओर लिखी जाती है। अरबी में अंकों को हिन्दसा कहा जाता है जो अरबी संकेतों को भारतीय प्रमाणित करता है। इस लेख में मैं यह प्रमाणित करने का प्रयत्न करूँगा कि अरबी व रोमन अंक न केवल भारतीय सिद्धान्त (सिद्धान्त) पर आधारित है वरन् आकार में भी पूर्णतः भारतीय है।

अरबी अंको की उत्पत्ति

अंकानुक्रम	क	ख	आधुनिक अरबी
१	।		١
२	2	२ ٢ ٢ ٢	٢
३	3	३ ٣ ٣	٣
४	V	V V	٤
५	ɲ	ω	٥
६	५	५	٦
७	7	7	٧
८	Γ∠	∧	٨
९	ʔ	٩ ٩	٩
०	०		٠

ऊपर दिए हुए उत्पत्ति चित्र को ध्यान से देखने पर ज्ञात होगा कि अरबी व भारतीय अंको में कितना साम्य है। अरबी एक मोहेनजोदड़ो (लगभग ३०० ई०पू०) में एक के लिए प्रयुक्त एक खड़ी रेखा ही है (१ क)। आधुनिक नागरी दो व तीन जहाँ ईसा की छठी शताब्दी के पूर्वार्द्ध के शिलालेखों में मिलते हैं वहाँ जैन मैनुस्क्रप्ट में वही इससे काफी पूर्व पाए गए हैं। अरबी दो व तीन आधुनिक नागरी दो व तीन को घड़ी के कांटों के चलने की दिशा में एक समकोण घुमा देने से बने हैं (२ क, २ ख; ३ क, ३ ख)। अरबी चार, भारतीय

चार है, अन्तर केवल इतना ही है कि भारतीय चार की गाँठ को लुप्त करके (४ क) एक टाँग को लम्बी कर नीचे झुका दिया है (४ ख)। ७५३ ई० के दाँती दुर्ग पत्र के (५ क) व भोज देव शिल्लपट के (५ख) पाँच के संकेत अरबी पाँच के मूल हैं। २०० ई० पू० के नाना घाट गुफा में उत्कीर्ण (६ क) व दांतीदुर्ग पत्र में प्रयुक्त (६ ख) से अरबी ६ पूर्णतः मिलते हैं। २०० ई० पूर्व से लेकर ईसा की १०वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक सात के जो संकेत रहे हैं ७ क) व ७ (ख) में बतलाए गए हैं। अरब में जाकर यही भारतीय सात शीर्षासन करने लग गया है (७ग) अरबी आठ भारतीय आठ को घड़ी के काँटों के चलने की दिशा में एक समकोण घुमा देने से बन जाता है ८ क, ८ ख। अरबी नौ के लिए वही संकेत है जो भारत में नौ के लिए एक हजार वर्ष तक प्रयुक्त किया गया है। हाँ इतना अवश्य है कि जहाँ भारतीय नौ सुन्दर व कलापूर्ण है वहाँ अरबी नौ सीधा व रूखा प्रतीत होता है। २०० ई० पू० नाना घाट गुफा व १०० ई० की नासिक गुफा में उत्कीर्ण नौ का संकेत (९क) में दिखाया गया है। ईसा की पाँचवीं शताब्दी का भारतीय नौ (९ ख) हमारे यहाँ ग्यारहवीं शताब्दी तक प्रयुक्त होता रहा है। और शून्य का महान आविष्कारक तो भारत है ही। भारत की शस्य श्यामला हरित भूमि में पलित शून्य का उन्नतोदर अरब की मरु भूमि में पिचक कर विन्दु मात्र रह गया है।

रोमन अंकों की उत्पत्ति

आधुनिक अंक पद्धति का युरोप में सर्वप्रथम प्रयोग स्पेन में प्राप्त ११३४ ई० की मुद्रा में मिलता है। ब्रिटेन में १४९० ई० से पूर्व नवीन पद्धति का प्रयोग कहीं नहीं मिलता है। यद्यपि जन साधारण में इसका प्रचार बहुत बाद में उन्नीसवी शताब्दी में हुआ यहाँ तक कि १८२६ ई० तक जार्ज तृतीय के शासन काल में राज्य कोष का लेखा लकड़ियों के द्वारा रखा जाता था।

भारतीय अंक प्रणाली का प्रवेश सर्व प्रथम अरब में हुआ। वहाँ से वह युरोप में प्रचारित हुई। यही कारण है कि इसे भूल से युरोपीय लेखकों ने अरबी पद्धति कहा है। अरबी अंकों की तरह रोमन अंक भी पूर्णतः भारतीय हैं यह निम्नलिखित विवरण व उत्पति चित्र से स्पष्ट है।

अरबी एक की तरह रोमन एक भी मोहनजोदड़ो में प्रयुक्त एक (१क) ही है। ए० एन ह्वाइटहेड (A. N. whitehead) अंग्रेजी दो व तीन की

अंकानुक्रम	क	ख	ग	अंग्रेजी
१	ǀ			1
२ अ	=	=		2
आ	=	२ २ २ २	2	”
३ अ	≡	≡		3
आ	≡	३ ३ ३	3	”
४	+ +	4	4	4
५	5 5	5	5	5
६	6	6 6	6	6
७	7	7		7
८	8	8	8	8
९	? ९	९		9
०				0

उत्पति क्षेत्र तीन रेखाओं को अन्यों से मिलने पर बनी हुई मानते हैं जो [२ अ, ३ अ] यद्यपि युक्ति पूर्ण है परन्तु वास्तविकता से परे हैं। भारत में दो व तीन रेखाओं को अन्य रेखाओं से मिलाने से नहीं वरन स्वयं झुकने से बने हैं [२ आ, ३ आ] लेखन सुविधा की दृष्टि से अंग्रेजी अंकों ने या

तो अपनी पूँछ सिमेट ली है या पूँछ विहीन हो गए हैं। यही हाल अंग्रेजी दो व तीन का हुआ। रेखा पर ठीक बैठने की दृष्टि से दो ने अपनी टांग चिपका ली है व तीन पूंछ विहीन हो गया है। भारत में भी बाबर मैनुस्क्रप्ट में मराठी भाषा में दो का रूप व गुजराती, मराठी, तेलगु आदि भाषाओं में तीन का रूप अंग्रेजी अंकों सा ही है। अशोक शिलालेख में चोकड़ी या चोराह का संकेत चार को प्रकट कहता है [४ क]। अंग्रेजी चार या तो रेखा संख्या चार को ४ ख में बतलाए ढंग से रखने पर या उक्त संकेत को अन्य रेखा से मिलाने पर बना है [४ ग]। कुषाण शिलालेख में पाँच का रूप आधुनिक पाँच का बिलकुल उलटा रूप है (५ क) व पाँच रेखाओं से बना है ५ ख] अंग्रेजी पाँच की पाँचवी रेखा को रेखा संख्या चार के साथ लगा देने से बन जाता है (५ ग) ब्राह्मी लिपि के इसी पाँच में या अंग्रेजी पाँच में एक रेखा और मिलाने से अंग्रेजी ६ बन जाता है [६ ख] अशोक-कालीन शिला लेख में ६ का रूप वही है जो अंग्रेजी ६ का है [६ ग]। अंग्रेजी सात का रूप वही है जो १००ई० पू० के कुषाण शिलालेख से लेकर ईसा की आठवीं शताब्दी तक के शिलालेखों में सात का रहा है [७ क ७ ख]। आठ के बारे में कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता है। सम्भवतः वह दो चार के संकेतों को मिलाने से बना हो। बंगाली चार का रूप अंग्रेजी आठ सा है। अंग्रेजी नौ १०० ई० पू० के नाना घाट शिलालेख से ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक के शिलालेख में उत्कीर्ण नौ ही है [६ क, ६ख]। शून्य का आविष्कारक तो भारत है ही। अंग्रेजी अंक प्रणाली में वह ज्यों का त्यों विद्यमान है। इस प्रकार निर्विवाद सिद्ध है कि अरबी व रोमन अंक न केवल भारतीय पद्धति के सिद्धान्त पर आधारित ही हैं वरन् आकार में भी वे पूर्णतः भारतीय हैं।

[बेतार का तार—पृष्ठ १५२ का शेषांश]

ध्यान गया। पहले तो १८९५ में इसने बेतार के तार के प्रयोग अपनी प्रयोग शाला में किये (कुछ गज की दूरी तक)। पर बाद में अपने बाग में किए। इस मारकोनी ने ही लम्बे खड़े तार के आकाशी या एरियल को जन्म दिया। सन् १८९६ में मार्कोनी इंगलैण्ड आया, और इसने एक पेटेण्ट लिया। यहाँ ही इसका परिचय सर बिलियम प्रीस ((Preece से हो गया, जिसने मार्कोनी को बहुत प्रोत्साहित किया। यहाँ मार्कोनी ने पहली बार लंडन के जनरल पोस्ट-आफिस से टेम्स नदी के किनारे के स्टेशन को समाचार भेजने में सफलता प्राप्त की।

बाद के सेलिसबरी मैदान में दो मील की दूरी तक समाचार भेजे गये। १८९६ में बिस्टल चैनल के आरपार ६ मील दूर तक समाचार भेजे जा सके। १८९७ में मार्कोनी ने एलमबे (Alum Bay), आइल आव वाइट (wight), बोर्नेमथ (Bournemouth)—(जो १२ मील दूर थे), और पूल (Poole)—१५ मील दूर समाचार भेजे। २७ मार्च १८९९ का इंगलिश चैनल के आर पार समाचार भेजे जा सके।

बेतार के तार के इतिहास में **१२ दिसम्बर १६०१** का दिन बड़े महत्व का है। इस दिन मार्कोनी ने न्यूफाउन्डलैण्ड (अमरीका के निकट) में बैठ कर यूरोप के दूरस्थ पोल्डु (Poldhu) स्टेशन से भेजे गये समाचार सुने। एटलाण्टिक के आर पार समाचार भेजे जाने की सफलता ने संसार में एक नये पृष्ठ का उद्‌घाटन किया। अगले महीने जनवरी १६०२ में मार्कोनी ने एक ग्राहक यंत्र "फिलाडेल फिया" नामक के जहाज पर लगाया। इस जहाज ने चलते-चलते यात्रा में ही २०९९ मील पर स्थित पोल्डु स्टेशन से समाचार प्राप्त किये। २० वीं शताब्दी के आरंभ में ही बेतार के तार की धूम मचगयी।

हमारे देश में भी कई जगह बेतार के तार से समाचार प्राप्त करने का प्रबन्ध हुआ। प्रयाग के किले में ३५ वर्ष से बड़े-बड़े आकाश चुम्बी खम्भे बेतार के तार के लिए लगे हुए हैं।

बाल-विज्ञान

बेतार का तार

डा० सत्य प्रकाश, प्रयाग विश्वविद्यालय

विद्युत् धारा और चुम्बक के सिद्धांतों ने टेलीग्राफ या तार द्वारा समाचार भेजने की कला को जन्म दिया। ह्वीस्टन (Wheatstone), कुक 'Cooke' और मोर्स (Morse) नामक वैज्ञानिकों ने १९ वीं शताब्दी में ही तार की विद्या को परिपुष्ट किया। तार द्वारा सैकड़ों और हजारों मील दूर समाचार भेजे जाने लगे। देशों के आरपार तक खम्भों पर तार लगा दिये गये। तुमने रेल की पटरियों के किनारे किनारे खम्भों पर लगे हुये ये तार देखे होंगे। यह तार विद्या उन्नीसवीं शताब्दी के अनुसंधानों में बड़े महत्व की मानी गयी है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में वैज्ञानिकों ने कुछ ऐसे प्रयोग आरम्भ किये जिन्होंने २० वीं शताब्दी में बेतार के तार ऐसे चमत्कार को जन्म दिया। आज बेतार के तार के चमत्कार से जो रेडियो बने हैं उनका हाल हम अगले अध्याय में देंगे। बेतार के तार की खोज का इतिहास बड़ा मनोरंजक है। जब लोगों ने तार की विद्या का पता लगा लिया, तो पहले तो उन्होंने जमीन के भीतर से विद्युत् धारा भेजने का उपाय सोचा। यह तो शायद तुम जानते हो कि बिजली की धारा बैटरी से तभी बहती है जब तार द्वारा विद्युत् का चक्कर या सर्किट पूरा हो, कहीं भी अगर तार टूट जायगा, तो धारा नहीं बहेगी। सन् १८३८ में डा० सी० ए० स्टाइनहाइल Steinheil) ने यह दिखाया कि धारा का चक्कर या सर्किट धरती द्वारा भी पूरा हो सकता है। इस प्रकार प्रेषक स्थान और ग्राहक स्थान के बीच में खम्भों पर एक तार लगा दिया जाय और इन खंभों के पास दोनों स्थानों पर ये तार जमीन में गाड़ दिये जायँ, तो बिजली का चक्कर धरती में होकर पूरा हो जायगा। स्टाइनहाइल के इस आविष्कार ने तार विद्या में आधा चक्कर तार से और आधा चक्कर बे तार से (अर्थात् धरती से) पूरा करने की विधि निकाली।

बेतार की कला में प्रीस 'Preece' नामक एक इञ्जीनियर ने बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया। प्रीस से पूर्व सन् १८८० के लगभग बोस्टन के प्रोफेसर ट्राउब्रिज 'Trowbridge' ने एक ऐसी विधि निकाली जिससे समुद्र के जहाज बिना तार के ही आपस में समाचार भेज सकते थे। ट्राउब्रिज की विधि में टेलीग्राम के तारों में इन तारों को बिना छुये ही दूसरे से आवेश (induction) से प्रभाव उत्पन्न किये जा सकते थे। पर आवेश द्वारा इन प्रभावों को इतना प्रबल उत्पन्न करना कि टेलीफोन में आवाज ठीक सुनाई पड़े बड़ा कठिन था। यदि दो जहाज आधी मील की दूरी पर हों, तो एक जहाज से दूसरे तक आवेश में समाचार भेजने के लिये ८०० फुट अर्ध व्यास के १० तारों की कुंडली (Coil) चाहिये।

सन् १८८२ में एक बार समुद्री तार किसी अज्ञात कारण से टूट गया। इस समय प्रीस को यह सूझा कि ट्राउब्रिज के सिद्धान्तों का उपयोग किया जाय, उसने समुद्र में दो स्थानों पर ६ फुट वर्ग के दो ताम्र प्लेट लगाये। इन प्लेटों को ऊपर से तार से संयुक्त किया गया। समुद्र का पानी नीचे का सर्किट पूरा करने में काम आया। इस प्रकार पानी द्वारा सर्किट पूरा करके २८ मील तक समाचार भेजे जा सके।

पर अन्तरिक्ष में होकर समाचार भेजने की विधि अभी नहीं निकल पायी थी। सन् १८८३ में बोस्टन के प्रोफेसर डोलबियर (Dolbear) ने सर्व प्रथम अन्तरिक्ष में होकर बिना तार के समाचार भेजने की एक विधि सोची। सन् १८८२ के २३ मार्च को डोलबियर ने सोसायटी आफ् टेलीग्राफ इञ्जीनियर्स की एक सभा में अपने प्रयोग को प्रदर्शित भी किया। यह पहला अवसर था अब बिना तार के दूर बैठे लोगों ने मनुष्य के शब्द पहली बार सुने। डोलबीयर के यंत्र में तीन चीजें थीं—माइक्रो फोन, बैटरी और इंडक्शन कॉयल (induction coil).

मैक्सवल और हर्ट्ज़ के आविष्कार— डोलबीयर के प्रयोगों ने बेतार के तार की विद्या को प्रोत्साहन नहीं दिया। सन् १८६४ मैक्सवल maxwell नामक वैज्ञानिक ने अपनी गणित विद्या द्वारा यह सिद्ध किया कि विद्युत्-चुम्बकीय धारायें अन्तरिक्ष में बड़े वेग से लहरों के रूप में आगे बढ़ती हैं। बाद को उसने यह बताया कि यह वेग उतना ही है, जितना कि अन्तरिक्ष में प्रकाश का।

मैक्सवेल के बाद सन् १८८८ में एक जर्मन वैज्ञानिक हर्ट्ज (Hertz) ने यह स्पष्ट प्रदर्शित किया कि इँडक्शनकॉयल (induction coil) के ध्रुवों के बीच में से जिनमें होकर चिनगारियाँ निकलती हैं, ऐसी विद्युत् चुम्बकीय धारायें अन्तरिक्ष में चलती हैं, जिन्हें अपने स्रोत से बहुत दूर पर पहचाना जा सकता है। हम यहाँ उन सब विवरणों को नहीं दे सकते, जो इन प्रयोगों को समझने के लिए आवश्यक हैं। हमारे देश में सन् १८९५ में सर जगदीश चन्द्र-बसु ने भी इसी प्रकार के प्रयोग किये थे। ये ७५ फुट की दूरी पर कई दीवारों के आरपार बिना तार के संकेत भेजने में सफल हुये थे। सर जगदीश चन्द्र ने इन प्रयोगों को बिलायत में भी प्रदर्शित किया था। ह्यूस (Hughes) ने १८७९ और १८८६ में लंडन में भी कुछ इसी प्रकार के प्रयोग किये थे, पर वैज्ञानिकों ने उसके प्रयोगों की सत्यता पर विश्वास नहीं किया।

हर्ट्ज ने मैक्सवेल के सिद्धांत पर जब प्रयोग दोहराये, तो संसार का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। हर्ट्ज ने इंडक्शन कॉयल, एक्साइटर (exciter) और रेजोनेटर (resonator) इन तीन से अपना यंत्र बनाया। एक्साइटर से विद्युत् चुम्बकीय धारायें चलीं, और रेजोनेटर ने इन धाराओं को पकड़ लिया। अन्तरिक्ष में इन धाराओं का चलाया जा सकना और दूर इन धाराओं का पकड़ा जा सकना, इन दो बातों पर इस प्रयोग की सफलता निर्भर थी। जैसे ही ये दो बातें संभव हो सकीं, बेतार के तार की विद्या लोगों को पता लग गयी। इन प्रयोगों में अब हम एक्साइटरों को (जो विद्युत्-चुम्बकीय तरंगें पैदा करते हैं) प्रेषक (transmitter) कहेंगे और रेजोनेटरों को (जो विद्युत् चुम्बकीय तरङ्गों को पकड़ते हैं) ग्राहक (receiver) कहेंगे।

हर्ट्ज के प्रयोगों के बाद, बहुत से व्यक्तियों ने तरह-तरह के प्रेषक और ग्राहक यंत्र बनाये। इन यंत्रों की सूक्ष्मता पर ही बेतार के तार की विद्या की सफलता निर्भर थी। बोलोग्ना विश्वविद्यालय के प्रोफेसर रिघी (Righi) ने ऐसे अच्छे प्रेषक यंत्र बनाये जिनसे २.५ सेंटीमीटर तक की लहर लम्बाई की लहरें भेजी जा सकीं। सन् १८९० में ब्रेनली (Branly) ने पेरिस में कोहेरर (डिटेक्टर एक प्रकार का सूक्ष्म ग्राहक यंत्र) बनाया। सन् १८९४ में सर ऑलिवर लॉज ने ब्रेनली के कोहेरर 'Coherer' की बड़ी प्रशंसा की, और इन्हें १५० गज की दूरी पर भी सफल पाया।

मार्कोनी का कार्य—सन् १८९५ में रूस के वैज्ञानिक पोपेफ (Popoff) ने ब्रेनली के कोहेरर के साथ मोर्स के प्रिंटर को भी जोड़ दिया। ये सब प्रयोग वैज्ञानिक प्रयोग शालाओं के भीतर ही अभी सीमित थे। बड़े विस्तार से इनका उपयोग कहीं नहीं हो रहा था। ऐसे ही समय में गुग्लीलमो मार्कोनी (Guglielmo Marconi) का इटली में इस ओर

[शेष पृष्ठ १५० पर]

किसानों का विज्ञान

मवेशियों के छूत के रोग

मवेशियों की हमारे लिए कितनी अधिक कीमत है, इसे किसी भी समझदार आदमी को बताने की जरूरत नहीं। हम तरह-तरह के कामों और जरूरत की चीजों के लिए मवेशियों का ही सहारा लेते हैं। उनकी मदद मिले बिना हमारी दुनियां की इतनी तरक्की ही न हो सकी होती। आज भी, जब कल-पुर्जों का बहुत जोर बढ़ रहा है, मवेशियों की जरूरत बहुत भारी ही है। इसलिए उनके बचाव के उपाय हमें तरह-तरह से सोचने पड़ते हैं। उनकी सब से ज्यादा मौत छूत की बीमारियों से होती है। इस लिए उन बीमारियों की पहचान और उनसे बचने की तरकीब हमें मालूम रहनी चाहिए। तभी हम अपनी तरक्की में कोई भारी रोक नहीं होने दे सकते।

छूत की बीमारियों से मवेशियों के भारी तादाद में मरने से देश का बड़ा नुकसान होता है। शहरों से दूर रहने वाले गरीब लोगों की तो रोजी चलना मुश्किल हो जाता है। भूखों मरने की नौबत आ जाती है। बड़ी तादाद में जानवर पाल कर चलने वाले रोजगार तहस-नहस हो जाते हैं। इस लिए हमें इन रोगों की पूरी तरह रोक-थाम के उपायों से जरूर ज़ानकारी होनी चाहिए। छूत की बीमारी का मवेशियों पर असर होने की कुछ मोटी पहचान यह है कि बहुत से मवेशी एक साथ ही बीमार पड़ने लगते हैं और बीमार मवेशियों में ज्यादा-तर की मौत होने लगती है। दूसरी बात यह देखी जाती है कि तन्दुरुस्त मवेशी भी बीमार मवेशी का किसी तरह साथ होने, एक जगह रहने, एक नाद में चारा खाने, या एक चरागाह में चरने से बीमार पड़ जाता है। इन सब बीमार मवेशियों में बीमारी के निशान एक तरह के ही पाए जाते हैं। ऐसी बीमारियों का उभाड़ किसी खास मौसम में या जब-तब पाया जाता है।

छूत की बीमारियाँ भारी तादाद में मवेशियों की मौत कर बहुत दिनों तक एक अनबुझ पहेली ही बनी थीं। लेकिन विज्ञान की गहरी खोज करने वालों ने उनके असली भेद का बहुत कुछ पता लगा लिया है। उनकी ठीक ठीक पहचान कर रोग के कारण का भी पता लगाया जा सका है। कुछ बीमारियों का कारण कीटाणु (बैक्टीरिया) होते हैं जो जीवदार बहुत नन्हें किनके कहे जा सकते हैं। वे इतने छोटे होते हैं कि हम अपनी नंगी आँखों से नहीं देख सकते। सिर्फ खुर्दबीन या शक्ल बहुत

बड़ा दिखाने वाले शीशे के औजार से ही देख सकते हैं।

कुछ बीमारियाँ ऐसी भी होती हैं जिन में किसी कीटाणु का पता खुर्दबीन यंत्र से भी नहीं चलता था। लेकिन बीमारी जरूर छूत की ही थी। खोज करने वालों ने उन बीमरियों का कुछ कारण न दिखाई पड़ सकने पर भी उनसे बचत के कुछ उपाय निकाले। विज्ञान के नए खोजियों ने ऐसी अजीब बीमारियों की जड़ का भी पता लगा लिया है। बिजली की शक्ति से चलने वाले नए किस्म के खुर्दबीन से उन बीमारियों को पैदा करने वाले जानदार किनकों को देखा जा सकना मुमकिन हो गया है। इनको कीटाणु कहना ठीक नहीं। परमकीटाणु (वाइरस) नाम से इन अत्यंत ही नन्हें किनकों को पुकारा जाता है। इनके बारे में खोज जारी ही है। आदमियों में पागल कुत्ते के काटने और शीतला या चेचक आदि की बीमारी इन्हीं नन्हें किनकों या वाइरसों से होती है।

कीटाणु (बैक्टीरिया) और परमकीटाणु (वाइरस) के कारण पैदा होने वाले भारी रोगों में नीचे लिखे रोगों का मवेशियों पर हमला होता पाया जाता है, जिन में शुरू के चार तो वाइरस के कारण पैदा होते हैं, और बाकी रोग के कारण कीटाणु हैं:—

वाइरस या परम कीटाणु द्वारा पैदा रोग
- पकुआ (रिंडरपेस्ट)
- खुर-मुँहपका रोग (फ़ूट ऐंड माउथ डिज़ीज़)
- मवेशियों की चेचक (काऊ पाक्स)
- पागल जानवरों का काटना (रैबिज)

बैक्टीरिया या कीटाणु द्वारा पैदा मशहूर रोग
- गला घोंटू (हिमोरेजिक सेप्टिसीमिया)
- एक टंगा (ब्लैक क्वार्टर)
- ऐंथ्रैक्स और क्षय रोग आदि।

बैक्टीरिया (कीटाणु) और वाइरस (परम कीटाणु) द्वारा फैलने वाले मवेशी के रोगों के अलावा ऐसे भी छूत के रोग हैं जो ऐसे कीड़ों से पैदा होते हैं जो जानवर के बदन के भीतर या बाहर घर बना लिए होते हैं। दूसरे के शरीर को खा कर जीने वाले जीवों या पौधों को पर-जीवी कहा जाता है। मवेशियों के बदन के भीतर ही फैल कर बीमारी फैलाने वाले कीड़ों को भीतरी पर-जीवी कीड़ा और बदन के ऊपर ही रह कर हमला करने वाले कीड़ों को बाहरी पर-जीवी कीड़ा कहते है। लेकिन इनके द्वारा फैले रोग उतनी बरबादी नहीं करते जितना कीटाणु और परमकीटाणुओं से पैदा होने वाले भयंकर रोग करते हैं।

छूत की बीमारियों के बारे में कुछ जरूरी जानकारी बड़े ही काम की है। पहली बात तो यह है कि बीमारियों की किसानों या मवेशी पालने वालों को साधारण पहचान हो। दूसरे यह मालूम हो कि वे किन कारणों से होती हैं और उनसे किस तरह बचाव हो सकता है। जब बीमारी का जोर हो तो क्या करना मुनासिब है।

जगह-जगह पर मवेशियों के अस्पताल सरकार द्वारा खुले हैं और उनकी तादाद बढ़ती ही जाती है। चतुर किसान अपने किसी मवेशी के छूत की बीमारी में पड़ने पर मवेशी के डाक्टर या मवेशी की बीमारियों के सरकारी सहायक को खबर कर देता है। इतना ही नहीं। सरकारी कानून भी जारी होते हैं जिस से ऐसी बीमारियों की खबर न देना जुर्म माना जाय। लेकिन अपनी भलाई के लिए भी बीमारियों की पहचान और उनसे बचाव की जरूरत है। इसलिए हमें मवेशियों की छूत की बीमारी के बारे में पूरी जानकारी रखनी और दूसरों को देनी चाहिए।

इतना तो शुरू में ही कहा जा सकता है कि छूत की डरावनी बीमारी हो जाने पर उससे मवेशी को अच्छा कर देना डाक्टरों के के लिए प्रायः मुश्किल ही है लेकिन उस तरह की बीमारी अपने ही गिरोह के दूसरे तंदुरुस्त ढोरों या पास-पड़ोस के अन्य ढोरों में फैलने से बचना बहुत कुछ मुमकिन है। इसीलिए उस से बचाव के तरीके जानना और बीमारी का पता होना ज़रूरी है।

मवेशियों की छूत वाली बीमारियों और तन्दुस्ती के बारे में जाँच पड़ताल करते रहने वाले हुनरमंद लोगों या विद्वानों ने बहुत सी उन बातों का पता लगाया है जिनके कारण मवेशी पर छूत की बीमारी का जल्दी असर होता है। जानवरों या आदमियों में बीमारी से बचने के लिए शरीर के अंदर ही कुछ स्वाभाविक प्रबंध रहता है। उसे हम रोग-बचने की शक्ति कह सकते हैं। रहन-सहन और खान-पान की बुराइयों से यह शक्ति कमजोर पड़ जाती है। पशु-पक्षियों में भी इस कारण रोग का असर हो सकता है। लेकिन पालतू जानवरों या मवेशियों में हमारी ना समझी से उनकी खूराक और रहने की जगहों में ज्यादा गोलमाल होने से छूत की बीमारी जल्दी और अधिक जोर पकड़ सकती है लेकिन हमारे होशियार रहने से उनको तन्दुरुस्त भी रहने का अधिक अवसर हो सकता है।

मवेशियों की तन्दुरुस्ती गिराने और रोगों से बचाव की शक्ति कम करने वाले कारण कुछ नीचे बताए गए हैं।

गंदी जगह में रहना

मवेशियों के रहने और बाँधने की जगह यदि अच्छी तरह हवादार और रोशनी आनेवाली न हो, सीड़न और गंदगी वाली हो तो मवेशी जरूर ही ऐसे कमज़ोर रहने लगेंगे कि उनपर छूत की बीमारी का बड़ी जल्दी असर हो जाय इसलिए यह बहुत ज़रूरी है कि हमारी पशु-शाला खूब हवादर और रोशनी वाली हो। सीड़न और गंदी बिल्कुल न हो।

खिलाने की खराबी

बदन की जरूरतों के लिए जिन जिन वस्तुओं का होना उचित है, वे अच्छे ढंग के चारा घास में मिलती हैं लेकिन ऐसा ही रद्दी चारा दिया जाय जिसमें बदन की कुछ ज़रूरी वस्तुएँ

बहुत थोड़ी हों या बिल्कुल ही न हों तो उसका असर जल्दी ही न मालूम पड़ने पर भी कुछ दिनों में ज़रूर जान पड़ता है। वैसे चारा को खाने वाले मवेशी तन्दुरुस्ती और रोग बचाने की शक्ति से कमजोर हो जाते हैं। इसलिए कीटाणु, परमकीटाणु, पर-जीवी कीड़ों आदि से उन पर रोग फैल जाता है। इसलिए ऐसा चारा ही दिया जाना चाहिए जिसमें बदन को तन्दुरुस्त रखने वाली सभी वस्तुएँ मौजूद हों। इस कारण पशुओं के चारा के बारे में भी जानकारी रखना ज़रूरी है।

पैदाइश की खराबी

माता-पिता से संतान को अच्छे या बुरे गुण मिले बताए जाते हैं। उसी तरह शरीर की भी कुछ खराबियाँ, कुछ रोगों का शिकार बन जाने की कमजोरी या वास्तविक बीमारी के कीटाणु का असर संतान में पहुँच सकता है। विद्वानों ने इस बात की खोज की है कि मवेशियों की एक नस्ल के ही नर मादा से पैदा हुए मवेशी किसी खास छूत की बीमारी के शिकार हो सकते हों तो दोगली नस्ल होशियारी से पैदा कराकर उस बीमारी से मवेशी को छुटकारा-दिलाया जा सकता है। इस कारण मवेशियों की पैदाइश और नस्ल के बारे में भी जानकारी से लाभ उठाया जा सकता है।

रोग से बचाव

इन कारणों के अलावे भीड़-भाड़ में मवेशियों को बाँधना, मेले ठेले में ले जाना या कहीं बीमारी फैली जगहों, बाजारों, मेलों आदि से मवेशी खरीद कर अपने तन्दुरुस्त मवेशियों के साथ तुरन्त बाँध लेना नुकसान पहुँचा सकता है। मवेशियों को किसी भी गंदे, बंधे और सड़े गले पानी के गड्ढे या तालाब से पानी पिलाना भी रोग फैलाने का आसान रास्ता है। उससे बचने के लिए बहते हुए चश्मे, नदी या कुएँ का साफ पानी ही मवेशियों को पिलाना बुद्धिमानी है। उन्हें नहलाने के लिए भी साफ पानी का इस्तेमाल ही ठीक है।

तन्दुरुस्ती के इन मामूली उपायों के अलावे छूत की बीमारी कहीं किसी मवेशी में उभड़ने पर कुछ बातें करना बहुत जरूरी है। बीमार मवेशी को दूसरे तंदुरुस्त मवेशियों से बिल्कुल अलग रखना चाहिए। उनको अलग-अलग ही रखना और चारा पानी देना चाहिए। यदि हो सके तो बीमार मवेशियों की देख-भाल करने वाला और चारा पानी देने वाला आदमी ही दूसरा हो जो तन्दुरुस्त मवेशियों के पास न जावे।

यदि बीमार और तन्दुरुस्त मवेशियों की देख-भाल वाले अलग-अलग आदमी न हों तो कम से कम यही किया जाय कि पहले तन्दुरुस्त मवेशियों को ही चारा पानी दे कर बाद में वह बीमार मवेशियों की देख भाल करने जाय। किसी भी प्रकार छूत की बीमारियों वाले मवेशियों के नजदीक रहने या उनकी देख-भाल करने वाले आदमी को अपना हाथ-पैर कीटाणु

मारने वाली दवाओं से धोकर ही तन्दुरुस्त मवशियों के नजदीक जाना चाहिए।

बीमार मवेशी के गोबर, पेशाब, खून, पीब और नाक के मैल में रोग के कीटाणु छिपे रह सकते है। इसलिए उनसे आदमी या दूसरे कीड़ों, मक्खियों या जानवरों आदि के द्वारा बीमारी के कीटाणु दूसरे तन्दुरुस्त मवेशियों तक पहुँच सकते हैं। इसलिए गोबर मूत्र और खून आदि को कहीं गाड़ या जला देना चाहिए।

बीमार मवेशी के रहने की जगह फर्श पर सब जगह फिनाइल को पानी में डाल कर छिड़क देना चाहिए। इस से भी कीटाणु मर कर दूसरे तन्दुरुस्त मवेशियों तक बीमारी न फैलावेंगे।

चारा खिलाने की नाँद सुखा कर उस पर कुछ घास फूस जलाने से बीमारी के कीटाणु मर सकते हैं।

छूत की बीमारी से मरे मवेशी के मरने पर उसकी लाश को कहीं बस्ती से दूर फेंक आना बड़ी खतरनाक बात है। उनकी लाश हमें भले ही नजर के सामने न दिखाई पड़े लेकिन उनके द्वारा रोग के कीटाणु का फैलना बहुत मुमकिन होता है। जीव-जंतु या दूसरे तरीकों से कीटाणु तन्दुरुस्त मवेशियों तक पहुँचते हैं। इस लिए सब से अच्छा यह है कि छूत के रोग से मरे मवेशी की लाश जला दी जाय। यदि किसी कारण लाश जलाना नामुमकिन हो या खर्चीला हो तो उसे जमीन में गहराई में गाड़ देना चाहिए। नदी नालों में या मैदानों में खुले फेंक आना मुनासिब नहीं। गाड़ने पर भी उसका चमड़ा जगह जगह काट देना उचित है। उसे उतार कर काम में लाना ठीक नहीं। उससे बीमारी फैलने का पूरा डर रहता है।

बीमार मवेशी को किसी तालाब में नहलाना या पानी पिलाना भी खतरनाक है। पानी में रोग के कीटाणु फैलने से दूसरे तन्दुरुस्त मवेशी भी उस पानी में नहाने या उसे पीने से बीमार पड़ सकते हैं।

एक चरागाह में ही बीमार मवेशियों के साथ तन्दुरुस्त मवेशियों को चरने भेजना उचित नहीं। जब कोई छूत की बीमारी फैलने से मवेशी मरने लगे हों तो अच्छे मवेशियों को उन चरागाहों में भेजना बंद कर देना चाहिए जहां चरने वाले कुछ मवेशी बीमार पड़े हों। बछड़े, बछिया, पाड़ी, पाड़ा आदि बच्चे मवेशियों को सयाने मवेशियों के झुन्ड में भेजना भी रोकना उचित है क्योंकि उन पर सयाने मवेशियों के मुकाबले छूत की बीमारी का बहुत जल्दी असर होता है।

छूत की बीमारी के कीटाणु या परम कीटाणु का मवेशी के बदन में जगह कर लेने पर बीमारी का उभाड़ दिखाई पड़ने में कुछ घंटों से लेकर तीन मास तक समय लग सकता है। अलग अलग बीमारियों के उभड़ने में लगने वाला औसत समय अलग अलग होता है।

मवेशी की तन्दुरुस्ती का भी बीमारी के उभाड़ के समय पर असर पड़ता है।

इन हालतों में दूसरे इलाके बाजार आदि से खरीदे मवेशी के बारे में तीन महीने तक खटका बना रह सकता है कि कहीं उस में कोई छूत की बीमारी न हो। इसी लिए नए मवेशी दूसरे इलाके या मेले, बाजार आदि से खरीदने पर अपने ढोरों के झुन्ड के साथ तुरन्त बाँधने या रखने लगना मुनासिब नहीं। उसे किसी तरह तीन महीने तक दूसरे सभी मवेशियों से अलग रक्खा जा सके तो इतने समय में किसी भी छूत की बीमारी न उभड़ने पर उसे इनसे बचा हुआ समझा जा सकता है।

छूत की कोई भारी बीमारी किसी मवेशी में होने पर बेचारा किसान या पालने वाला आदमी घबड़ा उठता है। जो कोई भी उल्टी सीधी दवा किसी ने रास्ते चलते भी बता दी, वह उसका इस्तेमाल अपने मवेशी पर करता है। लेकिन बीमार मवेशी मर कर ही रहता है। यदि उस की स्वाभाविक शक्तियों का बल किसी तरह बढ़ गया तो मवेशी बच भी सकता है। इस के बारे में इतना कह देना ही काफी है कि छूत की तेज बीमारी वाले मवेशी का तो उतना अच्छा इलाज मवेशी का सरकारी डाक्टर भी नहीं कर सकता लेकिन उसको खबर कर देने से बड़ा भारी लाभ यह हो जाता है कि वह उस बीमारी की ठीक पहचान कर उस से बचाव वाले टीके दूसरे तन्दुरुस्त मवेशियों में लगाने का इन्तजाम करता है। इस टीके के लगे मवेशियों के बारे में भरोसे से कहा जा सकता है कि सब के सब उस बीमारी से ज्यादातर बचे रह जायँगे। मवेशी का डाक्टर बीमारी रोकने की उचित सलाह भी दे सकता है और सारे इलाके या देश में उस बीमारी का भारी उपद्रव रुक सकता है।

छूत की बीमारियों से बचाव वाले टीके हजारों लाखों मवेशियों पर देश-देश में लगा कर परखे जाते रहते हैं। उनकी कामयाबी का कारण विज्ञान की नई खोज ही है। इन्हें हम सिरम, वैक्सीन आदि नाम से जानते हैं। हम जानते हैं कि हमारे बदन में खून में पानी सी कुछ वस्तु होती है जिस में कई तरह की चीजें मिली होती है। उस रस में लाल और सफेद दो तरह के जानदार किनके होते हैं। सफेद किनकों को हम जानवरों या आदमियों के शरीर रूपी किले का सिपाही कह सकते हैं। वे बीमारी के कीटाणुओं का मुकाबला करते हैं। वे बदन के खून में कुछ खास तरह का रस भी बना सकते हैं जो कीटाणुओं या परम कीटाणुओं (वाइरस) को पनपने से रोके। उसके इन बीमारियों की रुकावट के कार्य में सिरम या वैक्सीन सहायता ही पहुँचाती है।

वैक्सीन को हम छूत वाले किसी रोग के कीटाणु (बैक्टीरिया) या परमकीटाणु (वाइरस) का मुर्दा या बहुत कमजोर बना रूप कह सकते हैं। शरीर में उसका टीका लगाने पर शरीर के सिपाही रूप के सफेद किनके उन्हें रोग का असली कीटाणु ही समझ कर ऐसा

[शेष पृष्ठ १६० पर]

समालोचना

दिव्यालोक

सम्पादकः डा० रघुनन्दन प्रसाद शर्मा, एम० ए०, ज्योतिषाचार्य

प्रकाशकः ज्योतिष आलोक गृह,

६२१, दारागंज, इलाहाबाद

वार्षिक मूल्य ४)   एक प्रति का १)

यह ग्रह विज्ञान सम्बन्धी पत्र है। हर तीसरे महीने इसका प्रकाशन होता है। ज्योतिष विषय की अनेक प्रकार की जानकारी इसके द्वारा प्राप्त की जा सकती है। अभी तक इसके आठ अंक प्रकाशित हो चुके हैं तथा इसने दो वर्षों की अवधि पूरी की है। ज्योतिष के विविध विषयों से सम्बन्धित अनेक लेख इनमें समाविष्ट हुए हैं, जिनसे ज्योतिष के सिद्धान्तों को समझने में बड़ी सहायता मिल सकती है। गणित ज्योतिष बहुत ही गहन विषय है, किन्तु उसके अनेक तत्त्वों को 'दिव्यालोक' के इन अंकों में बड़ी ही सरल रीति से समझाया गया है। जहाँ राष्ट्र भाषा के साहित्य को पूर्ण करने के लिये अनेक उद्योग हो रहे हैं, वहाँ यदि ज्योतिष विषय पर यथेष्ट पठनीय सामग्री न मिल सके, तो यह बहुत बड़ा अभाव ही कहा जायगा। ऐसी स्थिति में डा० आर० पी० शर्मा का इस पत्र के द्वारा ज्योतिष साहित्य सम्बर्धन की दिशा में जो प्रयत्न हो रहा है, वह अत्यन्त प्रशंसनीय है। 'ज्योतिष-साहित्य का इतिहास' 'भारतीय, ज्योतिष शास्त्र,' 'ज्योतिष के नव-स्कन्ध' 'मुहूर्त्त और संस्कार' आदि लेख जो 'दिव्यालोक' के भिन्न-भिन्न अंकों में प्रकाशित हुए हैं, बड़े मार्मिक और ज्ञानवर्द्धक हैं। भूगर्भ शास्त्र, व्यावहारिक मनोविज्ञान एवं सृष्टि विज्ञान पर जो लेख प्रकाशित हुए हैं, वे भी बड़े रोचक हैं।

इस पत्र की विशेष उपयोगिता की दृष्टि से हम दो-एक सुझाव रखना चाहते हैं। सिद्धान्त ज्योतिष के अनेक तत्वों को लेखों ही के रूप में नहीं कहानी के रूप में देने का प्रयत्न होना चाहिये। ऐसे एकांकी नाटक भी दिये जाने चाहिये, जिनसे खगोलीय तत्त्वों पर सूर्य, चन्द्र, मंगल, शनि आदि ग्रहों के सबन्ध में प्रकाश प्राप्त हो। फलित ज्योतिष की भी वैज्ञानिक समीक्षा होनी चाहिये और उसके तत्त्वों की परीक्षा का प्रयत्न किया जाना चाहिये। यह एक आश्चर्य की बात है कि एक ओर-विज्ञान की इतनी उन्नति होती चल रही है, दूसरी ओर फलित ज्योतिष की ओर आकर्षण भी बढ़ रहा है। यह आकर्षण कितनी मात्रा में उचित है और-कितनी मात्रा में अन्ध-विश्वास-जन्य है, इसकी भी मीमांसा होनी चहिये।

—गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश,

[किसानों का विज्ञान —पृष्ठ १५८ का शेषांश]

रस (सिरम) तैयार करना शुरू कर देते हैं जो उनको मार सके, लेकिन वे खुद इनके कमजोर होने से शिकार नहीं बन पाते। इस लिए खून को ऐसे रोग से बचाव वाले रस (सिरम) से भरा-पूरा होने का मोका मिल जाता है। बाद में असली कीटाणु या परमकीटाणु भी हमला कर कामयाब नहीं हो सकते। कभी ऐसों बना-बनाया बचाव का रस दूसरे जानवरों से ले कर टीका रूप में बदन में पहुँचा दिया जाता है। यह भी रोग के खास कीटाणु या परम कीटाणु का हमला बेकार कर देता है।

खून में से सफेद और लाल किनकों को छान लेते पर जो द्रव या पानी सी चीज बच रहती है उसे हम पुकारने के लिए रस के साथ प्र जोड़ कर प्र+रस=प्ररस नाम रख सकते हैं। यह अंग्रेजी में प्लाज्मा कहा जाता है। इसमें कोई लसदार चीज मिली होती है जो खून को जम जाने में मदद करती है। उसे निकाल लिया जाय तो बाकी द्रव का ही नाम सिरम होता है लेकिन उसमें भी दो नमूने मिले होते हैं। एक तो शरीर का पालन करता है और दूसरा नमूना रोगों से बचाव करता है। रोगों की चर्चा होने पर हम सिरम से इस बचाव करने वाले भाग का मतलब समझते हैं।

विषय-सूची

नागरी प्रेस, दारागंज, प्रयाग।

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

१—विज्ञान प्रवेशिका, भाग १—श्रीरामदास गौड़ और प्रो० सालिगराम भार्गव ।=)

२—चुम्बक—प्रो० सालिगराम भार्गव ॥=)

३—मनोरञ्जन रसायन—प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव २)

४—सूर्य सिद्धान्त—श्री महावीरप्रसाद श्रीवास्तव छः भाग मूल्य ८) । इस लेखक को १२००) का मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला है ।

५—वैज्ञानिक परिमाण—डा० निहालकरण सेठी १)

६—समीकरण मीमांसा—पं० सुधाकर द्विवेदी; प्रथम भाग १॥) द्वितीय भाग ॥=)

७—नर्णायक डिटर्मिनैंट्स प्रो० गोपाल कृष्ण गर्दे और गोमती प्रसाद अग्निहोत्री ॥)

८—बीज ज्योमिति या भुजयुग्म रेखागणित—डाक्टर सत्यप्रकाश डी० एस-सी०, १।)

९—वर्षा और वनस्पति—श्री शंकरराव जोशी ; ।=)

१०—सुवर्णकारी—ले० श्री० गङ्गाशंकर पचौली; ।=)

११—व्यङ्ग-चित्रण—ले० एल० ए० डाउस्ट; अनुवादिका श्री रत्नकुमारी एम० ए०; २)

१२—मिट्टी के बरतन—प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा ; (अप्राप्य)

१३—वायुमंडल - डाक्टर के० बी० माथुर, २)

१४—लकड़ी पर पालिश—डा० गोरखप्रसाद और श्री रामरतन भटनागर, एम० ए०, २) (अप्राप्य)

१५—कलम पेवंद—ले० श्री शंकरराव जोशी; २)

१६ - जिल्दसाजी—श्री सत्यजीवन वर्मा, एम० ए० २)

१७—तैरना—डा० गोरखप्रसाद १)

१८—सरल विज्ञान-सागर प्रथम भाग—सम्पादक डाक्ट गोरख प्रसाद मूल्य ६) (अप्राप्य)

१९—वायुमण्डल की सूक्ष्म हवाएं—डा० सन्तप्रसाद टंडन, डी० फिल० ॥)

२०—खाद्य और स्वास्थ्य—डा० ओंकारनाथ परती, मूल्य ॥)

२१—फोटोग्राफी—लेखक श्री डा० गोरख प्रसाद डी० एस-सी० (एडिन) ४),

२२—फल संरक्षण—डा० गोरखप्रसाद डी० एस-सी० और श्री वीरेन्द्रनारायण सिंह २॥)

२३—शिशु पालन—लेखक श्री मुरलीधर बौड़ाई । मूल्य ४)

२४—मधुमक्खी पालन—दयाराम जुगड़ान; ३)

२५—घरेलू डाक्टर—डाक्टर जी० घोष, डा० उमाशङ्कर प्रसाद, डा० गोरखप्रसाद, ४)

२६—उपयोगी नुसखे, तरकीबें और हुनर—डा० गोरखप्रसाद और डा० सत्यप्रकाश, ३॥)

२७—फसल के शत्रु—श्री शङ्कर राव जोशी ३॥)

२८—साँपों की दुनिया—श्री रमेश वेदी ४)

२९—पोर्सलीन उद्योग—प्रो० हीरेन्द्र नाथ बोस ॥)

३०—राष्ट्रीय अनुसंधानशालाएँ—२)

३१—गर्भस्थ शिशु की कहानी—प्रो० नरेन्द्र २॥)

अन्य पुस्तकें

१ साबुन-विज्ञान ६)

२—भारतीय वैज्ञानिक ३)

३—वैक्युमब्रेक ८)

४—यांत्रिक चित्रकारी २॥)

५—विज्ञान के महारथी (जगपति चतुर्वेदी) २)

६ पृथ्वी के अन्वेषण की कथाएँ (,,) १॥)

७—विज्ञान जगत की झाँकी (प्रो० नारायण सिंह परिहार) २)

८—खोज के पथपर (शुकदेव दुबे) ॥)

पता—विज्ञान परिषद् (म्योर सेन्ट्रल कालेज भवन) प्रयाग

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्तिविज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तति। तै० उ० ।३।५।

भाग ८१	कन्या २०१२; सितम्बर १९५५	संख्या ६

शृंगपाती (मृग) वंश

जगपति चतुर्वेदी

मृग या शृंगपाती वंश जिन जातियों का नाम दिया जाता है वे आकार-प्रकार में प्रायः वृषभ-वंशियों की भाँति होती हैं। मृग शब्द के प्रयोग से यहाँ तनिक भी भ्रम न होना चाहिये। हम यहाँ पर पहले इस बात को ही स्पष्ट कर देना चाहते हैं। प्राचीनों ने इन सम्बन्धों की कुल जातियों के जो नाम दिये हैं वे इस प्रकार हैं:—(१) हरिण, (२) एण, (३) कुरंग, (४) ऋष्य, (५ पृषत, (६) न्यंकु, (७) शम्बर, (८) राजीव, और (९) मुंडी। इन नामों में हम प्रथम चार नामों को वृषभ वंशी जन्तु अनुमान करते हैं। साधारण बोली में तो अनेक प्रकार के पशुओं को हरिण नाम से ही पुकारा जाता है। किन्तु उस शब्द को वैज्ञानिक विभाजन में केवल स्थिर-शृंगी जन्तुओं के समान हिरनों का ही बोध कराने के लिए प्रयोग किया गया है। इनमें एण शब्द तो स्पष्ट रूप से कृष्ण हरिण का द्योतक है। किन्तु कुरंग को उसी की ही दक्षिण भारतीय उप-जाति समझा जा सकता है, क्योंकि कृष्ण हरिण का रंग उत्तर भारत में जन्म से तीन वर्ष तक ललाई युक्त भूरा होता है। तीसरे वर्ष ही वह काला हो जाता है। दक्षिण भारत में प्रौढ़ एण को भी प्रायः कलौंछ भूरे रंग का ही देखा जाता। यथेष्ट प्रौढ़ एण भी सारे भारत में कलौंछ भूरे रंग के पाये जा सकते हैं। इस कारण कुरंग की निम्न व्याख्या भाव प्रकाश में पाकर उसे एण की उपजाति ही मानना समीचीन ज्ञात होता है।

"कुरंग ईषत्ताम्र स्यादेणतुल्याकृति महान्"

अर्थात् किंचित ताम्र (मटमैला लाल) वर्ण का तथा एण समान बड़ी आकृति का पशु कुरंग होता है।

"हरिणस्ताम्रवर्णः" के संक्षिप्त वर्णन से कुछ स्पष्ट नहीं होता किन्तु भाष्यकार उसे उदर पर श्वेत रंग वाला पशु कहते हैं। शरीर का रंग ताँबे का (मटमैला लाल या भूरा) कहा गया है। अतएव

चिंकारा (भारतीय क्षुद्र हरिण) को इस संज्ञा का पशु कहना उचित है। नीलांगक ऋष्य तो नीलगाय है ही।

अन्य नामों में राजीव नाम तो अफ्रिका की जेब्रा जाति के पशु का स्पष्ट ज्ञात होता है जो जन्तु-शालाओं में होने या किसी प्रकार इस देश में आने से लोगों को ज्ञात हो सका होगा परन्तु वह तो गधों की श्रेणी का जन्तु है। घोड़े या गधे की तरह उसके पैर एक खुर (शफ) वाले ही होती हैं। परन्तु वैज्ञानिक विभाजन न होने से वह इन पशुओं के साथ गिना गया है जिनको समशफीय या जोड़े रूप के खुरों वाला कहा जाता है।

शेष नामों का विवरण निम्न प्रकार कहा जा सकता है :—

(५) पृषत (स्पाटेड डियर) चित्तल या विंदुकित मृग।

(६) न्यंकु (स्वाम्प डियर) बारहसिंगा

(७) शंबर (सांभर),

(८) मुंडी (मस्क डियर) कस्तूरी मृग।

ये सब नाम जिन पशुओं को दिये गये हैं उन्हें शृङ्गपाती या मृग वंशीय कहना उचित है। अंतिम नाम अवश्य अपवाद है जो सर्वथा शृंगहीन होता है किन्तु शरीर की रचना में अन्य बातों में मृगों से साम्य रखने के कारण ही उस जाति को इस वंश में रक्खा गया है। राजीव की एक विशेष विवेचना के लिए हमारा ध्यान मूषक-मृग की ओर जाता है जिसके शरीर का रङ्ग तो जैतूनी भूरा होता है, परन्तु उस पर आड़े रूप में दोनों बगल श्वेत धब्बों की पंक्तियाँ लंबोतरी होने तथा लगभग परस्पर संयुक्त-सी होने से आड़ी पट्टियाँ बनाती है। यदि इसी को राजीव कहना चाहें तो कोई भारी आपत्ति नहीं हो सकती। परन्तु यह पशु भी मृगों से दूर एक विलक्षण श्रेणी का है जिसके पैर में चार-चार पादांगुलियाँ (शफ) होती हैं और शृंगहीन भी होता है। अतएव उसे एक पृथक् वंश में ही रखा जाता है। शरीर की ऊँचाई १०, १२ इञ्च तक ही होती है। यह मृग नाम से पुकारे जाने पर भ्रांति ही उत्पन्न कर सकता है फिर भी कुछ नाम देना ही पड़ता है।

इन प्राचीन विभाजनों द्वारा जातियों के नाम-करण में हमें आज जो अव्यवस्था दिखाई पड़ती है उसका कारण यह है कि आज का वैज्ञानिक प्रत्येक क्षेत्र में कुछ निश्चित सिद्धान्त निर्धारित कर युक्तिसंगत तथा वैज्ञानिक रूप में प्रगति करता है। पुरानी जातियाँ या श्रेणी प्रकट करनेवाले नाम आज के वैज्ञानिक शोध की कसौटी पर टिक सकने वाले न होने का कारण यह है कि पहले लोगों में वैज्ञानिक ढंग से छानबीन कर जाति, वंश आदि निर्णय करने की वृत्ति नहीं थी। आज भी शिक्षित समुदाय तक वैज्ञानिकता की भावना उत्पन्न करने के लिए यथेष्ट पर्यवेक्षण तथा मनन का हमारे देश में अभाव ही है। एक बहुत ही उच्चवर्ग के एक विद्वान की बात हमें याद आती है जिन्होंने नील-गाय के प्रति हिन्दुओं की श्रद्धा भावना के प्रति उपहास करते हुए तर्क दिये। उनका कथन था कि नीलगाय को अंध-विश्वासी लोग गाय समझने की भारी भूल करते हैं, किन्तु यह स्पष्ट देखा जाता है कि वे गोबर के स्थान पर गधों और घोड़ों की तरह लीद विसर्जित करते हैं। धार्मिक या अंधविश्वास की बात सर्वथा दूर रख कर हम वैज्ञानिक विभाजन द्वारा नीलगाय को केवल लीद करने के कारण गधों या घोड़ों का निकटवर्ती कभी भी नहीं कह सकते। यह तो लीद करने पर भी दो खुरों का पशु है, जुगाली करता है। नर में स्थिर रूप की खोखली सींग होती है। अन्य कई लक्षणों से भी यह वृषभ-वंशी है।

इस उदाहरण के विपरीत हम अपनी भ्रान्त धारणा का कुछ नमूना हरिणों और मृगों के सम्बन्ध में भी पाते हैं। हमें साहित्यिक वर्णनों, साधारण, लेखों, वार्तालापों आदि में हरिण और मृग में कोई विशेष भेद का कभी अनुमान भी नहीं होता। ये शुद्ध पर्यायवाची शब्द हैं। बल्कि यहाँ हम यह

भी कहना चाहते हैं कि मृग शब्द का शुद्ध अर्थ (मृ जंगल + ग—गमन करने वाला) जङ्गल का रहने वाला जन्तु है। इस व्यापक अर्थ में मृग शब्द द्वारा हम साधारण किसी भी जङ्गली जानवर को प्रकट करते देखेंगे। परन्तु यह केवल शब्द का अर्थ रह गया है। वास्तव में मृग हिरणों या उनके समान पशुओं के लिए ही द्योतक रह गया है। वैज्ञानिकता की दृष्टि से हम इसे और भी अधिक संकुचित अर्थ में करना चाहते हैं जो उन हिरणों से सर्वथा पृथक् जन्तुओं का बोध कराता है जो वृषभवंशी नहीं हैं। प्रत्युत स्वयं कुछ जातियाँ को मिलाकर शृंगपाती या मृगवंश प्रसिद्ध करते हैं।

मृगवंशी जन्तुओं की कई स्पष्ट पहचानें हैं। प्रत्येक आँख के नीचे कपाल में एक छेद या या बड़ी दरार होती है। ऊपरी जबड़े में प्रायः रदनक दाँतों का होना भी एक नियम है। जिन मृगों में सींग नहीं होती है, उनमें ये ऊपरी जबड़े के रदनक सदा ही विकसित होते हैं। अतएव उससे उनका वृषभवंश से विभेद स्पष्ट ज्ञात होता है। किसी भी वृषभ-वंशीय पशु में ऊपरी जबड़े में रदनक नहीं होते। मृगवंशियों में कस्तूरी मृग में ही पित्ताशय होता है। अन्य किसी भी मृग जाति में नहीं होता, परन्तु वृषभवंशी जातियों में तो सबमें पित्ताशय होता है। वृषभवंशी पशुओं की अपेक्षा मृगवंशी पशुओं में दिखावटी खुर (मिथ्या पाद) जो यथार्थ भूस्पर्शी खुरों से कुछ ऊपर होते हैं, अधिक विकसित होते हैं।

मृगवंशी पशु रोमंथक (जुगाली करने वाले) अवश्य हैं परन्तु अन्य जुगाली करने वाले पशुओं, वृषभवंशी जन्तुओं से उनका सबसे स्पष्ट भेद यह है कि इनकी सींग ठोस होती है। केवल यह गुण उन्हें वृषभवंशियों से पूर्णतः पृथक बताने के लिए यथेष्ट है। इन सींगों की रचना ठोस रूप की ही नहीं होती। बल्कि कुछ निश्चित अवधि के पश्चात् ये गिर जातीं और पुनः उत्पन्न होती रहती हैं।

मृग की सींग माथे के ऊपर खड़े स्थायी उभाड़ को आधार बनाकर उत्पन्न होती है। पहले वे मख-मली आवरण युक्त अस्थिदण्ड की भाँति उठती हैं और धीरे-धीरे बड़ी होती जाती हैं। उनमें अस्थि की मात्रा वृद्धि पाती जाती है। अल्प मृग में पहले एक फांक की ही सींग रहती है। जैसे-जैसे आयु बढ़ती जाती है, एक सींग से अन्य फाँकें फूटती जाती हैं। फाँकों या शाखा बढ़ने का कार्य उस समय ही होता है जब एक बार सींग गिर कर दूसरी बार न उत्पन्न होने लगी होती है। वार्षिक या अधिक अवधियों के पश्चात् नवीन शृंगों के उत्पादन की कई बार पुनरावृत्ति होने के पश्चात् अन्त में विशेष जाति के मृग की निर्धारित संख्याओं की शाखा से पूर्ण सींग निकलती है। उदाहरणतः शंबर की बात लीजिए। शंबर (सांभर) मृग में पहले वर्ष एक-एक दंड की सींग होती है। इसके गिरने पर दूसरे वर्ष जब नवीन सींग निकलती है तो उसके आधार में प्रत्येक सींग के दंड से एक-एक शाखा निकलती है। तीसरे वर्ष के नये शृंग-निर्माण के समय छोरों के निकट अंतिम शाखा उत्पन्न होती है। इसी प्रकार शृंगों की सब शाखाएँ विभिन्न जातियों में कुछ निश्चित संख्या की शाखाएँ पूर्ण करने में निश्चित अवधि लगाती हैं। शंबर (सांभर), चित्रक (चीतल) या पृषत्, तथा शूकर मृग में प्रायः तीन फाँकों या शाखाओं की सींग होती है।

शृंगों की शाखा कहने में मूल दंड को भी एक शाखा मान कर गिनती की जाती है। इसे फाँक कहना अधिक उपयुक्त हो सकता है। अतएव शंबर के प्रौढ़ रूप में प्रत्येक सींग में तीन शाखा होने की बात कहने के स्थान पर तीन फाँकों युक्त या तीन शृङ्गफंकीय कहना अधिक उपयुक्त हो सकता है। ऐसे रूप में एक सींग में ऊपर की ओर तीन छोर मिलेंगे।

काश्मीर में हंगूल मृग, भारत के न्यंकु या बारहसिंगे तथा भूशृंगी मृग में सींगों की फाँकें बहुसंख्यक होती हैं। इनकी सींग में पहली शाखा तो भौहों के ऊपर मूल दंड की सींग के आधार से निकली जान पड़ती है। इसे आधारीय शाखा या

भूश्रृंग फंक (प्रथम श्रृंगफंक) कह सकते हैं। यह अकेली फाँक ही रह जाती है। अन्य फाँकें सींग के मूल दंड के ऊपरी भाग से निकली होती है। इन श्रृंङ्ग-फंकों को भिन्न-भिन्न स्थितियों के अनुसार पृथक्-पृथक् नाम भी दिये जाते हैं। द्वितीय श्रृङ्गफङ्क, तृतीय श्रृंगफङ्क आदि हम भी सुविधानुसार नाम रख सकते हैं। अंतिम श्रृङ्गफङ्कों को शीर्षीय श्रृंगफङ्क कह सकते हैं। हंगूल में प्रायः पाँच श्रृङ्गफङ्क होते हैं। बारहसिंगा या न्यंकु में तो बीस फाँक (श्रृंगफङ्क) या अधिक पाये जाते हैं। जब एक बार सींग की फाँकें निर्धारित संख्या की हो जाती हैं, जितनी उस जाति के मृग की होनी चाहिये तो प्रति वर्ष वे गिर कर पुनः उत्पन्न होने पर आकार में वृद्धि करती जाती हैं, परन्तु एक सीमा तक विकास के पश्चात् उनका ह्रास होना प्रारम्भ होता है, अतएव अधिक से अधिक वृद्ध बारहसिंगे (न्यंकु) में अधिक लम्बी सींग होना अत्यावश्यक नहीं।

श्रृङ्गपाती पशुओं अर्थात् मृगों के सींग गिर कर बार-बार उत्पन्न होने की क्रिया विज्ञान के लिए एक समस्या है। ये सींगें कैसे उत्पन्न होती हैं, पहले हम इसका अवलोकन कर सकते हैं। उनके माथे पर श्रृङ्ग के आधार का स्थल श्रृङ्ग-आधारस्थल कहा जा सकता है। वही केवल स्थायी वस्तु होती है। उसमें खूँटी समान जो अस्थिदंड निकलता है, वह हमें दिखाई नहीं पड़ सकता, उसकी जगह ऊपर की केवल मखमली ओढ़नी दिखाई पड़ती है। यह त्वचा-निर्मित आच्छादन होता है जिस पर कोमल सघन रोमों की इतनी अधिक बाढ़ होती है कि मखमल ही ज्ञात होता है। इसके निकलने पर मृग को 'मखमली श्रृंगीय ओढ़नी' में रहना कह सकते हैं। परन्तु सींग का प्राण इस ऊपरी ओढ़नी में ही प्रारम्भ में रहता है। इस ओढ़नी में रक्त-शिराएँ फैली होती हैं जो उसकी पुष्टि करती हैं, परन्तु यह कोमल वस्तु होती है। श्रृंग की अस्थीय रचना करने में सहायक तो होती है, परन्तु किसी प्रकार अन्य जन्तु से संघर्ष करना हो या अपनी रक्षा करनी हो तो उस स्थिति में सींगों के उपयोग से मृग को बचते रहना ही पड़ता है, अन्यथा यह कोमल श्रृंगीय त्वचा-आच्छादन एक ही प्रहार में क्षत-विक्षत हो जाय। अतएव ऐसी स्थिति में लड़ना ही हो सकता है तो मृग अपनी मखमली ओढ़नी युक्त सींग को बचा लेता है और बकरों की भाँति अगले पैरों को उठा कर उनसे ही प्रहार करता है।

जिस प्रकार नवजात शिशु की नाभि से नाड़े का कुछ अंश लगा रहने पर कुछ समय में सूख जाता है और स्वतः गिर पड़ता है, उसी प्रकार मृग की सींग का मखमली आच्छादन अपना कार्य कर चुकने पर मुरझा जाता है। इसके लिए पहले सींग के आधार-स्थल के निकट इस मखमली ओढ़नी में एक चूड़ी-सी गाँठ उत्पन्न होती है जो ऊपर के भाग में इस मखमली आच्छादन की शिराओं में रक्त जाना बन्द कर देती है। इस कारण कुछ समय में इस सघन रोमीय त्वचा-आच्छादन अथवा मखमली ओढ़नी का इस प्रकार लोप प्रारम्भ होता है।

अपनी कोमल मखमली ओढ़नी के अन्दर अस्थि की मात्रा-वृद्धि पाकर अस्थीय श्रृंग की रचना होने के समय जंगलों के अंदर रहने वाले मृग मैदान में आ सकते हैं जिससे इन नवजात सींगों तथा उनकी रचना में रक्त-प्रसारक और बाहरी आवरण रखने वाली मखमली ओढ़नी कहीं अटक कर क्षत-विक्षत न हो जायँ। वे थोड़ी दूर तक घूम फिर कर किसी प्रकार उन दिनों चारा खा लिया करते हैं। मखमली आवरण के सूख जाने पर मृग कहीं किसी विशेष वृक्ष के निकट प्रति दिन आकर उससे संघर्षण किया करते हैं। कुछ समय में नग्न अस्थीय श्रृंग निखर आता है। वह प्रौढ़ रूप प्राप्त कर चुका होता है। अब मृग पूर्ण सशस्त्र हो जाता है। अपनी सींग के मखमली आवरण के छुड़ाने के लिए जहाँ अन्य मृग किसी चिकनी छाल के वृक्ष से काम लेते हैं, वहाँ बारहसिंगा अपनी बहुफंकीय सींग की

रक्षा के लिए वृक्ष की सहायता न लेकर घासों द्वारा रगड़ कर ही मखमली ओढ़नी छुड़ा लेता है।

जिस समय मृग का सींग के मखमली आवरण का लोप होकर सींग को प्रौढ़ रूप प्राप्त होता है, वही समय मृगों की जाति में प्रायः गर्भाधान क्रिया प्रारम्भ करने का भी होता है। अतएव नर मृगों में मृगियों के ग्रहण करने के लिए तुमुल युद्ध होता है। युद्ध तो कदाचित् कम ही होता है। परन्तु सींगों की खड़खड़ाहट से आतंक-उत्पादक नाद अधिक उत्पन्न होता है। कभी-कभी तो ऐसे संघर्ष में दो नरों की बहुफंकीय सींगें एक दूसरे की सींगों में ऐसी उलझ जाती हैं कि किसी प्रकार छूट नहीं सकतीं। उस उलझन से छुटकारा न मिले तो पड़े-पड़े रहकर मृत्यु प्राप्त करने या किसा शत्रु द्वारा बध किए जाने पर ही मुक्ति हो सकती है। सींगों का वह पेचीदा बंधन उनका घातक सिद्ध होता है।

वैज्ञानिक पयवेक्षकों का कथन है कि मृगों के पारस्परिक युद्ध में सदा केवल सींग ही निर्णायक अस्त्र नहीं हो सकती। ऐसा प्रत्यक्ष देखा गया है कि किसी शृंगहीन मृग ने ही शृंगधारी मृग पर अपने प्रबल थूथन से ऐसा प्रहार किया कि वक्षस्थल की पसलियाँ चूर-चूर हो गईं। किसी अन्य शत्रु पर भी ऐसा आक्रमण कर शृंगहीन मृग अपनी रक्षा अनेक अवसरों पर कर सकता है।

नर मृगों की सींग गर्भाधान कार्य समाप्त करने के कुछ समय बाद तक भी रहती है किन्तु बाद में गिर जाती है। उसके गिरने का समय मृग की आयु पर निर्भर करता है, अपेक्षाकृत वयस्क की अपेक्षा न्यून वय के मृग शीघ्र शृंगपात कर डालते हैं। स्थान तथा वातावरण का भी उसके गिरने के समय पर प्रभाव पड़ता है। ऐसा ज्ञात होता है कि जैसा आहार मृग करते हैं, उसका प्रत्यक्ष प्रभाव सींग पर पड़ता है। घास-पात आदि चारों में सींग की अस्थि उत्पन्न होने का उपादान रहता है। अस्थि का तत्त्व चूनम या कालिशयम कहलाता है। प्रचुर घास होने पर चूनम् (कालिशयम) की उसमें यथेष्ट मात्रा रह सकती है, अतएव मृग में भी हड्डी की अधिक वृद्धि का अवसर रह सकता है। चारा प्रचुर होने के समय ही सींग का उत्पादन होता है।

ऐसा मालूम पड़ता है कि मृग प्रचुर चारा पाकर खा-खाकर अघा जाया करता है, तो उस ऋतु में वनस्पतियों से यथेष्ट चूनम् शरीर में पहुंचता है किन्तु उसकी इतनी अधिक राशि पहुँचती जाती है कि अस्थि का अंश सींग रूप में फूट पड़कर बाहर निकलने लगता है। किन्तु जो शृंगहीन मृग हैं उनमें चारा की अधिकता से शरीर में प्रविष्ट अतिरिक्त चूनम् का प्रयोग भ्रूण के अधिक समय तक पोषण तथा अंगों की वृद्धि में होता है। शृंग-धारियों में भी युवा मृग यथेष्ट पाचन शक्ति रखने से चूनम् भी अधिक पचाकर सींग की भरपूर वृद्धि करते हैं, परन्तु जरायु मृग शिथिल पाचन से शरीर में चूनम् उतना नहीं पहुँचा पाते। इसी कारण सींग का आकार क्षीण होने लगता है। किन्तु ऐसी अर्जित वस्तु का नियमित रूप से गिराकर प्रतिवर्ष मृग अपव्यय का क्यों उदाहरण रखते हैं इसका कारण कोई भी विद्वान् नहीं बता पाता। यह अवश्य देखा गया है कि चूनम् के अभावयुक्त चारा के स्थान में मृग अपनी गिराई हुई सींग और मखमली ओढ़नी खा लिया करते हैं।

मृगों का निवास जंगलों या घास के मैदानों में होता है। मरुस्थल में वे कभी नहीं पाये जाते हैं। पश्चिमी गोलार्द्ध में योरप और एशिया के अधि-कांश भूभाग में मृग पाये जाते हैं। अफ्रीका में सहारा के उत्तर के भूभाग में ही इसका प्रसार है। वैज्ञानिकों का कथन है कि जब रोमंथक (जुगाली-करने वाले) पशुओं का पहले-पहल उदय हुआ होगा, वे क्षुद्रकाय और प्रायः शृंगहीन रहे होंगे। उनमें भी मृगों की जाति कदाचित सर्वप्रथम उत्पन्न हुई। उत्तरी अमेरिका में तो पश्चिमी गोलार्द्ध के मृगों की कुछ जातियाँ फैली हैं परन्तु नवीन जातियां भी हैं जो चिली (दक्षिण अमेरिका) तक प्रसारित पाई जाती हैं।

पश्चिमी गोलार्द्ध की मृग जातियों में भारत में पृषत् मृग (चीतल या चित्रक) का सुन्दर रूप मध्यप्रदेश, हिमालय के अंचल और तराई में मिलता है, शंबर (सांभर) का रूप भारतीय मृगों में सबसे बड़ा होता है। इसमें भव्य सींग होती है। यह मध्यवर्ती भारत में पाया जाता है। गंगा के उत्तर के भूभाग में इसकी औसत सींग छोटी होती है जो दक्षिण भारत के शंबर की सींग के बराबर ही होती है। पूर्व की ओर आसाम में शंबर की सींग पुष्ट होने पर भी ३० इञ्च से अधिक लम्बी नहीं होती है। इन विभिन्नताओं का कारण इनके प्रसार के भूभागों में चारा की विभिन्नता तथा विभिन्न मात्रा में उसकी सुलभता है। इसके आकार और सींग का रूप निवास क्षेत्र के अनुकूल ही होता है। गठीली और अपेक्षाकृत छोटी सींगों युक्त शम्बर का आकार आसाम के घने जंगलों में चल सकने के लिए बिलकुल उपयुक्त होता है। यदि इसकी सींग विशाल और अधिक फैली होती है तो जङ्गलों के सघन कुन्जों और वृक्षों की शाखाओं से इसकी सींग उलझ-उलझ कर इसकी जाति ही लुप्त होने का अवसर लाती।

मृग के रूप-विभेद का कारण स्थान की विभिन्नता भी हो सकती है। बारहसिंगें की ही बात लीजिये। यह तराई में भी पाया जाता है और मध्यप्रदेश में भी मिलता है। इन दोनों स्थानों के बारहसिंगे एक जाति के ही बारहसिंगे हैं परन्तु तराई में अर्द्ध जलमग्न स्थल होता है। अतएव वहाँ के बारहसिंगें को उथला पानी जमा रहनेवाली भूमि में रहना पड़ता है किन्तु मध्यप्रदेश में वह घास के मैदानों में रहता है जो शुष्क भूमि होती है। अतएव इन स्थानों के प्रकार की विभिन्नता के कारण बारहसिंगे में भी परिवर्तन देखा जाता है। मध्यप्रदेश के बारहसिंगे के पैर में छोटे, कड़े तथा गँठे हुए खुर होते हैं जिससे वह सूखी भूमि पर छलाँगें मारकर भाग सके किन्तु तराई के हरने वाले बारहसिंगे में पैरों के खुर बड़े, तथा बाहर की ओर फैले हुए होते हैं। उनकी सहायता से उन्हें जलमग्न भूखंडों में चलने में सुविधा होती है।

कानों की रचना का उदाहरण लीजिये। शंबर (साँभर) तथा न्यंकु (बारहसिंगे) में लंबे फैले हुए कान होते हैं किन्तु पृषत् या चित्रक मृग के कान अधिक छोटे और गँठे हुए होते हैं। इनके जीवन-क्रम पर विचार करें तो ज्ञात होता है कि साँभर गहन वनों का निवासी है तथा बारहसिंगे को लंबोतरी घासों के मध्य छिपते पाया जाता है। इन स्थितियों में साँभर और बारहसिंगे की दृष्टि सीमित क्षेत्र तक ही जा सकने वाली होती है अतएव इनकी श्रवण शक्ति प्रबल होना आवश्यक होता है। बड़े कानों में विस्तृत क्षेत्र होने से अधिक से अधिक शब्द ग्रहण कर सकने की शक्ति होती है, किन्तु पृषत् मृग (चीतल) तो अधिक खुल स्थानों में रहता है, इसलिए उसकी दृष्टि का क्षेत्र अवरुद्ध नहीं होता, फलतः श्रवण शक्ति प्रबल रखने की आवश्यकता ही नहीं होती।

इस दृष्टि से ज्ञात होता है कि जो मृग मैदानों, जङ्गल के बाहरी छोरों आदि में रहते हैं उनमें दृष्टि शक्ति ही आवश्यक होती है, इस कारण श्रवणशक्ति का विशेष विकास नहीं हुआ रहता। इसके विपरीत जो मृग घने बनों, झाड़-झंखाड़ों, घनी घासों या अन्य घिरे स्थलों में रहते हैं जहाँ दृष्टि के फैलाव की सीमा अधिक नहीं हो सकती उनमें श्रवण शक्ति ही विशेष विकसित रहती है। दृष्टि शक्ति के विशेष विकास की आवश्यकता नहीं होती।

सभी मृगों में मुख के सामने के भाग में ग्रंथियाँ होती हैं, परन्तु शंबर में मुखाग्र-ग्रंथियाँ सबसे बड़ी पाई जाती हैं। वे अत्यधिक विकसित भी होती हैं। उसका मुख्य कारण यही हो सकता है कि वह घने जङ्गल का रहने वाला होता है। अतएव उस वातावरण में मृगियों को अपनी ओर आकर्षित करना कठिन ही हो सकता है। उसके लिए नर शंबर की उच्च पुकार तथा मुखाग्रीय ग्रंथि की तीव्र वास मृगी को आकर्षित करने के लिए यथेष्ट

होती है। गर्भाधान या प्रेमासक्ति काल में ही मुखाग्रीय वास-ग्रंथि सबसे अधिक विकसित हुई रहती है। पृषत् (चित्रक) तथा न्यंकु (बारहसिंगे) में मुखाग्रीय वास-ग्रंथि उतनी अधिक विकसित रखने की आवश्यकता नहीं होती। इनमें नर मृगों का परस्पर युद्ध मृगियों के सम्मुख होता है। विजयी मृग की ओर मृगियाँ अनायास ही आकर्षित हो जाती हैं।

ऋतुओं के परिवर्तन का भी मृगों के रङ्ग पर प्रभाव पड़ता है। वह परिवर्तन प्रकृति उनके जीवन-क्रम में सुविधा लाने के लिए करती है। उदाहरणतः ग्रीष्मऋतु में हलके रङ्ग के पुट युक्त बाल होते हैं परन्तु जाड़े में गहरे रङ्ग के बाल हो जाते है। जंगलों में वर्षा के बाद वनस्पति की भारी बाढ़ हुई रहती है, इस कारण जाड़े में उनकी सघन छाया में गहरे रंग के मृग भली-भाँति विचरण करते हैं। उनको दूर से शीघ्र देखा नहीं जा सकता परन्तु ग्रीष्मकाल में पत्तियों की विरलता के कारण धरातल पर धूप अधिक आती है। उसमें हल्के रंगों की पुट युक्त अधिकांश मृग होते हैं, अतएव उनका शरीर उस धूप में छिप जाता है। गर्मी की ऋतु में उनके शरीर का रंग प्रायः चित्रित होता है। धब्बों के होने से विरल पत्तियों से छन-छन कर आती हुई धूप और छाया के मिश्रित धूप-छाँह के अनुरूप ही उनका चित्रित शरीर हो जाता है।

काश्मीरी मृग शावक, मादा और अल्पवय मृग प्रायः चित्रित रूप रखते हैं। न्यंकु (बारहसिंगे) और शूकर मृगों की भी यही दशा होती है। उनके शरीर पर श्वेत या अपेक्षाकृत हल्के रङ्ग के बालों का बीच-बीच में मिश्रित रूप होता है। इस तरह का छींटदार रूप उनकी रक्षा में अधिक सहायक होता है। उनके शरीर का सपाट रङ्ग छींटों के या धब्बों के कारण खंडित हो जाता है और धूप-छाँह के वातावरण में अधिक दृश्य नहीं हो सकता। ऐसी व्यवस्था को ही जन्तुओं की रूपरंग-वंचकता कह सकते हैं।

शीत देशों में इसके विपरीत व्यवस्था होती है। वहाँ तो शीतकाल में वृक्षों की सारी पत्तियाँ विनष्ट हो गई होती हैं और घनी छाया की जगह पर खुला ही वातावरण होता है। उसमें तो हल्का रंग ही खप सकता है परन्तु शीतकाल के पश्चात् वसंत के आगमन पर जब वनस्पति जगत में शीतप्रदेश नव-जीवन का प्रभात देखते हैं तो उसके पश्चात् की ग्रीष्मऋतु में हमारे देश के समान उष्ण प्रदेशों की वर्षानन्तर ऋतु की घनी हरियाली उत्पन्न होती है, अतएव वहाँ ग्रीष्म में ही गहरे रंग के रोमों के पशु सहज छिपे रह सकते हैं।

जिन स्थानों में गर्मी तथा जाड़े की ऋतु के कारण वनस्पतियों के रूप में भारी अन्तर नहीं होता, वहाँ के पशु को अपने शरीर के बालों का रंग दोनों ऋतुओं में लगभग एक समान रखने से ही काम चल जाता है। उदाहरणतः शंबर (साँभर) मृग के रहने के स्थान जंगल हैं जहाँ धूप और छाया के रूप में गर्मी और जाड़े में भारी अन्तर नहीं होता। इस कारण शंबर मृग के शरीर पर गर्मी या जाड़े किसी ऋतु में चित्रित रूप नहीं होता। इसके विपक्ष पृषत् मृग (चीतल) दोनों ही ऋतुओं में अपने शरीर का रंग चित्रित (विन्दुकित) ही रखता है। उसके शरीर पर के विन्दुओं की रेखावत् फैली पंक्तियाँ प्रत्येक ऋतु में बनी ही रहती हैं। वह सघन बन में कभी नहीं रहता। विरल बनों में पत्तियों में छन कर आने वाली धूप धूप-छाँह का झिलमिल रूप नहीं बनाती जिसमें उसके शरीर का चित्रण किसी ऋतु में छिप सके। यह जंगलों में बाह्य अंचल में रहने वाला ही पशु है, जहाँ उसके शरीर का चटकीला चित्रण स्पष्ट दिखाई पड़ता रहता है। इस विषमता का कारण अज्ञात है।

न्यंकु (बारहसिंगा) में भी ऐसी कठिनाई होती है। वह तराई के जलमग्न स्थलों में रहता है जहाँ

लंबी घासों में उसका रूप छिप जाता है। परन्तु ग्रीष्म ऋतु में जब उनके शरीर का चित्रित रूप बन गया होता है, वे खुले स्थानों में चले आते हैं जहाँ की घास झुलस कर भूतल का नग्न रूप बनाए होती है। नई घास धीरे-धीरे उग ही रही होती है। खुले मैदान के उथले जल में भी वे पहुँचे होते हैं जहाँ उन्हें जलीय वनस्पति आहार के लिए प्राप्त होते रहते हैं। किन्तु इन दोनों ही प्रकार के वातावरणों में उनका चित्रित रूप ग्रीष्म काल में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। शूकर मृगों में भी ऐसी ही विषमता दिखाई पड़ सकती है। वे नदी-तटों पर उगे नरकुलों झाड़ियों आदि में चारा चरा करते हैं। परन्तु उनका शरीर चित्रित होने से छिपने का अवसर तनिक भी नहीं होता। ऐसा ज्ञात होता है कि अधिकांश मृगों में शिशु काल में अत्यंत स्पष्ट प्रदर्शित होने वाला चित्रित रूप उनके पूर्वजों के रहने के स्थान के अनुकूल व्यवस्था का ही चलता आ रहा रूप है जिसकी आज उन्हें आवश्यकता नहीं है। उनके जीवन यापन करने के क्षेत्र में अन्तर अवश्य पड़ गया है परन्तु अपनी व्यवस्था नई परिस्थिति के अनुरूप कर सकने में पिछड़ से गये हैं। शनैः-शनैः उसका लोप होता जा रहा है जिसे शंबर तथा कुछ अन्य जातियों के मृगों में पूर्ण हुआ देखा जाता है।

ऋतुओं के वार्षिक या दैनिक परिवर्तन के अनुसार पशुओं की वृत्ति में भी अंतर पड़ता है। पर्वतशृंग तथा पर्वत अधित्यका में से जिस समय जो उनके आहार तथा सहन शक्ति के अनुकूल हो सकता है, वहाँ वे निवास करते हैं। पर्वत शृंग पर हिमपात होने से वे नीचे की ओर या घाटी में उतरने की वृत्ति रखते हैं तथा हिमपात का अवसर व्यतीत होने पर ऊँचाई के स्थल पर चारा की प्रचुरता होने पर घाटियों को छोड़ कर ऊपर पहुँचते हैं। काश्मीरी मृग या हंगुल शीत काल पहाड़ की निचली ढालू जगहों पर व्यतीत करता है किन्तु ग्रीष्म में पर्वतों की चोटियों पर रहता है।

साँभर मृग को शीतकाल में मध्य प्रदेश में जलखंडों में पानी में बैठा देखा जाता है। कड़ाके का जाड़ा पड़ने पर पानी के तल पर से भाप उठती दिखाई पड़ती है। इससे स्पष्ट है कि ऊपरी वायुमंडल या स्थल की अपेक्षा जल अधिक गर्म रहता होगा। इसी कारण शरीर गर्म रखने के लिए साँभर मृग पानी में उतरते होंगे।

आर्द्रता तथा शुष्कता का भी प्रभाव पशुओं के जीवन क्रम पर पड़े बिना नहीं रह सकता। जिस दिन आर्द्रता अधिक होती है, मृग का घूमना फिरना अवरुद्ध सा रहता है। परन्तु शुष्कता के वातावरण मे वह घूमने फिरने में प्रवृत्त होता है किन्तु एक दूसरी विचित्र बात भी होती है। वास-ग्रन्थि आर्द्रता के वातावरण में वास का विशेष प्रसार करती है। परन्तु शीत तथा शुष्क वातावरण में वह क्रियाशून्य सी होती है। अतएव घोर अर्द्रता के वातावरण में मृग दल ग्रंथियों से प्रसारित गंध से प्रभावित होकर बहुत अधिक व्यग्र और उत्तेजित हो उठता है। किन्तु कुछ जातियों में इसके विपरीत ही प्रभाव देखा जाता है। शीत तथा शुष्क वातावरण में रक्त मृगों में अधिक इन्द्रियासक्ति पाई जाती है। घोर वर्षा के पश्चात् खुला आकाश होने पर मृगों में ही नहीं बल्कि अन्य पशु-पक्षियों में भी परिवर्तन के प्रति अपना आह्लाद उच्च स्वर से प्रकट करने का दृश्य देखा जाता है। वर्षा का साधारणतया मृग की जाति पर बहुत अधिक प्रभाव नहीं पाया जाता। सतत वर्षा होने पर उनकी गति अवश्य अवरुद्ध होती है। यदि वर्षा अत्यधिक हो और तापमान भी बढ़ा हो तो रक्त मृग पहाड़ की ऊँचाई पर सूखे ढालों पर चले जाते हैं। यथार्थतः इन सब बातों का प्रभाव भिन्न भिन्न भूभागों की विभिन्न जातियों के मृगों पर बड़े पैमाने पर निरीक्षण करने का अभी तक प्रयत्न नहीं हो सका है।

जंतु जगत में मृगों के स्थान पर विचार कर हम देखते हैं कि भिन्न-भिन्न प्रकार के भूभागों में भिन्न जातियों के मृगों का निवास है जहाँ वे वनस्पति के

अत्यधिक बाढ़ न्यून करने में अपनी उदरपूर्ति के साधारण व्यापार से योगदान करते हैं। भारत में जंगल के क्षेत्र में शंबर (सांभर), जंगलों के अंचल (किनारे किनारे के भाग) में पृषत (चीतल), जलमग्न तथा घास के मैदानों में न्यंकु (बारहसिंगा) तथा शीतोष्ण कटिबंध के बनों और ऊँची पर्वतमाला के ढालों पर काश्मीर मृग (हंगुल) का प्रसार है। इन स्थलों के विभिन्न हिंसक पशुओं का आहार बनकर ये अपनी संख्या नियंत्रित होने के प्राकृतिक विधान में सम्मिलित होने के लिए विवश रहते हैं। सब से बड़े आकार के मृगों को तो बाघ, तेंदुआ तथा बनकुत्ते आहार बनाते हैं। पृषत (चीतल) मृगों में से बहुतेरे तो घड़ियालों द्वारा पानी में घसीट कर मार डाले जाते हैं। नव संतान को अपेक्षाकृत छोटे हिसंक पशु ही अपना आहार बना लेते हैं। मनुष्य द्वारा प्राचीन काल से ही क्षात्र धर्म की रक्षा मृगया करने की चाल से लेकर आजकल के बंदूकधारियों की गोली द्वारा इनका सहज शिकार होने की कथा तो शिकार की कहानी हो सकती हैं।

जाति की जाति ही नष्ट न होने देने के लिए मृगों को प्रकृति द्वारा कुशलतापूर्वक विचक्षण इन्द्रियाँ ही नहीं प्रदान की गई हैं, प्रत्युत सहज पशुवृत्ति या आंतरिक प्रेरणा भी प्रदान की गई है। शत्रु से बचे रहने के लिए अत्यंत सतर्कता, संकट आगमन का अनुमान करने के लिए तीव्र घ्राण, श्रवण तथा दृष्टि शक्ति प्राप्त हुई रहती है। परन्तु इन सब गुणों से अधिक सहायक उनका भारी दल रूप में रहना है। न्यंकु (बारहसिंगे) तथा पृषत मृगों (चीतलों) का भारी झुंड जुट कर अपनी रक्षा करता है। उष्ण कटिबंध में मृगों में दल बनाकर रक्षा की भावना अधिक होती है। दल में न होकर अकेले-दुकेले रहने पर ही ये हिंसक पशुओं के सहज आखेट बन जाया करते हैं।

मनुष्य और हिंसक जन्तुओं के अतिरिक्त भी मृगों के शत्रु होते हैं। परोपजीवी कीट केवल उनका रक्त ही नहीं चूसते बल्कि ऐसे रूप के भी होते हैं जो उनके बालों में अपने अंडे देते हैं इन परोपजीवी क्षुद्रकाय आततायियों से जान छुड़ाने के लिए मृगों को भागते देखा जाता है। शंबर मृग इनसे ही छुटकारा पाने के लिए मानसून के गर्म लगने वाले सूखे दिनों में खुले भागों में भाग जाता है। उस समय कुछ आततायी मक्खियाँ बड़ी ही क्रियाशील होती हैं।

मृगों में अन्य पशुओं से हिल मिल कर रहने की प्रवृत्ति पृषक (चीतल) में सब से अधिक होती है। न्यंकु (बारहसिंगों), नील गाय तथा कृष्ण या शूकर तक के साथ मिलकर दल बनाए पड़ा रह सकता है। शंबर मृगों को न्यंकु (बारहसिंगे) के सम्पर्क में रहते देखा जाता है किन्तु शंबर मृग कभी भी साथ नहीं कर सकता। चीतलों के विशेष मित्र तो बंदर, लंगूर आदि जान पड़ते हैं। वृक्षों पर जहाँ बंदर फल खाकर फल और पत्तियाँ व्यर्थ में नीचे गिराते रहते हैं, उनको ही खाने के लिए नीचे मृग तथा वन्य ढोर एकत्र रह सकते हैं। मैना तथा अन्य पक्षी प्रायः मृग तथा ढोरों के साथ पाए जाते हैं। वे उनकी पीठ पर बैठ कर उनके शरीर से चिपके परोपजीवी कीटों, किलनियों आदि को खाते हैं। इन पशुओं के पैर से बाधा पहुँचने पर भूमि पर इधर उधर कूदने वाले कीटों को खाते हैं।

मृग वंशीय जातियों का हमारे देश में बहुसंख्यक प्रसार था। मनुष्यों के बधकार्य से उनकी संख्या तथा प्रसार-क्षेत्र न्यून हो गया है। एक प्रधान कारण है जिससे मनुष्यों द्वारा इनकी संख्या में भारी न्यूनता हुई। बात यह है कि मृगों में अधिकांशतः कोई पुष्टतम नर मृगियों की भारी संख्या एकाधिकृत कर गर्भाधान का अवसर देता है। कभी-कभी तो साठ मृगियाँ तक उसके वंश में हो सकती हैं। नर मृग अपने पौरुष के बल पर अन्य सभी प्रतिद्वन्द्वी नरों को दूर भगाता रहता है। यदि मनुष्य की दृष्टि पड़ी तो वह पहले पुष्ट नर मृग को ही मार कर अपनी आखेट वृत्ति पूर्ण करने का प्रयत्न करेगा।

परन्तु एक मृगराज के मरने से मृगवंश की भारी हानि हो जाती है। कोई पुष्टतम या प्रबलतम नर मृग प्रतिद्वन्दिता में विजयी हो कर जब मृगियों को गर्भाधान करने का अवसर देता है तो एक विशेष बात होती है। गर्भाधान कराने की वृत्ति आयु और बल के अनुसार ही अपेक्षाकृत पहले या बाद में उत्पन्न होती है। प्रबलतम नर मृग में सब से पहले यह वृत्ति उत्पन्न होगी। उसके गर्भाधान कराने का समय ऐसा होता है कि शिशु-जनन का अवसर आते आते धरा प्रचुर हरीतिमा युक्त हो गई होती है। चारों ओर चारे की बहुतायत होती है। शिशु के पालन पोषण में सुविधा होती है। यह शिशु-जनन काल भारत में वर्षा काल में होता है।

जब प्रबलतम मृग गर्भाधान कराने से किसी प्रकार वंचित होता है या मृग हो जाता है तो अपेक्षाकृत दुर्बल नर मृग ही गर्भाधान करा सकते हैं, परन्तु उन में गर्भाधान कराने की वृत्ति बाद में उत्पन्न होती है। प्रकृति का विधान ऐसा है कि प्रबल नर मृग जब मृगियों को गर्भाधान करा कर एकाकी जीवन व्यतीत करने या नरों की ही मंडली में रहने चला जाता है तो अपेक्षाकृत न्यून वय के किन्तु प्रौढ़ अवस्था के, गर्भाधान करने की शक्ति से सम्पन्न, नर मृग कुछ मृगियों को उस समय तक गर्भान्वित होने का अवसर न मिल सकने पर उन्हें गर्भाधान कराने का अवसर पाते हैं। उनकी संतान निश्चय ही उतनी पुष्ट नहीं हो सकती। उनका जनन आहार की न्यूनता होने लगने पर ही नहीं होता, बल्कि शीत का भी घोर प्रकोप हो चुके रहने से संतानों में से कितनी मृत भी हो जाती हैं।

अधिकांश मृगों को दलप्रिय पाया जाता है, परन्तु विचित्रता यह है कि प्रायः मृगियाँ ही पारिवरिक दल बनातीं तथा उसका अनुशासन अपने हाथ रखती हैं। सारा दल उस दलपति के निर्देशानुसार चलता है। परन्तु दल में मृगियाँ, मृगशावक तथा प्रौढ़ता को प्राप्त न हो सके नर ही विद्यमान होते हैं। नर प्रौढ़ होते ही दल छोड़कर पृथक हो जाते हैं और कहीं एकाकी या अन्य प्रौढ़ नरों के साथ दल बना कर वर्ष भर रहते हैं। प्रायः प्रौढ़ बने नर मृग अपनी युवक मंडली पृथक बनाते हैं। जब गर्भाधान ऋतु का आगमन होता है तो नरों की मंडली में उत्पात, खलबली, कलह आदि का उद्रेक होता है। प्रबल मृग दुर्बल नरों को भगाता है और अपनी शक्ति के अनुसार अधिक से अधिक मृगियों के दल पर अधिकार करना चाहता है। वह सब मृगियों को एक बारगी ही गर्भाधान कराने में प्रवृत्त नहीं होता। कुछ को गर्भाधान कराकर कुछ विश्राम के लिए वह एकाकी जीवन व्यतीत कर या पुनः शक्ति संचय कर मृगियों के दल में आता है। प्रबलतम या पूर्णतः अगली गर्भाधान ऋतु तक के लिए हट जाने पर अन्य नर गर्भाधान कराते हैं। ऐसा भी हो सकता है कि गर्भाधान कराने में प्रवृत न होनेवाले दो एक अन्य नर गर्भाधान ऋतु में प्रबलतम नर मृग के साथ प्रहरी की भाँति रहें।

पारस्परिक संबंध बनाए रखने के लिए मृगों में वास ग्रंथि की व्यवस्था व्यापक रूप में पाई जाती है। अधिकांश मृगों में आँखों के नीचे मुख में सामने वास ग्रंथियाँ होती हैं। मुंतजक (पिंडल मुखी मृग) में भाल पर भी वास-ग्रन्थि होती हैं। ये वास-ग्रंथियाँ विशेषतया गर्भाधान ऋतु में सक्रिय होती हैं। वे मृगियों को आकर्शित करने का साधन होती हैं। जो सघन बनों में रहते हैं, उन मृगों की जातियों के लिए वे अधिक सहायक होती हैं। उनकी मुखाग्रीय वास-ग्रंथियाँ दीर्घकाय और अत्यधिक विकसित होती है। इनके अतिरिक्त अधिकांश मृगों में खुरों के मध्य भी वास-ग्रंथियाँ होती हैं। गुल्फ के भीतरी तल पर रोम-गुच्छ इनकी स्थिति प्रकट करते हैं। जहाँ जहाँ मृग जाते हैं, खुर की वास-ग्रंथियाँ उनके पगचिन्हों को वासित कर दल के अन्य भूले भटके मृगों का मार्ग-निर्देश करती है।

मृगियों द्वारा दलस्थापन एक अद्भुत घटना है। इनके ऊपर ही शिशुओं के पोषण का भार होने से

वंश रक्षा का भी भार होता है। वे पारिवारिक दल ही बना कर रहती हैं किन्तु कई पारिवारिक दलों का भी संयुक्त झुंड होता है जिसमें कोई मृगी दलपति बनाली जाती है और अन्य सब उसी का अनुसरण करते हैं। किसी का उससे विरोध या रागद्वेष नहीं होता। जब कहीं सारे दल को जाना होता है, दलपति मृगी आगे होती है। वह रह-रह कर सिर उठाती, सूँघती, कान मोड़ती तथा नेत्र विस्फारित करती है, जिससे कोई आगामी संकट उसके नाक, कान तथा नेत्रों द्वारा आभासित हो सके। यही नहीं, शिशु अवस्था में रहने पर भी मृगी नर-शावक की अपेक्षा अधिक सचेत रहती है। नर-शावक तो दल से पृथक होने पर प्रौढ़ावस्था में जीवन-सूत्र अपने हाथ में लेने पर ही सजग होते हैं। गर्भाधान काल में भी मृगी अपने दलपति आसन को त्यक्त नहीं करती। नर मृग की वृत्ति तो अधिक से अधिक मृगियों को किसी अन्य नर के हाथ में नहीं पड़ने देना होती हैं। कोई संकट की सूचना मिलने पर उस समय भी सारा दल मृगी दलपति के ही नेतृत्व में चैतन्य हो उठाता है। यदि संघर्ष हो तब नर मृगी-दल के साथ रह सकता है या स्वतंत्र मार्ग पकड़ता है।

नर मृगों का दल ठीक तरह दल नहीं कहा जा सकता। वहाँ न तो कोई दलपति या नेता होता है और न कोई अनुयायी। पूरा प्रजातान्त्रिक संगठन ही होता है जिसमें प्रत्येक स्वच्छंद होता है। रक्त मृगों में मृगी का दल ग्रीष्म काल में तो पहाड़ों के ऊपर रहता है और शीत काल में घाटियों में चला आता है। यह शीतकालीन आवास क्षेत्र ही गर्भाधान क्षेत्र भी होता है जहाँ नर मृग अपने ग्रीष्म निवासों से मृगियों के दल के पास आ जाते हैं। और अन्य प्रतिद्वन्द्वियों को हराकर उसे अपना अधिकार-क्षेत्र बनाते हैं। किन्तु भारतीय मृगों का विशेष अध्ययन नहीं हो सका है।

काश्मीरी मृग रक्त मृग का निकट संबंधी होता है। शीतोष्ण कटिबंध में इसका भी निवास होता है। तीन वर्ष पर इसके शावक प्रौढ़ होते हैं। तब तक वे मृगी दल में ही पड़े रहते हैं। ये दल ग्रीष्म में पर्वत श्रृंगों पर तथा शीत काल में घाटियों में निवास करते हैं। गर्भाधान कार्य घाटियों में होता है। वहाँ नर मृग गर्भाधान करने आते हैं और पुनः अन्य क्षेत्रों में चले जाते हैं। न्यंकु भी ऐसी ही वृत्ति रखते हैं। नर न्यंकु (बारहसिंगा) दिसंबर से मार्च तक मृगी दल में आकर गर्भाधान कराते हैं। मध्य दिसंबर से मध्य जनवरी तक सर्वाधिक गर्भाधान काल कहा जा सकता है। तीस मृगियों तक को एकत्र रख कर गर्भाधान कराने के बाद नर न्यंकु (बारह-सिंगा) अपने एकाकी जीवन में लिप्त होने चला जाता है। प्रबलतम नर मृगी दल में रहने पर अन्य नर भी कहीं आस-पास दुबके पड़े रहते हैं। कहीं किसी प्रतिद्वन्दी नर का पीछा करने के लिए प्रबल-तम नर मृग दूर तक चला जाता है तो उस अल्प-काल में ही कोई अन्य नर मृग मृगी-दल में आकर गर्भाधान कराने में लिप्त हो सकता है।

शम्बर मृगों की गर्भाधान विधि दूसरे प्रकार की होती है। वह साधन बनों का निवासी है, इसलिए मृगी-मंडल को एकत्र करने और उनके सम्मुख अन्य नर मृगों से युद्ध करने का अवसर नहीं हो सकता। अतएव वह दूसरा मार्ग ग्रहण करता है। वह किसी विशेष भूभाग पर अधिकार करने के लिए ही अन्य नर मृगों से तुमुल युद्ध करता है। एक बार विजयी होने पर वह अन्य नर मृगों को वहाँ से भागा देता है और उस जंगल भर की मृगियों पर उसका अधिकार हो जाता है। उन्हें वह अपनी चिंघाड़ तथा तीव्र वास-ग्रंथियों की सक्रियता से आकृष्ट करता है। किन्तु अन्य व्यवस्था अन्य मृगों सी ही होती है। गर्भाधन कराकर नर मृग दूर चला जाता है।

पृषत या चीतल मृग जंगलों के छोर पर खुले स्थानों में रहता है इसलिए मृगी दल के सम्मुख नर मृग अपना श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए संघर्ष करते हैं। किन्तु उनमें नर और मादा का पार्थक्य उतना स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ता। नर और मादा मृग

[शेष १७२ पर]

मवेशियों के छूत के रोग (२)

पकुआ (रिंडरपेस्ट)

पकुआ या रिंडरपेस्ट मवेशियों की एक बड़ी खतरनाक बीमारी है। यह छूत द्वारा तेजी से फैलती है। हमारे देश में बीमारी से कुल जितने मवेशी मरते हैं उनमें ५० फीसदी रिंडरपेस्ट बीमारी से ही मरते हैं। घोड़ों को छोड़ कर यह सभी घास खाने वाले जानवरों को होती है।

पहचान—रिंडरपेस्ट बीमारी का असर होने पर मवेशी को बुखार हो जाता है। बीमारी की छूत लगने के तीन से सात दिन के भीतर बुखार हो आता है और दो चार दिन तक रहता है। ओठ, मसूड़ों, जीभ की निचली तह की झिल्ली पर छोटे-छोटे दाने निकलते हैं। उसके फूटने पर घाव हो जाता है। आँख, नथनों और मुँह से गाढ़ी चीज निकलती है। गोबर के साथ आँव और खून आता है। बदबूदार पतली दस्त होती है। आखीर में मवेशी की मौत हो जाती है। बीमारी की ये सब सूरतें हमेशा हर मवेशी में दिखाई पड़ना जरूरी नहीं। इनमें थोड़े ही लक्षण दिखाई पड़ सकते हैं, लेकिन

श्रृङ्गपाती (मृग) वंश—(पृष्ठ १७१ का शेषांश)

साल भर तक साथ रहते दिखाई पड़ सकते हैं। गर्भाधान की विशेष सक्रियता किसी विशेष समय अवश्य पाई जाती है, परन्तु वर्ष के किसी भी मास में उसकी सन्तान उत्पन्न होती पाई जाती है।

शूकर मृग, पिंडलमुखी (मुंतजक) तथा कस्तूरी मृग आदि छोटे मृग उतने अधिक दलबद्ध नहीं होते। दो या तीन शूकर मृग से अधिक एकत्र नहीं मिलते। नर और मादा दोनों ही एकाकी रहते हैं। पिंडलमुखी (मुंतजक) एकाकी, जोड़े या पारिवारिक दल रूप में रहते हैं। नर ही दलपति हो सकता है। नर कलहप्रिय होता है। वर्ष भर वह लड़ता मिल सकता है। शावक वर्ष भर में ही प्रौढ़ हो जाते हैं।

कस्तूरी मृग तथा चीन के जल मृग को छोड़ कर इस वंश की सब जातियों नर श्रृंगपाती सींगों युक्त होते हैं। रेनडियर में मादा में भी सींगें होती हैं। मृगों की विभिन्न जातियाँ संसार भर में फैली हैं, किन्तु आस्ट्रेलिया, सहारा के दक्षिण अफ्रीका तथा मेडागास्कर में मृग नहीं होते।*

---

* "खुर वाले जानवर" से

इनमें से कोई न कोई लक्षण इस बीमारी में जरूर दिखाई पड़ता है। मुँह के अंदर और जीभ मसूड़े वगैरह के ऊपर दाने पहले निकलते हैं। दस्त और आँव बाद में शुरू होता है। दस्त शुरू हो जाने पर बुखार कम हो जाता है।

रिंडरपेस्ट की तीन हालतें होती हैं। एक दूसरी के बाद वे दिखाई पड़ती हैं।

पहली हालत—मवेशी के बदन में सुस्ती रहती है। रोएँ खड़े हो जाते हैं, बदन थरथराने लगाता है। मुँह गर्म हो जाता है उसके भीतर की चमड़ी या झिल्ली में खून जम जाता है। मवेशी ढाँसता है, कान लटक जाते हैं कभी-कभी कब्ज़ सी हो जाया करती है। गोबर या मेंगनी के ऊपर आँव सा लगा निकलता है। भूख कम हो जाती है। प्यास अधिक लगती है। जुगाली कम और धीरे-धीरे करता है। बदन पर माँस पेशी जगह-जगह, खास कर पीठ, कंधों और पुट्ठों पर ऐंठ जाती है। चारों टांगें करीब-करीब हो जाती हैं, जानवर दाँत पीसता और जम्हाई लेता है। उसकी रीढ़ की हड्डी दुखने लगती है। नब्ज की चाल तेज़ हो जाती है।

दूसरी हालत—बदन के हिस्सों में, खास कर मुँह, कान, सींग और रानों में सर्दी गर्मी घटती बढ़ती रहती है, कभी वे गर्म हो जाते हैं, कभी ठंडे हो जाते हैं। साँस बहुत तेज चलने लगती है। भूख कम हो जाती है। जानवर जुगाली करना बन्द कर देता है। आँख से कुछ कीचड़ निकलने लगता है। बुखार बहुत तेज चढ़ जाता है। प्यास ज्यादा लगती है। चारा निगला नहीं जाता। रीढ़ की हड्डी में ज्यादा दर्द होने लगता है। मांस पेशियों में पहले से ज्यादा ऐंठन हो जाती है। नाड़ी बहुत तेज हो जाती है। मसूड़े, गाल के भीतर की झिल्ली और मुँह के भीतर के नोकदार रेशे लाल पड़ जाते हैं। गोबर या मेंगनी पर आँव और खून लगा रहता है। पाखाने की नली के भीतर और मादा जानवरों के पेशाब के रास्ते के भीतर की झिल्ली बहुत लाल और सूखी हो जाती है। गोबर या मेंगनी गिराने की इच्छा जानवर को होती है लेकिन वह निकाल नहीं पाता। कभी काँच भी बाहर निकल आती है। कभी कभी मादा जानवर के पेशाब के रास्ते का भीतरी भाग बाहर निकल आता है। जानवर बैठ जाता है और मुँह फेर लेता है।

तीसरी हालत—बीमार जानवर की आँख, नाक और मुँह से बहुत चिपचिपा मवाद सा निकलता है। गाल के भीतर, तालू, जीभ और मुँह के कोने पर नर्म चमड़ी या झिल्ली छिल जाती है और उस पर पीले रंग के दाने निकल आते हैं। कभी कभी आँख की पलकों और नाक के भीतर की झिल्ली भी छिल जाती है और उन छिली जगहों पर पीले दाने निकले दिखाई पड़ते हैं। इसके बाद

दस्त शुरू हो जाती है। उस में बड़ी बदबू रहती है। सामने के कुतरने या काटने वाले दाँत हिलने लगते हैं। दस्त में पहले गोबर या मेंगनी के सख्त और छोटे मोटे टुकड़े निकलते हैं। उन पर आँव और खून लगा रहता है। पतला दस्त भी आ सकता है लेकिन बाद में पतले दस्त ही शुरू होते हैं। उनमें बदबू होती है। दस्त में खून मिला होता है। कभी कभी खाल के नीचे सूजन हो जाती है, बदन में कमजोरी बढ़ जाती है। प्यास बराबर लगती रहती है लेकिन चारा निगलना मुश्किल होता है। फिर खाँसी आने लगती है। और खाल, सींग, कान, टांग और मुँह ठंडे पड़ जाते हैं। गाभिन गायें कभी कभी बच्चा गिरा देती हैं। जानवर खड़ा नहीं रह सकता। कमजोरी के कारण लेट जाता है। वह कराहता रहता है। साँस लेने में रुकावट होती है और वह डकारता है। नब्ज धीमी हो जाती है। कभी-कभी गलकम्बल या सासना (गले में लटकी चमड़ी), थन और, जाँघ में कंधों और पसलियों के पास खाल पर दाने उभड़ आते हैं। लेकिन ये दाने किसी-किसी जानवर में ही निकलते हैं। वह भी खास कर गर्मी के मौसम में इस बीमारी का हमला होने पर। जब ऐसे दाने निकलते हैं तो जानवर के दस्त और आँव नहीं आता। जानवर प्रायः अच्छा हो जाता है। ये दाने न निकले हों और जानवर में दस्त और आँव जोर से आते ही रहें तो उनकी मौत दो से छः दिन के भीतर जरूर हो जाया करती है। शुरू में ही बीमारी बिगड़ जाने पर सरेसाम (त्रिदोष) की सी हालत हो जाती है, जानवर इधर-उधर उछल कर गिर पड़ता और मर जाता है।

बीमारी की मीयाद

रिंडरपेस्ट चौबीस घंटे से लेकर बारह या सोलह दिन तक जानवर में रह सकती है, लेकिन प्रायः तीन से लेकर नौ दिन तक रहती है।

इलाज और बचाव

हमारे देश में रिंडरपेस्ट बीमारी हमेशा कुछ न कुछ बनी रहती है। इस लिए शायद इसका बहुत जोर से हमला नहीं होता। लेकिन दूसरे देशों में यह साल भर न रह कर किसी-किसी समय ही उभड़ती है। इस लिए नुकसान अधिक हो सकता है और उसके इलाज और बचाव के उपाय भी बड़ी मुस्तैदी से किये जाते हैं। बीमारी का असर होने वाले मवेशी के इलाज और दूसरे जानवरों को बचाव का टीका लगाने का काम सरकारी महकमे का है। बीमारी की खबर दी जाने पर उसका इन्तजाम होता है लेकिन मामूली जानकारी के लिए कुछ बातें बताई जा सकती हैं।

बीमार पड़े हुए मवेशी को ऐंटी रिंडर-पेस्ट सिरम का टीका लगाया जाता है। तन्दुरुस्त जानवर को सिर्फ इस बीमारी से बचाव के लिये गोट टिशू वाइरस का टीका लगाया जाता है।

इसे ही जी० टी० वाइरस भी नाम दिया गया है। इसकी जगह लेपिनाइज्ड वाइरस शायद अच्छा साबित हो। जो जानवर गाभिन होते हैं या दूध देते रहते हैं उनको इलाज और बचाव दोनों ही तरह के टीके लगाए जाते है। ऐसा करने से बच्चा गिर जाने या दूध में कुछ समय के लिए कमी होने का डर नहीं रहता। बचाव वाली दवा सिर्फ वाइरस का टीका लगाने से उसका उन पर कुछ बुरा असर पड़ सकता है।

रिंडरपेस्ट बीमारी का असर होने वाले मवेशियों को दूसरे देशों में इलाज कर बचाना मुश्किल होता है लेकिन हमारे देश में इलाज करने से कुछ फायदा हो सकता है। जानवर कभी-कभी अच्छे हो जाते हैं। फिर भी दवा से अच्छा होने पर भरोसा न कर बीमारी का पास पड़ोस में हमला दिखाई पड़ते ही सब जानवरों को बचाव का टीका लगवा लेना चाहिए।

रिंडरपेस्ट से बचाव का टीका लगवाने में जानवर को कुछ भी तकलीफ नहीं होती। टीका लगाने की जगह पर जरा सी सूजन होती है। टीका से बहुत लाभ होता है। जानवर को दूसरे बीमार जानवरों का साथ होने से यह बीमारी होने का डर नहीं रहता। बचाव का टीका लगवाने पर जानवर को बेकार बैठा रखने की जरूरत नहीं होती। इतना जरूर है कि सभी जानवरों को बचाव का टीका लग सके तो यह बीमारी बिल्कुल दिखाई नहीं पड़ सकती लेकिन कुछ को बचाव का टीका लगा हो तो एक-एक कर उनमें बीमारी बनी रह सकती है। इसलिए टीका से उतना फायदा नहीं पहुँचता।

टीका लग जाने के बाद जानवर को बीमार जानवरों के साथ भी रखने में कुछ बीमारी का डर नहीं रहता। यदि बचाव का टीका लगे हुए किसी जानवर में कभी रिंडरपेस्ट उभड़ने के कुछ लक्षण दिखाई भी पड़ें तो वे जोरदार या खतरनाक नहीं हो सकते। टीका लगे हुए जानवर में तो एक बार थोड़े भी बीमारी के लक्षण दिखाई पड़ने पर यह बीमारी फिर कभी भी न उभड़ने का पूरा निश्चय हो जाता है।

रिंडरपेस्ट से बचाव का टीका लगाने का अच्छा मौसम अक्टूबर से फरवरी तक जाड़े के महीने हैं। एक बार बचाव का टीका लगने पर जानवर पर पाँच बरस तक इस बीमारी का डर नहीं रहता।

रिंडरपेस्ट से बीमार हुए जानवरों की सेवा और देख-भाल बड़ी होशियारी से करना चाहिए। उनके माफिक चारा देकर कमजोर न होने देना चाहिए। पहली हालत की बीमारी होने पर जानवर को जो कब्ज की शिकायत होती है उसके लिए चार तोले से लेकर आठ तोले (डेढ़ औंस से तीन औंस तक) लाहौरी नमक या मामूली नमक ही देना चाहिए। वह जुलाब का काम करता है। कब्ज दूर न होने तक दिन में एक दो बार इसे देना ठीक है। गरम पानी या तेल भी दो तीन बार पिलाया जा सकता है लेकिन तेज जुलाब

की दवा हरगिज नहीं देनी चाहिए। एक दो ड्राम कुनैन भी कुछ फायदा करता है।

जब जानवर को दस्त आने लगें तो बीमारी की उस दूसरी हालत में नीचे लिखी दवा दी जा सकती है।

पिसी हुई खरियामिट्टी	आधी छटाँक (एक औंस)
कत्था	चौथाई छटाँक
सोंठ	चौथाई छटाँक
अफीम	तीन दुअन्नी भर (१ ड्राम)
शराब	एक छटाँक

इस सब को अच्छी तरह मिला कर दस छटाँक अलसी के माँड़ के साथ देना चाहिए। दस्त बन्द न होने तक सुबह शाम देते रहना चाहिए। दस्त बन्द होने पर दवा बन्द कर दी जाय। चावल का दलिया, नरम और हरी घास या चारा खाने को दिया जाय। चावल के दलिया में थोड़ा सेंधा नमक मिला लिया जाय। नमक का टुकड़ा चाटने को दिया जा सकता है। कड़ा और सूखा चारा बिल्कुल नहीं देना चाहिए। वह पच नहीं सकता। बीमारी फिर उभड़ सकती है।

रिंडरपेस्ट बीमारी भेड़ बकरियों को भी हो जाती है। उन्हें मवेशियों की ही तरह टीका लगता है। दवा भी वही है लेकिन मवेशियों के मुकाबले दवा की खूराक कम कर देनी चाहिए। बड़े मवेशियों की खूराक का छठा हिस्सा ही भेड़ बकरियों के लिए काफी है।

खुर मुँह पका रोग (फूट ऐंड माउथ डिज़ीज)

खुर-मुँह पका रोग गाय, भैंस और भेड़ बकरियों को बड़ी तेजी से होता है। सूअरों और चिड़ियों को भी होता है। बीमार गाय का दूध पीने से यह कभी कभी आदमियों को भी हो जाया करता है। यह बारहों महीने देश के किसी न किसी भाग में फैला रहता है। एक ही जानवर को यह बीमारी जिंदगी भर में कई बार हो सकती है। यह बहुत ही तेजी से छूत द्वारा फैलने वाली बीमारी है। कम उम्र के जानवरों को छोड़ कर यह सयाने मवेशियों के लिए मौत का कारण नहीं होती लेकिन नुकसान बहुत होता है। इस बीमारी में पड़ा मवेशी १५ दिन के लिए बेकार हो जाता है जिससे खेती के काम में करोड़ों रुपए की हानि होती है। इस बीमारी से दूध में भारी कमी हो जाने से नुकसान पहुँचता है।

रोग की पहचान

जानवर को इस रोग के कारण बुखार हो जाता है। मुँह से राल बहता है। जानवर अपने घाव वाले पैर को झटकता रहता है। मुँह और खुरी के बीच छाले पड़ जाते हैं। कभी कभी पैरों में घाव हो जाता है जिसमें कीड़े पड़ जाते हैं और खुरी गिर जाती है। इस रोग में बुखार के साथ मुँह, पैर और ऐन पर साथ छाले पड़ते है या सिर्फ मुँह में या सिर्फ

पैर में ही छाले पड़ते हैं। पैर में भी बाहरी चमड़े पर या खुरी के बीच में या दोनों ही जगहों में छाले पड़े होते हैं। किसी हालत में तो मुँह में छाले पहले पड़ते हैं और किसी हालत में पैर या खुरी के बीच छाले पहले दिखाई पड़ते हैं।

यह रोग शुरू होने पर जानवर का बदन थर थर काँपने लगता है। फिर बुखार आता है, मुँह, सींग और पैर गर्म हो जाते हैं। ओठ से कुछ आवाज सी होती है। राल बहुत गिरता है फिर लोबिए के बीज के बराबर छाले मुँह, पैर, ऐन और थन पर दिखाई पड़ते हैं। नाक की भीतरी चमड़ी में भी कभी कभी छाले पड़ गए होते हैं। चौबीस घंटे के अंदर वे फूट कर लाल धब्बे बन जाते हैं। इन से जानवर को बड़ी तकलीफ होती है। वे धब्बे या तो अच्छे हो जाते हैं या घाव बनकर तकलीफ बढ़ाते हैं। मुँह में ज्यादातर जीभ की ऊपरी सतह पर अधिक छाले का जोर होता है। कभी कभी मसूड़े, तालू और गालों की झिल्ली पर भी छाले दिखाई देते हैं। पाँव में जहाँ पर दोनों खुरियों के चमड़े से मिलने की जगह और खुरियों के बीच के भाग में छाला पड़ने से जानवर लंगड़ाने लगता है। मुँह में छाले पड़ने और बुखार होने से जानवर खाना छोड़ देता है।

बैलों को जब खुर-मुँह पका रोग होता है तो उस हालत में उनसे काम लेने पर बीमारी बहुत जोर पकड़ जाती है। पैर फूल जाते हैं, खुर प्रायः गिर जाता है। टांगों में फोड़े भी निकल सकते हैं।

ऐन और थन पर छाले होने से उन पर सूजन हो आती है और दर्द होता है। गायों को जब यह बीमारी होती है तो उनका दूध पीने से उनके बछड़ों और बछियों को भी यह हो सकती है। गाय के थन में छाले होने पर यदि दूहने वाले के हाथ से वह छिल जाय या ऐन सूजन के साथ लाल पड़ जाय तो दूध दूहना मुश्किल हो जाता है। बीमार गाय को दूह कर तन्दुरुस्त गाय को दूहा जाय तो दूहने वाले के हाथ द्वारा बीमार गाय के ऐन से तन्दुरुस्त गाय तक बीमारी पहुँच सकती है। ऐसी हालत में बीमार गाय दूह लेने पर हाथ की सफ़ाई कर तन्दुरुस्त गाय दूहना चाहिए।

रिंडरपेस्ट और खुर-मुँह पका (फूट ऐंड माउथ डिज़ीज) में कभी समझने की भूल हो जाती है। हमारे देश में खुर-मुँह पका बीमारी में दस्त और आँव कभी नहीं आते लेकिन रिंडरपेस्ट में दस्त और आँव जरूर आते हैं। इसके अलावे रिंडरपेस्ट में पैर में छाले कभी नहीं पड़ते। यह बात जरूर मुमकिन है कि रिंडरपेस्ट और खुर-मुँह पका दोनों ही बीमारियाँ एक साथ ही किसी जानवर को हो जायँ।

रोग फैलने के कारण—खुर-मुँह-पका बीमारी का फैलाव हमेशा बीमार जानवर से ही किसी न किसी तरह तन्दुरुस्त जानवर

को होता है। कभी तो सीधे एक जानवर से दूसरे जानवर को बीमारी होती है। किसी जगह बीमारी हो तो वहाँ से चारा, घास वगैरह तन्दुरुस्त जानवर के खाने के लिए लाने से भी यह बीमारी तन्दुरुस्त जानवरों को हो सकती है।

रोग की मीयाद—बीमार जानवर की सेवा ठीक ढंग से हो तो तीन चार दिन में बुखार जाता रहता है। दस पन्द्रह दिन में वह बिल्कुल अच्छा हो जाता है लेकिन देखभाल ठीक न हो या मिहनत का काम लिया जाता रहे तो बुखार बढ़ जाता है, भूख बहुत कम हो जाती है। पैर पर और खुरी में छाले बढ़ सकते हैं, जिससे खुरी गिर जाय। टाँगों में सूजन हो जाती है और जानवर दस बारह दिनों में मर जाता है। जो जानवर अधिक मोटे ताजे और बड़ी नस्ल के होते हैं उनको इस बीमारी से बहुत तकलीफ होती है। छूत लगने के बाद चौबीस घंटे से लेकर तीन चार दिन तक में बीमारी का उभाड़ हो जाता है। ज्यादातर डेढ़ दिन में उभाड़ होता पाया जाता है।

रोग का इलाज—मुँह के छालों के लिए दो फीसदी फिटकरी के घोल का इस्तेमाल किया जाय। पहले मामूली गर्म पानी से मुँह धोकर सवा तोला (४ ड्राम) फिटकरी को दस छटाँक पानी में घोलकर हलक के अंदर तक धोया जाय या उसे छालों पर लगाया जाय। फिटकरी की जगह सुहागा ही घोलकर भी मुँह धोने के काम लाया जा सकता है।

पाँव और खुर के छालों के लिए एक फीसदी का तूतिया या फेनायल का घोल इस्तेमाल किया जाय। नीचे बताए नुस्खे के मलहम या चूरे भी काम में लाए जा सकते हैं।

पहला (मलहम)—कपूर एक हिस्सा और मीठा तेल चार हिस्सा,

दूसरा (चूरा)—

खड़िया मिट्टी	दो छटाँक (४ औंस)
कोयला	आधी छटाँक
फिटकरी	चौथाई छटाँक
तूतिया	चौथाई छटाँक

इन सब को पीसकर सूखा चूरा बना लेना चाहिए और पाँव के घावों पर सूखा छिड़कना चाहिए।

ज्वर होने पर नीचे की कोई दवा दिन में दो बार पिलानी चाहिए :—

पहली—कपूर छ दुअन्नी भर (दो ड्राम)
शोरा एक तोला (तीन ड्राम)
शराब एक छटाँक (दो औंस)

कपूर शराब में घोलकर शोरा मिला लेना चाहिए और सवा सेर पानी में मिलाना चाहिए।

दूसरी दवा—

लाहौरी या सेंधा नमक	ढाई तोला (१ औंस)
शोरा	सवा तोला (४ ड्राम)
पिसा चिरायता	ढाई तोला
शीरा	दो छटाँक

इन दवाओं को सवा सेर पानी में मिला-कर पिलाना चाहिए।

रोग से बचाव का उपाय—दूसरी छूत की बीमारियों से बचने की मामूली उपायों को इससे बचने के लिए भी करना चाहिए। कोई ठीक वैक्सीन या सिरम खोज निकालने पर इससे भी बचाव का तरीका जरूर ही किसी दिन मालूम हो सकेगा लेकिन एक मामूली उपाय से फायदा देखा जाता है। जिस जानवर को मामूली खुर-मुँह पका रोग हुआ हो उसके मुँह की झाग लेकर तन्दुरुस्त जानवर के मुँह में लगाई जाय तो उस पर इस रोग का हमला उतना नहीं होता। एक वैक्सीन कुछ बचाव करने के लिए काम करता दिखाई पड़ता है। उसका ज्यादा इस्तेमाल नहीं किया जा रहा है।

चारा—बीमार जानवर को सिर्फ हरी घास देनी चाहिए। नई निकली नर्म घास जल्द पच सकती है। चावल का पसला माँड़ दिन में एक दो बार पिला देना चाहिए। उस में डेढ़ छटाँक गुड़ या राब और आधी छटाँक नमक मिला लेना चाहिए।

गाय का चेचक

गाय का चेचक बुखार से शुरू होता है और चमड़े पर फफोले निकलते हैं जो ज्यादा-तर सिर्फ ऐन और थन पर होते हैं। वे फफोले प्रायः पाँच हालतों को पार करते हैं। (१) सुर्खी होती है। (२) फुंसियाँ निकलती हैं। (३) फफोले पड़ते हैं। (४) घाव बन जाता है। (५) सूखकर पपड़ी पड़ जाती है।

यह बीमारी छूत से बहुत तेज फैलने वाली है। अकसर इसके साथ ऐन की सूजन हो जाने की बीमारी भी हो जाया करती है। उस हालत में शुरू में ही और ठीक तरह देखभाल न की जाय तो वह बहुत खतरनाक हो जाती है।

इलाज और बचाव के उपाय

चेचक से बीमार जानवर को झुंड के दूसरे तन्दुरुस्त जानवरों से अलग कर लेना चाहिये। उसको दूहने वाला आदमी दूसरा ही होना चाहिए। यदि ऐसा न किया जा सके तो पहले तन्दुरुस्त गायें दूह कर बाद में बीमार गायें दूही जाया करें।

ऐन को रोज दो तीन बार पूरी तरह दूह लिया जाय।

पोटोशियम परमैंगनेट (कुएँ में छोड़ी जाने वाली लाल दवा) के कुछ रवे गर्म पानी में छोड़कर उससे ऐन को सेंकना चाहिए। उसे धीरे से साफ कपड़े से सुखा कर फफोलों के ऊपर वेस्लीन में १ से १० फीसदी तक बोरिक ऐसिड मिलाकर लगाना चाहिए।

थन में सूजन होने पर दस छटाँक पानी में आधा सेर सल्फेट आफ मेगनीशिया मिला कर या कोई दूसरी दस्तावर दवा पिलानी चाहिए। ऐन के ऊपर टिंचर आयडीन या कोई दूसरा मलहम लगा देना चाहिए। बोरिक ऐसिड मिली रूई से उसे सेंकना भी चाहिए। हर

हालत में मवेशी के डाक्टर से इलाज कराना बहुत अच्छा है।

गलाघोंटू (हिमोरेजिक सेप्टिसीमिया)

यह मवेशियों और भैंसों की खतरनाक बीमारी है जो छूत से होती है। बछड़े, बछियों और पड़वों, पड़ियों को यह जल्दी होती है। गाय के बनिस्बत भैंसों को यह बीमारी ज्यादा होती है लेकिन कभी-कभी तो घोड़ों को भी यह हो जाती है। कभी इस बीमारी का इतना जोरदार हमला होता है कि इसकी कोई पहचान भी नहीं हो पाती और जानवर मर जाता है।

बीमारी की पहचान—बहुत तेज बुखार हो आता है। गले, थूथन और जबड़े के नीचे गर्म और कड़ी सूजन हो जाती है। उसमें दर्द होता है। दबाने से भी सूजन नहीं दबती। जानवर के साँस लेने में बहुत रुकावट होती है। मालूम पड़ता है कि उसका दम घुटा जा रहा है। साँस में खरखराहट की भी आवाज होती है। जबान सूख जाती है। मुँह से बड़ी तेजी से राल निकलती है और नाक से लसदार चीज बहने लगती है। आँख और गले की भीतरी झिल्ली बैंगनी रंग की हो जाती है। बाद में खून मिले आँव या पतले दस्त भी होने लग जाते हैं। बीमार जानवर में ऊपर के लक्षणों में से कोई एक दिखलाई पड़ सकता है या सभी लक्षण पैदा हो सकते हैं।

गलाघोंट बीमारी से चौबीस घंटे के अन्दर जानवर की मौत हो जाती है। आम तौर पर दो घंटे से लेकर तीन दिन तक इसका हमला रह सकता है। इसलिए तीन दिन तक जानवर इस बीमारी में रह कर न मरे तो वह बच जाता है। इस बीमारी का जोर बरसात में या बरसात के बाद होता है। लेकिन दूसरे मौसमों में भी इसका हमला पाया जाता है।

गलाघोंटू बीमारी को मिट्टी द्वारा फैलने वाली बीमारी कहा जा सकता है। नीची जमीन में जहाँ हर साल बरसात का पानी भर जाया करता है, यह बीमारी जोरों से होती है। सड़ी गली घास या पानी में पैदा होने वाली घास खाने से यह बीमारी सीलन वाली जगहों के जानवरों को होती है। इस बीमारी में पड़े जानवर सौ में से अस्सी से लेकर सौ तक मर जाया करते हैं। बीमारी के इतना खतरनाक होने और इतनी जल्दी मौत पहुँचाने के कारण दवा बड़ी ही फुर्ती से कराना चाहिए।

इलाज और रोक—बीमारी हो जाने पर इलाज से फायदा होने की अधिक उम्मेद नहीं की जा सकती। इसलिए बचाव का ही उपाय जरूरी है। हर साल मवेशी के डाक्टर से बरसात शुरू होने के पहले जून महीने में उन इलाकों में टीका लगवा लेना ठीक है जहाँ इस बीमारी का हर साल जोर से हमला हुआ करता है। टीका वाली दवा का नाम हिमोरेजिक सेप्टीसीमिया वैक्सीन है। उसका मतलब

गलाघोंट रोग का टीका समझना चाहिए। यह टीका मवेशी का डाक्टर ही लगाता है। टीके का असर तीन महीने तक यानी बीमारी के भारी हमले के एक पूरे मौसम तक रहता है। इसलिए साल भर के लिए एक बार बीमारी के हमले के पहले टीका लगा-लेना काफी है।

जब बीमारी का जोर हो गया हो तो बीमार जानवरों के साथ वाले जानवरों को ऐंटी हिमोरेजिक सेप्टीसीमिया सिरम का टीका लगवाना चाहिए। पास पड़ोस के दूसरे जानवरों को बचाव वाला टीका (वैक्सीन) लगवाना चाहिए। जिस जगह चरने से यह बीमारी हो जाया करती है उस जगह मवेशियों को चरने न भेजा जाय।

मरे हुए जानवरों की लाश को जला देना चाहिए या कम से कम छः फुट की गहराई में बस्ती से दूर गाड़ देना चाहिए। ऊपर से बिना बुझा चूना छोड़ देना चाहिए जिस से मिट्टी में बीमारी का असर न हो सके। मरे जानवर की खाल भी न उतारनी चाहिए।

बीमार जानवर के इलाज की कुछ बातें दी जाती हैं। अगर जानवर को निगलने में दिक्कत होती हो तो तेज जुलाब के देने से फायदा होता है। जुलाब के दो नुस्खे नीचे दिए हैं:—

पहला जुलाब

लाहौरी नमक	छः छटाँक (१२ औंस)
मुसब्बर	चौथाई छटाँक
सोंठ	चौथाई छटाँक
शीरा	चार छटाँक

इन सब को सवा सेर पानी में थोड़ा गर्म कर पिलाया जाय। बच्चे मवेशियों को इसकी आधी खूराक दी जाय। सयानी भेड़ों को छठवाँ हिस्सा ही एक खूराक बनाया जाय।

दूसरा जुलाब

अलसी का तेल	५ छटाँक (१० औंस)
मीठा तेल	५ छटाँक
जमालगोटे का तेल	३० बूँद

इन चीजों को मिला कर सयाने मवेशियों के लिए एक खूराक बनाई जाय। बछवा बछिया को आधी खूराक और भेड़ों को छठवाँ भाग दिया जाय।

पीने के लिए पांच सेर पानी में एक छटांक फिनैल मिला कर दिया जाय। जीभ और मुँह फिटकरी के पानी से धोया जाय। खाने के लिए चावल का मांड सेर भर, देशी शराब दो छटांक, सोंठ आधी छटांक और काली मिर्च चौथाई छटांक मिला कर दिया जाय। सूजन को लोहा गर्म कर दाग दिया जाय।

एकटंगा रोग (ब्लैक क्वार्टर)

इस रोग का हमला बरसात में होता है। यह भैंसों और भेड़ों को होती है। इसका कीटाणु जानवर के मुंह या पैर के किसी घाव या खरोंच के रास्ते बदन में घुसता और भीतर ही

भीतर तादाद बढ़ाता है। यह ज्यादातर छः महीने से दो साल तक की उम्र के मवेशियों को होता है लेकिन इससे कम उम्र के या सयाने मवेशियों को भी हो सकता है। कभी-कभी घोड़ों को भी यह रोग हो जाता है।

रोग की पहचान—इस रोग से मवेशी के बदन में किसी जगह गर्दन, कंधे, पीठ या रान पर सूजन होती है। इस रोग के असर से जानवर लँगड़ाने लगता है। पिछली टांग में ही ज्यादातर लँगड़ापन होते देखा जाता है। बहुत तेज बुखार हो आता है। इसका असर दो तरह से मालूम होता है। एक में तो बदन के किसी खास हिस्से में होता है, दूसरा मामूली। पर बदन के किसी खास हिस्से में ही तकलीफ होने पर कभी एक ही जगह सूजन होती है और कभी कई जगह। कभी कभी कई जगहों की सूजनें मिल कर एक हो जाती हैं। सूजन का रंग काला होता है और उसमें हवा भरी सी मालूम पड़ती है। उँगली से दबाने पर वह चटकती और चिरचिराती हैं। पहले तो सूजन थोड़ी जगह में ही होती है और उसमें दर्द रहता है लेकिन वह बहुत जल्दी फैलती जाती है। आठ घंटे में उसका फैलाव बहुत हो जाता है। उस समय सूजन में दर्द नहीं रह जाता। छूने पर वह ठंडी मालूम पड़ती है। कभी-कभी उसमें सड़ान मालूम पड़ती है। यदि उसे चीरा जाय तो मवाद हवा की तरह उड़ निकलती है। सूजन की जगहें अगले और पिछले पैर, जंघे, कंधे, गर्दन और धड़ आदि हैं लेकिन घुटने या टखने के जोड़ के नीचे सूजन नहीं हो सकती। ऐसा कभी-कभी ही होता है कि इस रोग के होने पर बदन पर बाहर कहीं भी सूजन दिखाई पड़े। उस हालत में सूजन बदन के अन्दर होती है। ऐसी दशा में रोग पहचानना मुश्किल होता है।

एकटंगा रोग के हमले से जानवर सुस्त पड़ जाता है। झुंड के दूसरे जानवरों से अलग जा खड़ा होता है। बदन काँपने लगता है और बहुत गर्म हो जाता है। सांस जल्दी-जल्दी चलती है। सूजन बढ़ने पर दूसरी पहचानें साफ दिखाई पड़ने लगती हैं। उस समय जानवर कराहता है। सूजन की जगहों को छोड़कर बाकी बदन गर्म हो जाता है, पेट में पीड़ा होती है, सांस मुश्किल से आती है। कमजोरी बहुत हो जाती है जिससे जानवर जमीन पर गिर जाता है। उसका बदन ऐंठने लगता है। तब उसकी मौत हो जाती है। कभी तो बदन में सूजन पहले दिखाई पड़ती है और कभी दूसरी मामूली पहचानें ही दिखाई देती हैं।

एकटंगा रोग (ब्लैक क्वार्टर) से बहुत थोड़े जानवर ही बचते हैं। नब्बे या सौ फीसदी तक जानवर इस रोग के हमला होने पर मर जाते हैं।

इलाज और बचाव—इस रोग का हमला कुछ जगहों में हर साल होता पाया जाता है। ऐसी जगहों में हर साल खासकर बरसात के पहले बचाव का टीका (वैक्सीन) लगव

लेना चाहिए। टीके का असर साल भर रहता है। जब बीमारी का हमला शुरू हो गया तो ऐंटी-ब्लैक क्वार्टर सिरम का टीका लगवाना चाहिए। इस बीमारी से मरे जानवर की लाश और उसके ढोने की डोली या ढाँचे को जलाना या बस्ती से दूर गहराई में गाड़ने से बीमारी के फैलने का डर कम हो सकता है।

बीमार जानवर इतनी जल्दी मरते हैं कि इलाज का मोका ही नहीं मिल पाता। इलाज से कुछ खास फायदा भी नहीं होता। फिर भी सूजन को गर्म लोहे से दागा जाय और या चीर कर उसमें सड़न के रोक की दवाएँ डाली जायँ तो फायदा हो सके। कुछ पीने की दवाएँ भी दी जा सकती हैं जो सड़न रोकें और जानवर को कुछ ताकत दें। जिन चरागाहों में चरने से यह बीमारी हो वहाँ पर जानवर चरने न भेजे जायँ।

ऐंथ्रैक्स

ऐंथ्रैक्स जानवरों की छूत की ऐसी बीमारी है जिससे बहुत जल्दी मौत हो जाती है। यह बीमारी बहुत दिनों से बहुत से देशों में मशहूर रहती आई है। यह सब देशों में और सब तरह की आब हवा में होती है। खास कर तराई की जगहों में इसका ज्यादा हमला होता है। एक ही जगह पर इसका हर साल हमला होता रहता है। पानी के बहा देने का इन्तजाम करने पर इस बीमारी का जोर कम पड़ जाता है। यह जानवरों से आदमी को भी हो सकती है। चिड़ियों तक को भी होती है। घोड़ों, मवेशियों, भेड़ बकरियों, हिरनों और ऊंटों को यह ज्यादा होती है। कुछ कुत्तों और सूअरों को भी इसका कभी-कभी असर हो सकता है।

रोग की पहचान—इस रोग का हमला होने पर तेज बुखार होता है। बेचैनी होती है। आंखें उमड़ी होती हैं, उनके अंदर की झिल्ली लाल हो जाती है। नाड़ी तेज चलने लगती है। नजर में घबड़ाहट रहती है। बदन या आंख फड़कती है। अकसर नाक से मवाद बहता है उसमें कभी खून भी मिला हो सकता है। पेट फूल सकता है और उसमें दर्द हो सकता है। पशु को मल निकालने में तकलीफ होती है। जिससे वह कांखता है और कांच बाहर निकल आती है। तिल्ली फूल जाती है। गोबर या मेगनी में खून लगा होता है। पेशाब अकसर गहरे रंग का और कुछ-कुछ काला होता है। जानवर लड़खड़ा कर जमीन पर गिर पड़ता है। उसके बदन में तड़पन रहती है। दस से लेकर चौबीस घंटे के अन्दर ही उसकी मौत हो जाती है। कभी-कभी जानवर में कुछ पागलपन सा जोश दिखाई पड़ता है। बाद में वह पागल हो जाता है।

एक दूसरी तरह भी इस रोग का हमला होता है। उसमें बीमारी के तेज लक्षण नहीं उभड़ते। उस हालत में जानवर बच भी जाता है। इसे खाल की बीमारी या बाहरी बीमारी

कहते हैं। उसमें एक कड़ा उभाड़ होता है। इसमें दर्द होता है। सूजन या उभाड़ में पानी सा मवाद रहता है। यह सूजन गले, गर्दन, सीने की नोक या पेट पर होती है। बदन में दूसरी जगह भी हो सकती है।

इलाज और बचाव के उपाय— यह बीमारी इतनी खतरनाक है कि इससे मरे जानवर की लाश को जांच के लिए भी चीरना मना है। इसके कीटाणु का आदमी पर असर होने से उसकी मौत हो सकती है। इसलिए लाश चीरने वाले को खतरा हो सकता है। दूसरी बात यह है कि लाश चीरने पर इस बीमारी के कीटाणु अपने ऊपर एक पक्की खोल चढ़ा कर गांठ सा बन जाते है और हवा में उड़ते रह सकते हैं। इस लिए जमीन में उनका असर बाद में रह सकता है। वे दूसरे जानवरों को बीमार डाल कर मौत लाने का रास्ता खोल सकते हैं।

बीमारी का जोर रहने वाली जगहों में मवेशियों को बीमारी से बचाव के लिए साल भर में एक बार बरसात के पहले बचाव का टीका (बोवाइन एंथ्रैक्स स्पोर वैक्सीन) लगवा लेना चाहिए।

बीमारी फैली होने पर एंटी-एंथ्रैक्स सिरम का टीका लगवाना चाहिए।

लाशों का ठीक इन्तजाम करना बहुत जरूरी है जिससे दूसरे जानवरों को बीमारी न हो। छः फुट गहरे गड्ढे में गाड़ कर ऊपर से बिना बुझा चूना छोड़ना चाहिए। पानी के पास लाशें कभी नहीं गाड़नी चाहिए। दूर सूखी जमीन में गाड़ना मुनासिब है। लाश को ढोते समय उसकी इन्द्रियों मुह, नाक, कान आदि को मिट्टी से बन्द कर देना चाहिए जिससे रोग के कीटाणु हवा में गांठ बन्द कर उड़ न जायँ।

भारत में वन पशु और उनकी सुरक्षा की समस्या

श्री जगमोहन सिंह नेगी, उपमंत्री उत्तर प्रदेश

दूर तक मार करने वाले अस्त्रों की संख्या में बुद्धि, बिजली की टार्चों तथा मोटरगाड़ियों आदि के कारण शिकार का आनन्द बहुत कुछ नष्ट हो चुका है और यह स्थिति आ गई है कि जब इस बुरी तरह की बर्बादी से इन बन जन्तुओं को बचाना अत्यावश्यक हो गया है। ऐसा न करने पर सदैव के लिये प्रकृति का यह संतुलन बिगड़ सकता है जिससे देश की स्थायी हानि हो सकती है। इससे हमारी सांस्कृतिक परम्परा तथा सृष्टि का एक महत्वपूर्ण क्रम समाप्त हो सकता है।

साधारणतः हमारे देश में जंगलों तथा जंगली जीवों के महत्व को ठीक तरह से नहीं आंका जाता और यह दोनों ही मनुष्यों के लिए हानि-कारक समझे जाते हैं। जंगलों को ऐसे जंगली पशुओं का निवास स्थान माना जाता है जो मानव जाति के शत्रु समझे जाते हैं और हमारे नित्य प्रति के जीवन में जंगली जीवन के महत्वपूर्ण स्थान की ओर ध्यान नहीं दिया जाता।

अधिकांश जंगली पशु हमारे लिए किसी रूप में उपयोगी हैं और वह मानव जाति के लिए हानि-कारक नहीं हैं। 'जीवित रहो और दूसरों को जीवित रहने दो' यही इन पशुओं का सिद्धान्त है। चीता अर्थात् बाघ जिसे सबसे भयानक पशु समझा जाता है, सदैव मनुष्य से बचता रहता है और वह तब तक अपनी ओर से आक्रमण नहीं करता जब तक कि उसे छेड़ा न जाय। यही बात सांप तथा जंगली भालू के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। यह पशु खतरा होने पर अपनी सुरक्षा के लिए सदैव आक्रमण करते हैं। यह भी संभव है किसी समय उनका यह खतरे का भय झूठा हो।

प्रकृति ने जीवन के समस्त क्षेत्रों में संतुलन बना रखा है और यदि वह संतुलन अस्त-व्यस्त हो जाता है तो उसका फल भयंकर होता है। यही बात जंगली जीवों के सम्बन्ध में लागू होती है। यदि चीते मार डाले जाते हैं तो अन्य जैसे पशुओं की संख्या बढ़ जायगी जिन पर बाघ अपने आहार के लिए निर्भर करता है और जिनसे फसल को हानि पहुँचेगी। यदि हरिण मार दिये जाते हैं तो चीते मनुष्य तथा अन्य पशुओं पर जीवित रहेंगे। इसी प्रकार यदि पक्षी मार डाले जाते हैं तो ऐसे कीड़ों की संख्या में वृद्धि होगी जिनसे फसल को हानि पहुँचेगी। लगभग सभी प्रकार के पशुओं के सम्बन्ध में यही बात कही जा सकती है। यहां तक कि सांप, जिनसे इतना भय रहता है और जिन्हें किसी भी कार्य के लिये उपयोगी नहीं समझा जाता, मानवजाति की अत्य-धिक सेवा करते हैं। जंगली चूहों को यदि बेरोक टोक बढ़ने दिया जाय तो अनुमानतः वर्ष भर में उनका एक जोड़ा दस लाख बच्चे पैदा करता है। सांप ही इन चूहों का नाश करने में सहायक सिद्ध होता है। इस प्रकार यह शिकारी पशु, मनुष्य की, ऐसे पशुओं को नष्ट करने में सहायता करते हैं जिसकी बेरोक टोक वृद्धि से मनुष्य की हानि होती है।

पशुओं के बाल, खालें, सींग और हाथी दांत आदि का भी मनुष्य के लिये अत्यधिक उपयोग है और यह सभी मूल्यवान् वस्तुयें हैं। १९५३ ई०

में लन्दन में संसार के सभी भागों से एकत्र किये गये बालों का मूल्य तीस लाख पौंड आंका गया। इस प्रकार व्यापार में भी जंगली जानवरों का महत्वपूर्ण स्थान है।

शिकार खेलने में, जंगली जानवरों का अधिक महत्व है तथा वे मानव के मनोरंजन के साधन भी हैं। पर्यटकों एवं शिकारियों से ली जाने वाली फीस राज्य की आय का एक निश्चित साधन है।

जंगली जानवर मानव के लिए उपयोगी हैं। उनका संरक्षण और बचाव करने से एक अति सुन्दर वस्तु की सुरक्षा होती है। हमारे बनों, पहाड़ों और गांवों का क्या दृश्य होता, यदि वहाँ जंगली जानवरों की आवाज न सुनाई देती और रंग बिरंगे जानवर न होते। वास्तव में जिस जंगल में बाघ का भय न हो वह जंगल ही नहीं है।

कुछ जानवर ऐसे हैं जिनका अस्तित्व मनुष्य एवं मनुष्य के लिए उपयोगी जंगली जानवरों के लिए निश्चित रूप से विनाशकारी हैं जैसे जंगली कुत्ता, भेड़िया, साही, सुअर आदि। ऐसे जानवरों का सर्वनाश करने से कोई हानि न होगी।

अन्य समृद्धिशाली देशों की तुलना में भारत में जंगली जानवरों की रक्षा के लिए कम उपाय किये गये हैं। हमारे दक्षिणी अफ्रीका के क्रूगर नेशनल पार्क की तरह जहां जानवर अपने को सुरक्षित पाते हैं कोई पार्क नहीं है। इस पार्क का क्षेत्र ८००० वर्ग मील है जो कि उत्तर प्रदेश के सुरक्षित बनों के क्षेत्र के बराबर है। जंगली जानवरों के लिए यह संसार का सबसे बड़ा पार्क है जिसमें १००० वर्गमील की सड़कें और आराम करने के कैम्प हैं। इस पार्क में हथियार ले जाना, सड़क छोड़ना और कार से बाहर निकलना निषेध है। नियमों का समुचित रूप से पालन किया जाता है।

अमेरिका, केनाडा, आस्ट्रेलिया में भी जंगली जानवरों के लिए इसी प्रकार के बड़े पार्क बनाये गये हैं। यूरोप में इटली और स्पेन में भी जानवरों के लिये ऐसे आश्रय गृह बने हैं। स्वीडेन में महाद्वीप के अन्य सभी देशों की अपेक्षा अधिक नेशनल पार्क हैं जिनकी संख्या १४ है। जंगली जानवरों की सुरक्षा के लिये फिनलैण्ड और आस्ट्रेलिया में अनेक सुरक्षित स्थानों की व्यवस्था की गई है। पोलैण्ड और आस्ट्रिया में जैकोस्लोवाकिया के देशों ने अपनी सीमाओं के ततारा क्षेत्र में एक पार्क की स्थापना की है। प्रकृति जगत के जीवधारियों की रक्षा के लिए दोनों देशों की इस इच्छा का यह फल हुआ की उनकी विवादग्रस्त समस्या सहज ही हल हो गयी। रूस इस दिशा में और आगे बढ़ा है। जंगली जानवरों के बचाव के साथ वहां के फारेस्टर उनकी आदतों का वैज्ञानिक अध्ययन भी करते हैं और अपने अनुभव से लाभ उठाकर उन्होंने उन क्षेत्रों में भी जंगली जानवर पैदा कर दिये हैं जहां वे नहीं थे। स्वीटजरलैण्ड ने अपने नेशनल पार्क का निर्माण करने के लिए प्राकृतिक सौन्दर्य से परिपूर्ण इन्गेडिन घाटी के एक अति सुन्दर स्थल को चुना है।

इन देशों में फारेस्टर का यह नियमित कार्य है कि वह जाड़ों में जब कि सम्पूर्ण बन क्षेत्र हिमाच्छादित रहता है जंगली जानवरों के भोजन की व्यवस्था करें। दूसरी ओर हमारे पहाड़ी क्षेत्रों में इस मौसम में जानवरों का शिकार किया जाता है। काफी बर्फ पड़ने पर सभी जानवर अपने भोजन की तलाश में गांवों के आस पास आते हैं और ऐसे अवसर पर हमारे पहाड़ी क्षेत्रों के लोग बड़ी संख्या में जानवरों को नष्ट करने में नहीं हिचकते।

हमारे देश में भी जंगली जानवरों की सुरक्षा के लिए कुछ उपाय किये गये हैं। कतिपय जानवरों को तो नष्ट होने से बचाया गया है। इसका श्रेय हमारे देश के बन अधिकारियों को है जिन्होंने निरन्तर जंगली जानवरों के बीच रहकर उनसे एक प्रकार की मित्रता और प्रेम का सम्बन्ध स्थापित कर लिया है। इस समय शिकार सम्बन्धी कानूनों को लागू करने का उत्तरदायित्व विशेष रूप से

हमारे वन अधिकारियों पर है लेकिन कानूनों का समुचित रूप से पालन न किये जाने अथवा उनके दोषपूर्ण होने से और कानून भंग करने वालों की संख्या की अपेक्षा अधिकारियों की संख्या कम होने से वन अधिकारियों के कार्य संचालन में काफी रुकावटें पड़ती हैं। हाल में बन्दूक आदि के लाइसेंसों की संख्या में काफी वृद्धि हुई है। आत्मरक्षा तथा फसलों को बचाने के बहाने जिन लाइसेंसों को लोगों ने प्राप्त किया है उनका प्रयोग वे अधिकतर जानवरों के शिकार के लिये किया करते हैं।

सुरक्षित वनों में शिकार खेलने के लिए समस्त भारत में नियम बनाये गये हैं और भारतीय बन अधिनियम की धारा २६।१ के अधीन बिना लाइसेंस के शिकार खेलना दंडनीय है। हाथियों की सुरक्षा के लिये एक अलग अधिनियम बना है, जब कि अन्य प्रमुख जानवरों का शिकार करना या तो निषेध है या जंगली पक्षी एवं जानवर सुरक्षा अधिनियम के अधीन अवधि निर्धारित का गयी है जब इनका शिकार नहीं किया जा सकता।

भारत के विभिन्न भागों में जानवरों के लिए अनेक नेशनल पार्क एवं आश्रयगृह हैं। उत्तर प्रदेश में सबसे महत्वपूर्ण तथा भारत में संभवतः सब से बड़ा नेशनल पार्क 'रामगंगा नेशनल पार्क' है जिसका क्षेत्र १२५ वर्गमील है। इस पार्क में वे सभी जानवर हैं जो अन्तर्गत आते हैं। जानवर यह अनुभव करने लगे हैं कि वहाँ उनका घर है और अब वे लोगों को देखकर प्रायः नहीं भागते। इस पार्क में चीतल आदि जानवरों के बड़े बड़े झुंड हैं। वे आदमी को देखकर तब तक नहीं भागते जब तक कि वह उनके बिलकुल करीब नहीं पहुँच जाता। इस पार्क के अतिरिक्त नन्दादेवी में भी एक आश्रयगृह है, जो १४ हजार से १५ हजार फुट की ऊंचाई पर स्थित है और चारों ओर से नन्दादेवी पर्वत की ऊंची ऊंची चोटियों से घिरा हुआ है। इससे बाहर निकलने का एकमात्र रास्ता ऋषि नाम की पतली घाटी है। सहारनपुर डिवीजन में ब्रिटिश शासनकाल में वायसराय के शिकार खेलने के लिए १०० वर्गमील का जो वन क्षेत्र था उसे भी १९४७-४८ में आश्रयगृह में बदल दिया गया। देहरादून डिवीजन में कान्सारी आश्रयगृह का क्षेत्र २८ मील है। टौंस वन डिवीजन के सपिन रेंज को, जो १०० वर्गमील के क्षेत्र में फैला हुआ है और जहां जंगली जानवर अधिक संख्या में पाये जाते हैं, आश्रयगृह में बदलने का प्रश्न विचाराधीन है।

मध्य प्रदेश मांडला वन डिवीजन का कनहा आश्रयगृह विभिन्न प्रकार के जंगली जानवरों से भरा पड़ा है। आसाम में काजरिंग आश्रय-गृह एक सींग वाले प्रसिद्ध गेंडे का घर है।

जिन्दा अजायबघरों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जंगली जानवरों को पालतू भी बनाया जा सकता है और ये वन पशु भी मनुष्यों के सद्व्यवहार तथा प्यार के भाव को समझते हुए स्वयं भी वैसा ही व्यवहार करते हैं।

(आकाशवाणी लखनऊ के सौजन्य से)

विज्ञान समाचार

लाख निर्माण उद्योग

श्री भगवान सिंह चन्देल 'चन्द्र'

हमारे देश में 'लाख' का उपयोग प्राचीन काल से होता आया है। महाभारत काल में पाण्डवों को नष्ट कर देने की आकांक्षा से कौरवों द्वारा निर्मित प्रसिद्ध लाक्षागृह का इतिहास तो सर्व विदित है। आज भी ग्रामीण स्त्रियाँ प्रायः श्रावणी और रक्षा-बंधन पर्व पर तथा विवाह आदि मांगलिक अवसरों पर लाख की चूड़ियाँ पहिनना अपने लिए गौरव एवं आकर्षण की विशेष बात मानती हैं।

'लाख' का इतिहास अति प्राचीन है। इसका उपयोग विभिन्न रूपों में होता है :—अलंकार बनाना, औषधि बनाना, चपड़ी बनाना, हथियार तेज करने की शान बनाना, ग्रामोफोन के रिकार्ड तैयार करना आदि। इनके अतिरिक्त लेसदार वस्तुएँ बनाने, रंग-रोगन, हैट, विद्युत्यंत्र चमड़ा, लकड़ी, धातु आदि के साथ भी लाख का उपयोग किया जाता है।

'लाख' जितनी उपयोगी है उसकी उत्पत्ति भी उतनी ही आकर्षक तथा आश्चर्यपूर्ण है। इसको प्राप्त करने में रेशम के कीड़े की भाँति ही एक शीघ्र बढ़ने वाला छोटा-सा कीड़ा सहायक होता है जिसका नाम अंग्रेजी में 'लैक्कीफर लैक्का' है। इस कीड़े का रंग प्रायः काला होता है। यह विभिन्न प्रकार के वृक्षों पर उनका रस-पान करके निवास करता है और उनसे खाए रस को विष्टा रूप में शाखाओं पर छोड़ता रहता है। 'लाख' के कीड़े ढाक, गूलर, बड़, कुसुम, सिरस, बेर, बबूल, खैर और पीपल के वृक्षों पर लगाए जाते हैं।

इन कीड़ों की विष्टा से निकाला हुआ पदार्थ कुछ चिपचिपा तथा रसीला होता है। यह गोंद की भाँति नवीन शाखाओं पर एकत्र हो जाता है। आसाम में अरहर के पौधों पर, संथाल परगना तथा मध्य प्रदेश में ढाक के वृक्षों पर 'लाख' के कीड़े बहुत लगाए जाते हैं। हमारे मध्यभारत में पर्याप्त वन-प्रदेश है। यहाँ ऊपर लिखे गए वृक्षों का भी अभाव नहीं है। यहाँ के वृक्षों पर उसी प्रकार से लाख-कीट पाले जा सकते हैं जैसे अन्य प्रान्तों में पाले जाते हैं।

लाख-निर्माण

वृक्षों पर 'लैक्कीफर लैक्का' (लाख-कीट) पालने का एक विशेष समय रहता है। ये कीड़े प्रायः अक्टूबर-नवम्बर तथा जून-जौलाई में वृक्षों पर लगाए जाते हैं। जिन वृक्षों पर कीड़े लगाना होता है उन्हें प्रायः छै-सात मास पहिले छांट देते हैं जिससे वृक्षों में नवीन शाखाएँ उत्पन्न हो आती हैं। जिन शाखाओं पर कीड़े रहते हैं उनके टुकड़े एक-एक बालिश्त के काट कर अंग्रेजी अक्षर वाई की आकृति में शाखाओं पर बांधते हैं। शाखाएँ प्रायः वे ही उत्तम होती हैं जिन पर कुछ रुएँ-से दिखते हैं।

शाखाओं पर कीड़े जमा करने के पश्चात् लगभग छै मास में पर्याप्त बीट एकत्र हो जाता है। इस एकत्र बीट को बड़ी सावधानी के साथ शाखाओं के ऊपर से खुरच लिया जाता है। इस समय इसका रंग कुछ भूरा-सा होता है। इसके पश्चात् इसको

पीस लिया जाता है। छननी द्वारा छान लेने पर पत्थर के बर्तनों में धोते हैं। यह जितना ही स्वच्छ किया जायगा, लाख उतनी ही उत्तम श्रेणी की बनाई जा सकेगी।

पानी से धोने पर कुछ वजनी पदार्थ वर्तन की तली में रह जाता है इसे फिल्टर द्वारा छान लिया जाता है। शेष पानीवाला भाग फेंक दिया जाता है। यह धुली लाख चकती-सी बना ली जाती है। फिर धूप में इसे सुखा लेने पर यह कुछ ठोस रूप में हो जाती है। तब इसका लाख-निर्माण की भाषा में 'चोवड़ी' कहते हैं। इस 'चोवड़ी' को छोटी परन्तु पर्याप्त लम्बी कपड़े की थैली में भरते हैं। इन थैलियों की बनावट की विशेषता यह है कि ये थैली 'बसनी' की भाँति लम्बी होती हैं। इनकी लम्बाई ५० फीट और परिधि का व्यास केवल ६ इंच होता है।

इन थैलियों में भरी लाख को फिर विशेष ढंग से बनाई हुई भट्टियों की आंच के सामने रखते हैं। इन्हें क्रमशः धीरे-धीरे इतना गर्म करते हैं जिसमें 'लाख' थैली के कपड़े में से शहद की भांति पिघली अवस्था में बाहर आने लगती है। तब-उसे समतल स्टिकों पर एकत्र करते जाते हैं। तत्पश्चात् इस्पात लोहे के ढोलों पर यह लाख फैला दी जाती है। इन ढोलों की सतह शीतल की जाती है। उसी समय लाख को एक समतल चौड़े-चौड़े टुकड़ों के रूप में बना लेते हैं। इसे फिर गर्म किया जाता है। फिर पतली चादरों पर फैला दिया जाता है। यह सब करने के पीछे इसके पतले तथा छोटे टुकड़े किए जाते हैं। यह समस्त कार्य इन क्रियाओं के प्रशिक्षित व्यक्तियों द्वारा ही पूर्ण किया जाता है। इसके व्यवसाय के लिए बड़े-बड़े कारखाने तैयार करके माल बनाना आवश्यक नहीं है वरन् कच्ची मिट्टी के तैयार कवेलू से छाए मकान ही काम करने के लिए पर्याप्त हैं। बिहार प्रान्त में 'लाख' के लिए कच्चा माल प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत रहता है। अधिकांश व्यवसायी व्यक्ति वहीं से कच्चा माल मँगाते हैं।

ग्रामीण व्यक्ति जिनके ग्रामों के पास जंगल हैं और लाख कीट पाले जा सकने वाले योग्य वृक्ष विपुल मात्रा में हैं, उन ग्रामीण भाई-बहिनों के लिए 'लाख' का ग्राम-उद्योग उनकी जीविका का बहुमूल्य साधन है। उदाहरणार्थ उत्तर-प्रदेश के मिर्जापुर जिले में प्रान्तीय श्रम-विकास-संघ के परिपोषण में सहकारी समितियों की स्थापना की गई है। जिससे लगभग २०० मन प्रतिदिन लाख तैयार की जा रही है। परिणामतः सहस्त्रों ग्रामीण नर-नारी परिश्रम करके खुश हाल बन रहे हैं।

कृत्रिम चाँद के निर्माण की योजना

वह दिन शायद बहुत दूर नहीं जब एक "कृत्रिम-चाँद" इस भूमण्डल का चक्कर लगाता हुआ दीखेगा। इस सर्वप्रथम "कृत्रिम चाँद" के निर्माण की योजना तैयार करने का काम शुरू हो गया प्रतीत होता है।

दो घन्टे में पृथ्वी की परिक्रमा

मेरिलैण्ड विश्वविद्यालय के डा० एस० एफ० सिंगर ने हाल में एक योजना की रूपरेखा प्रस्तुत की है। इस योजना के अनुसार, एक बहुत छोटा राकेट तैयार किया जायेगा जो अपने साथ लगभग ४० पौण्ड वजन के ऐसा वैज्ञानिक उपकरण ले जा सकेगा, जो अन्तरिक्ष में पहुँच कर सूर्य की किन्हीं किरणों के सम्बन्ध में अंकन कर सकें और उनके बारे में पृथ्वी पर सूचनाएँ भेज सकें। यह "चाँद" लगभग ३०० मील की ऊँचाई पर पहुँच कर प्रति दो घन्टों में एक बार पृथ्वी का चक्कर लगायेगा।

अभी वह दिन शायद बहुत दूर है जब कोई व्यक्ति मनुष्य-कृत नक्षत्र में बैठ कर बाह्य आकाश में पहुँच सके। किन्तु वह दिन अवश्य बहुत निकट प्रतीत होता है जब कि वैज्ञानिक उपकरण ले जाने

वाला नक्षत्र अन्तरिक्ष में पहुँच कर वहाँ से रेडियो द्वारा सांकेतिक भाषा में सूचनाएँ भेज सके।

डा० सिंगर का कहना है कि "कृत्रिम चाँद" अन्तरिक्ष में पहुँच कर वही काम करेगा, जो इन दिनों राकेटों से लिया जाता है। ये राकेट आकाश से फिर पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं और एक निश्चित ऊँचाई पर पहुँचने के बाद नष्ट हो जाते हैं। यह राकेट बाह्य आकाश में केवल ३ से ६ मिनट तक रह पाते हैं। "कृत्रिम चाँद" वहाँ शायद अनिश्चित समय तक रह सकेगा।

राकेटों से पता चला है कि सूर्य की किरणों में समय समय पर बहुत अधिक भिन्नताएँ पायी जाती हैं। "कृत्रिम चाँद" में लगे उपकरणों की मदद से निरन्तर पर्यवेक्षण करके यह पता लगाया जा सकेगा कि क्या ये भिन्नताएँ एक नियत काल के लिए ही होती हैं।

ब्रह्माण्ड किरणों के बारे में अध्ययन

विशेष महत्वपूर्ण बात यह है कि इस "कृत्रिम चाँद" की सहायता से ब्रह्माण्ड किरणों का, उनके पृथ्वी के वायु मण्डल में पहुंचने से पूर्व, निरन्तर पर्यवेक्षण किया जा सकेगा। अब तक के अनुसन्धानों से यह मालूम हो चुका है कि इन किरणों में मुख्यतया प्राणु (प्रोटोन), उदजन अणु-न्यष्टि (अणु-केन्द्र), हीलियम-न्यष्टि तथा कुछ भारी तत्वों की न्यष्टि होती है।

इन किरणों की गति प्रायः प्रकाश की गति के बराबर है और इनमें अरबों विद्युदणु वोल्ट की शक्ति होती है। इतनी जबर्दस्त शक्ति कहां और कैसे पैदा होती है, इसे कोई नहीं जानता, किन्तु डा० सिंगर के मतानुसार यह निश्चित सा प्रतीत होता है कि इस शक्ति का बहुत बड़ा कारण सूर्य है।

डा० सिंगर का कहना है कि इस समय सब से बड़ी कठिनाई यह है कि राकेट वायुमण्डल के ऊपर जाकर थोड़ी देर ही रह पाता है। हम जानते हैं कि ब्रह्माण्ड किरणों की तीव्रता घटती-बढ़ती है। कभी कभी उनकी तीव्रता बहुत बढ़ जाती है। हम इस घटा-बढ़ी का कारण जानना चाहते हैं। हम यह जानना चाहते हैं कि असामान्य अवस्था में आने पर क्या सूर्य ही ब्रह्माण्ड किरणों को पैदा करता है या वह पहले से विद्यमान किरणों को केवल बढ़ाता ही है। "कृत्रिम चाँद" की सहायता से ब्रह्माण्ड किरणों की तीव्रता को एक घण्टे में कई बार मापा जा सकता है।

डा० सिंगर ने बताया कि "कृत्रिम चाँद" में ब्रह्माण्ड विकिरण की तीव्रता को मापने के लिए गाइगर काउण्टर और सूर्य की किरणों में प्रकाश कणों (फोटोन) की संख्या को जानने के लिए एक्स रे काउण्टर लगे होंगे।

इस नकली चाँद से हम सूर्य पर होने वाली घटनाओं से परिचित हो सकेंगे और पृथ्वी पर बैठे बैठे ही सूर्य के विषय में अप्राप्य समझी जाने वाली जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

इससे शायद सूर्य के उन प्रभावों के बारे में भविष्यवाणी करना भी सम्भव हो जायेगा जिनका रेडियो-संवहन और अन्तरिक्ष-विज्ञान की दृष्टि से बहुत बड़ा महत्व है।

टेलीफोन के साज सामान का निर्माण

बंगलौर से ६॥ मील पूर्व की ओर मद्रास जाने वाली सड़क पर दूरवाणी नगर (टेलीफोन सिटी) है। १९४८ तक यहाँ बंजर और पथरीली भूमि के सिवा और कुछ न दिखाई देता था पर आज यहाँ एक ऐसा कारखाना खड़ा हुआ है जिसकी गिनती देश के आधुनिकतम कारखानों में होती है।

यह कारखाना, इंडियन टेलीफोन इंडस्ट्रीज है, जो स्वतंत्र भारत का सब से पहला राष्ट्रीय उद्योग का कारखाना था। यह १९४९ से बनना शुरू हुआ था और आज यहाँ प्रति सप्ताह एक हजार टेलीफोन बनते हैं। आरम्भ में १९५५-५६ के लिए जो उत्पादन लक्ष्य रखा गया था यह संख्या उसकी दुगनी है। टेलीफोनों के अलावा यहाँ स्वचालित एक्सचेंज यंत्रों की ६० लाइनें एक केरियर टेलीफोन की साजसज्जा प्रति सप्ताह तैयार होती है।

आरम्भ में यह उद्योग पूरी तरह सरकारी था पर जनवरी १९५० में इसे एक निजी मर्यादित संगठन (प्राइवेट लिमिटेड कम्पनी) का रूप दे दिया गया। भारत सरकार, मैसूर सरकार और लिवर पूल की आटोमेटिक टेलीफोन एन्ड इलेक्ट्रिक कम्पनी लि० ये तीन इसमें साझी हैं। इसमें भारत सरकार के ९० प्र० श० हिस्से हैं और लिवरपूल की कम्पनी से १९३८ से १५ साल प्रतिधिक जानकारी देने का करार है। कम्पनी का प्रबंध एक निर्देशक मंडल के हाथ में है और उक्त विलायती कम्पनी के एक सदस्य के सिवा बाकी सब सदस्यों की नियुक्ति भारत के राष्ट्रपति करते हैं। मंडल के अध्यक्ष संचार मंत्रालय के सचिव होते हैं और मैनेजिंग डाइरेक्टर एक वेतन प्राप्त व्यक्ति होता है। उसी पर कम्पनी की सारी प्रबंध व्यवस्था का भार है।

कारखाना

टेलीफोन कारखाना ३७० एकड़ में फैला हुआ है और इसके ८ मुख्य भाग हैं। अलग-अलग भागों में में अलग-अलग किस्म के यंत्र बनते हैं। कारखाने में छोटी से छोटी मशीनों से लेकर १५० टन के प्रेसों तक एक हजार से अधिक मशीनें लगी हैं। इनमें २०० मशीनें जर्मन हैं। यहाँ ऐसे-ऐसे बारीक बर्मे हैं, जो एक मिलीमीटर के हजारवें हिस्से तक ठीक छेद कर सकते हैं खरादें घिसने की मशीनें, पालिश करने की मशीन और तारों की कुंडली बनाने आदि की बहुत सी मशीनें हैं। इसके अलावा तारों और धातु पर कलई और पतर चढ़ाने की भी मशीनें यहाँ हैं।

तैयार यंत्रों और कच्चे माल के निरक्षण के लिए कर्मचारी हैं, जो हर चीज का बहुत कड़ाई से निरीक्षण करते हैं ताकि यंत्रों के स्तर और अच्छाई में कोई कसर न रह जाय। उत्पादन में किसी तरह की बाधा न पड़ने पाये इसके लिए कच्चे माल की पूर्ति की भी उचित व्यवस्था रहती है। सामान के कारखाने के एक हिस्से से दूसरे हिस्से में लाने ले जाने का अलग प्रबंध है और इन सब कामों पर पूरी निगरानी और नियंत्रण रहता है।

टेलीफोन के हिस्से

टेलीफोन में कुल कितने पुर्जे होते हैं यह शायद ही कोई ठीक-ठीक जानता हो। ऊपर से देखने में तो २-४ चीजें ही दिखाई देती हैं। पर वास्तव में ऐसा नहीं है। अकेले डायल में १२० और पूरे स्वचालित टेलिफोन में ५३६ हिस्से होते हैं। कई पुर्जे तो इतने नाप कर बनाये जाते हैं, जिनमें इंच के हजारवें हिस्से की घट बढ़ भी नहीं होनी चाहिए। इन ५३६ पुर्जों में से ५२० इसी कारखाने में बनते हैं। बाकी बाहर से खरीदे जाते हैं। १९५४-५५ में

कारखाने में ५० हजार यंत्र बने। इनके लिए लगभग २ करोड़ ५० लाख पुर्जे इसी कारखाने में बनाये गये। टेलीफोनों के हिस्से जोड़ने का काम एक पट्टे पर किया जाता है जो चलता रहता है। इस पट्टे के दूसरे सिरे पर हर २॥ मिनट में एक टेलीफोन तैयार होकर निकलता रहता है।

स्वचालित एक्सचेंज

टेलिफोनों के अलावा सितम्बर, १९५२ से इस कारखाने में स्वचालित यंत्रों की साज सज्जा को जोड़ने का काम भी होने लगा है। ५० प्रतिशत से अधिक साज सामान इसी कारखाने में तैयार होता है। स्वचालित एक्सचेंज के 'स्विच' और 'रैक' दो मुख्य हिस्से होते हैं। इनका बनाना बड़ी होशियारी और कौशल का काम है। इन्हें २५ साल की नियत अवधि तक निर्विघ्न रूप से काम देना चाहिए। इसलिए बनते समय हर बात पर कड़ी आंख रखी जाती है। कारखाने में हर ८ मिनट में एक 'स्विच' तैयार होता है। 'रैक' वह नहीं होता जो दफ्तरों में मेज के बराबर में रखा जाता। इस 'रैक' में मीलों लम्बा तार लगा होता है और इसमें ४८ हजार से लेकर ५२ हजार तक झाले हुए जोड़ होते हैं।

प्रेषण यंत्र

एक्सचेंजों के आलवा इस कारखाने में टेलीफोन व्यवस्था में काम आने वाले कई तरह के प्रेषण यंत्र भी बनाये जाते हैं। एक, दो और तीन चैनल (मार्ग) वाले प्रेषण यंत्र (कैरियल सिस्टम) यहाँ बनने लगे हैं। १२ चैनल का यंत्र बनाने की भी कोशिश हो रही है और मार्च १९५६ तक इस यंत्र के बन जाने की आशा है।

रेलों में काम आने वाले विशेष प्रकार के टेलीफोन और चाहे जहां ले जाने लायक टेलीफोन भी यहाँ बनाये गये हैं।

कलकत्ते की टेलीफोन व्यवस्था को स्वचालित व्यवस्था में बदलने के लिए दूरवाणी नगर के इस कारखाने में बहुत सा सामान और यंत्र बनाकर दिये और आगे के परिवर्तनों के लिए भी यहाँ बहुत सी चीजें बनायी जायेंगी।

विषय-सूची

मुद्रक—नागरी प्रेस, दारागंज, प्रयाग।

सरल विज्ञान ग्रंथावली

लेखक—जगपति चतुर्वेदी, सहा० सम्पा०, 'विज्ञान'

सरल विज्ञान ग्रन्थावली हिन्दी में लोकप्रिय वैज्ञानिक साहित्य सरल रूप में प्रस्तुत करने का एक नवीन तथा अभूतपूर्व प्रयास है। सभी पुस्तकें केवल एक लेखक द्वारा लिखी हुई हैं। लगभग १५० या २०० पृष्ठों तथा बहुसंख्यक चित्रों के साथ प्रत्येक का मूल्य २) है।

भौतिक विज्ञान

बिजली की लीला—बिजली के वैज्ञानिक मर्म, तार टेलीफोन, विद्युत्प्रकाश, एक्सरे रेडियो आदि की कहानी।

परमाणु के चमत्कार—परमाणु सम्बन्धी वैज्ञानिक खोजों तथा परमाणु बम, उदजन बम आदि के मम की कहानी।

भूगर्भ वि०, पुरा-जीवविज्ञान, पुरा-वनस्पति विज्ञान

विलुप्त जन्तु—प्रस्तरावशेषों के आधार पर पचास करोड़ वर्षों तक पुराने जन्तुओं के वंश लोप होने की कहानी।

भूगर्भ विज्ञान—धरती के निर्माण तथा अंतः और बाह्य अंगों के रूप परिवर्तन की विलक्षण कहानी।

विलुप्त वनस्पति—प्राचीन काल के प्रस्तरावशेषों के आधार पर पचास कोटि वर्षों तक पुराने वनस्पति वंशों की कहानी।

कोयले की कहानी—पत्थर कोयले की उत्पत्ति तथा वैज्ञानिक शोध और उपयोग की कहानी।

ज्वालामुखी—धरती के आंतरिक भाग में ज्वाला उत्पन्न होने के कारण तथा संसार के ज्वालामुखियों की कहानी।

रसायन

तत्वों की खोज में—रासायनिक तत्वों के अनुसंधान तथा उनके अन्वेषक वैज्ञानिकों की मनोरंजक कहानी।

साधारण

वैज्ञानिक आविष्कार—भाग १, २—पुरानी तथा नई वैज्ञानिक खोजों की विशद कहानियाँ।

आविष्कारकों की कहानी—युगान्तरकारी अविष्कारकों तथा वैज्ञानिकों की कथा।

वनस्पति विज्ञा

वनस्पति की कहानी—वनस्पति के जन्म, वृद्धि क्रियाकलाप, तथा भेद प्रभेदों की कहानी।

चिकित्सा विज्ञान, कीटाणु विज्ञान

जीने के लिए—रोगों और कीटाणुओं का मर्म ज्ञात करने वाले वैज्ञानिकों की मार्मिक कहानी।

कीटाणुओं की कहानी—रोग उत्पन्न करने वाले तथा अन्य सूक्ष्मदर्शकीय कीटाणुओं और परम कीटाणुओं की कहानी।

पेनिसिलिन की कहानी—रसायन चिकित्सा तथा पेनिसिलिन के अविष्कार, की कहानी।

शल्य विज्ञान की कहानी—शरीर में चीरफाड़ करने के प्राचीन तथा नवीन ज्ञान की कहानी।

जीव-जन्तु विज्ञान

समुद्री जीव-जन्तु—समुद्र के अन्दर रहने वाले अद्भुत रंग रूपों के जंतुओं का वर्णन।

अद्भुत जन्तु—अद्भुत रङ्ग रूप के जन्तुओं की कहानी।

लक्षण जन्तु—विचित्र आकार प्रकार के जन्तुओं का वर्णन।

पक्षी ग्रन्थावली—पक्षियों के रङ्ग रूप, जीवन-क्रम, निवास सन्तानोत्पादन, स्वभाव भेद तथा पहचान का वर्णन।

१—शिकारी पक्षी	२)
२—जलचर पक्षी	२)
३—वन वाटिका के पक्षी	२)
४—वन उपवन के पक्षी	२)
५—उथले जल के पक्षी	२)

विज्ञान परिषद् प्रयाग,

Rg. NO. A 372

Approved by the Directors of Education, Uttar Pradesh
and Madhya Pradesh for use in Schools;
Colleges and Libraries

विज्ञान परिषद् के मुख्य नियम

परिषद् का उद्देश्य

१—१९७० वि० या १९१३ ई० में विज्ञान परिषद् की इस उद्देश्य से स्थापना हुई कि भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य का प्रचार हो तथा विज्ञान के अध्ययनको और साधारणतः वैज्ञानिक खोज के काम को प्रोत्साहन दिया जाय।

परिषद् का संगठन

२—परिषद् में सभ्य होंगे। निम्न निर्दिष्ट नियमों के अनुसार सभ्यगण सभ्यों में से ही एक सभापति, दो उपसभापति, एक कोषाध्यक्ष, एक प्रधानमन्त्री, दो मन्त्री, एक सम्पादक और एक अंतरंग सभा निर्वाचित करेंगे जिनके द्वारा परिषद् की कार्यवाही होगी।

सभ्य

२२—प्रत्येक सभ्य को ६) वार्षिक चन्दा देना होगा। प्रवेश शुल्क ३) होगा जो सभ्य बनते समय केवल एक बार देना होगा।

२३—एक साथ १०० रु० की रकम दे देने से कोई भी सभ्य सदा के लिए वार्षिक चन्दे से मुक्त हो सकता है।

२६—सभ्यों को परिषद् के सब अधिवेशन में उपस्थित रहने का तथा अपना मत देने का, उनके चुनाव के पश्चात् प्रकाशित, परिषद् की सब पुस्तकों, पत्रों, तथा विवरणों इत्यादि को बिना मूल्य पाने का—यदि परिषद् के साधारण धन के अतिरिक्त किसी विशेष धन से उनका प्रकाशन न हुआ—अधिकार होगा। पूर्व प्रकाशित पुस्तकें उनको तीन चौथाई मूल्य में मिलेंगी।

२७—परिषद् के सम्पूर्ण स्वत्व के अधिकारी सभ्य वृन्द समझे जायेंगे।

प्रधान संपादक—डा० हीरालाल निगम
सहायक संपादक—श्री जगपति चतुर्वेदी

नागरी प्रेस, दारागंज, प्रयाग

प्रकाशक—विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद